प्रादेशिक ग्रंथमाला—१

श्रीप्रभुदेव वचनामृत

संपादक
महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज
आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

अनुवादक
शिवकुमार देव, एम० ए०
वेदांताचार्य, काव्यतीर्थ

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, वाराणसी
प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ, संवत् २०१७ वि०
मूल्य ६·५० न० पै०

श्रीमन्महाराज निरंजन जगद्गुरु श्रीजयदेव मुरुघराजेंद्र महास्वामीजी

जन्म सं० १९३१ वि०] [ब्रह्मीभूत सं० २०१३ वि०

समर्पण

कन्नड-जनजीवन को नवजीवन प्रदान करनेवाले वीरशैवजनांग
के पुनरुज्जीवन के लिए मूलस्तंभायमान, इतिहास प्रसिद्ध
तथा प्रभुदेवगुरुपरंपरागत चित्रदुर्ग श्रीचिन्मूलाद्रि
बृहन्मठाधिपति लिंगैक्य (ब्रह्मीभूत) श्रीमन्महा-
राज निरंजन जगद्गुरु जयदेव मुरुघ राजेंद्र
महास्वामी जी के दिव्य पादारविंद
में प्रणति एवं भक्तिपूर्वक
प्रभुदेव वचनामृत
सादर समर्पित

निवेदन

प्राचीन कन्नड़-साहित्य में सर्वत्र भारतीय दार्शनिक चिंताधारा प्रवाहित होती आई है। इस चिंताधारा में वीरशैवागम या वीरशैवदर्शन की प्रमुखता है। इसका कारण कन्नड़ प्रदेश में, कन्नड़ के जनजीवन में शैवागम का प्रचलन ही है। वीरशैवागम की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसकी साधनापद्धति में किसी प्रकार की विकृति ने कभी प्रवेश नहीं किया। यदि विकृति का लेशमात्र भी संसर्ग हुआ होता तो आज वीरशैवों की भी वही गति होती जो अधिकांश आगमानुयायियों की हुई। कन्नड़ेतर भाषा-भाषी इन सबसे अभिज्ञ नहीं हैं। हिंदी-साहित्य भी इस दर्शन से पूर्ण परिचित नहीं है। काश्मीर शैवागम की चर्चा तो हिंदी में हुई है पर वीरशैवागम के लिये यहाँ अभी मार्ग प्रशस्त नहीं हुआ है।

वाराणसी में अध्ययन करते हुए यह देखकर कि जनता का वीरशैवों के प्रति अन्य तंत्रानुयायियोंवत् आचरण और भावप्रदर्शन है मुझे हार्दिक क्लेश हुआ। वीरशैवों को भी वाममार्गियों की कोटि में माना जाता है। इस प्रकार की भ्रांति समझकर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि लोग वीरशैवागम की शुचिता से अपरिचित और अनभिज्ञ हैं। इसी से उनके प्रति अन्यथा विचार रखते हैं। उसी समय से मुझे कन्नड़ेतर भाषा-भाषियों को कन्नड़-साहित्य और वहाँ बहुमानित एवं बहुप्रचलित वीरशैवागम से परिचित कराने की प्रेरणा हुई। हिंदी एम० ए० का अध्ययन समाप्त करने के अनंतर मैं इस कार्य में जुट गया। मित्रों के परामर्श से सर्वप्रथम कन्नड़-साहित्य और वीरशैवागम के स्तंभ प्रभुदेवजी के वचनों का भाषानुवाद करने का निश्चय किया। परिणामतः यह अनुवाद प्रस्तुत है। अनुवाद प्रस्तुत करने में एवं प्रभुदेवजी के वचनों में उपलब्ध गूढ़ातिगूढ़ दार्शनिक भावाभिव्यक्तियों की गुत्थी सुलझाने में मुझे पगपग पर कठिनाई के कंटकाकीर्ण मार्ग का सामना करना पड़ा। पर परम पूज्य महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज की शरण में पहुँचते ही सभी शूल फूल हो गए। उन्होंने अपने अत्यंत साधनारत जीवन का अधिकांश समय जिसका एक क्षण पाने का बड़े बड़े लोग लालायित रहते हैं, मेरे अनुवाद पढ़ने-सुनने, इसका शोधन-परिष्करण करने एवं

सैद्धांतिक अस्पष्टताओं का निवारण करने में लगाया। इतना ही नहीं प्रूफ-शोधन तक का क्लेशवर्धक कष्ट सहन करना, आशीर्वाद के रूप में दो वचन लिखना तथा इस अनुवाद के प्रकाशन के लिये सभा से संस्तुति करना भी स्वीकार किया। उनके इन ऋणों का भार किसी भी प्रकार उतारने में अपने को सक्षम नहीं पाता। परम श्रद्धास्पद गुरुवर्य आचार्य पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र, प्राध्यापक, काशी विश्वविद्यालय ने यदि मुझे अपने सशक्त बाहुबल का सहारा न दिया होता तो मेरी नाव बीच ही में डूब जाती। भाषा-शोधन-संपादन से लेकर अंत तक वचनों के एक एक शब्द के समाकलन-निर्वचन का कार्य समय न रहते हुए सूर, तुलसी, केशव के कार्य को निलंबित करके सहर्ष और स्नेहपूर्वक किया, तदर्थ उनके प्रति आभारप्रदर्शन अथवा कृतज्ञताज्ञापन धृष्टतामात्र ही है। अधिक कुछ न कहकर यही कह सकता हूँ कि यदि पूज्यपाद कविराजजी ने इस अनुवाद को तपाकर कुंदन बनाया तो गुरुवर्य मिश्रजी ने इसमें सुगंध का मिश्रण कर दिया।

इस अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा के पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों, विशेषरूप से सभा के साहित्य मंत्री और मेरे विशेष अध्ययन के निर्देशक डा० श्रीकृष्णलालजी का स्मरण बार बार हो आता है। यदि उनकी जागरूकता एवं कृपादृष्टि न होती तो मुद्रण-सामग्री की ऐसी महार्घतापूर्ण स्थिति में इस ग्रंथ का प्रकाशन ही न हो पाता। सभा के कर्मचारियों में विशेष रूप से मेरी सहायता करनेवाले मेरे परम सुहृद और सभा के सहायक मंत्री श्री गोवर्धनलालजी उपाध्याय हैं, जिन्होंने सदा की भाँति ग्रंथ के परिष्करण और प्रकाशन के मार्ग में आनेवाले नाना प्रकार के संकटों में भी सर्वत्र सहायता और मंत्रणा दी तथा बाधावरोध का निवारण किया। इनके उपकारों की मधुर स्मृति मेरे जीवन का पाथेय बनी रहेगी।

ग्रंथ के अनुवाद कार्य में मेरे सबसे बड़े सहायक सर्व श्री पं० जगन्नाथ जी उपाध्याय, प्राध्यापक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, शास्त्राचार्य डा० राममूर्ति त्रिपाठी, प्राध्यापक, काशी विश्वविद्यालय एवं साहित्य वेदांताचार्य श्रीकृष्णचरण चौधरी एम० ए० हुए। इन महानुभावों ने सहायता करने में प्रतिक्षण जिस तत्परता और उदारता का परिचय दिया उसके लिये यही कहता हूँ कि 'प्रति उपकार करौं का तोरा'।

प्रूफ-शोधन में अनभ्यस्त होने के कारण मुझे जब भी आवश्यकता हुई भाई रामबली पांडेय ने मेरा हाथ बटाया। उनके अविश्रांत सहयोग को भूल जाना कृतघ्नता होगी।

मेरे परम गुरु वीरशैवाचार्य **श्रीमन्महाराज निरंजन जगद्गुरु जय-विभव मुरुघराजेंद्र महास्वामी जी**, बृहन्मठ, महासंस्थान चित्रदुर्ग, मैसूर स्टेट का ससंमान स्मरण करना मैं पुनीत कर्तव्य समझता हूँ क्योंकि अपने उद्देश्य-पथ पर अग्रसर होते समय जब जब मैं तिमिराच्छादित हुआ तब तब उन्होंने मुझे न केवल प्रकाश दिखाया अपितु संबल भी प्रदान किया।

काशी आकर अध्ययन करने का मेरा स्वप्न साकार न हुआ होता यदि मेरे सांप्रदायिक गुरु श्रीशंकर स्वामी जी, नंदीवेरी मठ, गदग ने योगदान और साहाय्य न किया होता। मैं उनके प्रति विनयावनत हूँ।

काशी स्थित जगद्गुरु जयदेव छात्रावास के अध्यक्ष श्रीगुरु शांत स्वामी जी महाराज, खासा मठ, कोल्हापुर मेरे ऊपर सदैव सदय और कृपालु रहे हैं और आड़े समय काम आते रहे हैं, अतः उनका उपकार विस्मृत नहीं किया जा सकता।

इस अनुवाद के प्रस्तुत करने में जिन महानुभावों से जिस किसी प्रकार की सहायता जब कभी मुझे प्राप्त हुई है उन सबके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

हिंदी में ग्रंथलेखन का यह मेरा प्रथम प्रयास है। इसलिए इसमें नाना प्रकार की त्रुटियों की संभावना है। मेरा विश्वास है कि सहृदयजन उसपर ध्यान न देंगे। यदि ध्यान जाए तो उसे कुमारप्रयास समझकर क्षमा करें। यदि कहीं गुण दिखाई दे तो उसका सारा श्रेय इस ग्रंथ का परिमार्जन, उपस्करण करनेवाले उपरिकथित आदरास्पद-श्रद्धास्पद गुरुजनों को।

विजयादशमी, २०१७
वाराणसी

शिवकुमार देव

प्रस्तावना

कर्म, भक्ति अथवा योग-मार्ग द्वारा जीवभूमि से उत्थित होकर ईश्वर-भूमि तक आरोहण करने की मनुष्य की क्रमिक प्रचेष्टा का धारावाहिक विवरण विश्व की विभिन्न भाषाओं के धर्मसाहित्य में अल्पाधिक मात्रा में सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होता है। शैव, वैष्णव, बौद्ध, सूफी और खिष्टीय संप्रदाय के अध्यात्म मार्ग में भी इस प्रकार का विवरण उपलब्ध होता है। मिस्टिक (Mystic) और संतसाहित्य में भी ऐसे वर्णन प्रायः मिलते हैं। परंतु नवप्रकाशित 'श्रीप्रभुदेव वचनामृत' नामक प्रस्तुत ग्रंथ के साथ इस प्रकार के अधिकांश ग्रंथों की समता नहीं की जा सकती। अपनी प्रचुर प्रमेय-सामग्री के कारण उनकी अपेक्षा इसका स्थान बहुत ऊँचा है।

इस ग्रंथरत्न की रचना खिष्टीय द्वादश शताब्दी में विद्यमान श्री अल्लम प्रभु अथवा प्रभुदेव नामक एक योगसिद्ध, महाज्ञानी, संत महात्मा ने की थी। इसलिए यह प्रभुदेव वचनामृत नाम से प्रख्यात हुआ। श्रीप्रभुदेव जी दक्षिण देश—बळ्ळिगावि (मैसूर स्टेट) के निवासी थे। उन्होंने अपनी मातृभाषा कन्नड में इन वचनों की रचना की थी, इसलिए इनका उस भाषा के अतिरिक्त सार्वभौम प्रसार नहीं हो सका। किंतु इनके रचयिता महात्माजी का महनीय जीवनवृत्त विभिन्न देशों की भाषाओं में उल्लिखित और आलोचित हो चुका है, अतः उनकी उज्ज्वल कीर्ति प्रायः सभी देशों में व्याप्त है। यह बड़े हर्ष का विषय है कि हिंदी अनुवाद के अतिरिक्त संस्कृत और अँगरेजी में भी इसका अनुवाद हो रहा है।

इस ग्रंथ के कई वैशिष्ट्य हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है—प्रथम वैशिष्ट्य यह है कि इसमें आरोहक्रम की आलोचना के पहले आत्मा के परमस्थान से जीवरूप में अवरोहण का विवरण दिया गया है। तत्त्वालोचन की दृष्टि से इस क्रम की विशेष उपयोगिता है। इसका द्वितीय वैशिष्ट्य है—इसमें एक निर्दिष्ट दृष्टिभंगी ही प्रतिपादित है। वह है वीरशैव संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत की दृष्टिभंगी[1]। इसका तृतीय वैशिष्ट्य यह

---

१. द्रष्टव्य मेरा निबंध : सम आस्पेक्ट आव वीरशैव फिलासफी, सरस्वती भवन स्टडीज, वाल्यूम २, पृ० १३७–१५८।

है कि जिन महापुरुषों ने इन दिव्य वचनों की रचना की थी वे कोई शास्त्र-व्यवसायी नहीं थे। किंतु उन्होंने स्वयं आत्मबल तथा महेश्वर की कृपा से महाज्ञान एवं पराभक्ति के चरम शिखर पर आरूढ़ होकर उससे भी ऊर्ध्व स्थिति प्राप्त की थी। उनकी सभी उक्तियाँ अपरोक्ष अनुभवसिद्ध हैं, परंतु उनका प्रकाश स्वभावतः ही उनकी अपनी व्यक्तिगत दृष्टिभंगी द्वारा नियंत्रित है।

प्रसिद्धि है कि श्रीप्रभुदेवजी सिद्धदेहसंपन्न महायोगी थे। नाथपंथ तथा अन्य संप्रदाय के योगियों में भी उस समय देहसिद्ध बहुत पुरुष विद्यमान थे। चौरासी सिद्धों की बात तो सर्वविदित ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें से किसी-किसी के काल तथा संप्रदाय के विषय में मतभेद हो सकता है, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि बहुसंख्यक सिद्धपुरुष उस समय विद्यमान थे एवं इस समय में भी गुप्तरूप में विद्यमान हैं। परंतु यह कायसिद्धि सभी के लिए एक प्रकार की नहीं है। सुप्रसिद्ध गोरक्षनाथ भी सिद्धदेह थे तथा प्रभुदेव भी सिद्धदेह ही थे; फिर भी दोनों की यह काय-संपत् एक सी नहीं थी। यदि वज्रांगत्व को कायसंपत् मान लिया जाय (द्रष्टव्य पातंजल योगदर्शन) तो उस प्रकार की कायसंपत् गोरक्षनाथ की थी, परंतु प्रभुदेव के लिए कायसिद्धि का आदर्श उससे विलक्षण था[1]। प्रभुदेव तथा गोरक्षनाथ का पारस्परिक संवाद ऐतिहासिक हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता, परंतु प्रतीत होता है कि यह अमूलक नहीं है। यदि अमूलक भी हो तो भी इस आख्यायिका में अर्थात् प्रभुदेव-गोरक्षनाथ-संवाद में आदर्श का पार्थक्य स्पष्ट ही उपलब्ध होता है।

इस अतुलनीय ग्रंथ का राष्ट्रभाषा हिंदी में अनुवाद करनेवाले श्रीयुक्त शिवकुमार देव ब्रह्मचारी एक उत्साही नवयुवक व्यक्ति हैं। ये स्वयं वीरशैव संप्रदाय के अनुयायी हैं, इनकी मातृभाषा भी कन्नड ही है एवं इन्होंने कन्नड भाषा में प्रकाशित अत्यंत विस्तृत वीरशैव-साहित्य का गंभीर अनुशीलन किया है। विशेषतः स्वयं उपासक होने के नाते इनकी चित्तवृत्ति अंतर्मुखी है। इसके अतिरिक्त संस्कृत और हिंदी भाषा पर भी इनका अधिकार है। मैं इनको कतिपय वर्षों से विशेष रूप से जानता हूँ। इसलिए इस कार्य के संपादन के लिए ये ही मुझे सब से उपयुक्त व्यक्ति प्रतीत हुए थे। काशी

---

१. द्रष्टव्य मेरा निबंध : 'कायसिद्धिः' सारस्वती सुषमा, वर्ष १४ अंक, १–२ पृष्ठ ६७।

नागरीप्रचारिणी सभा ने इस उत्तम ग्रंथ के प्रकाशन में इन्हें नियोजित कर सराहनीय कार्य किया है ।

लेखक ने इस वचनामृत के अनुवाद तथा व्याख्यान के अतिरिक्त इसमें एक उत्तम भूमिका भी संलग्न कर दी है। उसमें शैवागम के अल्प परिचय के साथ वीरशैव संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांतों की संक्षिप्त आलोचना की गई है (पृष्ठ १–३५ तक), एवं साथ ही साथ प्रभुदेवजी के जीवनवृत्त की भी सुंदर समीक्षा की गई है (पृष्ठ ३६–५५)। इससे ग्रंथ की उपयोगिता और बढ़ गई है ।

इस ग्रंथ के हिंदी में प्रकाशन से हिंदीसाहित्य का भंडार ही नहीं भरा अपितु साधना तथा उपासना के विषय में उपलब्ध प्रामाणिक साहित्य की भी श्रीवृद्धि हुई। हिंदी आज राष्ट्रभाषा है। उसकी सर्वांगपूर्णता के लिए देश-विदेशों की भिन्न भिन्न भाषाओं में बिखरे हुए उत्तमोत्तम ग्रंथरत्नों के प्रकाशन से उसका भंडार परिपूर्ण होना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है। मैं आशा करता हूँ कि प्रकाशकों का ध्यान इस प्रकार के अध्यात्म-साहित्य के प्रकाशन की ओर भी आकृष्ट होगा तथा राष्ट्रभाषा के माध्यम से विभिन्न प्रादेशिक साहित्यों के बहुसंख्यक मूल्यवान् तथा दीर्घकाल से उपेक्षित ग्रंथ-रत्नों का भी उद्धार हो सकेगा ।

(२) ए सिगरा
वाराणसी
३०–८–६०

गोपीनाथ कविराज

अनुवचन

किसी साधना में सामान्यतया दो पक्ष होते हैं—एक विचारपक्ष और दूसरा आचारपक्ष। आचार और विचार से संस्कृत होने पर ही किसी व्यक्ति का संस्कार होता है और इस प्रकार के संस्कार से युक्त व्यक्तियों के द्वारा किसी जाति की संस्कृति बनती है। आचार-विचार का ग्रहण ऐहिक साधना-प्रवाह में भी होता है और आमुष्मिक साधना-प्रवाह में भी। ऐहिक प्रवाह में जीवनयापन का स्वरूप एक प्रकार का होता है और आमुष्मिक प्रवाह में दूसरे प्रकार का। सामान्यतया ऐहिक प्रवाह प्रवृत्तिमूलक होता है और आमुष्मिक प्रवाह निवृत्तिमूलक। भारतीय परंपरा ने 'निवृत्तिस्तु महाफला' कहकर यह स्वीकार कर लिया है कि निवृत्तिमूलक साधना ही सर्वोत्तम है। प्रवृत्तिमूलक साधना गृहस्थों के लिए और निवृत्तिमूलक साधना संन्यस्तों या विरक्तों के लिए है। गृहस्थों की प्रवृत्तिमूलक साधना निवृत्ति की विरोधिनी नहीं। गृहस्थ भी आगे चलकर वानप्रस्थ और संन्यास का ग्रहण करके निवृत्तिमूलक साधना में प्रविष्ट हो जाता है। संन्यस्तों को भी जीवनधारण के लिए प्रवृत्तिबोधक कर्म करने ही पड़ते हैं।

देवी भागवत में शुकदेवजी ने अपने पितृचरण से निवृत्तिमूलक संन्यस्त जीवन को लेकर शास्त्रार्थ किया और प्रमाणित किया कि जब निवृत्ति ही चरम लक्ष्य है तो आरंभ से ही उसी में लीन होना श्रेयस्कर है। उनके जनक व्यासदेव ने अपने को पुत्र के शास्त्रार्थ में पराजित देखकर उससे विदेह जनक के निकट जाकर शास्त्रार्थ करने को कहा। शुकदेवजी पिता के आदेश से विदेहराज जनक के निकट मिथिला गए और उनसे इस विषय में शास्त्रार्थ कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आरंभ से ही निवृत्ति की साधना करने में स्खलन की संभावना रहती है। इसलिए यह सबके लिए श्रेयस्कर नहीं है। उन्होंने इसे अपने लिए भी श्रेयस्कर नहीं समझा और पितरों की पीवरी नाम्नी पुत्री से विवाह कर पहले गृहस्थों की प्रवृत्तिमूलक साधना में लीन हुए। उन्हें यह भली भाँति समझ में आ गया कि निवृत्तिमूलक साधना में भी प्रवृत्ति के लिए अवकाश रहता है। इस प्रकार प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति की स्थिति अनिवार्य है। केवल लक्ष्यभेद से ही साधना में भेद हो जाता है। कोई गृहस्थ भी बहिरंग प्रवृत्तिमूलक स्थिति में रहते हुए

निवृत्तिमूलक साधना को लक्ष्य में रखकर जीवनयापन कर सकता है। ऐसी ही साधना विदेहराज जनक की थी, जिन्होंने तुलसीदास के शब्दों में 'जोग भोग महँ राखेउ गोई'। योग (निवृत्ति) को उन्होंने भोग (प्रवृत्ति) में छिपा रखा था। ऊपर से वे भोगवादी दिखते थे पर थे योगवादी। भौतिक आकर्षणों के संग्रह और त्याग में मुख्य होती है दृष्टि। यदि त्यागदृष्टि से संग्रह है तो निवृत्ति का महाफलत्व सुरक्षित है।

आचार और विचार की भी यही स्थिति है। साधना में दोनो होते हैं। इसलिए कहीं तो आचार पर प्रधान दृष्टि रहती है और कहीं विचार पर। इसी से दो प्रकार की साधनाएँ हो जाती है—आचारप्रधान साधना और विचारप्रधान साधना। आचार का संबंध हृदय से और विचार का संबंध बुद्धि से है। आचारप्रधान साधना श्रद्धा पर या हृद्वृत्ति पर बल देती है और विचारप्रधान साधना बुद्धि पर। पहली श्रत्प्रतिष्ठ या हृत्प्रतिष्ठ होती है और दूसरी तर्कप्रतिष्ठ। बुद्धि अपनी निश्चयात्मिका वृत्ति के कारण ज्ञान का जैसा आलोक उपस्थित करती है श्रद्धा के कारण अंतःसंज्ञा में वैसा ही आलोक स्वतः हो जाता है। निर्मल बुद्धि किसी ज्ञान की उपलब्धि करके भी आचरण के लिए हृदय का मुँह देखती है। पर निर्मल हृदय में आचरण विचार या ज्ञान से संपृक्त उपलब्ध हो जाता है। ज्ञानोपलब्धि से कार्य पूर्ण न होने के कारण तदनंतर आचरण अनिवार्य होता है। परम-भावोपलब्धि के लिए विचार या ज्ञान को तदनंतर ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं रहती। परमभाव में या परमसत्ता में भावात्मक और ज्ञानात्मक दोनो सत्ताएँ रहती हैं। इसलिए उसे ज्ञान के लिए पृथक् से प्रयास नहीं करना पड़ता। पर ज्ञानात्मक सत्ता या प्रज्ञोपलब्धि में भाव अनुस्यूत नहीं होता, इसलिए उसके लिए पृथक् प्रयास करना पड़ता है। शुद्ध ज्ञानो-पलब्धि अ-भावात्मक होती है। इसी से उसकी ओर उसे पुनः जाना पड़ता है। एक साधना पृथक्प्रयत्नकृत है और दूसरी अपृथक्प्रयत्नकृत। हिंदी के प्रसिद्ध आधुनिक कवि 'प्रसाद' ने अपनी 'कामायनी' में श्रद्धा (हृदय या भाव) को इड़ा (ज्ञान या बुद्धि) से श्रेष्ठतर इसी हेतु दिखाया है। बड़े बड़े महापुरुष इस दूसरी श्रद्धामूलक साधना में जो दर्शन करते हैं उसका आभास अपने 'वचनों' द्वारा लोक में देते रहते हैं।

भारतीय साधना के विविध रूपों में विचारप्रधान साधना भक्ति के आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित संप्रदायगत साधना है। 'संप्रदाय' अविच्छिन्न

अनादि परंपरा से संबद्ध होता है। पुराकल्प में किसी को कोई दृष्टि मिली, कोई दर्शन हुआ तो उसने तर्कों द्वारा उसे प्रमाणित किया और उसमें भावसाधना का मेल कर दिया। अनेक आचार्य गुरु अपने शिष्यों को विधिपूर्वक इसकी शिक्षा-दीक्षा देते आए और आगे भी वे देते रहेंगे। गुरुपरंपरा के द्वारा सम्यक् प्रकार से यह शिक्षा-दीक्षा शिष्यपरंपरा को दी जाती रही है, यही इसके 'संप्रदाय' (सम्यक् प्रदान) कहलाने का कारण है। 'अनादि' को इन संप्रदायों ने देवकोटि से जोड़कर उसके आदिरूप का संकेत किया। श्री, ब्रह्म, रुद्र, सनकादि संप्रदाय के आदिआचार्य देवकोटि के हैं। प्रत्यक्ष गुरु का माहात्म्य होने पर भी वहाँ गुरु के नाम पर संप्रदाय प्रथित नहीं है। यों इन संप्रदायों को तर्कप्रतिष्ठ दार्शनिक दृष्टि देनेवाले आचार्यों के नाम से भी संकेतित करते हैं। पर यह सब परवर्ती कल्पन है। इतना होने पर भी, नरकोटि के आचार्यों के नाम पर कथित होने पर भी, इनके देवकोटि के आचार्यों का निषेध नहीं होता। देवकोटि से संबद्ध होने के कारण कुछ आधुनिक विमर्शकों ने इन भक्तिसंप्रदायों को 'देवमार्ग' कहना उचित समझा है।

विचारप्रधान या तर्कप्रतिष्ठ संप्रदाय इसी से व्यक्तिविशिष्ट नहीं होते, पर आचारप्रधान या हृत्प्रतिष्ठ साधनाशैली व्यक्तिविशिष्ट होती है। प्रत्येक सिद्ध या महात्मा जिस प्रकार का अंतर्दर्शन करता है वह उसके द्वारा विशिष्ट रूप में दृष्ट होने के कारण उसी के नाम से विख्यात होता है। कबीर, नानक, दादू आदि सिद्ध-महात्माओं ने जो अंतर्दर्शन किया उसे उन्होंने साधना के लिए लौकिक बाह्य वचनों में व्यक्त किया। इन महात्माओं के नाम पर इनकी आचारप्रधान साधना प्रख्यात हुई। इन आचारविशिष्ट साधनाओं की ख्याति इनके द्रष्टा या प्रवर्तक महात्माओं अथवा गुरुओं के नाम से होने के कारण इन्हें कुछ विमर्शक 'गुरुमार्ग' कहकर इन्हें 'देवमार्ग' से भिन्न करते हैं। ये आचारविशिष्ट साधनाएँ अपने आदिगुरुओं या प्रवर्तकों के नाम पर 'पंथ' कहलाती हैं। 'महाजनो येन गतः स पंथाः' यहाँ भी ठीक है। किसी महात्मा ने जो मार्ग दृष्ट किया वह अनेक अनुयायियों के लिए गम्य हो जाता है। उस मार्ग या पंथ को यदि उसके द्रष्टा के नाम पर अभिहित करें तो ठीक ही है।

आचारप्रधान साधना का विशिष्ट रूप इसमें है कि जिस तत्त्वज्ञान की उपलब्धि हो गई है उसके अनुरूप आचरण किया जाए। केवल किसी के

ज्ञान से कुछ नहीं होता, उस ज्ञान के अनुरूप आचरण होना मुख्य है। इसी से कबीर ने कहा है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित हुआ न कोय।
एकै आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

ज्ञान आनंदस्वरूप माना जाता है। यह ठीक है। किसी ज्ञान की उपलब्धि आनंदप्रदायिनी होती है। पर आनंद ज्ञान के आश्रित होकर परमुखापेक्षी होता है। आनंद को भावात्मक या रसात्मक पद्धति पर ग्रहण करने से वह अपने सहज रूप में प्राप्त होता है। जब आनंद ही चरम प्राप्ति है तब उसे यदि सहज रूप में प्राप्त किया जाए तो उत्तम है। आनंद की सहज रूप में प्राप्ति और अप्रकृत रूप में प्राप्ति में अंतर है। ज्ञान शुद्ध आनंदात्मक नहीं है। भौतिक सुख-दुःख, हर्ष-विषाद उसमें लगे रहते हैं। पर आनंद की सहज रूप में या रसात्मक रूप में उपलब्धि नित्य आनंदप्रद होती है। ऐसी दृष्टि विश्वचक्र के मूल में आनंद ही आनंद मानती है। ऐसी दृष्टि आनंदवादी दृष्टि होती है। दुःख-विषाद का अस्तित्व उस दृष्टि में होता ही नहीं। यद्यपि भक्तों को रसोपासना में भी हर्ष और विषाद स्वादवाद माने जाते हैं, अर्थात् यह स्वीकार किया जाता है कि जायका बदलने के लिए हर्ष और विषाद की द्वैत कल्पना कर ली जाती है, परमार्थतया ऐसा है नहीं, तथापि सांप्रदायिक भक्तों से आनंदवादी आचारप्रधान या रसप्रधान साधना में अंतर है। भक्तों की रसोपासना में हर्ष-विषाद को विषम स्थिति अपेक्षित-अनिवार्य है। इसलिए चाहें तो यों कह सकते हैं कि वहाँ विषम रसोपासना होती है, पर नित्य और एकरस आनंद को ही सिद्धांतपक्ष में स्वीकार करने वालों की सम रसोपासना होती है। हर्ष-विषाद के द्वैत की वहाँ कोई स्थिति नहीं। 'प्रसाद' ने सामरस्य-सिद्धांत के विश्लेषण में भारतीय भक्तिमार्ग और साथ ही शांकर अद्वैत वेदांत मार्ग को भी जो द्वैतवादी कहा है उसका हेतु है कश्मीरी शैवदर्शन की अद्वैतानंदवादी दृष्टि। समरसता या सामरस्य नित्य आनंद और नित्य अद्वैत में विश्वास करता है।

भारत के दक्षिण में प्रचलित वीरशैवोपासना भी अद्वैतानंदवादी सामरस्य से ही संबद्ध है। वीरशैवागम के सिद्ध-महात्माओं ने इसी सामरस्य-साधना के कारण नाना प्रकार से वचन कहे हैं। ऐसा प्रवाह बहुत दिनों से उत्तर-दक्षिण में प्रवाहित है। हिंदीसाहित्य के निर्गुणप्रवाह के दार्शनिक

और ऐतिहासिक अध्ययन के लिए इस प्रकार के वचनों का हिंदी भाषा में रूपांतर वांछित है। मेरे प्रिय शिष्य श्रीशिवकुमार देव ने प्रभुदेवजी के वचनामृत का हिंदी में भाषांतर कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आवश्यकता इसकी है कि दक्षिण में इस प्रकार के जितने महात्मा हुए हों उनके वचनों का व्याख्यात्मक संग्रह ऐतिहासिक क्रम से उपस्थित किया जाए और उनकी साधनापद्धति पर विस्तार से विश्लेषणात्मक विचार हो। आशा है श्रीशिव-कुमार देव ने जब इस कार्य में हाथ लगाया है तो ये वीरशैवागम के सभी सिद्ध-महात्माओं की वचनावली और साधनावली के ऐतिहासिक क्रम से विवेचन में भी हिंदी भाषा के माध्यम द्वारा हाथ लगा देंगे। जिससे दक्षिणी संतपरंपरा से भी उत्तरापथ के जिज्ञासु भली भाँति परिचित हो जाएँ। मेरा विश्वास है कि वचनवाङ्मय के इस प्रकार के भाषांतर से अनेक नवीन तथ्य सामने आएँगे और नाना प्रकार की भ्रांतियों का उच्छेद हो जाएगा।

श्रीशिवकुमार देव वीरशैवागम के पंडित और उपासक दोनों हैं। इन्होंने प्रभुदेव के वचनामृत का हिंदी रूपांतर कर अत्यंत उपयोगी कार्य किया है। ऐसे वचनों के भाषांतर में भाषा का बोधगम्य होना अपेक्षित था। इस कार्य के लिए इन्होंने मुझसे सहायता चाही और मैंने यथावकाश यथासामर्थ्य इनकी सहायता की। श्रीशिवकुमार देव इस वांछित और ज्ञानवर्द्धक कार्य के संपन्न करने के लिए हम सबके साधुवाद के पात्र हैं।

शारद नवरात्र, २०१७
वाणी-वितान भवन,
ब्रह्मनाल, वाराणसी।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

अनुक्रमणिका

—०—

भूमिका

भारत के साधनाक्षेत्र में प्राचीन काल से ही दो धाराएँ चली आ रही हैं। उनमें से एक निगममूलक और दूसरी आगम या तंत्र-मूलक है। वैदिक साधना का पर्यालोचन एवं मनन आज भी पुष्कल रूप से प्रचलित हैं तथा ऐतिहासिक, पौराणिक आदि दृष्टिकोणों से अनुसंधान और गवेषणा भी हो रहे हैं। इसी प्रकार आगममूलक साधनाक्षेत्र में भी कुछ अनुसंधान का कार्य हुआ है। परंतु वैदिक साधना के अनुसंधान की दृष्टि से इस क्षेत्र में कम गवेषणा हुआ है। इसलिये इस क्षेत्र के निगूढ़ तत्वों का आविष्कार नहीं हो सका। विषयों का ठीक ठीक परिचय न होने के कारण केवल साधारण जनता में ही नहीं अपितु अनेक विद्वानों में भी इस आगमसाधना के विषय में अनेक भ्रांतियाँ फैली हैं। अतः अंतरंग जानना आवश्यक है।

वेद एवं आगम शब्दात्मक होने पर भी वस्तुतः ज्ञान के ही प्रकार-भेद हैं। यह ज्ञान दिव्य और अपौरुषेय है। मंत्रदर्शी ऋषिगण इसे प्राप्त कर सर्वज्ञ होते थे और अंत में आत्मज्ञान को पाकर जीवन सफल बनाते थे। जिन्होंने धर्मतत्त्व का साक्षात्कार किया है वे ऋषि, ज्ञानी नित्य, इंद्रियातीत सूक्ष्म (परा) वाक् का दर्शन करते हैं। जिन्हें धर्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है उनको सूक्ष्म वाक् का संवेदन कराने के लिये ऋषिगण उस अतींद्रिय वाणी को इंद्रियगम्य बनाने के लिये वेद बेदांग के रूप में प्रकट करते हैं। स्वप्नानुभूति को प्रकाशित करने के लिये जिस प्रकार स्थूल इंद्रियगोचर वाणी का प्रश्रय लेना पड़ता है उसी प्रकार अतींद्रिय सूक्ष्म वाक् का निरूपण क्रम है। इसी क्रम से ऋषियों ने वेद की भांति आगम को भी वाग्बद्ध किया है।

आगम और तंत्र—'आगम' इस संस्कृत शब्द में 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु और 'अच्' अर्थात् 'अ' प्रत्यय है। आङ् उपसर्ग का अर्थ व्याप्ति, मर्यादा तथा सूक्ष्म होता है। 'अच्' प्रत्यय करण अथवा साधन के अर्थ में है। किंतु 'गम्' धातु गत्यर्थक होने के कारण संस्कृत-व्याकरण के नियमानुसार 'गम्' धातु का अर्थ 'ज्ञान' होता है। इसमें 'आङ्' या 'आ' उपसर्ग लग जाने से पूर्णज्ञान का अर्थ बोधित होता है।

वायवीयसंहिता के २८वें अध्याय में—

शैवागमोऽपि द्विविधः श्रौताश्रौतश्च संस्मृतः।
श्रुति सारमयः श्रौतः स्वतंत्रस्त्वितरो मतः॥

परंतु इस विषय में अधिक आलोचना न करके केवल श्रौत शैवागमों के विषय में कुछ कहना प्रासंगिक है, क्योंकि प्रकृत ग्रंथ का विषय और तत्संबंधी वीरशैव-सिद्धांत इन्हीं आगमों से संबंधित हैं।

पहले संकेत किया गया है कि आगम या तंत्र का स्वरूप मूलतः एक ही है। परंतु परवर्ती आचार्यों ने अपनी अपनी अनुभूतियों के अनुसार उसकी विवेचना की है। इसी प्रकार शैवागमों को माननेवालों में भी अनेक अवांतर विभाग हैं। जैसे—वैदिक, पाशुपत, काश्मीर शैव आदि।

कामिक (२) योगज (३) चिन्त्य (४) कारण (५) अजित (६) दीप्त (७) सूक्ष्म (८) सहस्र (९) अंशुमान (१०) विजय (११) निश्वास (१२) स्वायंभुव (१३) अनल (१४) वीर (१५) रौरव (१६) मुकुट (१७) विमल (१८) चंद्रज्ञान (१९) बिंब (२०) ललित (२१) प्रोद्गीत (२२) सिद्ध (२३) संतान (२४) सर्वोक्त (२५) पारमेश्वर (२६) सुप्रभेद (२७) किरण और (२८) वातुल। इन २८ शिवागमों को आधार मानकर दक्षिणशैव वीरशैव आदि सिद्धांत प्रवर्तित हैं।

इस प्रकार विविध शैवमतों का मूल स्रोत एक होने पर भी उनकी विवेचना-पद्धति अपने वैलक्षण्य के साथ वर्णित है। प्रकृत में पाठकों के लिये वीरशैवाचार्यों की सृष्टिक्रम से लेकर मोक्षप्राप्तिपर्यंत की विवेचना-पद्धति का स्थूल रूप दिया जा रहा है—

वीरशैव-सिद्धांत

सृष्टिक्रम—वीरशैवों की सृष्टि की रचना में एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया है। उनके तत्त्व वेदांत आदि दर्शनों के तत्त्वों की भाँति नहीं हैं शिवागम के अनुसार हैं। ऊपर निर्देश किया गया है कि शैवों में भी शैवसिद्धांत एवं काश्मीर शैव आदि भेद हैं। परंतु वीरशैवों ने एक विशिष्ट मार्ग का अवलंबन कर अपने सिद्धांत की स्थापना की है। इसीलिये उनकी विचारधारा अन्यान्य शिवागमों के अनुरूप होने पर भी उनमें कुछ परिवर्तन

के साथ वे विषय का विवेचन करते हैं। उनके सृष्टिविवेचन में साधारणतः तीन विभाग हैं—(१) नाद-बिंदु-कला (२) सादाख्य (३) और षडध्व।

जगत् की सृष्टि के पूर्व परब्रह्म निरवयव निराकार और सर्व-शून्य निरालंब अवस्था में था। उस परब्रह्म को व्यंजनरहित 'ह' कार कहते हैं। उस ब्रह्म (ह) से अर्ध (हार्ध) 'ह्' कार की उत्पत्ति हुई। इसी 'ह्' (हार्ध) कार को निरंजन ब्रह्म कहते हैं। यह अर्ध (हार्ध) 'ह्' कार उच्चारणयोग्य नहीं है। इस 'ह्' कार या निरंजन ब्रह्म से शून्य ब्रह्म नामक 'ॡ' कार प्रणव की उत्पत्ति होती है। इस शून्य ब्रह्म से निष्कल ब्रह्म नामक ॐ कार प्रणव का आविर्भाव हुआ। यह ॐ कार प्रणव रूपी निष्कल ब्रह्म एकाकी एवं ध्यानपूजा से रहित होकर विद्यमान था। इसी निष्कल ब्रह्म को विश्व की रचना करके उसमें क्रीड़ा करने की इच्छा हुई। यह इच्छा जब स्थिर हो गई तब इसी से मूलज्ञानचित् की उत्पत्ति हुई। उस मूलज्ञानचित् से चिन्नाद, चिद्बिंदु तथा चित्कला का आविर्भाव हुआ। चिन्नाद, चिद्बिंदु, चित्कला एवं मूलज्ञानचित् ये चारों मिलकर अखंड गोलकाकार ॐ कार का अपरपर्याय 'महालिंग' बन गया। इस ॐ कार अर्थात् 'महालिंग' में चिच्छक्ति का समावेश रहने के कारण उससे नाद, बिंदु तथा कला की उत्पत्ति हुई। महालिंग का स्वरूप निरामय, निरंजन, नित्य, निर्गुण, निष्कल इन पाँच लक्षणों से युक्त है। यही महालिंग महा आदि (सृष्टि का मूल) कहलाता है। 'अ' कार ही नाद, 'उ' कार ही बिंदु और 'म' कार ही कला है। जब इन तीनों की समष्टि हो जाती है ('अ' 'उ' 'म'=नाद, बिंदु, कला) तब वह ॐ कार कहलाता है। यही ॐ कार साकल्य अर्थात् साकार-प्रणव कहलाता है। यही प्रणव षडध्व, षट्स्थल, सप्तकोटि महामंत्र, वेद, आगम, चतुर्विध (परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी) वाक् और क्रियाशक्ति आदि का कारण बनकर बिंदु, महामाया, कुटिला, कुंडलिनी, क्रियाशक्ति, परनाद, परबिंदु, परिग्रहशक्ति, पराविद्या, शब्दतत्त्व, नादब्रह्म, शुद्धमाया, षडध्वबीज, मंत्रयोनि, शिवलिंगपीठ, योगपीठ, व्योम, विद्याशक्ति, वागीश्वरी, अनाहत, महालिंग, सुमन, कलामालिनी, ब्रह्म, शिवतत्त्व इत्यादि नाम से प्रसिद्ध है।

इसके पश्चात् जगत् (कर्तृसादाख्य, कर्मसादाख्य आदि) पाँच सादाख्यों से होकर प्रकट होता है। यह द्वितीय अवस्था है। इन सादाख्यों से सृष्टि के लिये आवश्यक अनेक प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

यह द्वितीय अवस्था जब प्राप्त होती है अर्थात् सदाख्यों की सृष्टि होती है तब इनकी शक्तियों के संचारण के लिये षडध्वों की सृष्टि होती है। सृष्टि की प्रक्रिया में वीरशैव-आचार्य इस प्रकार सर्वशून्य निरालंब से लेकर दृश्य-जगत् का आविर्भाव स्वीकार करते हैं। यहाँ शून्य शब्द का अभिप्राय परशिव अथवा परब्रह्म से है। किंतु बौद्ध आदि का शून्य नहीं है।

उपर्युक्त नाद, बिंदु, कला, सादाख्य एवं षडध्वों का ज्ञान वीरशैवों के षट्स्थल-सिद्धांतज्ञान के लिये मूल (कारण) होता है। षट्स्थल-सिद्धांत की विस्तृत विवेचना शैवागम और कन्नड वचनशास्त्र में मिलता है। किंतु उसका संक्षिप्त विश्लेषण प्रसंगानुसार किया जायगा।

(१) नाद, बिंदु, कला—ये जगत् एवं मनुष्य की समस्त अवस्थाओं में परिणाम उत्पन्न करते हैं। विश्व की सृष्टि के समय इनका उदय होता है।

नाद—पहले कहा गया है कि आरंभ में जगत् सर्वशून्य निरालंब स्थिति में रहता है। उस समय परशिव को जगदुत्पत्ति की इच्छा होती है। वही इच्छा महाज्ञानचित् कहलाती है। इसी चित् से नाद की उत्पत्ति होती है। नाद महाचित् में वर्तमान एक प्रकार का कंपन अथवा स्फुरण है। इस नाद के स्फुरण के कारण बिंदु का आविर्भाव होता है।

बिंदु—यह जगत् घनीभूत (स्थूल) होने की प्रथम अवस्था है। जिस प्रकार जल, जल और बुदबुद दो रूप में प्रकट होता है उसी प्रकार शिव के साथ समवेत रूप में रहनेवाली शक्ति समवायिनी तथा परिग्रह दो रूप धारण करती है। इसमें परिग्रहशक्ति बिंदु कहलाती है। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा अपरिणामिनी, निर्विकारा और स्वाभाविकी है। यही शक्ति तत्त्व है। यह शिव में नित्य समवेत रहती है। इस परिग्रहशक्ति या बिंदु के शुद्ध और अशुद्ध ये दो रूप हैं। साधारणतः शुद्ध रूप को ही बिंदु और महामाया कहते हैं। अशुद्ध रूप का नाम माया है। ये दोनों ही नित्य हैं। यही बिंदु शिव के नाना प्रकार की लीला के लिये कारण होता है। यही बिंदु सच्चिदानंद, नित्यपरिपूर्ण इत्यादि पंचपदलक्षितशिवतत्त्व १ सदाशिवतत्त्व १० और महेश्वरतत्त्व २५ कुल मिलाकर ३६ तत्त्वों में व्याप्त रहता है और अपने में शिव एवं शक्तियों को अधिष्ठित कर उनमें समवेत रूप से रहता है। यह शिवचैतन्य से बाहर न रहकर उस शिव और जीव के लिये अंग (शरीर) बनकर रहता है। यह देहली के ऊपर वर्तमान दीपक की भाँति सगुण और निर्गुण के रूप में वर्तमान रहता है।

कला—उपर्युक्त नाद और बिंदु जब परस्पर मिल जाते हैं तब कला की उत्पत्ति होती है। कला जगत् में प्रकट होनेवाली दृक्शक्ति है। इसी कला के द्वारा ही समस्त पदार्थों में गुण और क्रिया का उदय होता है। मूल में नाद चित्स्वरूप है। वह ॐ ॐ इस प्रकार सुघोष करता रहता है। बिंदु भी चित्स्वरूप है। वह प्रज्वलित स्तंभ की भाँति प्रकाशमान रहता है। कला भी मूलतः चित्स्वरूप ही है। वह मध्याह्न के प्रचंड कोटि सूर्य से भी अधिक प्रकाशस्वरूप है। जगत् के लिये नाद बीजस्वरूप है। नाद की अपेक्षा बिंदु कुछ स्थूल है। कला शिवशक्ति का द्योतक है। ये नाद, बिंदु, कला जिस प्रकार विश्व के लिये कारण हैं उसी प्रकार इस शरीर के लिये भी कारण हैं। देह में नाद प्राण है, बिंदु स्थूल शरीर है और कला चेतन है। इन तीनों के सम्मिश्रण से ही मनुष्य में कार्य की प्रवृत्ति होती है। इससे विदित होता है कि इन्हीं नाद, बिंदु, कला से जगत् के समस्त पदार्थों का प्रादुर्भाव, अस्तित्व तथा लय होता है। यह प्रथम सृष्टि है।

सादाख्य—सृष्टि के क्रम में द्वितीय अवस्था सादाख्यों की आती है। सृष्टि के उन्मुख अवस्था में उपर्युक्त चिद्बिंदु (अखंड गोलकाकार महालिंग) से सादाख्यों की सृष्टि होती है। ये सादाख्य जगत् के प्रकट होते समय उसके भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। सादाख्यों की संख्या पाँच है। उनके नाम—(१) शिवसादाख्य, (२) अमूर्तिसादाख्य, (३) मूर्तिसादाख्य, (४) कर्तृसादाख्य और (५) कर्मसादाख्य हैं। इनमें प्रथम से द्वितीय सादाख्य स्थूल होते जाते हैं। अर्थात् शिवसादाख्य की अपेक्षा अमूर्तिसादाख्य कुछ स्थूल है। अमूर्तिसादाख्य की अपेक्षा मूर्तिसादाख्य स्थूल है। इसी प्रकार अन्य को भी समझना चाहिए।

इन सादाख्यों से सृष्टि के कार्य में आवश्यक शक्ति, कला, अंग, पंचाक्षर, पंचमुख, कलामूर्ति तथा अधिदेवता आदि वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है—

शिवसादाख्य—निष्कल शिवतत्त्व से पराशक्ति की, उससे शांत्यतीतकला की, उससे प्रसादलिंग की, उससे शिवसादाख्य की, इस सादाख्य से महादेव की, उससे क्षेत्रज्ञ (शरण) की, उससे सदाशिव की उत्पत्ति, होती है। सदाशिव से 'आकाश' का उदय होता है।

अमूर्तिसादाख्य—निष्कल शिव से आदिशक्ति का उदय, उस शक्ति से शांतिकला का, उस कला से 'जंगमलिंग' का, उससे अमूर्तिसादाख्य का,

उससे भीमेश्वर, उससे कर्तार नामक प्राणलिंग का उदय होता है, उससे ईश्वर और ईश्वर से वायु की उत्पत्ति होती है।

मूर्तिसादाख्य—निष्कल शिवतत्त्व से इच्छाशक्ति, उससे विद्याकला, विद्याकला से शिवलिंग, शिवलिंग से मूर्तिसादाख्य, उससे महारुद्र, उससे भाव नामक प्रसादी, उससे रुद्र और रुद्र से अग्नि की उत्पत्ति होती है।

कर्तृसादाख्य—निष्कल शिव से ज्ञानशक्ति, उससे प्रतिष्ठाकला, उस कला से 'गुरुलिंग', उससे कर्तृसादाख्य, उससे शर्व नामक कलामूर्ति, कलामूर्ति से चैतन्य नामक महेश्वर, महेश्वर से विष्णु और विष्णु से अप की उत्पत्ति होती है।

कर्मसादाख्य—निष्कल शिव से क्रियाशक्ति, उससे निवृत्तिकला, उस कला से 'आचारलिंग', उससे कर्मसादाख्य, कर्मसादाख्य से भव नामक कलामूर्ति, उससे अन्तर्यामी भक्त, भक्त से ब्रह्म, उस ब्रह्म से पृथ्वी, नर, सुर, असुर, अंडज, स्वेदज, उद्भिज, जरायुज आदि सकल प्रपंच की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार सृष्टि के क्रम में सुव्यवस्थित कार्य संपादन के लिये वे सब आवश्यक होते हैं। इन सादाख्यों की सृष्टि क्रमशः होती है और उत्तरोत्तर स्थूल होते होते पदार्थों को प्रत्यक्ष कराने के लिये कारणीभूत पंच महाभूतों की उत्पत्ति के कारण होते हैं। प्रत्येक सादाख्य में जगत् के कार्यों के लिये आवश्यक वस्तु और शक्ति आदि रहती हैं। इन सादाख्यों के संचालन के लिये सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्म आदि अधिदेवता हैं। इसी प्रकार पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति भी रहती हैं। सृष्टि के लिये ये जिस प्रकार कारण होते हैं उसी प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि भी कारण हैं। इनकी उत्पत्ति क्रमशः इन्हीं सादाख्यों से होती है। इन (पंचभूतों) के तत्त्व सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में रहते हैं और वे उन पदार्थों के लिये कारण होते हैं। इनका विशेष विवरण तत्त्वों के विवेचन में दिया जायगा।

ये सादाख्य शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर आदि पाँच मुखों से भी प्रसिद्ध हैं। उन पाँच मुखों में पंचाक्षरी (नमः शिवाय) महामंत्र है। अर्थात् सद्योजात मुख में 'न' कार, वामदेव मुख में 'म' कार, अघोरमुख में 'शि' कार, तत्पुरुष मुख में 'वा' कार, ईशान मुख में 'य' कार प्रणव हैं। इन

पंचाक्षरों से पंचकला की उत्पत्ति होती है—'न' कार से निवृत्तिकला, 'म' कार से प्रतिष्ठाकला, 'शि' कार से विद्याकला, 'वा' कार से शांतिकला, 'य' कार से शांत्यतीत कला।

इन कलाओं से शक्तियों की उत्पत्ति—निवृत्ति कला से क्रियाशक्ति, प्रतिष्ठाकला से ज्ञानशक्ति, विद्याकला से इच्छाशक्ति, शांतिकला से आदि-शक्ति और शांत्यतीतकला से पराशक्ति।

इन शक्तियों से पाँच करणों की उत्पत्ति—क्रियाशक्ति से चित्, ज्ञान-शक्ति से बुद्धि, इच्छाशक्ति से अहंकार, आदिशक्ति से मन, पराशक्ति से ज्ञान, होती है।

इन करणों से पंच तन्मात्र—चित् से गंध, बुद्धि से रस, अहंकार से रूप, मन से स्पर्श और ज्ञान से शब्द उत्पन्न होते हैं।

इन तन्मात्राओं से पंचभूत—गंध से पृथ्वी, रस से अप्, रूप से अग्नि, स्पर्श से वायु, शब्द से आकाश की उत्पत्ति होती है।

ये पंचभूत पंचीकृत होकर एक एक पाँच पाँच प्रकार के होते हैं। कुल मिलाकर २५ हैं। इनके सम्मिश्रण से शरीर की रचना होती है।

(३) **अध्व**—सृष्टि की तीसरी अवस्था अध्व है। अध्व का अर्थ मार्ग या आधार है। ऊपर कह आए हैं कि सृष्टि के आरंभ में सादाख्यों की सृष्टि होती है। इनके आविर्भावकाल में विश्व में गमनागमन होता है। इस के कारण सादाख्य जिस मार्ग से प्रकट होते हैं उसी को अध्व कहते हैं। अर्थात् शक्ति के संचार के लिये एक मार्ग या आधार की आवश्यकता होती है। उस मार्ग या आधार की प्राप्ति के कारण ही शक्ति प्रकट होती है। इसी आधार को अध्व कहते हैं।

मंत्र, पद, वर्ण, तत्त्व, भुवन एवं कला—इस प्रकार छह अध्व हैं। शैवागमों में इनके लिये बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। शैव एवं काश्मीर शैव आदि सिद्धांतों में इनका विवेचन विशेष रूप से मिलता है। वीरशैव-सिद्धांत में भी इन अध्वों का उल्लेखनीय विचार मिलता है। किंतु दीक्षा-काल में षडध्वशुद्धि के पश्चात् प्रत्येक वीरशैव को षट्स्थल मार्ग के अनुसार उपासना या साधना करनी पड़ती है। अतः इनके यहाँ अध्वों का संक्षिप्त विवेचन, और षट्स्थलसिद्धांत का विशेष वर्णन किया गया है।

जिस प्रकार तार के द्वारा विद्युत् प्रवहमान होती है उसी प्रकार सादाख्यों के लिये अध्व तार के समान है। इन्हीं अध्वों के सहारे विश्व प्रकट होता है। अतः विश्व में सर्वत्र इनकी व्याप्ति है।

अध्व और सादाख्यों का संबंध मकड़ी और उसके जाल की तरह है। जिस प्रकार मकड़ी की चारों ओर जाल फैला हुआ रहता है उसी प्रकार सादाख्य भी समस्त संसार में फैले हैं। किंतु एक जाल के वलय से दूसरे वलय में जाने के लिये मकड़ी जिस प्रकार उन वलयों के भीतर से अंतिम वलय तक एक सरल तंतु का निर्माण कर उन उन जाल-वलयों से आने जाने के लिये स्थान (मार्ग) बना लेती है उसी प्रकार परशिव से निकली हुई शक्तियाँ षडध्वमूलक समस्त विश्व में अर्थात् सादाख्यों में फैल जाती हैं। पहले अव्यवस्थित रूप से रहनेवाला जगत् इन्हीं अध्वों के कारण व्यवस्थित होता है। अध्वों में कुछ सूक्ष्म, कुछ स्थूल और कुछ अत्यंत सूक्ष्म हैं। परंतु इनमें परस्पर संबंध है, इन्हीं से विश्व में विविधता उत्पन्न होती है।

अनुमान है कि अध्वों की संख्या अधिक है, परंतु वीरशैवाचार्यों ने उसमें छह ही अध्वों को मुख्य माना है। इन षडध्वों में वे दो विभाग करते हैं—एक में मंत्र, पद, वर्ण दूसरे में भुवन, तत्त्व, कला। प्रथम वर्ग (मंत्राध्व, पदाध्व, वर्णाध्व) सूक्ष्म होने के कारण इसकी उत्पत्ति नाद से मानते हैं। दूसरा वर्ग (भुवनाध्व, तत्त्वाध्व, कलाध्व) कुछ स्थूल है। अतः इसकी उत्पत्ति बिंदु से मानते हैं। ये दोनों अर्थात् नाद तथा बिंदु जब मिल जाते हैं तब कला का उदय होता है। इसीलिये वर्णाध्व के साथ कलाध्व, पदाध्व के साथ तत्त्वाध्व एवं मंत्राध्व के साथ भुवनाध्व मिलकर चलते हैं। इस जोड़ी में परस्पर संबंध है। आगमाचार्यों का कथन है कि मंत्राध्व, पदाध्व और वर्णाध्व ये तीन शब्दरूप तथा भुवनाध्व, तत्त्वाध्व तथा कलाध्व तीन अर्थस्वरूप हैं। प्रथम वर्ग को शक्त्यात्मक, दूसरे को स्वरूपात्मक भी कहते हैं। प्रथम वर्ग शुद्ध और दूसरा अशुद्ध अध्व है।

इनमें सब से स्थूल कलाध्व और सब से सूक्ष्म मंत्राध्व है। इसीलिए कलाध्व में तत्त्व, तत्त्वाध्व में भुवन, भुवनाध्व में वर्ण, वर्णाध्व में पद, पदाध्व में मंत्राध्व मिले हुए हैं। आचार्यों का कहना है कि इन अध्वों के ज्ञान होने के पश्चात् ही मनुष्य को प्रगति का द्वार दिखाई पड़ता है। जो इन अध्वों का ज्ञान प्राप्त करता है वही ज्ञानी होकर महामाया से अतीत होता है। इस प्रकार मनुष्य जब महामाया के ऊर्ध्व में चला जाता है तब

तब अशुद्ध अध्व बिंदु में तथा शुद्ध अध्व नाद में मिल जाते हैं। तदनंतर बिंदु नाद में, नाद पराशक्ति में और पराशक्ति परशिव में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार षडध्वों के जाल से पार होकर मनुष्य मोक्ष पाता है। यही उसका चरम परमलक्ष्य है।

अध्वों का विवरण—

(१) **मंत्राध्व**—इसमें हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र, अस्त्र, ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव एवं सद्योजात—ये ग्यारह मंत्र हैं। ये सप्तकोटि महामंत्र को बताते हैं।

(२) **पदाध्व**—इसमें व्योम, व्योमव्यापिनी, व्योमरूपाय इत्यादि ६४ पद हैं। वे ही मंत्राध्वके लिये कारण होते हैं।

(३) **वर्णाध्व**—इसमें ५२ अक्षर हैं। ये पदाध्व के लिये कारण हैं। अर्थात् वर्णों की सहायता से ही पद की रचना होती है और उन पदों से मंत्रों का निर्माण होता है। मंत्र सर्वत्र व्याप्त है। ॐकार प्रणव में ज्योतिःस्तम्भाकृति, दर्पणाकृति आदि छह आकृतियाँ हैं। वे आकृतियाँ षडक्षरी मंत्ररूप कहलाते हैं। इन्हीं बीजाक्षरों से वर्णों की उत्पत्ति होती है। जैसे प्रणव के ज्योतिःस्तंभाकृति से 'हं' 'क्षं' 'हं' 'लं' चार वर्णों की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार दर्पणाकृति 'य' कार में 'अ' से लेकर 'अः' तक षोडश वर्ण, चंद्रकाकृति 'वा' कार में 'क' से लेकर 'ठ' तक द्वादश वर्ण, कुंडलाकृति 'शि' कार में 'ड' से लेकर 'फ' तक दस वर्ण, दंडकाकृति 'म' कार में 'ब' से लेकर 'ल' तक छह वर्ण और तारकाकृति 'म' कार में व, श, ष, स, चार वर्ण उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त तीन अध्व नादात्मक हैं। अर्थात् नाद से उत्पन्न होते हैं। इन्हीं से वेद, आगम आदि शास्त्रों की उत्पत्ति होती है।

(४) **भुवनाध्व**—इसमें अनाश्रित, अनादि, अनंत आदि २२४ भुवन हैं। ये समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त हैं।

(५) **तत्त्वाध्व**—इसमें शिव, ईश्वर, सदाशिव आदि ३६ तत्त्व हैं। इनका विवेचन आगे किया जायगा।

(६) **कलाध्व**—इसमें निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शांति तथा शांत्यतीत ये पाँच कलाएँ हैं। पदार्थों के साथ मिलकर ये कलाएँ उनमें नाना प्रकार

के परिणाम उत्पन्न करती हैं। साधना-अवस्था में ये कलाएँ मनुष्य में किस प्रकार व्यापार करती हैं उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

(१) **निवृत्तिकला**—मनुष्य में जब परमात्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है तब निवृत्तिकला जाग्रत होती है। उस समय साधक दुष्ट वासना का परित्याग करते हुए उस परमात्मा के साथ मिलने की इच्छा करता है। इसका अधिदेवता ब्रह्म है।

(२) **प्रतिष्ठाकला**—इस कला के जाग्रत होने से मनुष्य (साधक) उस परमात्मा से मिलने के लिये दृढ़ चित्तवाला होता है। इस कला का अधिदेवता विष्णु है।

(३) **विद्याकला** - इस कला के जागरण से मनुष्य के पाप कर्मों का क्षय और बुद्धि निर्मल होती है तथा आणव आदि मलका निवारण भी होता है। इसका अधिदेवता रुद्र है।

(४) **शांतिकला**—इसके जागरण से अहंकार का क्षय होता है और सर्वत्र शांति फैल जाती है। इसका अधिदेवता महेश्वर है।

(५) **शांत्यतीतकला**—इस कला के उद्बोधन से मनुष्य (साधक) परमात्मविषयक प्रेम और उसका अनुग्रह प्राप्त करता है। फलस्वरूप वह उस परमात्मा में क्रीड़ा करता है। यही सुखानुभूति की चरम अवस्था है।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि निवृत्यादि कलाएँ मनुष्य में उच्च स्थिति उत्पन्न करने में साधक होती हैं। इसी प्रकार वे जगत् के पदार्थों में व्याप्त रहकर अनेक प्रकार के परिणाम उत्पन्न करती हैं।

पूर्वोक्त तीन (भुवन, तत्त्व, कला) अध्व बिंद्वात्मक हैं। अर्थात् इनकी उत्पत्ति बिंदु से होती है। आचार्यों का कथन है कि जो इन अध्वों को जानकर व्यवहार करता है वह शिव के साथ सामरस्य करता है। इसी उद्देश से परमात्मा को अध्वपति कहते हैं।

ऊपर कहा गया है कि इन अध्वों में परस्पर संबंध रहता है। अतः यहाँ उसका दिग्दर्शन-अनुचित न होगा। ऊपर के वर्णन से विदित है कि एक एक अध्व में अनेक विभाग हैं। जैसे मंत्राध्व में ग्यारह मंत्र, पदाध्व में व्योमव्यापि आदि ८४ पद, इसी प्रकार वर्ण, भुवन, तत्त्व आदि अध्वों में भी अनेक विभाग हैं। ये परस्पर मिलकर जगत् के व्यापार का संपादन करते हैं। इस शरीर में इनका परस्पर संबंध इस प्रकार है—गुदस्थान में

आधारचक्र है। उसमें चतुर्दल पद्म है। उसमें सद्योजात मंत्र (मंत्राध्व)। व्योमव्यापिनी, व्योमरूपाय, सर्वव्यापिनी, शिवाय चार पद (पदाध्व), व, श, ष, स, चार वर्ण (वर्णाध्व), अनाश्रित, अनादि, अनंत आदि १६ भुवन (भुवनाध्व), पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश ये पाँच तत्त्व (तत्त्वाध्व) और निवृत्तिकला (कलाध्व) हैं। गुदस्थान से ऊपर स्वाधिष्ठान-चक्र है। उसमें वामदेव मंत्र (मंत्राध्व) ईशान आदि छह पद (पदाध्व), ब, भ, म, य, र ल, छह वर्ण (वर्णाध्व), सूक्ष्म, वामदेव आदि २४ भुवन (भुवनाध्व), शब्द, स्पर्शादि पाँच तत्त्व (तत्त्वाध्व), तथा प्रतिष्ठाकला (कलाध्व) हैं। लिंगस्थान से ऊपर नाभि में मणिपूरकचक्र, दशदलपद्म, अघोरमंत्र (मंत्राध्व), गुह्यातीत, गुह्य आदि आठ पद (पदाध्व), 'ड' से लेकर 'फ' तक दस वर्ण (वर्णाध्व), एकपिंगलेक्षणादि ४० भुवन, वाक्, पाणि, पाद आदि पाँच तत्त्व (तत्त्वाध्व) तथा विद्याकला (कलाध्व) हैं। नाभि से ऊपर हृदय में अनाहतचक्र, द्वादशदलपद्म है। उसमें तत्पुरुष मंत्र (मंत्राध्व), व्यापिनी, रूपिणी आदि बारह पद (पदाध्व) 'क' से 'ठ' तक द्वादश वर्ण (वर्णाध्व), स्थलेश्वर आदि ४८ भुवन (भुवनाध्व), श्रोत्र, त्वक् आदि पाँच तत्त्व (तत्त्वाध्व) और शांतिकला (कलाध्व) हैं। कंठ में विशुद्धचक्र षोड़शदलपद्म है। उसमें ईशान मंत्र (मंत्राध्व) अभस्म आदि १६ पद (पदाध्व), 'अ' से 'अः' तक १६ (वर्णाध्व) द्रव, विभवादि ६४ भुवन (भुवनाध्व) बुद्धि, अहंकार, चेतन—ये तीन तत्त्व (तत्त्वाध्व) और शांत्यतीतकला (कलाध्व) हैं।

भ्रूमध्य—में आज्ञाचक्र है। उसमें द्विदलपद्म, हृदय, शिर, शिखि, कवच, नेत्र तथा अस्त्र-छह मंत्र हैं। परमात्मान आदि ४० पद (पदाध्व) 'हं' 'लं' 'हं' 'क्षं' चार वर्ण (वर्णाध्व), कर्तृ आदि ३२ भुवन (भुवनाध्व), शिव, शक्ति, सदाशिव 'ईश्वर' शुद्धविद्या, माया, काल, नियति, कला, विद्या तथा राग—ये ग्यारह तत्त्व (तत्त्वाध्व) और शांत्यतीतोत्तरकला (कलाध्व) है। इस प्रकार एक एक अध्व में अन्य पाँच अध्वों का समावेश है। ये परस्पर मिलकर जिस प्रकार शरीर का व्यापार करते हैं उसी प्रकार जगत् में भी मिलकर व्यापार का निर्वाह करते हैं। यही इनका संक्षिप्त परिचय है।

३६ तत्त्व

तत्त्व शब्द का अर्थ—

आप्रलयं यत्तिष्ठति सर्वेषां भोगदायिभूतानां।
तत्त्वमिह प्रोक्तं न शरीरघटादितत्त्वमतः॥

तत्त्वं भवति यतो यत्कारणमापूरकञ्च तत्तस्य।
कथिता व्यवस्थितिर्भूनिखिलानामेव तत्त्वानाम् ॥

—तत्त्वप्रकाश, श्लोक ७२

अर्थात् जो प्रलयकाल तक रहता है और समस्त आत्माओं को भोग प्रदान करता है वही शिवशास्त्र में तत्त्व के नाम से प्रसिद्ध है। शरीर और घटादि प्रलयपर्यंत नहीं रह सकते, अतः वे तत्त्व नहीं हैं। जिसके लिये जो कारण है और बढ़ानेवाला है वह उस कार्य के लिये तत्त्व है। यही तत्त्वों की व्यवस्था है।

जिस प्रकार शैव और काश्मीरशैवाचार्य ३६ तत्त्वों को मानते हैं उसी प्रकार वीरशैव आचार्यों ने भी ३६ तत्त्वों को स्वीकार किया है। इन तत्त्वों का विवेचन दक्षिणशैव, काश्मीरशैव तथा वीरशैवों ने भी विस्तृत रूप से किया है। परंतु विवेचना-पद्धति में इन दोनों से वीरशैवों का कुछ अंतर दिखाई पड़ता है। अतः दोनों की विवेचना को संक्षेप में जान लेना आवश्यक है, क्योंकि इससे वीरशैवों के षट्स्थलसिद्धांत या लिंगांगसामरस्य को जानने के लिये सुगमता होगी।

शैवसिद्धांत के ३६ तत्त्वों का दो विभाग है। एक शुद्ध, दूसरा अशुद्ध। इन्हीं को शुद्धाध्वा और अशुद्धाध्वा भी कहते हैं। शुद्धाध्वा में शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर एवं शुद्धविद्या ये पाँच तत्त्व हैं। अशुद्धाध्वा में माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेंद्रियाँ, पंच कर्मेंद्रियाँ, पंच तन्मात्राएँ और पंच भूत, ये ३१ हैं।

इसमें माया के नीचे काल से लेकर प्रकृति तक अर्थात् काल, नियति, कला, विद्या, राग, पुरुष तथा प्रकृति ये ७ तत्त्व मिश्राध्व कहलाते हैं। काल, विद्या तथा राग ये तीन प्रधानरूप से अंतरंग का कार्य करते हैं। कला, नियति बहिरंग कार्य का संपादन करते हैं। संक्षेप में इन तत्त्वों का विचार यों है—

(१) **शिवतत्त्व**—शिव की ज्ञान एवं क्रियात्मिका शक्ति समान रूप से वर्तमान रहकर निस्तरंग समुद्र की भाँति प्रशांत चिद्रूप में रहनेवाला शिवतत्त्व या बिंदु कहलाता है। भोजदेवकृत 'तत्त्वप्रकाशिका' में शिवतत्त्व का लक्षण इस प्रकार है—

व्यापकमेकं नित्यं कारणमखिलस्य तत्त्वजातस्य
ज्ञानक्रियास्वभावं शिवतत्त्वं जगदुराचार्याः ॥

शुद्धतत्त्व के लिये उपादानबिंदु को शिवतत्त्व कहते हैं। जो अपने कार्यभूत निवृत्यादि कलाओं एवं शुद्धाशुद्ध तत्त्वों में व्याप्त रहता है वही शिवतत्त्व है। इसी में इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया आदि समस्त परशिव की शक्तियाँ रहती हैं और प्रेरक बनकर सृष्टि से लेकर अनुग्रहपर्यंत (सृष्टि, पालन, संहार, तिरोधान, अनुग्रह) अपने कार्य का संपादन करती हैं। इसीलिये इस शिव को सर्वानुग्रहकारक कहते हैं। इस बिंदु या शिवतत्त्व में सृष्टि की उन्मुख अवस्था के समय जो प्रथम स्फुरण होता है उसी को शक्तितत्त्व कहते हैं। इस स्फुरणकाल में यह अविभागापन्न रहता है।

(२) शक्तितत्त्व—विश्व की रचना करके चित् एवं अचित् पर अनुग्रह करने के लिये साधनभूत शिव की इच्छा का प्रथम स्फुरण शक्तितत्त्व है। यह शिव से अविभागापन्न एवं निरवयव है। अन्य प्रकार से शिव के कार्य और भुवन आदि का आधार होने के कारण साकार भी है।

(३) सदाशिवतत्त्व—शिव की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के उत्कर्षापकर्ष के बिना बिंदु में जो द्वितीय स्फुरण होता है वही सदाशिवतत्त्व है। यहीं से सृष्टि का आरंभ होता है।

(४) ईश्वरतत्त्व—बिंदु के तृतीय परिणाम में जब शिव की ज्ञानशक्ति कुछ न्यून और क्रियाशक्ति उद्रिक्त होती है उस अवस्था को ईश्वर कहते हैं। 'तत्त्वप्रकाशिका' में इसी अभिप्राय को व्यक्त किया गया है—

न्यग्भवति यत्र शक्तिर्ज्ञानाख्योद्रिक्ततां क्रिया भजेत।
ईश्वरतत्त्वं तदिह प्रोक्तं सर्वार्थकर्तृसदा ॥

इसमें सर्वकर्तृ, अनंतेश्वर आदि रहते हैं और अशुद्धमाया का क्षोभ करके समस्त कार्यों को कराते हैं।

(५) **शुद्धविद्यातत्त्व**—बिंदु के चतुर्थ स्फुरण में क्रियाशक्ति की न्यूनता और ज्ञानशक्ति का उत्कर्ष होता है। उस अवस्था को शुद्धविद्या कहते हैं। यह ज्ञानप्रकाशन करानेवाली है।

ध्यान देने की बात है कि ऊपर जो शिव की ज्ञानक्रियाशक्ति के उत्कर्षापकर्ष की बात कही गई है वह वास्तविक नहीं है किंतु औपचारिक

है। वस्तुतः बिंदुस्थितकर्ता की ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति का उत्कर्ष और अपकर्ष होता है।

ऊपर शिव का जो परिणाम कहा गया है वह भी जिस प्रकार दूध जमकर दही होता है अर्थात् स्वस्वरूप का नाश करके दूसरा रूप ग्रहण करता है उस प्रकार शिव का परिणाम नहीं होता। जैसे घृत में कीटाणु उत्पन्न होते हैं वैसे शिव के परिणाम को भी समझना चाहिए।

(६) **मायातत्त्व**—यही जगत् के लिये उपादान कारण है। इसी को परिग्रहशक्ति कहते हैं। यह अचेतन और परिणामशीला है। सांख्य-संमत तत्त्व और कलादि कंचुक अशुद्ध अध्वा के ही अंतर्गत हैं। यह सब माया का ही कार्य है। कलादितत्त्वसमूह का अविभक्तस्वरूप ही माया है। कलादि के संबंध के कारण ही द्रष्टा आत्माभोक्ता पुरुषरूप में परिणत होता है। माया-से भुवनात्मक कलादि तथा प्रकृति आदि तत्त्व साक्षात् या परंपरा रूप से उत्पन्न होते हैं। यह स्वभाव से ही अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा आदि देहेंद्रियों में नित्य, शुचि, सुख तथा आत्म इत्यादि मोह उत्पन्न करता है।

(७) **कालतत्त्व**—नाना प्रकार की शक्तिसंपन्न माया से सर्वप्रथम काल की उत्पत्ति होती है। यही भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल का विभाग करता है। जगत् की गणना (कलना) करने के कारण काल की संज्ञा है।

भाविभवद्भूतमयं कलयते जगदेषःकालोऽतः।

—तत्त्व प्रकाशिका

(८) **नियतितत्त्व**—माया से उत्पन्न यह द्वितीय तत्त्व समस्त वस्तुओं का नियमन करने के कारण इसका नाम नियति पड़ा। इसी तत्त्व के कारण सब पदार्थ व्यवस्थित हो जाते हैं। यही कर्मफलभोग के लिये अनुकूल है। अर्थात् जगत् का नियमन करता है।

(९) **कलातत्त्व**—यह पुरुषों की मूलशक्ति को किंचित् अभिभूत करके ज्ञान, क्रिया शक्ति का उद्बोधन करता है। अर्थात् आत्मशक्ति के मलरूप आवरण को थोड़ा हटाता है और उसके कर्तृत्व का उद्बोधन करके कर्मफल-भोग में सहायक होता है। मल का नाश करने के कारण इसका नाम कलातत्त्व है।

(१०) अशुद्ध विद्यातत्त्व—अपने व्यापार से यह आत्मा की क्रिया-शक्ति के आवरण को हटाकर विषयसमूह का दर्शन कराता है। इसी के कारण आत्मा भोगरूप कार्य में प्रवृत्त होता है। आत्मा की शक्ति अनादि काल से आणव आदि मल द्वारा आवृत रहती है। अतः कला से आवरण के निवृत्त हो जाने पर भी उस विद्या रूपी करण के बिना विषयों का ग्रहण नहीं हो सकता। विषयग्रहण-कार्य में यही विद्या मुख्य करण है। पुरुष की सुख-दुःखात्मक बुद्धि जब भोगयोग्या होती है तब यही करण हो जाती है। रूपादि बाहर के विषयों को ग्रहण करने में बुद्धि करण है।

यहाँ पुरुष मन के साथ संयुक्त इंद्रियों के द्वारा उपस्थित करनेवाले पदार्थों को बुद्धि के द्वारा निश्चित करता है। निश्चित विषयों से युक्त बुद्धि का 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इस प्रकार अनुभव करता है। इस सुख-दुःख की अनुभूति के लिये यही विद्यातत्त्व करण होता है। यही पुरुष का भोग है।

(११) रागतत्त्व—यह अभिलाषरूप कार्य करनेवाला है। विषयग्रहण के बिना ही यह अभिलाष उत्पन्न कराता है, यही विषय ग्रहणशक्ति है। किसी वस्तु को ग्रहण करने में इसी राग या इच्छा की आवश्यकता होती है।

कुछ लोगों का कहना है कि विषय से अभिलाष की उत्पत्ति होती है। अर्थात् विषय ही अभिलाष को उत्पन्न करते हैं। किंतु इनके मत में ऐसा नहीं है।

(१२) पुरुषतत्त्व—शिव या आत्मा जब काल, नियति, कला, विद्या तथा राग इन पाँच तत्त्वों से आवृत होकर भोक्तृ बनता है तब वह पुरुष कहलाता है।

(१३) प्रकृतितत्त्व—बुद्धयादि पृथिव्यंत तत्त्वों के लिये यही मूल कारण है। पुरुष के लिये सत्त्व, रज तथा तम की प्रभा से युक्त इंद्रिय एवं अंतःकरणों का संपादन करता है।

(१४) बुद्धितत्त्व—यह पदार्थों का निश्चय करनेवाला और सत्त्वरूप-ज्ञानशक्ति है। इसी के द्वारा पुरुष विषयों का निर्णय करता है। कुछ लोग इस बुद्धितत्त्व को महत् भी कहते हैं

(१५) अहंकारतत्त्व—यह अपने स्वरूप से भिन्न विषयों को अपने स्वरूप में समझता है। इसी अहंकार के कारण 'मैं, मेरा' इत्यादि अभिमान

उत्पन्न होता है। यह जीवन, सौरंभ तथा गर्व—तीन अवस्था प्राप्त करता है। प्राणादि दश वायुओं का प्रेरक होने के कारण जीवन कहलाता है। प्राणादि का प्रवर्तन ही सौरंभ है। प्रवर्तन के लिये प्रयत्न की आवश्यकता होती है। 'मैं' इत्यादि ग्राहकाध्यवसाय का नाम 'गर्व' है। इसके बिना न जीवन है न सौरंभ। सात्त्विक, राजस तथा तामस रूप से भी यह अहंकार तीन प्रकार का होता है। इसे क्रमशः तैजस वैकारिक तथा भूतादिक अहंकार भी कहते हैं। तैजस नामक सात्त्विक अहंकार से मन, वैकारिक राजस अहंकार से इंद्रियाँ एवं भूतादिक तामस अहंकार से शब्दादि पंच तन्मात्रा उत्पन्न होते हैं।

(१६) मनस्तत्त्व—यह संकल्प-विकल्पों को उत्पन्न करता है। इसी मन के द्वारा विषयज्ञान, लज्जा, कोप, आदि विकार उत्पन्न होते हैं' स्मृति, ताप आदि आंतरंगिक अनुभव इसी से उत्पन्न होते हैं। पंच ज्ञानेंद्रिय और पंच कर्मेंद्रियों से दस प्रकार का अनुभव होता है। उन सब में इसका योग रहता है। इसके बिना स्वतंत्र रूप से कोई इंद्रिय ज्ञान का संपादन नहीं करा सकती।

(१७-२१) पंच ज्ञानेंद्रियतत्त्व—ऊपर कहा गया है कि ये सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होते हैं। ये अत्यंत सूक्ष्म हैं। इसलिये भौतिक शरीर की सहायता के बिना कार्य नहीं कर सकते। हम कान से सुनते हैं, आँख से देखते हैं, घ्राण से आघ्राण करते हैं, जिह्वा से रुचि लेते हैं और चर्म से स्पर्श करते हैं, परंतु एक इंद्रिय का कार्य दूसरी नहीं कर सकती।

(२२-२६) पंच कर्मेंद्रियतत्त्व—(वाक्, पाणि, पाद, गुद, गुह्य) ये भी उपर्युक्त प्रकार से भौतिक शरीर की सहायता के बिना कार्य नहीं कर सकते और एक के कार्य को दूसरी इंद्रिय नहीं कर सकती। ये दसों इंद्रियाँ तथा मन सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न हैं।

(२७-३१) पंचतन्मात्रतत्त्व—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। ये आकाशादि पाँच भूतों की उत्पत्ति के लिये कारण हैं और श्रोत्रादि ज्ञानेंद्रिय के लिये सहायक होते हैं।

(३२-३६) पंचभूततत्त्व—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा आकाश—इनके मूल तत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति के लिये कारण होते हैं। ये तामस अहंकार से उत्पन्न हैं।

काश्मीरशैवाचार्य भी कुछ वैलक्षण्य के साथ इन्हीं ३६ तत्त्वों को मानते हैं। वीरशैव आचार्यों ने भी ३६ तत्त्वों को माना है। वे ३६ तत्त्वों के तीन

विभाग करते हैं। पहला शिवतत्त्व १, दूसरा विद्यातत्त्व १० और तीसरा आत्मतत्त्व २५।

शिवतत्त्व—ऊपर कह आए हैं कि चिन्नाद, चिद्बिंदु, चित्कला और मूल चित् ये चारों जब मिल जाते हैं तब वह महालिंग कहलाता है। यही महालिंग वीरशैवों में शिवतत्त्व के नाम से प्रसिद्ध है। यही अन्य समस्त तत्त्वों का कारण है।

विद्यातत्त्व—इसमें दस तत्त्व हैं—शिवसादाख्य, अमूर्तिसादाख्य, मूर्तिसादाख्य, कर्तृसादाख्य और कर्मसादाख्य—ये पाँच और शांत्यतीतकला, शांतिकला, विद्याकला, प्रतिष्ठाकला तथा निवृत्तिकला।

आत्मतत्त्व—आकाशादि पाँच भूत, शब्दादि पाँच तन्मात्रा, घ्राणादि पाँच ज्ञानेंद्रिय, वागादि पाँच कर्मेंद्रिय, अंतःकरण चतुष्टय तथा आत्मा—इस प्रकार २५ तत्त्व हैं। इनका विचार ऊपर हो चुका है। अतः पुनः आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है।

एक शिवतत्त्व, १० विद्यातत्त्व, २५ आत्मतत्त्व—कुल मिलाकर इनके ३६ तत्त्व हैं। तत्त्वमसि महावाक्य के समन्वय की दृष्टि से यह विभाग किया गया है। जैसे 'तत्' पद से शिवतत्त्व 'त्वम्' पद से आत्मतत्त्व और 'असि' पद से विद्यातत्त्व।

वीरशैवों के षट्स्थलसिद्धांत के अनुसार ३६ तत्त्वों को दो भागों में भी विभक्त किया जाता है। पहले विभाग में ग्यारह लिंगतत्त्व, दूसरे में २५ अंगतत्त्व हैं। लिंगतत्त्व में उपर्युक्त शिवतत्त्व और पंच सादाख्य षड्लिंग के रूप में परिणत हो जाते हैं और कलाएँ उनकी शक्ति बन जाती हैं। जैसे महासादाख्य या शिवतत्त्व महालिंग का रूप धारण करता है तथा इसके साथ शांत्यतीतोत्तरीकला चिच्छक्ति का रूप धारण करती है। शिवसादाख्य प्रसादलिंग का इसके साथ शांत्यतीतकला पराशक्ति का, अमूर्तिसादाख्य जंगमलिंग का, इसके साथ शांतिकला आदि शक्ति का, मूर्तिसादाख्य शिवलिंग का उसके साथ विद्याकला इच्छाशक्ति का, कर्तृसादाख्य गुरुलिंग का, इसके साथ प्रतिष्ठाकला ज्ञानशक्तिका, कर्मसादाख्य आचारलिंग का और इसके साथ निवृत्तिकला क्रियाशक्ति का रूप धारण करते हैं।

इसी प्रकार २५ अंगतत्त्व में भी भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण तथा ऐक्य छह विभाग होते हैं। दोनों का स्वरूप इस प्रकार है—

लिंग	अंग
१ महालिंग	१ ऐक्य
२ प्रसादलिंग	२ शरण
३ जंगमलिंग	३ प्राणलिंगी
४ शिवलिंग	४ प्रसादी
५ गुरुलिंग	५ महेश
६ आचारलिंग	६ भक्त

यही षट्स्थल है।

इस प्रकार का विभाग षट्स्थलसिद्धांत या लिंगांग - सामरस्य के लिये किया गया है। इस सिद्धांत के द्वारा आणव आदि मल से युक्त जीव किस प्रकार शिव बनता है—दिखाया गया है। यही षट्स्थलसिद्धांत वीरशैवों का सिद्धांत तथा सारसर्वस्व है। इसका वर्णन 'सूक्ष्मागम (पटल-६) में और पारमेश्वरागम में मिलता है। किंतु कन्नडवचनशास्त्र में इसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। प्रसंगतः इस षट्स्थलसिद्धांत का स्थूलरूप से विचार किया जाता है।

वीरशैव-दर्शन में स्थल शब्द व्यापक अर्थ में उपयोग किया गया है। मायिदेवकृत 'अनुभवसूत्र में स्थल शब्द का अर्थ इस प्रकार है—

सर्वेषां स्थान भूतत्वाल्लय भूतत्वस्ततस्ततः।
तत्त्वानां महदादीनां स्थलमित्यभिधीयते॥
यत्रादौ स्थीयते विश्वं प्राकृतं पौरुषं यतः।
स्थीयते पुनरन्ते च स्थलं तत्प्रोच्यते ततः॥
स्थकारः स्थानवाची स्याल्लकारो लयवाचकः।
तयोः कारणभूतं यत्तदेव स्थलमुच्यते॥
अधिष्ठानं समस्तस्य स्थावरस्य चरस्यच।
जगतो यद्भवेत्तत्त्वं तद्धि वै स्थलमुच्यते॥
आधारं सर्वशक्तीनां ज्योतिषामखिलात्मनाम्।
यत्तत्वं भवति प्राज्ञैः स्थलं तत्परिगीयते॥

अर्थात् सच्चिदानंद लक्षण से लक्षित एकमेव परब्रह्म स्थलशब्द से कथित है। वह महदादि समस्त तत्त्वों की उत्पत्ति तथा लय का स्थान है।

यही शिवतत्त्व है—जिसमें चेतनाचेतनात्मक प्रपंच उत्पत्ति, स्थिति तथा लय प्राप्त करता है। स्थलशब्द में 'स्थ' का अर्थ स्थानवाचक तथा 'ल' का अर्थ लयवाचक है अर्थात् जो सृष्टि, स्थिति लय तथा सृष्टि के लिये आवश्यक समस्त शक्तियाँ, ज्योतिर्मय पदार्थ एवं समस्त आत्माओं का कारण है। वही परब्रह्म स्थलशब्द से गृहीत है।

यही स्थलशब्द वाच्य परब्रह्म स्वशक्ति के क्षोभ के कारण पूज्यपूजक भाव अथवा उपास्य-उपासक भाव के निमित्त पूर्वकथित लिंग एवं अंग के (शिव-जीव) रूप में विभक्त होता है। इस लिंग एवं अंग की परिभाषा 'सूक्ष्मागम' के छठें पटल में इस प्रकार है—

लीनं प्रपंचरूपं हि सर्वमेतत् चराचरम्।
सर्गादौ गम्यते भूयस्तस्माल्लिंगमुदीरितम्॥
निरामयं निराकारं निर्गुणं निर्मलं शिवम्।
तस्माल्लिंगं परंब्रह्म सच्चिदानंद लक्षणम्॥

अनुभव सूत्र में—

लीयते गम्यते यत्र येन सर्वं चराचरम्।
तदेतल्लिंगमित्युक्तं लिंगतत्त्वपरायणैः॥
लयगत्यर्थयोर्हेतुभूतत्वात्सर्वं देहिनाम्।
लिंगमित्युच्यते साक्षाच्छिवः सकलनिष्कलः॥

अर्थात् प्रपंच की चराचर वस्तु इसी में लीन तथा सृष्टिकाल में पुनः प्रकट होने के कारण इसे लिंग कहते हैं। यह दोषरहित, निराकार, निर्गुण तथा आणव आदि मल से रहित है। अतः लिंगतत्त्वाभिज्ञ आचार्यों ने सकल निष्फल रूप साक्षात् परशिव को ही समस्त विश्व के लयगतियों का कारण माना है। यही लिंग का स्वरूप है।

अंग—मायिदेवकृत 'अनुभव सूत्र' में—

अनाद्यंतमजं लिंग तत्परं परमं प्रति।
यद्गच्छति महाभक्त्या तदंगमिति निश्चितम्॥
अंभवेत् परमंब्रह्म तद्गतं तत्परायणम्।
अंगस्थलमिति प्राहुरंगतत्त्वविशारदाः॥
अमिति ब्रह्म सन्मात्रं गच्छतीति गमुच्यते।
रूप्यते अंगमिति प्राज्ञैरंगतत्त्व विचिंतकैः॥

अर्थात् अनादि और अनंत परात्पर लिंग के साथ जो परात्पर भक्ति के द्वारा तादात्म्य (सामरस्य) प्राप्त करता है उसी को अंग कहते हैं। 'अं' से सद्रूप ब्रह्म तथा 'गं' से गच्छति—अर्थात् सद्रूप ब्रह्म (शिवत्व लाभ) को प्राप्त करने के कारण अंगशब्दविशारद जीव को अंग कहते हैं।

उपर की विवेचना से विदित होता है कि लिंग तथा अंग (शिव-जीव) मूलतः भिन्न नहीं है। परंतु स्वशक्ति के न्यूनाधिक भाव के कारण स्थलशब्द-वाच्य परब्रह्म पूज्यपूजक (लिंगांग) बन जाता है। यहाँ आशंका हो सकती है कि एक ही काल में शिव या परब्रह्म को पूज्यपूजक भाव की आवश्यकता क्यों पड़ती है? इसके उत्तर में आगमाचार्यों का कथन है—जो स्वयं शिव नहीं है, कोटिजन्म ग्रहण करने पर भी उसको शिव की पूजा का अधिकार नहीं मिल सकता—'नाशिवस्य शिवोपास्तिर्घटते जन्मकोटिभिः'। 'नारुद्रो रुद्रमर्चयेत्' 'रुद्रो भूत्वा यजेत् रुद्रंम्' इत्यादि आगम प्रमाण प्रसिद्ध है। इसी पूज्यपूजक वैभव से शिव स्वस्वरूपानंद का अनुभव करता है।

जिस प्रकार स्थलशब्दवाच्य परब्रह्म पूज्यपूजक भाव से लिंगांग का रूप धारण करता है उसी प्रकार अघटनाघटनपटीयसी उसकी शक्ति भी भक्तों का उद्धार करने के लिये शक्ति और भक्ति के रूप में विभक्त होती है। वह अंग (जीव) के आश्रित होकर भव का निवारण करनेवाली भक्ति कहलाती है और लिंग के आश्रित होकर कला या शक्ति। यह भी मूल में एक ही है पर आश्रयभेद से दोनों में अंतर दिखाई पड़ता हैं। इनका अंतर यही है कि एक भव का निवारण करनेवाली दूसरे भव का उत्पादन करने-वाली है। लिंगाश्रिता कला या शक्ति अग्नि की धूमावृत ज्वाला के समान है और अंगाश्रिता भक्ति स्वच्छ दीपक के समान। जिस प्रकार धूमावृत होने के कारण ज्वाला में प्रकाश मंद रहता है उसी प्रकार सृष्टि के उन्मुख रहने के कारण शक्ति अशुद्ध रहती है। परंतु प्रदीप में जिस प्रकार स्वच्छ प्रकाश रहता है उसी प्रकार निवृत्ति की ओर उन्मुख भक्ति में वासना रूपी धुआँ नहीं रहता। अतः भक्ति, शुभ, सूक्ष्मा और श्रेष्ठ कहलाती है। यही अंग (दीक्षित जीव) को भुक्ति-मुक्ति प्रदान करती है।

ऊपर कहा है कि जिस प्रकार अंग और लिंग में भेद नहीं है उसी प्रकार शक्ति और भक्ति में भी भेद नहीं है अर्थात् शक्ति ही भक्ति है और भक्ति ही शक्ति। यदि शक्ति जगत् की उत्पत्ति का कारण है तो भक्ति उसकी निवृत्ति का। विश्व की उत्पत्ति और निवृत्ति—दोनों शक्ति-भक्ति का सहज

स्वभाव है। इन्ही शक्ति-भक्ति के आश्रय से स्थलशब्दवाच्य परब्रह्म लिंग, अंग या उपास्य-उपासक, शिव-जीव, ब्रह्म-जीव कहलाता है। इससे विदित होता है कि एक ही वस्तु अपने लीलाविनोद के लिये द्विविधरूप धारण करती है। वही लिंग के रूप में पूज्य और अंग के रूप में पूजक है।

लिंगस्थलनिरूपण—स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर में लिंग की उपासना चलती रहे और अंग (जीव) अपने साथ सामरस्य कर सके इस हेतु से उपर्युक्त एक ही महालिंग कारणशरीर के लिये भावलिंग, सूक्ष्म शरीर के लिये प्राणलिंग, स्थूल शरीर के लिये इष्टलिंग—इस प्रकार तीन विभाग होता है। भावलिंग निष्कल, प्राणलिंग सकल-निष्कल एवं इष्टलिंग सकल हैं। भावलिंग भावग्राह्य, प्राणलिंग मनोग्राह्य और इष्टलिंग चक्षुर्ग्राह्य है। ये तीनों लिंग सत्, चित्, आनंदस्वरूप कहलाते हैं। इनमें तत्वमसि वाक्य का समन्वय होता है। 'तत्' पद से इष्टलिंग, 'त्वम्' पद से प्राणलिंग, 'असि' पद से भावलिंग समझना चाहिए।

> **लिंगस्थलं त्रिधा ज्ञेयं .... ।**
> **प्रथमं भावलिंगं स्याद्द्वितीयं प्राणलिंगकम् ॥**
> **तृतीयमिष्टलिंगंस्यादित्येतत्त्रिविधं स्मृतम् ।**
> **निष्कलं भावलिंगंस्याद्भावग्राह्यं परात्परम् ॥**
> **सन्मात्रं भावलिंगंस्यादितिनिष्ठा महात्मनाम् ।**
> **प्राणलिंगं मनोग्राह्यं भवेत्सकलनिष्कलम् ॥**

इत्यादि शिवागमवाक्य प्रमाण हैं। लिंगत्रय क्रमशः नाद, बिंदु और कला हैं।

इंद्रियों की दृष्टि से उपर्युक्त तीन लिंगों में दो भाग होते हैं।

'एकमेकं स्थलं भूयो द्विविधं द्विविधं भवेत्।'

अर्थात् अंग (जीव) की इंद्रियों में भी शिव की उपासना सदा चलती रहे इस दृष्टि से भावलिंग में महालिंग तथा प्रसादलिंग, प्राणलिंग में जंगम-लिंग तथा शिवलिंग और इष्टलिंग में गुरुलिंग और आचारलिंग।

> **'एक मेव स्थलं भूयो द्विविधं द्विविधं भवेत्।**
> **भावलिंगस्थलं द्वेधा प्राणलिंगस्थलं द्विधा ॥**
> **इष्ट लिंगस्थलं चैव द्विधा प्रोक्तम् .... ॥**

—अनुभवसूत्र।

इस प्रकार एक ही वस्तु के छह विभाग होते हैं। शिव के साथ अविनाभाव से रहनेवाली शक्ति भी एक एक लिंग का आश्रय करके भिन्न भिन्न नाम से छह प्रकार की होती है।

स्वशक्तिवैभवाच्चैव स्वातंत्र्याल्लीलयापिच।
शक्तयष्षड्विधा ज्ञेयाष्षट्स्थलेषु समाहिताः॥

जैसे, महालिंग के आश्रय से चिच्छक्ति, प्रसादलिंग के आश्रय से पराशक्ति, जंगमलिंग के आश्रय से आदिशक्ति, शिवलिंग के आश्रय से इच्छाशक्ति, गुरुलिंग के आश्रय से ज्ञानशक्ति और आचारलिंग के आश्रय से क्रियाशक्ति कहलाती है।

(१) शक्ति से युक्त षड्लिंगों का लक्षण—चिच्छक्ति से युक्त महालिंग जन्म-मरण से रहित, निर्दोष, व्यापक, अद्वितीय, सूक्ष्म परात्पर, भवरोग से मुक्त, अगम्य, भक्ति के द्वारा प्राप्त करने योग्य (भावगम्य) तथा चेतनात्मक शिवतत्त्व है।

(२) पराशक्ति से युक्त प्रसादलिंग—यह परंज्योतिस्वरूप, नित्य, अखंड, इंद्रियों से अगोचर, ज्ञानगम्य, मोक्षस्वरूप, जगत्परिणाम के लिये कारणीभूत, सादाख्यतत्त्वों के लिये आश्रय और उपाधिरहित है।

(३) आदिशक्ति से युक्त जंगमलिंग—यह ज्योतिस्वरूप, बहिरंतरंग में व्यापक, पुरुषस्वरूप, अमूर्ततत्त्वों का आश्रय और मनोमात्रगोचर है।

(४) इच्छाशक्ति से युक्त शिवलिंग—ज्ञानकला से युक्त अत्यंत शोभायमान, प्रकाशमय, शांत, मूर्तसादाख्यतत्त्वों के लिये आश्रय और अहंकारगम्य है।

(५) ज्ञानशक्ति से युक्त गुरुलिंग—तेजोनिधि, परमसुखसागर, सकलोपदेश के लिये विधिकर्ता, कर्तृसादाख्य का आश्रय और बुद्धिगम्य है।

(६) क्रियाशक्ति से युक्त आचारलिंग—कर्मात्मक, सकल तत्त्वों का आधार, निवृत्तिमार्गोन्मुख और चित् से गम्य है।

षड्लिंगों की उत्पत्ति—ऊपर निर्दिष्ट षड्लिंगों की उत्पत्ति क्रमशः होती है। परशिव अपनी चिच्छक्ति के क्षोभ से महालिंग बन गया। इसमें वर्तमान पराशक्ति के क्षोभ से प्रसादलिंग, इस प्रसादलिंगगत आदिशक्ति के चलन से चर या जंगमलिंग, इस लिंगनिष्ठ इच्छाशक्ति के चलन से ज्योतिर्मय शिवलिंग, इस लिंगगत ज्ञानशक्ति के स्फुरण से आचारलिंग की उत्पत्ति होती है। इनका वासस्थान क्रमशः हृदय, श्रोत्र, त्वक् चक्षु,

रसना तथा घ्राण हैं। ये छह इंद्रियाँ षड्‌लिंगों के मुख से भी प्रसिद्ध हैं। जिनसे वे लिंग पदार्थ का ग्रहण करते हैं।

अंगस्थल—जिस प्रकार अंग (जीव) अपने साथ सामरस्य कर सके इसके लिये स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की दृष्टि से लिंग तीन प्रकार का हो गया था उसी प्रकार लिंगस्वरूप को प्राप्त करने के लिये अंग के भी योगांग, भोगांग तथा त्यागांग—तीन विभाग हुए। शिव के साथ सामरस्य कर उसका आनंद पाने के कारण प्रथम अंग का नाम योगांग, शिव के साथ समस्त वस्तुओं का भोग करने के कारण दूसरे का नाम भोगांग है—

'स्नानमुद्वर्तनं चैव वस्त्रं भूषाश्च चन्दनम्।
भक्ष्यभोग्यादिकं वापि फलपुष्पंच सौरभम्॥
एवमादीनि वस्तूनि शिवादौ विनिवेद्यच।
स्वयं ततोऽनु भुंजीतप्रसाद ग्राहको यतः॥

सूक्ष्मागम

अर्थात् अपने समस्त भोगों को पहले शिव के लिये अर्पित करके स्वयं प्रसादरूप में रहना भोगांग है।

शिवदीक्षा के द्वारा आणवादि मल से जीव के सांसारिक बंधन सहज रूप से नष्ट हो जाने के कारण तीसरे अंग का नाम त्यागांग है।

कारण; सूक्ष्म और स्थूल—तीन शरीर, सुषुप्ति; स्वप्न, जाग्रत—तीन अवस्था, प्राज्ञ, तैजस, विश्व, त्रिविध जीव क्रमशः योगांग, भोगांग तथा त्यागांग नाम से प्रसिद्ध है। कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरावच्छिन्न प्राज्ञ, तैजस, विश्व नामक जीव को वीरशैवाचार्यों ने क्रमशः परमात्मा अंतरात्मा, और जीवात्मा कहा है।

षड्विध अंगस्थल—षड्विधलिंग को उपासना के लिये पूर्ववर्णित लिंगस्थल की भाँति एक एक अंगस्थल भी दो दो भाग होकर छह प्रकार के होते हैं—

योगांग में—ऐक्य, शरण।

भोगांग में—प्राणलिंगी, प्रसादी।

त्यागांग में—महेश, भक्त।

इनमें ऐक्य, शरण कारण शरीरगत प्राज्ञजीव के लिये आश्रय हैं।

प्राणलिंगी, प्रसादी सूक्ष्म शरीरगत तैजस जीव के लिये आश्रय हैं।

महेश, भक्त स्थूलशरीगत विश्व जीव के लिये आश्रय हैं।

षड्विध भक्ति—ऊपर वर्णित अंग और लिंग (जीव, शिव) का सामरस्य या तादात्म्य कराने के लिये भक्ति ही कारण होती है। इसी भक्ति-विशेष के कारण अंग शिव होता है। वीरशैवाचार्यों ने इसी को प्रधान माना है। पूज्यतम शिव (लिंग) के प्रति अंग का प्रेम भक्ति है। यह निवृत्ति की ओर उन्मुख है। अर्थात् मायासंसार से निवृत्त कराकर अंग को शिव से सामरस्य करने योग्य बना देती है। अतएव भक्ति को पंचम पुरुषार्थ कहते हैं। मायिदेवकृत अनुभवसूत्र में कहा है कि

शक्तिःप्रवृत्तिराख्याता निवृत्तिर्भक्तिरीरिता।
शक्त्या प्रपंचसृष्टिस्स्यात् भक्त्या तद्विलयोमतः॥

जिस प्रकार एक ही जल मधुर आदि रस से मिलकर उपाधिभेद से भिन्न भिन्न होता है उसी प्रकार भक्ति भी ऊपर वर्णित ऐक्य आदि षडंगों से युक्त होकर षट् प्रकार की हो जाती है। उनका नाम क्रमशः—समरसभक्ति, आनंदभक्ति, अनुभवभक्ति, अवधानभक्ति और श्रद्धाभक्ति है। यह ऐक्य नामक अंग के साथ मिलकर समरसभक्ति, शरणनायक अंग के साथ मिलकर आनंदभक्ति, प्राणलिंगी के साथ मिलकर अनुभवभक्ति, प्रसादी के साथ मिलकर अवधानभक्ति, महेश के साथ मिलकर नैष्ठिकाभक्ति और भक्त नामक अंग के साथ मिलकर श्रद्धाभक्ति कहलाता है।

षड्विध भक्तियुक्त षडंगों का लक्षण—

(१) **भक्त**—शिवदीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् साधना के इस प्रारंभिक अवस्था में साधक समझता है कि शरीर, प्राण तथा मन आदि वस्तु सत्य की भांति भासित होने पर भी सब मिथ्या है। इसलिये इन सब विषयों को त्याग देता है और सद्भक्ति (श्रद्धाभक्ति) से प्रेरित होकर आचरण (साधना) प्रारंभ करता है।

(२) **महेश**—यह दूसरी सीढ़ी है। इस सीढ़ी में आकर साधक गुरु, लिंग (शिव) जंगम—इन तीनों को एक ही वस्तु शिव समझकर निष्ठाभक्ति के द्वारा आचरण करता है।

(३) **प्रसादी**—यही तीसरी अवस्था है। शिव के प्रति श्रद्धा और निष्ठा के कारण इस स्थल में साधक उस शिव के लिये सदा जागरूक रहता है। इसमें अवधानभक्ति का उन्मेष रहता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को

किसी वस्तु में निष्ठा, श्रद्धा उत्पन्न होने से वह वस्तु कहीं भूल न जाय इसके लिये वह सदा जागरूक रहता है। उसी प्रकार अवधानभक्ति से युक्त प्रसादी (साधक) अपने शिव (लिंग) के प्रति सजग रहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस जागरूकता के लिये अंतःकरण की निर्मलता या प्रसन्नता अत्यंत आवश्यक है।

(४) **प्राणलिंगी**—इस चतुर्थ सीढ़ी में अवधानभक्ति के जागरण से आचरण (उपासना) करनेवाले भक्त को शिवस्वरूप का अनुभव होता है। इस स्थल में प्राण, इंद्रिय आदि में जो 'मैं' 'मेरा' इस प्रकार का भ्रम रहता है उसकी निवृत्ति हो जाती है और साधक को यह ज्ञान होता है कि यह समस्त संसार केवल शिवस्वरूप है।

(५) **शरण**—इस पंचम अवस्था में आनंदभक्ति के जागरण से अज्ञान का नाश होता है और 'शिव पति है मैं सती हूँ' इस प्रकार का सति-पति भाव रहता है। इस अवस्था में साधक अर्थात् जीव को प्रापंचिक भोग की तृष्णा नहीं रहती। इसलिये वह केवल आनंद का अनुभव करता रहता है।

(६) **ऐक्य**—इस अंतिम स्थल में समरसभक्ति के प्रभाव से साधक या उपासक को 'मैं अंग हूँ वह लिंग है' अर्थात् 'त्वम् अहं' और 'शिव पति है मैं सती हूँ' इत्यादि भेदबुद्धि नहीं रहती अर्थात् इसमें अद्वैत अवस्था रहती है। इस अवस्था में आत्मा के देह आदि समस्त करण अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। वे कारण परंपरा भी मूल प्रकृति में और मूल प्रकृति शिव में लीन रहती हैं।

षडंगों की उत्पत्ति—

> आत्मनाऽकाशसंभूतिराकाशाद्वायुसंभवः।
> वायोरग्निसमुत्पत्तिरग्नेराप उदाहृताः॥
> अद्भयस्तु पृथ्वी संभूतिर्लक्षणैक्य प्रभावतः।
> ऐक्य स्थलादि भक्तांत स्थलसंभूति रीरिता॥

इत्यादि शिवागमों के वचनानुसार आत्मादि भूमिपर्यंत छह तत्त्व ऐक्यादि षडंगों के लिये शरीर बन जाते हैं। अर्थात् ऐक्य का आत्मा, शरण का आकाश, प्राणलिंगी का वायु, प्रसादी का अग्नि, महेश का अप् तथा भक्त का भूमि अंग (शरीर) है।

षड्विध अंगों के हस्त—भक्त आदि षडंगों में आचार आदि षड् लिंगों की अर्चना के लिये छह हस्त होते हैं। भक्त के सुचित्त, महेश के सुबुद्धि, प्रसादी के निरहंकार, प्राणलिंगी के सुमना, शरण के सुज्ञान और ऐक्य के सद्भाव रूपी हस्त हैं।

भक्त आदि ऐक्यांत इन छह स्थलों में तीन (भक्त, महेश, प्रसादी) स्थल क्रियात्मक और तीन (प्राणलिंगी, शरण, ऐक्य) स्थल ज्ञानात्मक हैं। तात्पर्य यह है कि प्रथम भाग में क्रिया प्रधान रूप में और ज्ञान गौण रूप में रहता है तथा द्वितीय भाग में ज्ञान प्रधान रूप से क्रिया गौण रूप में रहती है। अर्थात् उपर्युक्त षट्स्थलों की उपासना में ज्ञान तथा कर्म का समन्वय रहता है। इससे कोई यह न समझे कि यदि तीन स्थल क्रियात्मक तथा तीन स्थल ज्ञानात्मक हैं तो क्रियात्मक स्थल में ज्ञान की और ज्ञानात्मक स्थल में क्रिया की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए क्योंकि यदि ज्ञान ही मोक्ष का साधन है तो कर्म की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। परंतु वीरशैवों का विश्वास है कि ज्ञान और क्रिया दोनों सम समुच्चय रूप से मोक्ष के साधन हैं। इनके मत से क्रम समुच्चयात्मक मोक्ष की कल्पना नहीं है।

इस विषय में उनका कहना है कि जिसको शिवस्वरूप का ज्ञान नहीं है वह शिवध्यान, शिवार्चना आदि-क्रिया नहीं कर सकता। ज्ञान से रहित क्रिया भी अप्रयोजक है। क्रियारहित ज्ञान भी व्यर्थ है। जिस प्रकार शर्करा का ज्ञान होने से मिठास का अनुभव नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी उसका अनुभव नहीं हो सकता। अतः वे दोनों (ज्ञान-क्रिया) अंध और पंगु की तरह हैं। जैसे अंधे एवं पंगु—ये दोनों स्वतंत्र रूप से वांछित स्थान तक नहीं जा सकते वैसे मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञान और कर्म स्वतंत्र रूप से मोक्षपुरी तक नहीं जा सकते।

यहाँ कर्म का अभिप्राय शिवज्ञान से युक्त शुभकर्म समझना चाहिए।

'यदेव ज्ञान फलं तदेव कर्मफलम्'

इस शिवागम के अनुसार जो ज्ञान का फल है वही कर्म का फल है। इसलिये शिवार्पण बुद्धि से काम करनेवाले ज्ञानयुक्त कर्म से मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति होती है। अतः वीरशैवों की कल्पना है कि उपर्युक्त षट्स्थल की उपासना में एक का परित्याग अन्य का अवलंबन अर्थात् ज्ञान का परित्याग-पूर्वक केवल कर्म का अथवा कर्म का त्याग कर केवल ज्ञान का आचरण नहीं करना चाहिए—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथाखे पक्षिणां गतिः।
तथैव कर्म ज्ञानाभ्यां वीराणामुक्तिरिष्यते ॥

इत्यादि वाक्य वीरशैवसिद्धांत में ज्ञानकर्म-समन्वय को बताते हैं।

इस प्रकार स्थूल रूप से वीरशैवों की सृष्टिप्रक्रिया का निरूपण किया गया। यद्यपि इसका विशेष विवेचन 'सूक्ष्मागम' 'पारमेश्वरागम' और वीरशैवों के धार्मिक 'शिवानुभवसूत्र' सिद्धांतशिखामणि, 'वीरशैवानंदार्चंद्रिका' श्रीकरभाष्य, क्रियासार आदि संस्कृत ग्रंथों में मिलता है। परंतु इसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा विस्तार रूप से विवेचन कन्नडवचनशास्त्र साहित्य में ही मिलता है। जिससे विदित होता है कि वीरशैवों ने आध्यात्मिक, सामाजिक और नैतिक आदि क्षेत्र में कितनी उन्नति की है।

अब ऊपर वर्णित षड्लिंग तथा षडंगों का संयोग अर्थात् सामरस्य (लिंगांगसामरस्य=मोक्ष) का संक्षिप्त रूप में विचार किया जा रहा है। पहले कहा गया है कि स्थलपदवाच्य परब्रह्म पूज्यपूजक वैभव के लिये लिंग एवं अंग का दो रूप हुए हैं। पुनः ये दोनों मिलकर एक हो जाते हैं इसी को सामरस्य कहते हैं। सामरस्य—'सामरस्य का तात्पर्य है समभाव। बहुसंख्यक या बहुभाव से एक या अधिक वस्तु का बोध होता है। साम्यावस्था वैषम्य-रहित अवस्था है। यह अवस्था निस्तरंग होती है। संसार की वस्तुओं में साम्य और वैषम्य—ये दोनों अवस्थाएँ रहती हैं। सृष्टि में काल के प्रभाव से साम्य का भंग होकर वैषम्य का आविर्भाव होता है। साम्य के भीतर वैषम्य का बीज होता है। प्रलय सृष्टि के मध्य से सामरस्य की स्थिति है। आश्वास और प्रश्वास के बीच एक श्वासहीन निःशब्द अवस्था होती है। आश्वास के आरंभ और प्रश्वास के अंत के बीच की स्थिति में दो बिंदु हैं। इन दोनों बिंदुओं के बीच एक गंभीर आकर्षण चलता रहता है। जिसमें एक दूसरे को खींचते हैं। किंतु सृष्टिकाल में मिलन संघटित नहीं होता। जब एक बिंदु दूसरे से मिलने के लिये बढ़ता है तो दूसरा बिंदु अपनी विकर्षणशक्ति से अपने व्यवधान को समान बनाए रखता है। इसी आकर्षण-विकर्षण का व्यापार निरंतर चलता रहता है। यही सृष्टि है।

इस आकर्षण-विकर्षण या वैषम्य के बाहर जाना ही मानवजीवन का लक्ष्य है। इस वैषम्य के बाहर जाने के लिये आवश्यक है कि केवल आकर्षणकार्य किया जाय और विकर्षण को त्याग दिया जाय। उदाहरणार्थ—'क' और

'ख' दो वस्तुएँ हैं। इन दोनों में आकर्षण-विकर्षण चल रहा है। सामरस्य के लिये आवश्यक है कि दोनों आकर्षणकार्य करते हुए शनैः शनैः विकर्षण-कार्य का संकोच करते जायँ। फलतः दोनों ही समरसता की अवस्था को प्राप्त हो सकेंगे। ऐसी अवस्था में ही सामरस्य सिद्ध हो सकेगा। यही योग है। यही समत्व है। इसी भाव को अद्वयभाव भी कहा जाता है। इसके भी कई उपाय हैं। प्रथमतः दो बिंदुओं में आकर्षण-विकर्षण का व्यापार चलते हुए भी गुरु अपनी शक्ति से एक बिंदु को स्थिर करते हुए दूसरे को क्रियाशील कर मिला देता है। दोनों ही गुरु करता है। इस सापेक्ष को हम सापेक्ष-साम्य कह सकते हैं। दूसरी प्रक्रिया में दोनों ही अपने विकर्षणक्रिया का संकोच करते हैं और आकर्षणक्रिया का विस्तार करते हुए मध्य में मिलते हैं। इसे हम निरपेक्ष साम्य कह सकते हैं। ये दोनों उपाय गुरुकृपा से ही संपन्न होते हैं। यह साम्यावस्था चिदानंदमयी अवस्था कही जाती है। यह अनिर्वचनीय और स्वयं प्रकाश है।

पूर्ण सत्य मानवीय भाषा से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यह सत्य स्वातंत्र्यमय और स्वयं प्रकाश होता है। यह सर्वातिरिक्त और सर्वांतर्यामी एक साथ होता है। यह सब कुछ है और कुछ नहीं है। दोनों है, दोनों नहीं है। यह अनिर्वचनीय है[1]।

यह सत्य जहाँ भी है उसी के साथ वहीं मिलकर अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है। पिंडवर्ती ब्रह्म को पिंड से अलग कर नहीं समझाया या समझा जा सकता। वह पिंड से अलग रहते हुए भी उससे स्वतंत्र है, भिन्न है। यही उसके स्वातंत्र्य की विद्यमानता है। उसी प्रकार पिंड के रहते हुए भी वह स्वतंत्र है। इसी कारण 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' कहा जाता है।

प्रथम आविर्भूता शक्ति ही चिच्छक्ति है। यही निरंशिका चित् अंश है। पर शिव में यह इस प्रकार विलीन रहती है कि दोनों में भेद नहीं रह जाता फिर भी दोनों के स्वरूप का नाश नहीं होता। किंतु दोनों में भेद नहीं किया जा सकता। ये अद्वितीय अवस्था में रहते हैं। यह अवस्था ऐसी है जिसमें वे एक दूसरे को नहीं पहचानते। यह वह अवस्था है जब इच्छाशक्ति का उदय नहीं हुआ रहता है।

१—देखिए पूज्यपाद महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथजी कविराज का 'सामरस्य' शीर्षक निबंध।

चिच्छक्ति अहं की जननी है। आत्मा शिवांश है। इसीलिये यह शिव से अभिन्न है। किंतु शिव के स्वरूप का विस्मरण हो जाने पर आत्मा में देह का आविर्भाव होता है। इसी से कहा जाता है कि जीवात्मभाव ग्रहण करने के कारण ही अविद्या है। तात्पर्य यह है कि चिच्छक्ति से ही आविर्भाव होता है। इस प्रपंच में माया का प्रभाव जन्म - जन्मांतर तक चलता है। कभी गुरुकृपा से ज्ञान का आविर्भाव होता है। सद्गुरु करुणा के प्रभाव से त्रिविध प्रक्रिया के द्वारा तीन भूमि के अंशरूप आत्मा को अंशीरूप परमात्मा से युक्त कर देते हैं। इस योग के प्रभाव से जीवात्मा का उसके अंतःकरण तथा शरीर का मल निवृत्त हो जाता है, और उसमें निहित पराशक्ति-बीज अंकुरित होकर विकास को प्राप्त करता है। इस आदान-प्रदान के साथ ही साथ आत्मा का संबंध शिव तथा शक्ति के साथ अधिकाधिक गाढ़ होता जाता है और अंत में आत्मा को भक्ति और शिव की पराशक्ति मिल जाती है फलस्वरूप उनमें सामरस्य हो जाता है। अर्थात् आत्मा शिव की पराशक्ति के साथ युक्त हो जाती है। यही परमात्मा का या आत्मा का सामरस्य है।

आत्मा में इस समय 'शिवोऽहं' रूपी अनुभव उदित होता है। भाव की यह पूर्ण परिणति है। वीरशैव इस भक्ति को समरसभक्ति कहते हैं। इसी को अद्वैतभक्ति भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें भक्त, भगवान् तथा आश्रय और विषय अभिन्न होते हैं। ऊर्ध्वशक्ति और अधःशक्ति के व्यवधान का अभाव होने पर सामरस्य भाव होता है। व्यवधान का लोप होने पर दोनों शक्तियाँ परस्पर मिल जाती हैं। इसी को सामरस्य कहते हैं। इस अवस्था में जीव शिव में तथा शिव जीव में पहले की बताई हुई प्रक्रिया के अनुसार लीन हो जाते हैं।

पहले कहा गया है कि वीरशैवों की परिभाषा में वस्तुतः ब्रह्म और जीव या लिंग और अंग भिन्न नहीं हैं। किंतु स्वशक्ति के संकोचरूप मलत्रय से आवृत और शरीरावच्छिन्न होकर शिव स्वरूप के गोपन से जीवभाव प्राप्त करता है। पुनः जब जीवगत शक्ति भक्ति के रूप में परिणत होती है और स्वशक्ति के विकास से मलत्रय दूर होता है तब शरीरत्रय रहित होकर वही जीवापन्न शिव स्वस्वरूपावस्था में रह जाता है अर्थात् साक्षात् शिव होता है। इसीलिए कहा गया है कि

चैतन्यमात्मनो रूपं सच्चिदानंदलक्षणम् ।
तस्याऽनावृतरूपत्वात् शिवत्वंकेन वार्यते ॥

यही 'लिंगांगसामरस्य' रूप मोक्ष है ।

दीक्षा—वीरशैवाचार्यों का कहना है कि लिंगागसामरस्य (मोक्ष) प्राप्त करने के लिये केवल उसके ज्ञानोपदेश से शिष्य के जीवत्व की निवृत्ति नहीं हो सकती । जीवत्व का नाश और शिवत्व की प्राप्ति के लिये दीक्षारूप क्रिया की आवश्यकता होती है । यह कार्य गुरु के द्वारा संपन्न होता है । गुरु के अतिरिक्त इस कार्य का संपादन और किसी से नहीं हो सकता । अनादि आणवमल संसारबंधन के लिये कारण होता है । आत्मा की ज्ञानशक्ति का आच्छादन करके उसमें अज्ञान उत्पन्न करता है । इसी अज्ञान के कारण आत्मा अनात्म वस्तुओं को देखता है, स्पर्श करता है और उसका उपभोग करता है । अतः उन वस्तुओं की प्राप्ति के लिये पुनः अनेक कर्म करता है । फलस्वरूप सुख-दुःखरूप के बंधन में पड़ता है । पुण्य विशेष के कारण यदि ईश्वर की कृपा होती है तो मल का पाक होता है । उसी समय—

अस्मात्प्रवितातात्बंधात् परसंस्थानिरोधकात् ।
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवंधामनयत्यापि ॥

अर्थात् गुरु के रूप में अवतरित शिव का अनुग्रह (दीक्षा) आत्मा में व्याप्त आणवादि मल का निवारण करता है और शिवत्वाभिव्यक्ति भी करता है । इससे विदित होता है कि बद्धजीव को शिवात्वभिव्यक्ति कराने में और उसके आणवमाया कार्म बंधनों के नाश करने में एकमात्र दीक्षा ही कारण है ।

मल से आवृत जीव संसारी जीव कहलाता है । आणव, मायीय और कार्म ये ही मलत्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं । शिव की इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया-शक्ति का संकोच ही मलत्रय का स्वरूप है । इन्हीं के द्वारा आवृत शिव ही जीव है । शिव की शक्ति में संकोच और विकास ये दोनों अनादि सिद्ध हैं । इस संकोच-विकास-क्रिया को लीला कहते हैं ।

आणवमल—'मैं सर्वात्मक और परिपूर्ण' इत्यादि वृत्ति के लिये कारणी-भूत परशिव की संकल्परूपा इच्छाशक्ति जब संकुचित हो जाती है तब आत्मा को संसार में प्रवृत्त होने के लिये कारण बन जाती है । यही संकोचा इच्छा शक्ति, अज्ञान ग्रंथि, अविद्या इत्यादि नाम से प्रसिद्ध हो जाती है । कारण शरीर के रूप में जीव के लिये प्रथम आवरण बन जाती है । इस आवरण

के कारण शिव में 'मैं शिव नहीं हूँ' इस प्रकार का अपूर्णत्व और देहादि में 'यही मैं हूँ' इत्यादि बुद्धि उत्पन्न होती है। अर्थात् परिपूर्णत्वादि गुणों से युक्त शिव ही इस आवरण के कारण अणुरूप (संसारी जीव) बन जाता है। इसलिये इस आवरण को आणवमल कहते हैं।

मायामल—शिव की ज्ञानशक्ति जब संकुचित होती है तब वह सर्वज्ञत्व आदि के बदले आत्मा को किंचित्ज्ञ बना लेती है। यही सूक्ष्म शरीर के रूप में आत्मा के लिये द्वितीय आवरण है। इसमें छह मिश्र तत्त्व रहते हैं।

कार्ममल—शिव की क्रियाशक्ति संकुचित होकर सर्वकर्तृत्व के विपरीत किंचित् कर्तृत्व प्राप्त करती है। यह जीव के लिये स्थूल शरीर के रूप में तीसरा आवरण है। इसी के आश्रय से जीव शुभाशुभ कर्म करता है। इसी उद्देश से इस आवरण को कार्ममल कहा जाता है। इस आवरण के कारण 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि व्यवहार से युक्त होता है। इस मल में अशुद्ध तत्त्व हैं।

गुरु की आवश्यकता—जीव जब इस द्वंद्वात्मक संसार के स्रक्चंदनवनितादि विषय सुख तथाज्योतिष्टोमादि जन्य स्वर्ग सुख को नश्वर समझता है, तब इस संसार के दोषों का नाश करनेवाले मूलतत्त्व को जानने के लिये अत्यंत उत्सुक होता है और निश्चय करता है कि यह संसार प्रकृतिजन्य है। प्रकृति शिव से उत्पन्न और उसी के अधीन रहती है। अतः इस चक्र से बचने के लिये परशिव की शरण में जाना आवश्यक है, क्योंकि हम अपने मुखस्थ जल को जिस प्रकार पीने में या थूकने में समर्थ होते हैं उसी प्रकार परशिव ने प्रकृति का सृजन कर उसको अपने अधीन या वश में रख लिया है। अतः उस परशिव का अनुग्रह प्राप्त करना चाहिए। इसी से संपूर्ण प्रकृति भी अपने वश में हो जाती है—

शिवमायार्पितं द्वंद्वं शिवस्तु परिमार्जति।
शिवेन कल्पितं द्वंद्वं तस्मिन्नेव समर्पयेत्॥

—क्रियासार

उस परशिव की कृपा प्राप्त करने के लिये—

गुरुमेव शिवं पश्येत शिवमेव गुरुंस्तथा।
नैतयोरन्तरं किंचिद्विजानीयाद्विचक्षणाः॥

—सिद्धात शिखामणि

इस उक्ति के अनुसार शिव से अभिन्न तथा लिंगाग सामरस्य (मोक्ष) बोधक श्रीगुरु के पास जाता है।

संसार के संताप से संतप्त होकर संप्राप्त शिष्य को श्रीगुरु—

जीवत्वं दुःखसर्वस्वं तदिदं मलकल्पितम्।
निरस्यते गुरुर्बोधात्-ज्ञानशक्तिः प्रकाशते॥

इत्यादि शिवागमोक्ति के अनुसार उपदेश देकर ज्ञानशक्ति का प्रकाशन करते हैं। इस ज्ञानशक्ति-प्रकाशनक्रिया को दीक्षा कहते हैं।

दीक्षा का अर्थ—स्वायंभुवागम में—

अनयोः शासने सिद्धा दीक्षा क्षपणदानयोः।

अर्थात् पशुत्व का नाश और शिवत्व की प्राप्ति इन दोनों को प्रदान करने के कारण इस अनुग्रहकार्य को दीक्षा कहते हैं।

मतंगपारमेश्वर में —

दानं नाम स्वसत्त्वैव या सा ज्ञान क्रियात्मिका॥
सा शक्तिस्तस्य स्पर्शाद्व्यक्ती भूतासु निर्मला।
पत्युर्दानं तदेवोक्तं न स्वयं व्यज्यते पशोः॥

आत्मा की स्वभाव रूपी ज्ञानक्रियाएँ शिवानुग्रह-शक्ति के अज्ञानछेदन द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण दान और क्षपण का अर्थ क्षय होना है। मलमाया कर्मों का नाश करके संसार की निवृत्ति करने के कारण शिवत्वाभिव्यक्ति-रूप-कार्य करनेवाली शक्ति को दीक्षा कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि मलों का विच्छेद तथा सर्वज्ञान क्रिया का उद्भव अर्थात् सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व का स्फुरण दीक्षा का कार्य है। यही मोक्ष का स्वरूप भी है। परमेश्वर स्वयं अपनी क्रियाशक्ति रूपी दीक्षा द्वारा पशुआत्मा को मुक्त करते हैं। किसी एक या दो पाशों के विच्छेद को ही मोक्ष नहीं कहा जाता। मोक्षावस्था में अज्ञत्व, अकर्तृत्व आदि नहीं रहते। ईश्वर से प्रेरित हुए बिना पशु (जीव) स्वयं कुछ नहीं कर सकता। इसलिये उसके अपने क्रिया, ज्ञान आदि उपायों से मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रकृति प्रभृति पदार्थ पाश के ही अंतर्गत है। इनसे भी मोक्ष का उदय नहीं हो सकता।

जीव को मोक्षदान करने में एक मात्र परमेश्वर ही समर्थ है। पूर्ण स्वातंत्र्य और किसी में नहीं है। भगवान् ही जीव का उद्धार करता है। इसलिये इसी का सर्वत्र गुरुरूप से वर्णन किया जाता है। पातंजल योगसूत्र में ईश्वर को पूर्व गुरुओं के भी गुरुरूप में वर्णन किया गया हैं। सृष्टि के आदि गुरु प्रत्येक सृष्टि में भिन्न भिन्न होते हैं। ये सिद्ध पुरुष या कार्येश्वर कहलाते हैं परंतु परमेश्वर कालावच्छिन्न न होने के कारण नित्य सिद्ध और कार्येश्वरों का भी ईश्वरस्वरूप है। यही अनादि गुरु है। योगभाष्य में लिखा है कि—

तस्याऽऽत्मानुग्रहाऽभावेऽपि भूतानुग्रहःप्रयोजनम् । ज्ञान-धर्मोऽपदेशेन कल्पप्रलय महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामि।

अर्थात् उसका अपना कोई प्रयोजन न होने पर भी कल्पप्रलय और महाप्रलय में ज्ञान एवं धर्म के उपदेश द्वारा संसारियों का उद्धार करूँ ऐसा जीवों पर कृपा करना रूप-प्रयोजन है। यह सत्य है कि जीव अनुग्रह-योग्य होने पर ही उसका अनुग्रह प्राप्त करता है।

दीक्षाभेद—आगमानुयायी मतों में अनेक प्रकार की दीक्षा का विधान है। किंतु वीरशैवों में—वेधादीक्षा, मंत्रदीक्षा तथा क्रियादीक्षा—ये तीन प्रधान हैं। पुनः इनमें सात सात प्रकार के अवांतर दीक्षा का विधान हैं। जैसे—वेधादीक्षा में—(१) एकाग्रचित्त (२) दृढ़व्रत (३) पंचेंद्रियार्पित (४) अहिंसा (५) लिंगनिष्ठा (६) मनोलय (७) और सद्योमुक्ति।

मंत्रदीक्षा में—(१) समय (२) निस्सार (३) निर्वाण (४) तत्त्व (५) आध्यात्म (६) अनुग्रह (७) और सत्यशुद्ध।

क्रियादीक्षा में—(१) आज्ञा (२) उपमा (३) स्वस्तिकारोहण (४) कलशाभिषेक (५) विभूतिपट्ट (६) लिंगायत (७) और लिंग-स्वायत।

इस प्रकार अति संक्षेप में वीरशैवों की सृष्टि से लेकर सामरस्य (मोक्ष) तक की विवेचना है। इसके अंतर्गत जो षट्स्थल हैं उनमें अनेक विभाग करके सूक्ष्म तत्त्वों का विचार वचनशास्त्र में किया गया है और इसके अति-रिक्त अष्टावरण, पंचाचार आदि तत्त्वों का विस्तृत विवेचन है। किंतु स्थाना-भाव के कारण यहाँ पर विशेष रूप से विवेचन नहीं किया गया। आशा है विद्वान् पाठक वीरशैवों की तत्त्वविवेचन-पद्धति तथा सिद्धांत से परिचित हो सकेंगे।

प्रभुदेवजी का जीवनवृत्त

भारतवर्ष एक अध्यात्मप्रकाश देश है। यहाँ की आध्यात्मिक ज्योति ने न केवल भारतवर्ष के मानसमंदिर को आलोकित किया है, प्रत्युत वह विश्व के अज्ञानांधकार का समय समय पर नाश करती रही है। इस आध्यात्मिक ज्योति का प्रसार संत महात्माओं द्वारा ही होता रहता है। समय समय पर अवतीर्ण होकर ये तत्त्वज्ञजन विश्व का उपकार अपनी अमृतवर्षिणी वाग्धारा से करते रहते हैं और जिज्ञासुओं के जीवन में चेतनता एवं सरसता का संचार करते हैं।

सुप्रसिद्ध बात है कि महात्माओं का अवतार लोकहित के लिये ही होता है। उनके संदर्शन, संभाषण तथा सहवास आदि से मनुष्य में व्याप्त अज्ञानांधकार तथा अनाचार आदि नष्ट हो जाते हैं और उनमें सुज्ञान तथा सदाचारों का आवास होता है। इसीलिये कहा गया है कि—'क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणी नौका' 'सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्'। ऐसे महात्माओं में अग्रगण्य तथा कर्नाटक (वर्तमान मैसूर राज्य) की महान् विभूति अल्लमप्रभु (अल्लम=मायातीत; मायाकोलाहल) भी एक ज्वलंत रत्न हैं। अल्लमप्रभु अथवा प्रभुदेवजी का संपूर्ण जीवन अनंत महिमापूर्ण घटनाओं से भरा पड़ा है। उनकी महत्ता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उनके जीवितकाल में तथा तदनंतर भी अनेक संत, महात्मा, कवि तथा साहित्यकारों ने कन्नड़, संस्कृत, तेलगु, तमिल तथा मराठी आदि भाषाओं में तद्विषयक काव्य, चरित्र तथा पुराण आदि की रचना की है। आज कन्नड़भाषी जनता विशेषकर वीरशैव धर्मावलंबियों ने उन ग्रंथों को धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रंथ के रूप में माना है। अतः इस महामहिम का परिचय इन पंक्तियों में देना मेरे जैसे व्यक्ति के लिये सुकर नहीं है। फिर भी हिंदीजगत् के पाठकों के परिचय के लिये थोड़ा कहे बिना रहा भी नहीं जाता। यद्यपि आजकल के वातावरण में रहनेवाले लोगों को वे घटनाएँ या लीलाएँ अवास्तविक प्रतीत हो सकती हैं, परंतु हमारे भारतवर्ष में एक ऐसा भी समय था जब वे सब सत्य मानी जाती थीं। यदि आज भी उन महात्माओं के द्वारा प्रदर्शित (भक्ति, ज्ञान, कर्म से युक्त) मार्ग पर कोई चले तो उनको भी निश्चितरूप से वे घटनाएँ सत्य जान पड़ेंगी।

प्रभुदेवजी के समय के तथा आजकल के लोग भी उनको शिव का अवतार ही मानते रहे हैं। अतः उनके जन्म-मरण की तिथि संदिग्ध है। किंतु ऐतिहासिकों ने एकमत होकर यह माना है कि वे बारहवीं (क्रि० श० १२००) शताब्दि में जीवित थे। कन्नडकविचरित्र (कन्नडसाहित्य के इतिहास) कारों ने क्रि० श० ११६० बताया है।

प्रस्तुत ग्रंथ के टीकाकर्ता (तेरहवीं शताब्दी) द्वारा इस ग्रंथ के आरंभ में दिए गए गद्यांश से प्रभुदेवजी के जन्म तथा माता पिता का कुछ परिचय मिलता है। कन्नड, संस्कृत, तेलगु तथा मराठी आदि भाषाओं में 'प्रभुलिंगलीला' आदि काव्यों में भी कुछ परिवर्तन के साथ यही विषय मिलता है। परिवर्तन यही है कि कुछ कवियों ने प्रभुदेवजी को विवाहित के रूप में और कुछ ने अविवाहित के रूप में माना है। केवल इन्हीं का ही नहीं प्रत्युत भारत के अधिकांश अंतर्मुख महात्माओं का जीवनवृत्त अद्यावधि अनावृत्त ही है। परंतु उन महात्माओं की अनुभूतिपूर्ण सुधामय वाणी निरभ्र आकाश में जाज्वल्यमान सूर्य के समान आज भी मानवकुल का पथप्रदर्शन करती है। पाश्चात्य देशों में प्लेटो, अरस्तू जैसे उन महान् पुरुषों का भी जीवनवृत्त, जिनका लेखन पाश्चात्य विद्याओं की आधार-शिला है, भूतकाल के अंधकार में छिपा पड़ा है। आरुणि, याज्ञवल्क्य आदि ऋषि भारत की उपनिषत् जैसी महती संपदा के जनक हैं, परंतु उनके चरित्र के विषय में आज भी हमको स्पष्ट कल्पना नहीं मिलती। भोगभूमि से तिरोहित होने पर भी ऋषि-मुनियों की वाणी वाग्देह में नित्य वर्तमान रहकर मानव का सदा पथप्रदर्शन करती रहती है। अस्तु,

चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कन्नडकवि चामराजकृत 'प्रभुलिंगलीला' आदि काव्यों के अनुसार प्रभुदेवजी का चरित्र इस प्रकार मिलता है—एक समय नित्यनिरंजन वाङ्मन से अगोचर परशिव अपने गणों के साथ कैलास में विराजमान थे। उस समय पार्वती ने प्रश्न किया—स्वामिन्! आपकी सभा में उपस्थित गण क्या नित्यसुखी हैं? क्या उनकी महिमा की कोई सीमा नहीं है? इस पर शिवजी ने कहा कि जिसने नाम रूप और क्रिया पर विजय प्राप्त कर ली है वही नित्यसुख का अनुभव कर सकता है। इसलिये पृथ्वी में मानवयोनि में जन्म लेकर साधना (उपासना) के द्वारा निज स्वरूप को जानना चाहिए। इस पर पार्वती ने पुनः पूछा—यदि मर्त्यलोक में कोई जन्म लेगा तो उसका स्वस्वरूप का उपदेश कौन देगा? उत्तर में शिव

ने कहा—भूलोक में सुज्ञानी एवं निरहंकार नामक दंपती के गर्भ से मेरा ही स्वरूप अल्लम (मायातीत) प्रभु के नाम से उत्पन्न हुआ है। वही स्वस्वरूप ज्ञान का उपदेश दे सकता है। अल्लमप्रभु का नाम सुनकर पार्वती ने निश्चय किया—मैं उसे जानती हूँ। अतः उसे वशीभूत करके स्वस्वरूप को जानूँगी। इस प्रतिज्ञा के साथ ही साथ पार्वती ने अपनी तामसकला की मूर्ति माया को बुलाकर उस अल्लम को वशीभूत करने की आज्ञा दी।

उनके आज्ञानुसार माया ने बनवासी (कारवार जिला मैसूर स्टेट) के राजा ममकार की पत्नी मोहिनीदेवी के गर्भ से जन्म लिया। पृथ्वी पर जन्म लेते ही उसका प्रभाव चारों तरफ फैल गया। उसे सुनकर जप, तप, होम तथा समाधि में मग्न समस्त ऋषिगण कामविह्वल हो गए। दिन व्यतीत होने में विलंब नहीं हुआ, माया ने कौमार्यवस्था से तारुण्य में पदार्पण किया। पिता योग्य वर की खोज के लिये एक दिन विचार कर ही रहा था कि उसी समय उसका कुलगुरु अहंकार नामक आचार्य आ पहुँचा और उसने कहा कि इसके लिये योग्य वर परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। वहाँ से लौटते समय आचार्य ने शिव की कृपा प्राप्त करने के लिए माया को मंत्र दिया। उसके आज्ञानुसार माया प्रतिदिन मधुकेश्वर नामक देवालय में जाकर शिव की आराधना करने लगी। एक दिन वह नृत्य-सेवा के अनंतर प्रसाद स्वीकार करके बैठी थी। उसी समय प्रभुदेवजी भी मृदंगवादक के रूप में आ उपस्थित हुए और मंदिर के बाहर जाकर मृदंगवादन करने लगे। मृदंग की ध्वनि सुनकर माया अत्यंत चकित हो गई और अल्लमप्रभु को अपने पास बुलवाई। वहाँ इनसे साक्षात्कार होते ही माया मोहित हो गई। माया की मोहपरवशता को जानकर उसकी सखियों ने प्रभु का परिचय प्राप्त करना चाहा।

संभाषण के प्रसंग में उनको विदित हुआ कि अल्लमप्रभु का कोई सगा-संबंधी और माता पिता नहीं है। उनके जन्मस्थान का भी पता नहीं है। फिर भी माया ने उन्हें अपने महल में बुलवाया। वहाँ राजा की अनुमति से मायादेवी के नाट्याचार्य के रूप में प्रभु नियुक्त हुए। नाट्यशिक्षण काल में कामातुरता के कारण राजकुमारी उत्तरोत्तर अत्यंत कृश होने लगी। इस अवस्था को देखकर एक दिन सखियाँ उन दोनों का समागम कराने के लिये प्रयत्नशील हुईं। परंतु सब व्यर्थ हुआ। इस समाचार से माया के माता पिता ने घबराकर प्रभु के लिये अलग व्यवस्था कर दी। इससे माया और

क्षीण होने लगी। इधर कैलास में पार्वती को चिंता हुई कि प्रभु को वशीभूत करने के लिये भेजी गई माया अभी तक क्यों नहीं आई ? उसको स्मरण दिलाने के हेतु विमला नामक स्त्री को उन्होंने माया के पास भेजा।

पार्वती के आज्ञानुसार विमला भी पृथ्वी में जन्म लेकर माया के पास गई और अपने कार्यसाधन का स्मरण दिलाती हुई अल्लमप्रभु के स्वरूप का वर्णन करने लगी। इसे सुनकर माया ने गर्व से कहा कि यह शिव का स्वरूप नहीं किंतु एक मृदंगवादक का रूप है। इस पर विमला ने समझाया कि यदि तुम विषयविकलता का परित्याग कर केवल सात्विक बुद्धि से देखोगी तो उसके स्वरूप का पता हो सकता है। अतः प्रभु के स्वरूप को जानने के लिये वे दोनों मधुकेश्वर देवालय में गईं। देवालय में मृदंगवादन करनेवाले प्रभु को वशीभूत करने के लिये माया प्रयत्न करती रही। उसका अभिप्राय समझकर प्रभुदेव ने मृदंग वहीं फेंककर प्रस्थान कर दिया। माया भी उसके पीछे हो चली और उसके साथ अनेक सखियाँ भी चलीं। मध्यमार्ग पर प्रभु को रोककर सखियों ने समझाया और कहा कि तुम अपनी कला से हमारी राजपुत्री को वशीभूत करके अब उसका परित्याग कर रहे हो—यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है। इसपर प्रभुदेव ने कहा—तुम्हारी राजपुत्री को मुझसे प्रेम करने के लिये किसने विवश किया था ? यह सब उसने अपने मन से किया है। अतः उसी का दोष है। इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है और फिर वहाँ से चल पड़े। इसपर शोक, कोप और दर्प से माया ने कहा—'मेरा नाम माया है। मैं हरिहर ब्रह्मादियों पर विजय प्राप्त कर अनेक तपस्वियों को वशीभूत करती हूँ।' स्मितभाव से प्रभु ने कहा—'क्या तुम जानती हो, तुमसे इस प्रकार की क्रीड़ा करानेवाला कौन है। जरा सोचकर बात करो' ? तब माया ने नम्र होकर प्रार्थना की कि यह सब बातें छोड़ो और मेरे ऊपर कृपा करो। निराकरण करते हुए प्रभु ने कहा कि माया को परमतत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार अपनी पराजय के कारण माया वहीं मृत हो गई।

गुरु की खोज—इस प्रकार माया का परित्याग करके प्रभु ने यह निश्चय कर लिया कि गुरुकृपा के बिना इस आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषय में प्रभुदेवजी ने स्वयं अपनी वाणियों से प्रकट किया है।[१] 'यह शरीर महान् पातक के लिये आश्रय है क्योंकि यदि इस शरीर के

१ वे वाणियाँ प्रस्तुत ग्रंथ में नहीं है। अतएव उनका सारांश यहाँ दिया गया है।

रूप के विषय पर विचार किया जाय तो चर्म, रोम, स्नायु, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र, शोणित और मलमूत्र आदियों से निर्मित है······ । इसके गुण के विषय में विचार किया जाय तो काम, क्रोध और मोहादि से भरा पड़ा है··· । सुख दुःख के विषय में, फणी, राजा, पशु, मृग, पक्षी, जल, वायु, विद्युत्, शीतोष्ण और अनेक रोगों का भय तथा क्षुधा, तृष्णा से युक्त है। इसका आयुष्य क्या है—क्षण, दिन, मास, वर्ष ?—नहीं जाना जा सकता। इस देह का ऐश्वर्य मृगमरीचिका के जल के समान, मन की आशा पर्वत की भाँति, यौवन विद्युल्लेखा के समान, धैर्य संध्या की धूर की तरह और संसार इंद्रजाल की भाँति तथा भोग दर्पणगत प्रतिबिंब की भाँति है। इस अनित्य शरीर की उपाधि का निवारण कर्म से नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म करने से देह धारण करना पड़ता है। देह धारण करने पर कर्म करना पड़ता है। इस कर्म और देह के संबंध को यदि बीज-वृक्षन्याय की भाँति माना जाय तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म जड़ है और कर्ता उससे विलक्षण (चेतन) है। अतः कर्म से देहभार की निवृत्ति नहीं हो सकती।

यदि ज्ञान से देहभार का निवारण करना चाहें तो उससे भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका स्वरूप ही विदित नहीं होता है। शास्त्रजन्य ज्ञान से भी उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

यह शरीर दुःख, आशा, अस्थिरता आदि गुणों से भरा पड़ा है। इस शरीरभार का निवारण कर पोषण करनेवाला पिता, इसके दुर्विषय नामक हलाहल के लिये अमृतरूप में, पंचाग्नि रूपी बड़वानल के लिये समुद्र के रूप में, दुर्मद रूपी मत्तगज के लिये सिंह के रूप में, अज्ञानांधकार के लिये सुज्ञान ज्योति के रूप में,—आकर यह स्थूल देह का सुख, यह सूक्ष्मदेह का सुख, यह कारण देह का सुख—इस प्रकार का ज्ञान करानेवाला गुरु कौन है ?

मेरे संकल्प-विकल्प रूपी घोर अरण्य को दग्ध करने के लिये दावानल के रूप में आकर शिवपुर के लिये प्रशस्तमार्ग दिखानेवाला कौन है ? संसार-सागर के लिये नौका बनकर तीर पर पहुँचानेवाला दयानिधि कौन है ?

यह दृष्टि और मन शिव की वस्तु है। अतः यदि उनकी चीजें उसीको समर्पित की जायँ तो इस शरीरभार का निवारण हो सकता है। जब तक उनकी चीज वापस नहीं करते तब तक शरीर की बाधा दूर नहीं हो सकती। किंतु जब तक मैं गर्भ में था तब तक उस (स्वामी) का पता था। लेकिन लौटाने के लिये ये वस्तुएँ (दृष्टि, मन) मेरे पास नहीं थीं। जब गर्भ से

निकलकर मैं बाहर आया तब ये चीजें मेरे पास आ गईं। परंतु अब उस स्वामी का ही पता नहीं है। इसलिये जो कोई दृष्टि तथा मन को एकाग्र करके शिव की उपासना करता है उसे शिवकला देहभार की निवृत्ति करके भ्रमरकीट न्याय की भाँति अपने स्वरूप में मिला लेती है। दृष्टि तथा मन को स्थिर किये बिना यदि कोई शिवोपासना करता है तो उसको बंधनिवृत्तिरूप मोक्ष मिल सकता है। परंतु देहभार की निवृत्ति (चिन्मय देह) नहीं हो सकती।

इस देहभार को कौन उतारेगा ? अब मैं इस भार का वहन नहीं कर सकता। इसके पालन-पोषण से और भी दुर्गुण बढ़ जाते हैं। उसकी रक्षा करना सर्प-शिशु को क्षीर पिलाना है। अब तक मैं इस शरीर को सुखद समझता था। विचार करने पर वह पूर्णतः दुःखमय है। इसलिए 'अपात्रदाने दरिद्रदोषः' उक्ति के अनुसार उसके पोषण से महापातक की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार निश्चय करने के पश्चात् मैंने माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र आदि सुखसंपदा का परित्याग कर एक महारण्य की शरण ली। मार्ग में साक्षात् शिव ही अपना वेष बदलकर एक दिव्य जंगम (महाज्ञानी) के रूप में आ उपस्थित हुए। उस पुण्यमूर्ति को देखते ही अंधक को नेत्र, दरिद्र को महान् संपदा और महारोगी को जीवन लाभ की भाँति प्रतीत हुआ। अत्यंत भक्ति से उस योगी के चरणों में साष्टांग प्रणाम करके मैंने उससे इस प्रकार प्रार्थना की—'स्वामिन् ! काम रूपी तस्कर ने मेरा ज्ञानरत्न अपहरण कर लिया है। क्रोध रूपी व्याघ्र ने स्वस्वरूपनामक कामधेनु को काट डाला है। लोभ नामक मर्कट ने शरीरारण्य में प्रवेशकर शिवसत्क्रिया नामक फल निगल लिया है। मोह नामक अतिवृष्टि से शिवधर्म का ज्ञान बह गया। मद रूपी गज ने निश्चिंत तथा निर्मल नामक कमल से पूर्ण मानस-सरोवर में प्रवेश कर उसे कलुषित कर दिया है। मत्सर से उत्पन्न कोप रूपी कालानल के प्रवेश से शांति नामक समुद्र सूख गया। मन के विकार रूपी प्रचंड मारुत के प्रवेश से सत्य, शौच, क्षमा, दया, शांति, दाक्षिण्य तथा ब्रह्मचर्य आदि दीपक बुझ गए। रागद्वेषादि मधुमक्खियाँ संघटितरूप से जीव-हंस को पीड़ा दे रही हैं। पता नहीं इस जीव के लिये उत्पत्ति, स्थिति तथा लय कब तक रहेंगे ? इनका नाश कब होगा ? देहपाश से मुझे किसने बाँधा है ? और मोह रूपी सागर में डुबाकर पुनः उठ न सके, इसलिये मेरी छाती पर

अहंकार नामक पहाड़ रखते हुए पीड़ा कौन दे रहा है ? मैं कौन हूँ ? यह शरीर क्या है ? क्या चैतन्य ही शरीर बन गया है ?'

यदि मेरे कर्म के कारण इस शरीर की उत्पत्ति मानी जाय तो देह के बिना कर्म कैसे बन सकेगा ? इसलिये देह और कर्म का कर्ता एक ही है। अतः वह दुःखसंहारी आप ही हैं। आप के श्रीचरण की कृपा से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है...।

तदनंतर श्रीगुरु ने दयार्द्र दृष्टि से देखकर कहा कि तुम घबराओ नहीं। तुम्हारे अंतरंग के संकल्प-विकल्पों को नष्ट करके मैं तुम्हें मोक्षराज्य में पट्टाभिषिक्त करूँगा।

इस प्रसंग में गुरु-शिष्यों में अनेकविध विचार-विनिमय हुए। परंतु यहाँ इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रभुदेवजी ने देहभार की निवृत्ति के लिये उस गुरु (शिव) से अनुग्रह प्राप्त किया। चरित्रकारों ने उस गुरु का नाम 'अनिमिषार्य' अथवा 'अनुमिषार्य' दिया है।

प्रभुदेवजी अनुग्रह प्राप्त करने के पश्चात् शिवाद्वैत तत्त्वों का प्रचार एवं भक्तों का उद्धार करने के हेतु दिव्य वचनामृत का गान करते हुए देशाटन के लिये निकल पड़े।

इधर अपनी प्रतिज्ञा के भंग होने से पार्वती चिंता करने लगी। इसलिये शिव ने कहा—मैंने पहले ही कहा था कि तुम अपनी तामसवृत्ति माया से मेरे ही स्वरूप प्रभुदेव को नहीं जान सकती और उसको वश में भी नहीं किया जा सकता। यदि उसका स्वरूप जानना चाहो तो तुम्हें शुद्ध सात्विक अंश से ही ज्ञात हो सकता है। संतुष्ट होकर पार्वती ने अपने सात्विक अंश को भूलोक में भेजा। वही सात्विक अंश 'उड़तड़ी' नामक ग्राम (शिवमोग्गा जिला मैसूर स्टेट) के सुमति और निर्मल नामक दंपती से पुत्री के रूप में उत्पन्न हुआ। उस कुमारी का नाम अक्कमहादेवी रखा गया। यौवनावस्था को प्राप्त करते ही अकस्मात् वहाँ का जैनराजा कौशिक बिहार करने जा रहा था। उस समय अक्कमहादेवी के रूप लावण्य को देखकर मुग्ध हो गया और उससे विवाह करने की उसने अपनी इच्छा प्रकट की। इससे माता-पिता चिंतित हुए। परंतु महादेवी ने एक शर्त पर राजा के साथ विवाह करने का प्रस्ताव स्वीकार किया। परंतु वह शर्त राजा को मान्य नहीं हुई। इसलिये उसने बलपूर्वक विवाह करने का प्रयास किया। किंतु उसी समय वैराग्य से अपने वस्त्राभरणों को उतार कर

महादेवी ने वहीं फेंक दिया और गुरु की खोज में अरण्य की ओर चल पड़ी। मार्ग में प्रभुदेवजी से भेंट हुई और उसने उनसे अनुग्रह प्राप्त कर लिया। उस समय उन दोनों में परस्पर जो आध्यात्मिक चर्चा हुई है, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

प्रभुदेवजी की तरह अक्कमहादेवी के भी अनेक वचन हैं जो कन्नडभाषा में ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हैं। इसकी वाणियाँ अत्यंत वेदांतपरक, भक्ति और वैराग्य से परिपूर्ण हैं। स्थानाभाव के कारण उनकी आलोचना यहाँ नहीं की जा सकती। उनके लिये एक स्वतंत्र ग्रंथ की आवश्यकता है।

इधर प्रभुदेवजी शिवाद्वैत तत्त्वों का प्रचार करते हुए सोन्नलगी (सोलापुर वर्तमान महाराष्ट्र) की ओर प्रस्थित हुए। मार्ग में एक सुंदर उपवन को देखकर उन्होंने उसमें प्रवेश किया। उस उपवन का स्वामी गोगार्य जीवनलक्ष्य को भूलकर केवल कर्म में ही निरत था। बाह्य कृषिकर्म से कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती·········इत्यादि बातों से प्रभु ने उसको आध्यात्मिक तत्त्वों का उपदेश दिया। इन दोनों के वादविवाद के प्रसंग में बाह्य कृषि की अपेक्षा शरीर रूपी क्षेत्र में कृषिकर्म को श्रेष्ठ बताते हुए प्रभुदेवजी ने कहा कि 'मैंने शरीर रूपी उद्यान में मन रूपी फरसे से खनकर भ्रांति नामक विषैली जड़ को निकाल दिया। संसार नामक मिट्टी के ढेले को फोड़कर उस क्षेत्र में ब्रह्मबीज का वपन किया। वहाँ अखंड मंडल नामक एक कूप है। वायु रूपी जलउद्‌वहन यंत्र है। सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा उस जल से सिंचन-कार्य किया। ब्रह्मबीजांकुर से परिपूर्ण वह क्षेत्र पाँच पशुओं (पंचेंद्रियों) के द्वारा नष्ट न हो, इसके लिये समता एवं शांति रूपी कंटीले तार से उसे घेर दिया। इस उपवन में सदा जागरूक होकर मैंने प्रहरी का काम किया और उसकी रक्षा की'। इत्यादि प्रसंग से उसको समझाया और प्राणलिंगानुसंधान का उपदेश दिया। गोगार्य अपने को धन्य समझता हुआ उनका शिष्यत्व स्वीकार कर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने लगा।

वहाँ से आगे बढ़ने पर मार्ग में मुक्तायक्का नामक स्त्री सहोदर के वियोग (मृत्यु) से अत्यंत दुःखी हो रही थी। उसको अनेक प्रकार से समझा बुझाकर प्रभु ने कहा कि तुम्हारा सहोदर शिवभक्त था। शिवभक्तों की मृत्यु नहीं हो सकती। वह शिव के साथ सामरस्य करता है। इसलिये वह नित्य है।

इसके अनंतर प्रभुदेवजी सोलापुर पहुँचे। उन्होंने वहाँ जाकर देखा कि सिद्धराम नामक एक योगीश्वर पुण्यप्राप्ति की इच्छा से देवालय, तालाब आदि का निर्माण करने में निरत था। निष्काम कर्म करने का रहस्य न जाननेवाले उस सिद्धराम को उपदेश देने के निमित्त प्रभुदेवजी ने मंदिर में काम करनेवालों के पास जाकर उनके स्वामी सिद्धराम की निंदा की। स्वामी की निंदा सहन न कर सकने के कारण वे लोग क्रुद्ध होकर ईंट और पत्थर से प्रभु को मारने लगे। किंतु ईंट पत्थर उनके शरीर को स्पर्श नहीं कर सके। वे हँसते हुए सिद्धराम के कार्य की अवहेलना करते ही रहे। इस घटना से चकित तथा निरुपाय होकर वे सब अपने स्वामी के पास जाकर उसको सब वृत्तांत सुनाये। सुनकर सिद्धराम अत्यंत कुपित भाव से प्रभु के पास आया। उसके क्रोधभाव को जानकर हँसते हुए प्रभु ने कहा कि जो योगी है उसके लिये क्रोधवृत्ति ठीक नहीं। तुम भी योगी हो, अतः तुम्हारे लिये क्रोध अहितकर है। इस प्रसंग में अनेक प्रकार का वादविवाद चलता रहा। अंत में सिद्धराम क्रोध के मारे अपनी तपस्या से प्राप्त तृतीय नेत्र की अग्नि से प्रभु को जलाकर भस्म करना चाहा। उसकी नेत्राग्नि क्षण भर में उस गाँव में व्याप्त हो गई। परंतु उससे प्रभु का कुछ नहीं हो सका। जनता त्राहि त्राहि करने लगी। अतएव प्रभुदेवजी ने उस अग्नि को अपने चरणों में छिपा लिया। इससे सिद्धरामयोगी चकित रह गया और उसी समय उसको स्मरण हुआ कि यही मेरा उद्धारकर्ता तथा गुरु है।

अपराध स्वीकार करते हुए सिद्धराम क्षमायाचना करने लगा और बोला कि साधारण सन्यासी के वेष में आने से मैं आपको पहचान नहीं सका। उसके परिवर्तित भाव को देखकर अनेक प्रकार से उपदेश देते हुए उन्होंने बताया कि बड़े, छोटे, दरिद्र, धनी जैसी भेदबुद्धी से विरत होकर समत्वभाव से व्यवहार करना चाहिए और शिवजीव-सामरस्य के लिये भक्ति और शक्ति के समन्वय की आवश्यकता बताई। इसके पश्चात् सिद्धराम को चन्नबसव नामक एक ज्ञानी से लिंगांगसामरस्य (वीरशैव) की दीक्षा दिलाई आगे चलकर सिद्धराम भी एक प्रसिद्ध शरण (संत) हो गया। प्रभुदेवजी की भाँति इनकी भी अनुभवपूर्ण एवं वेदांतपरक अनेक वाणियाँ हैं जो ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हैं।

सिद्धराम को अपने साथ लेकर प्रभु बसवेश्वर आदियों को जीवन का

लक्ष्य बताने के लिये कल्याण (बीदर जिला मैसूर स्टेट) की तरफ गए। भक्तिभंडारी बसवेश्वर उस समय के महान् क्रांतिकारी पुरुष थे जो वीरशैव मतोद्धारक के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं। वे कल्याण में तत्कालीन कल्चूर्य वंश के राजा बिज्जल के प्रधान मंत्री थे। उन्होंने धार्मिक, सामाजिक, नैतिक तथा साहित्यिक आदि अनेक क्षेत्रों में अद्भुत ऐतिहासिक क्रांति की है। हजारों की संख्या में उनकी भी वाणियाँ हैं। वे हिंदी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनूदित हो गई हैं। उन्होंने अपने मंत्रित्व काल में 'अनुभव मंटप' नाम से एक आध्यात्मिक चर्चाकूट की स्थापना की थी। उसमें उच्चकोटि के संतों ने (शरण) देश के अनेक भागों से आकर अपनी आध्यात्मिक अनुभूति की चर्चा की। वे सब वाणियाँ जो लाखों की संख्या में हैं कन्नड-साहित्य की एक महान् निधि हैं। इस क्रांति का पूर्ण श्रेय श्रीबसवेश्वर को ही है।

कल्याण नामक स्थान पर पहुँचने के पश्चात् बसवेश्वर ने प्रभु को उस अनुभव मंटप (विश्वधर्म का आध्यात्मिक चर्चाकूट) का अध्यक्ष बनाया। इसमें प्रभुजी के बैठने के स्थान को 'शून्यसिंहासन' की संज्ञा दी गई है। उस सिंहासन का एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप है। उस सिंहासन के विषय में अनेक वचन हैं। वहाँ कुछ दिन रहकर उन्होंने सभी को शिव-सामरस्य (शिवयोग) का रहस्य बताया। वहाँ से पुनः देशाटन के निमित्त प्रभु पोन्नंबलनाथ, रामेश्वर, महाबलेश्वर, सौराष्ट्र सोमनाथ आदि तीर्थस्थानों का परिभ्रमण कर केदार तक पहुँचे। वहाँ से पुनः कल्याण में आकर अनुभव मंटप में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किया और श्रीशैल के कदलीवन में समाधि लेने के निमित्त चले गए। वहाँ नाथपंथ के प्रसिद्ध सिद्ध गोरक्षनाथ से भेंट हुई। गोरक्ष वज्रकायसिद्धि को ही मुक्ति समझते थे। अतएव प्रभुदेवजी ने उनसे कहा कि यह मुक्ति का मार्ग नहीं है। इस पर अपने काय-सिद्धि के परीक्षार्थ गोरक्ष ने प्रभुदेवजी के हाथ में खड्ग देकर उन्हें मारने के लिये कहा। उनके कथनानुसार प्रभुदेव ने खड्ग से उन्हें मारा। उसके आघात से 'खन खन' की आवाज निकली। परंतु गोरक्ष के शरीर की कुछ भी क्षति नहीं हो सकी। प्रभुदेव ने गोरक्ष के हाथ में खड्ग देते हुए अपने को मारने के लिये कहा। गोरक्ष ने भी प्रभु को मारा परंतु खड्ग के आघात से शब्द भी नहीं निकला और उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि मानों खड्ग हवा में चल रहा है। इससे गोरक्ष चकित हो उठे और बाद में इस प्रकार

निर्देही होने का रहस्य बताने के लिये प्रार्थना की । उनके प्रार्थनानुसार प्रभु ने शिव-सामरस्यरूप मोक्षमार्ग का उपदेश दिया । तबसे गोरक्षनाथ ने प्रभु को अपना गुरु मान लिया । इस प्रसंग से संबंधित उनके भी अनेक वचन हैं । इसीलिये 'हठयोगप्रदीपिका' में गुरुपरंपरा का नाम बताते हुए कहा है—

"अल्लम प्रभुदेवश्च घोड़ा चोलीच टिंटिणी ।
भानुकी नाददेवश्च खंडः कपालस्तथा"

गोरक्ष को उपदेश देने के अनंतर श्रीप्रभु आगे बढ़े और आखेट करनेवाले किरातों को देखकर उनको प्राणिहिंसा न करने का उपदेश दिया । तदनंतर तप के लिए सामग्री इकट्ठा करनेवाले अनेक ऋषियों को मोक्षमार्ग का रहस्य समझाया ।

इसके अतिरिक्त और भी प्रभु के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं जिन्हें विस्तारभय से नहीं दिया जा रहा है । वास्तव में प्रभुदेवजी का संपूर्ण जीवन अनेक घटनाओं से परिपूर्ण है । उसकी महत्ता के विषय में तत्कालीन तथा परवर्ती अनेक संत महात्माओं और कवियों के उद्गार मिलते हैं । वस्तुतः भारत की तत्रापि संत महात्माओं की अतिशय अंतर्मुखी वृत्ति होने के कारण उनका जीवनवृत्त प्रकाश में आ ही नहीं पाता । दूसरे उनकी चमत्कारपूर्ण जीवनचर्या जो उनके लेखों द्वारा लिखी भी गई है, उसको आज का विषयोन्मुख एवं हठवादी जगत् कितना महत्त्व देगा—यह कहा नहीं जा सकता । फिर भी जो सामग्री है—लेखक का कर्तव्य है कि वह उसे ईमानदारी से जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत कर दे ताकि वे उससे कुछ संतोषकर निष्कर्ष निकाल सकें ।

प्रभुदेव वचनामृत

कन्नड-वाङ्मय में वचनसाहित्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । उसमें प्रभुदेवजी के वचन मुकुटप्राय हैं । प्रस्तुत ग्रंथ के अतिरिक्त इनके और भी अनेक महत्त्वपूर्ण वचन कन्नडसाहित्य में बिखरे हुए हैं ।

प्रस्तुत ग्रंथ में प्रायः सात सौ वचनों का संग्रह है जो ग्यारह स्थलों में विभक्त हैं । प्रथम में ४, द्वितीय में ७, तृतीय में ३५, चतुर्थ में ५, पंचम में १२, षष्ठ में ४६, सप्तम में ४४, अष्टम में १७, नवम में १३६, दशम में २६४, और एकादश में ८६ वचन हैं ।

इन स्थलों के नाम—१ पिंडस्थल, २ पिंडज्ञानस्थल, ३ मायाविलास-विडंबनस्थल, ४ संसारहेयस्थल, ५ गुरुकारुण्यस्थल, ६ भक्तस्थल, ७ महेशस्थल, ८ प्रसादीस्थल, ९ प्राणलिंगीस्थल, १० शरणस्थल तथा ११ ऐक्यस्थल हैं।

सुविधा की दृष्टि से इन स्थलों को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में परमात्मस्वरूप, उसका संकल्प अथवा इच्छा, विश्व की रचना, जीव की उत्पत्ति (शरीर धारण), माया का विलास, माया (संसार) के प्रति हेयता और श्रीगुरु से कृपा (दीक्षा) तथा इष्टलिंग प्राप्त करना आदि विषयों का विवेचन आता है। दूसरे भाग में श्रीगुरु से अनुग्रह प्राप्त करने के पश्चात् शिष्य शिवसामरस्य (शिवत्व) प्राप्त करने के लिये भक्ति का अवलंबन करके साधना या उपासना करता है। इस साधना के प्रभाव से साधक में किस प्रकार शक्ति और भक्ति का विकास होता है और उनके विकास से अंग (साधक) किस प्रकार शिव हो जाता है, इसका विवेचन आता है।

प्रभुदेवजी ने अपनी साधनावस्था तथा सिद्धावस्था में अनेक सिद्धों, संतो तथा योगियों के साथ विचार-विनिमय करते समय अपनी अनुभूति उन वचनों के द्वारा व्यक्त की है। ऐसी प्रसिद्धि है कि वे वचन लाखों की संख्या में हैं। स्वयं प्रभुदेवजी ने भी एक वचन में कहा है 'मेरे मन ने एक सौ साठ करोड़ वचनों को गा गा कर अनंत वस्तुओं की कामना की पर उसने अपने को नहीं समझा, धन को भी नहीं समझा। गुहेश्वर को जान लेने के पश्चात् समस्त वस्तु एक ही वाक्य में है, इत्यादि।

प्रभुदेवजी के वचन अति गूढ़ तथा सूत्ररूप में हैं। अनुभव के बिना साधारण जन को सुलभ रीति से बोधगम्य नहीं हैं। इसलिये तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध शरण (संत) महालिंग देवजी ने प्रभुदेवजी के कुछ वचनों का संग्रह करके उनकी टीका लिखी और इन्हीं वचनों के द्वारा अपने प्रशिष्य जक्कणाचार्य को षट्स्थल (लिंगांगसामरस्य) सिद्धांत का उपदेश दिया।

वचनों की भाँति टीका भी संक्षिप्त और गूढ़ है। प्रत्येक वचन में जितने वाक्य हैं उनका संक्षिप्त अर्थ मात्र है, जिससे पाठकों को विचार करने में कुछ सुविधा होती है। कहीं कहीं भावार्थ मात्र है।

स्थलों का साराश—(१) पिंडस्थल—स्थल शब्द का अर्थ ३६ तत्त्वों के विवेचन-प्रसंग में आया है। प्रस्तुत ग्रंथ के आरंभिक प्रकरण (स्थल) में उसी स्थल पदवाच्य परब्रह्म या परशिव का वर्णन मिलता है। पूर्णवस्तु को मानवीय भाषा से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यह सत्य स्वातन्त्र्यमय एवं स्वप्रकाश होता है। यह सर्वातिरिक्त, और सर्वांतर्यामी एक साथ होता है। यह सब कुछ है और कुछ नहीं है। दोनों है, दोनों नहीं है। अर्थात् अनिर्वचनीय है। यह सत्य जहाँ भी है उसी के साथ वहीं मिलकर अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है। पिंडवर्ती ब्रह्म को पिंड से अलग कर समझा या समझाया नहीं जा सकता है। वह पिंड से अलग रहते हुए भी उससे स्वतंत्र है, भिन्न है। यही उसके स्वातंत्र्य की विद्यमानता है। पिंड के रहते हुए भी वह स्वतंत्र है। इसीलिये 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' कहा जाता है। इसी विषय को समझाते हुए प्रभुदेवजी कहते हैं—जैसे शिला में अग्नि व्याप्त रहने पर भी अव्यक्त एवं अभेद रूप में रहती है, वैसे ही स्थलपद वाच्य परब्रह्म इस पिंड में अव्यक्त एवं अभेद रूप से वर्तमान रहता है। जिस प्रकार हम क्रिया के द्वारा पाषाणगत अग्नि बहिर्गत कर उसका उपभोग तथा अनुभव कर सकते हैं, उसी प्रकार पिंड में अव्यक्त रूप से वर्तमान शिव को श्रीगुरु का अनुग्रह प्राप्त कर अपनी साधना के द्वारा देख तथा अनुभव कर सकते हैं। गाय में घृत रहने पर भी जब तक दुहकर मथनपूर्वक नवनीत निकालकर गाय को सेवन नहीं करा सकते तब तक उसके रोग का निवारण नहीं हो सकता। उसी प्रकार उपासना के बिना पिंडगत ब्रह्म (शिव) का अनुभव नहीं किया जा सकता। अतः प्रभुदेवजी कहते हैं—क्या पाषाणगत अग्नि ज्योतिरूप से जल सकती है, बीजगत वृक्ष कंपित हो सकता है। गुहेश्वर, तुम्हारा स्वरूप किसी को गोचर नहीं हो सकता, केवल अनुभवसुखी ही उसे जान सकता है। इस पिंड और शिव का संबंध वाक् और अर्थ, दीप तथा प्रकाश, क्षीर-घृत, पुष्प-गंध, चंद्र-चंद्रिका की भाँति है।

पिंडज्ञानस्थल—पिंडस्थ ब्रह्म या शिव का अनुभव होने के पश्चात् प्रभुदेवजी को विदित हुआ कि इसी शिव को स्वलीला के कारण इच्छा हुई कि स्वगत सकल और निष्कलात्मक तत्त्वों का निर्माण कर प्रकट करूँ। इस इच्छा के फलस्वरूप उसमें ज्ञान का उदय हुआ। ज्ञानोदय के कारण शिव ने विश्व की रचना की। इस स्थल में उसकी विश्व-रचना का विषय आता है। प्रभुदेवजी अपने अनुभव बताते हुए कहते हैं—निराविल और निर्माय

रूप शिवतत्त्व-सृष्टि की उत्पत्ति के पहले स्वस्वरूप में था वह अपने स्वरूप को किसके समक्ष व्यक्त करता क्योंकि उस समय अपने से अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था। इसीलिये उसने अपनी महदहंकार वाली चिद्विभूति (चिच्छक्ति) को बाहर किया। उसी चिच्छक्ति से पंचसादाख्य तत्त्वों की उत्पत्ति हुई। इन्हीं सादाख्यों से विचित्र विश्व की रचना हुई है। जिस प्रकार सूर्य अपने ही द्वारा सृजन किए हुए मेघमाला से अपने को आच्छादित करता है उसी प्रकार परशिव भी इस विश्व की रचना करके स्वयं उससे आच्छादित होते हैं। परंतु सूर्य आच्छादित होने पर भी जैसे अनाच्छादित रहता है क्योंकि वैसा न होने पर मेघ को प्रकाशित कौन करता है, वैसे ही परशिव भी समस्त प्राणियों को प्रकाश देते रहते हैं। इसलिये प्रभुदेवजी कहते हैं कि बताओ हे मैं, अपने को जानने के पहले तुम क्या थे, पहले मेरा मुख बंद था इसे मैंने तुम्हारे नेत्रों (ज्ञान के) द्वारा देखा। मैंने जब अपने को जान लिया तब तुमने मुख खोलकर कहा, इसको तुम्हारे नेत्रों द्वारा देख मैं लज्जित हूँ। मेरे द्वारा तुमको, और तुम्हारे द्वारा मुझको देखनेवाली रहस्य की दृष्टि एक ही है।

मायाविलास-विडंबनस्थल—अपने पिंड के विषय में ज्ञान होने के पश्चात् प्रभुदेवजी को विदित हुआ कि माया और महदादि से युक्त प्रपंच अपने से भिन्न है। इसलिये इस स्थल में उस माया की क्रीड़ा, उसके कार्य का अनेक रूपक और लौकिक दृष्टांत के द्वारा उन्होंने वर्णन किया है। राक्षसी का उपमान देकर मायाविलास का विडंबन करते हुए वे कहते हैं—चतुर्दश भुवनों में माया की व्याप्ति है और उसके संकल्प से जीव, प्राण और पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। परंतु माया उन सबको खा जाती है। अर्थात् सृष्टिकाल में माया से उत्पन्न और प्रलय में उसी माया में लीन होते रहते हैं।

पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार आदि पचीस प्रधान तत्त्व उस माया के शिर (मस्तक) के समान हैं। सप्तव्यसन (तन, मन, धन, राज्य, विश्व, उत्साह तथा शोक) उसके स्तन के समान हैं। अष्टमद (संस्थित, तृणीकृत, वर्तिनी, क्रोधिनी मोहिनी, अतिचारिणी, गंधचारिणी और वासिनी ये आठ अंतरंग के, कुल, छल, धन रूप, यौवन, विद्या, राज्य तथा तप ये आठ बहिरंग के मद) माया के दाँत

के समान हैं। चौदह इंद्रियाँ उसके मुखविवर के समान हैं। इस चतुर्दश इंद्रिय नामक मुखद्वार में एक सौ बीस व्यापारवाली प्रधान नाड़ियाँ दाँत के समान हैं। इन्हीं के द्वारा विषयों का चर्वण तथा भोग संपन्न होता है। इस विराट् माया की अधीनता के कारण, जिस प्रकार व्यापारी अपने व्यापार के लिये गाड़ी में सामग्री भर लेता है तथा किसी स्थान पर उन सामानों को सजाकर व्यापार करता है और उस व्यापार में प्राप्त लाभ से और भी आशान्वित होता है उसी प्रकार जीव ने भी अहंकार से युक्त शरीर नामक गाड़ी पर कर्मेंद्रिय ज्ञानेंद्रिय तथा अंतःकरण आदि सामग्री का संग्रह करके उन पदार्थों को अहंकार नामक भित्ति पर सजाया। उन इंद्रियों के विकार से जीव की कामना और तृष्णा बढ़ गई। इसलिये उसने संसारसुख नामक सागर का पान किया। उसका फल यह हुआ कि उसकी आशा-आकांक्षाएँ अधिक मात्रा में बढ़ गई। फलस्वरूप वह अपना स्वरूप भूल गया। अतः उसी माया के संकल्प से उत्पन्न शरीर धारण कर जाति, वर्ण, कुल, गोत्र तथा नाम बताते हुए वह इह और पर में घूम रहा है।

संसारहेयस्थल—पूर्वोक्त प्रकरण में मायाविलास की विडंबना करने के पश्चात् प्रभुदेवजी को विदित हुआ कि जो माया की अवहेलना करता है वह उस माया के समीप ही है। यद्यपि माया अपने से भिन्न नहीं है क्योंकि वह उसी (आत्मा) से उत्पन्न हुई है। किंतु अपने वश में न रखकर वह स्वयं उस माया के अधीन हो गया है। इसलिये अब माया का विडंबन करना छोड़कर अपने हेयोपाय का विडंबन करता है।

गुरुकारुण्यस्थल—संसारहेयस्थल में अपने हेयोपाय के प्रति पश्चात्ताप तथा माया की असारता को जान लेने के पश्चात् प्रभुदेवजी को अपने स्वरूप को जानने की उत्कट इच्छा हुई। परंतु अपने मुख का ज्ञान होने पर भी दर्पण के बिना कोई उसे नहीं देख सकता। अतः उनको विदित हुआ कि श्रीगुरु के बिना स्वस्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसीलिये शिष्य गुरु की शरण में जाता है। श्रीगुरु संसारानल से संतप्त शिष्य को अपने अनुग्रह के द्वारा उसके स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं और उसी चित्कला (स्वस्वरूप) को इष्टलिंग के रूप में शिष्य को प्रदान करते हैं। इस स्थल में श्रीगुरुतत्त्व इष्टलिंग का मूल स्वरूप आदि गंभीर विषयों का वर्णन मिलता है। अध्यात्म जीवन के लिये गुरुतत्त्व ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

वीरशैवों का सिद्धांत है कि श्रीगुरु की कृपा के बिना जीव को शिवत्व लाभ हो ही नहीं सकता।[1]

भक्तस्थल—श्रीगुरु के द्वारा दीक्षा (अनुग्रह) तथा इष्टलिंग (स्वस्वरूप) प्राप्त करने के पश्चात् शिष्य उस स्वस्वरूप की अभिव्यक्ति तथा अनुभव के लिये श्रद्धाभक्ति का अवलंबन करके साधना करता है। इस आरंभिक अवस्था में साधक समझता है कि मेरा आत्मा ही शिव है तथा श्रीगुरु से प्राप्त यह इष्टलिंग ही आत्मा है। अब तक मैंने इस (लिंग) का परित्याग किया था। इसलिये मुझे नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़े।

इस व्याकुल भावना को श्रद्धाभक्ति कहते हैं। इस प्रकार की भावना अर्थात् श्रद्धाभक्ति के बिना मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में प्रगति नहीं हो सकती। इसी विषय को प्रभुदेवजी ने हृदयंगम रूप से वर्णन किया है।

जिस जीव में शिव के प्रति जब श्रद्धा उत्पन्न होती है तब उस के आचार शिवत्वाभिमुख होने चाहिए। अर्थात् साधक जो कुछ कार्य करता है उन सबको शिवार्पण बुद्धि से करना चाहिए। आचार का अभिप्राय अपने भीतर की वासना से उत्पन्न प्रवृत्ति है। हमारी वासनाएँ जब विषयोन्मुख रहती हैं तब हमारे आचरण भी विषयमय होते हैं। इस विषयासक्ति के कारण हम अपने स्वरूप को भूल जाते हैं, और अनंत दुःख का अनुभव करते हैं

शिवत्वाभिमुखी श्रद्धाभक्ति जब जग जाती है, तब वह विषयोन्मुख आचरण एवं उसके कारणीभूत वासना को भी नष्ट करती है और शिवत्वाभिमुख के लिये पोषक आचार तथा आंतरिक वासना को बढ़ा देती है।

हमारी वासना और आचरण में निहित चैतन्य ही शिव (लिंग) है। अतः वीरशैवाचार्यों ने इस स्थल में शिवभाव से करनेवाले आचरण को आचारलिंग कहा है। आचरण के लिये स्थूल शरीर की आवश्यकता होती है। वह पृथ्वीमय है। पृथ्वी का विशेष स्थान नासिका है। गंध-ग्रहण कार्य में यही घ्राणेंद्रिय करण है। अतएव उस आचारलिंग के लिये नासिका को मुख माना गया है।

---

१ गुरुतत्त्व, उसका अनुग्रह और दीक्षा आदि विषय की जानकारी के लिये कल्याण साधनांक में पूज्यपाद गुरुवर्य महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराजजी के दीक्षारहस्य, शक्तिपात रहस्य आदि लेख द्रष्टव्य हैं।

शरीर के द्वारा जब शिवसंबंधी कार्य होने लगते हैं तब साधक का चित्त शिवस्वरूप के अनुभव का संग्रह करने लगता है। क्योंकि हम इसी चित्त के द्वारा अनेक प्रकार के विषय तथा वासनाओं का संग्रह करते हैं। अतएव आचारलिंग के धारण करने में सुचित्त ही हस्त है। तात्पर्य यह है कि आचार रूपी लिंग के लिये नासिका ही मुख और सुचित्त ही हस्त है। इस समय आत्मा (साधक) सुगंध नामक पदार्थ का सेवन विषयाभिरति से न करके शिव-प्रसाद के रूप में करता है। इसी से देह और मन की शुद्धि होती है।

महेशस्थल—क्रियाशक्ति के जागरित होने पर श्रद्धाभक्ति, जब शरीर से संबद्ध जात्यादि भ्रम, मन से संबद्ध काम, क्रोधादि अरि षड्वर्ग एवं भाव से संबद्ध इह और परलोक के सुख का निवारण करके बलिष्ठ होती है तब वही निष्ठाभक्ति कहलाती है। इस भक्ति से युक्त अंग (साधक) का नाम महेश या महेश्वर है। इस अवस्था में साधक ज्ञानशक्ति से संपन्न गुरुलिंग को पूज्य समझता है। गुरुलिंग का अभिप्राय अपने में विकसित शिवज्ञान तथा उस ज्ञान का उद्बोधक गुरु है। इस गुरुलिंग का ग्रहण करनेवाला हस्त सुबुद्धि तथा मुखजिह्वा है।

प्रसादीस्थल—श्रद्धा एवं निष्ठाभाव का विकास होने पर भक्ति का भी विकास होता है। इससे शिव (लिंग) के प्रति जागरूकता आती है। जिस प्रकार किसी वस्तु के प्रति अत्यंत प्रेम उत्पन्न होने के कारण हम उसके प्रति सदा जागरूक होते हैं उसी प्रकार इस स्थल में साधक भी शिव के प्रति अति जागरूक रहता है तथा उसको सदा अपनी दृष्टि के सामने रखता है। इस जागरूकता को अवधानभक्ति कहते हैं। अवधान (जागरूकता) के लिये अंतःकरण की प्रसन्नता (निर्मलता) आवश्यक है। जिस साधक का अंतःकरण प्रसन्न अर्थात् शिव के प्रति जागरूक रहता है उसी को प्रसादी कहते हैं। इस प्रसादी के लिये इच्छाशक्ति से युक्त शिवलिंग ही पूज्य है। शिवलिंग का तात्पर्य समस्त इंद्रियों को प्रेरणा देनेवाले मन में व्याप्त चैतन्य है।

इस स्थल में आकर साधक संपूर्ण अहंकार का परित्याग करता है। क्योंकि अहंकार में जीवन का गर्व रहता है। इसी गर्व के कारण जीव में शिवस्वरूप का विमर्श नहीं हो पाता। इसका परिणाम यह होता है कि

समस्त वस्तु तथा क्रियाओं में जीव का अहंकार ही व्याप्त रहकर उसको अनंत प्रकार का दुःख देता है। अतः उसका परित्याग आवश्यक है।

प्राणलिंगीस्थल—जब सदाचार, सुज्ञान तथा निरहंकार के कारण साधक के शरीर और मन आदि अंतःकरण शुद्ध होते हैं तब उसमें शिवस्वरूप का अनुभव होने लगता। अतः इस अवस्था के साधक को प्राणलिंगी कहते हैं। अर्थात् इस स्थान में पहुँचकर साधक की समस्त इंद्रियाँ तथा अंतःकरण शिवचैतन्य से युक्त हो जाते हैं और शिवज्ञान का अनुभव होने लगता है। इसी शिवज्ञान को आदिशक्ति से युक्त जंगमलिंग कहते हैं। यह शिवज्ञान मन में व्याप्त रहता है। अतः मन को जंगमलिंग के लिये हस्त माना जाता है। अर्थात् मन रूपी हस्त शिवज्ञान नामक जंगमलिंग का ग्रहण करता है।

इस स्थल के वचनों में हठयोग आदि का खंडन और शिवयोग का निरूपण आता है।

शरणस्थल—प्राणलिंगीस्थल में साधक को जब शिवस्वरूप का अनुभव होता है तब उसमें नाना प्रकार की बाह्य चिंताएँ नहीं रहतीं। अतएव इस स्थल में अज्ञानांधकार का नाश और शिवतत्त्व की व्याप्ति होती है। फलतः साधक में 'शिवोऽहम्' भाव का उदय होता है और क्रमेण वही स्थिर होता जाता है। इसलिये उसे निजानंद (स्वस्वरूपानंद) की प्राप्ति होती है। साथ साथ उसमें अनेक शक्तियों का संचय भी होता है। उन शक्तियों के द्वारा साधक जो कार्य कर सकता है उसका दृष्टांत इस स्थल में मिलता है।

ऐक्यस्थल—इस स्थल में आकर साधक को यह ज्ञान नहीं रहता है कि 'वह शिव है मैं अंग हूँ' अर्थात् अंग और लिंग दोनों मिलकर एक होते हैं। यही सामरस्य (अद्वैत) है।

अब आत्मा के देह आदि समस्त करण अपने-अपने कारण में विलीन होते हैं। वे कारणपरंपराएँ मूलप्रकृति में, मूलप्रकृति शक्ति में और शक्ति शिव में विलीन होती हैं।

ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त सामरस्य रूप अद्वैत श्रीशंकराचार्य जी के द्वारा प्रवर्तित केवलाद्वैत की भाँति नहीं है। उनके मत में माया आकस्मिक, जड़ तथा अनित्य है। उनका कहना है कि उस जड़ माया में चैतन्य ब्रह्म का प्रतिबिंब पड़ जाने से वह मोहादि कार्य उत्पन्न करती है। परंतु बिंब प्रतिबिंब के लिये भिन्न देश की आवश्यकता रहती है। जिस प्रकार

जलपूर्ण कूप में पड़े हुए दर्पण में जल का प्रतिबिंब नहीं पड़ सकता उसी प्रकार सर्वदेश और सर्वकाल में परब्रह्म व्याप्त है, उसी में पड़ी हुई माया परब्रह्म का प्रतिफलन नहीं कर सकती। उसी प्रकार निरंश ब्रह्म माया के कारण सांश नहीं हो सकता। सांश के बिना जीवेश भाव की प्राप्ति भी नहीं होगी। उनकी मोक्षावस्था में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं रहती। अतः जैसे दर्पण के स्वच्छ और प्रकाशमान होने पर भी उसको अपनी स्वच्छता तथा प्रकाशमानता का ज्ञान न रहने के कारण उसे जड़ माना जाता है वैसे ही परब्रह्म सत्यज्ञानानंद स्वरूप होने पर भी अस्मि, प्रकाशे, नंदामि इत्यादि विमर्शज्ञान न रहने के कारण उनका मोक्ष जड़स्वरूप होता है। इस जड़ता के कारण आत्मा अपनी पूर्वसत्ता को भी खो बैठता है।

वीरशैवों के शिवाद्वैत या शक्तिविशिष्टाद्वैत (सामरस्य) में ऐसी बात नहीं है। परशिव या परब्रह्म में एक अविनाभावशक्ति (विमर्श) है। इसी शक्ति के कारण परशिव में अस्मि, प्रकाशे, नंदामि इत्यादि का ज्ञान रहता है। इनके यहाँ भी अज्ञान है, माया है, परंतु उसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है। वह आत्मा का स्वातंत्र्यमूलक अर्थात् स्वेच्छा परिगृहीत रूप है। नट जिस प्रकार जान-बूझकर नाना प्रकार का अभिनय करता है उसी प्रकार आत्मा भी अपनी इच्छा से अनेक प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। वह अपने स्वरूप को ढाँकने और प्रकट करने में भी समर्थ है।

माया अनित्य और जड़ नहीं है क्योंकि वह उसी शिव से उत्पन्न है। परंतु अपने दुर्व्यापार के कारण वह अनित्य और जड़ के समान हो जाती है। यदि उसका दुर्व्यापार नष्ट होता है तो वही शुद्धशक्ति बन जाती है। प्रभुदेवजी ने कहा है—लोग कांचन, कामिनी तथा भूमि को माया कहते हैं। कांचन माया नहीं, कामिनी माया नहीं और भूमि भी माया नहीं, किंतु मन की आशा ही माया है।

सारांश यह है कि शांकरवेदांत से आत्मा विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानंद, एक, सत्य, निर्मल, निरहंकार, अनादि, अनंत, शांत, सृष्टि स्थिति, और संहार का हेतु, भावाभावविहीन, स्वप्रकाश और नित्यमुक्त है परंतु उसमें कर्तृत्व नहीं है। वीरशैवों के शक्तिविशिष्टाद्वैत मत में विमर्श ही आत्मा का स्वभाव है।

यह सूचित करना अप्रासंगिक न होगा कि उपासना क्रम में इन छह स्थलों के अतिरिक्त और तीन स्थल हैं उनका नाम—निष्कल, निरंजन तथा

निःशून्य हैं। उनके साथ क्रमशःतीन भक्ति—परिपूर्ण, निरंजन एवं अप्रदर्शन। तीन हस्त-निष्कल, निराविल और निराभय। तीन लिंग-इष्ट, प्राण, तथा भाव। तीन शक्ति-आनंदमय, निर्भ्रांत और निरामय। तीन लक्षण-आनंदकला, निर्नाम कला और निर्वाच्य कला। अनामय, अगम्य और अगोचर। ब्रह्मचक्र, शिखा चक्र और पश्चिम चक्र ये तीन चक्र हैं। इनका परिचय इस ग्रंथ में नहीं है। फिर भी साधनारत जिज्ञासुओं के लिए कभी विचार करने की इच्छा से यहाँ संकेत किया गया है।

कन्नडवचन-शास्त्र में और एक बात दृष्टिगोचर होती है। वह यह है कि ऊपर वर्णित षट्स्थल के अनुभवियों ने अपने अपने अनुभव के अनुसार भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से स्थलों का विभाग किया है। इसमें साधक की सूक्ष्माति-सूक्ष्म उपासना का क्रम मिलता है। जैसे—लिंगस्थल में ५७ और अंगस्थल में ४४ इस प्रकार १०१ विभाग करते हैं। कुछ लोग २१६ विभाग भी करते हैं।

वचनसाहित्य तथा वचनकार

कन्नडवाङ्मय में चंपूकाव्य, षट्पदीकाव्य, गद्यकाव्य, यक्षगान प्रबंध, जनपद गीत, आदि अनेक प्रकार के शैलीगत काव्यों का साहित्य मिलता है। इसमें 'वचनसाहित्य' के नाम से एक विशिष्ट प्रकार का साहित्य भी है। साहित्येतिहासकारों ने इसको 'वचनसाहित्य' 'वचनशास्त्र' आदि नाम दिया है।

इस साहित्य का आविर्भावकाल ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दी माना जाता है। इसके निर्मापक लगभग तीन सौ से अधिक स्त्री पुरुष हो गए हैं। संशोधक और विमर्शात्मक इस बीसवीं शताब्दी में साहित्य के अनेक रसज्ञ विद्वानों द्वारा इस साहित्य को अधिक प्रशस्ति मिली है। वचन-वाङ्मय अथवा वचनशास्त्र 'कन्नड उपनिषद्' 'कन्नड-शैवागम' आदि नाम से प्रसिद्ध है। कन्नड-कविचरित्र (साहित्य के इतिहास) कारों ने इस वचनसाहित्य के प्रति अपना मत प्रकट करते हुए कहा है—'साहित्य में कन्नडवचन पूज्यतम स्थान प्राप्त करने योग्य हैं। वे गूढ़तर वेदांततत्त्वों का, सुलभ कन्नड भाषा में गंभीर शैली द्वारा हृदयंगम रूप में उपदेश देते हैं। वे कन्नड भाषा के उपनिषद् की भाँति है।' (कन्नड-कविचरित्र भाग ३, पृ० २८।)

बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीरंगनाथ रामचंद दिवाकरजी ने इस वचनसाहित्य के आधार पर कन्नड में 'वचनशास्त्ररहस्य' नाम से विशाल ग्रंथ लिखा है। उनका कथन है कि कन्नड-साहित्य में वचनशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध आध्यात्म शास्त्र, सर्वश्रेष्ठ मानवध्येय तथा तत्त्वप्रधान उपासना मार्ग से पूर्ण है। प्रत्यक्ष रूप से शैवागम तथा अप्रत्यक्ष रूप से वेदोपनिषद् इस वचनशास्त्र के लिये मूलाधार हैं। (वचनशास्त्र भाग २, पृ० २३)।

मैसूर विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'वचनधर्मसार' नामक ग्रंथ में श्री श्रीनिवास मूर्तिजी लिखते हैं 'इन वचनों में रस, भाव, अलंकार तथा उदात्त ध्येय भरे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन वचनों का साहित्य कन्नड में उत्तम कोटि का साहित्य है। ये वचन कन्नडसाहित्य के उपनिषद् हैं और उनके निर्मापक कन्नड देश के रस ऋषि हैं।'

नियम-बद्ध छंदों के अधीन न रहकर भी छोटे-छोटे वाक्यों में लिखित यह साहित्य 'वचनवाङ्मय' नाम से प्रसिद्ध है। कन्नडसाहित्य के प्राचीन कवि रन्न, पंप, हरिहर आदि के काव्यों में गद्यसाहित्य मिलता है। चिक्क-देव राजविजय, रामाश्वमेध, अद्भुत रामायण आदि कुछ गद्यकाव्य भी मिलते हैं। परंतु बारहवीं शताब्दी के वचनसाहित्य में एक वैशिष्ट्यपूर्ण उत्कर्ष मिलता है। ये वचन, शास्त्र की भाँति ज्ञानबोधक और साहित्य की भाँति आनंददायक हैं। ये दिव्य भावना एवं तत्त्वों से भरे हुए हैं। फिर भी इनमें इतनी सादगी है कि ये पाठक के हृदय को अनायास ही छू लेते हैं। इनके आलोक-प्रकाश की निराली छटाएँ मन के अँधेरे कोने को आशा और उल्लास से भर देती हैं।

इनके निर्मापकों ने आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् धर्मप्रचार, समाज-सुधार आदि विषयों को अपना प्रधान लक्ष्य माना है। उन्होंने विश्वधर्म की श्रेणी में खड़े होकर अपनी अनुभूति इन वचनों द्वारा व्यक्त की है। विद्वानों का कथन है कि उपनिषद् और दक्षिण के 'तेवार' तथा 'तिरुवाचकम्' ग्रंथों के अतिरिक्त इन वचनों की तुलना करनेवाला साहित्य संसार की अन्य भाषाओं में दुर्लभ है।

यद्यपि ये छंदोबद्ध नहीं हैं, तथापि इनमें एक प्रकार का गांभीर्य है। कर्नाटक के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्रीपुट्टप्पा लिखते हैं कि क्लिस छंद से मुक्त रहने पर भी इस गद्य की शरीररचना अछंद से युक्त नहीं है। वचन-

साहित्य ने गद्य का रूप धारण करने पर भी काव्यत्व का परित्याग नहीं किया। प्राचीन गद्य का एक प्रकार ही वचन साहित्य के रूप में कुसुमित हुआ है। ये वचन गद्य से निकले हुए अलग-अलग स्फुलिंग हैं (प्रबुद्ध कर्नाटक संपुट ३१, भाग १)।

सूर, तुलसी तथा कबीर आदि संतों के पद और गीत की भाँति ये वचन भी कन्नड प्रदेश के घर-घर में प्रतिदिन गाए जाते हैं। धार्मिक, सामाजिक तथा संगीत समारोह आदि अवसरों पर इन वचनों का विशेष उपयोग होता है। आकाशवाणी में वचनसंगीत का कार्यक्रम भी प्रतिदिन रहता है।

ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक तीन सौ से अधिक स्त्री-पुरुष वचनकार हुए हैं। उनमें प्रभुदेवजी, बसवेश्वर, चन्न-बसव, सिद्धराम, आदय्या, मडिवाल माचिदेव; स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वर, हडपदप्पण्णा, सकलेशमादरस, संगनबसवेश्वर, घनलिंग, मोळिगेय मारय्या, अक्कमहादेवी, मुक्तायक्क, लक्कम्मा आदि वचनकार बहुत प्रसिद्ध हैं।

प्रभुदेवजी की भाँति इनके वचन भी अनेक विषयों पर हैं और ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। पिंडस्थ ब्रह्म के विषय में कुछ विशिष्ट वचनकारों तथा प्रभुदेवजी के मत नीचे उद्धृत दिए जाते है—

बसवेश्वर—'उदय में छिपाई हुई वांछित अग्नि की भाँति शशिगत रस की रुचि की भाँति, कलिका में वर्तमान-परिमल की भाँति, कुंडलसंगम देव आपका स्वरूप कन्यका के स्नेह की भाँति है।'

चन्नबसवेश्वर—'मरीचिका के आवरण में रहनेवाले आतप की भाँति, क्षीर में छिपे हुए घृत की भाँति, चित्रकार में छिपे हुए चित्र की भाँति, कनीनिका (आलि) के आवरण में वर्तमान तेज की भाँति हे कूडल संगय्या, आप का स्वरूप शब्द में छिपे हुए अर्थ की भाँति है।'

स्वतंत्र सिद्धलिंगेश्वर—'देह के आवरण में रहनेवाली आत्मा की भाँति, शक्ति के आवरण में रहनेवाले शिव की भाँति, क्षीर के आश्रय में रहनेवाले घृत की भाँति, वाच्य के आवरण में छिपे हुए अनिर्वाच्य की भाँति, लोकार्थ में छिपे हुए परमार्थ की भाँति, स्वामिन् मेरी आत्मा में छिपा हुआ परमार्थतत्त्व बीज में छिपे हुए वृक्ष की भाँति है। हे महालिंग गुरुसिद्धेश्वर प्रभु, अपने को जानने के पहले शरणलिंग-संबंध मुझमें छिपा हुआ था'।

अक्कमहादेवी—'भूमि के आवरण में रहनेवाली निधि के समान, तिल के आवरण में रहनेवाले तैल के समान, फल के आवरण में रहनेवाली रसगत रुचि के समान, चन्नमल्लिकार्जुन का स्वरूप भाव में छिपा है'।

प्रभुदेवजी—'पाषाणगत अग्निवत्, जलगत प्रतिबिंबवत्, बीजगत, वृक्षवत्, शब्दगत निःशब्दवत् गुहेश्वर तुम्हारा शरण-संबंध है'।

भक्ति, ज्ञान, क्रिया तथा ध्यान के समन्वय के विषय में—'उदर पर मिष्टान्न की गठरी बाँधने से क्या बुभुक्षा शांत हो जायगी, अंग पर लिंग धारण करने से क्या प्रयोजन। क्या टाँकी से निर्मित पत्थर लिंग है। क्या पाषाण संस्पृष्ट वह टाँकी भक्त है। क्या उस टाँकी से पाषाण का स्पर्श करनेवाला (शिल्पी) गुरु है। गुहेश्वर, इन लोगों को देखकर मुझे लज्जा आती है'।

'ऐसा कहनेवाले वचनभ्रष्टों की बात नहीं सुननी चाहिए कि 'शिव का ध्यान करने से भव का नाश होता है। क्योंकि ज्योति का ध्यान करने पर क्या अंधकार का निवारण होता है। मिष्टान्न का स्मरण करने पर क्या पेट भरता है। क्या रंभा का ध्यान करने से काम की व्याकुलता मिट जाती है। ध्यान करने से नहीं होगा। द्वयकुल (द्वंद्वभाव) का परित्याग कर जो सामरस्य कर सकता है वह स्वयं सद्गुरु सिद्धलिंगेश्वर है।

'जिसकी क्रिया शुद्ध है उसका भाव शुद्ध है। हे निष्कलंक मल्लिकार्जुन, जिसकी आत्मा शुद्ध है उसका परिपक्व ज्ञान ही प्राणलिंग संबंध है'।

'भक्ति ही मूल, विरक्ति ही वृक्ष है। ज्ञान ही फल, अवधिज्ञान ही परिपक्वता है। परमज्ञान ही वृंत से अलग होना है। उसका सेवन करने पर ही आंतर्यज्ञान होता है। यदि सुखतन्मय होता है तो वह दिव्यज्ञान है। दिव्यतेज का लय होने पर परिपूर्णत्व होता है।······वह अप्रमाण है'।

'स्वामिन्, सत्क्रियाचारी हुए बिना ज्ञान द्वारा जान लेने से क्या होता है। कार्य के रूप में परिणत न रहने पर भी क्या केवल ध्यान द्वारा दिखाई पड़ेगा। अंधा मार्ग का निरीक्षण नहीं कर सकता, पंगु उस पर नहीं चल सकता एक के बिना केवल दूसरे से (कार्य) नहीं हो सकता। ज्ञानरहित क्रिया जड़ है, क्रियारहित ज्ञान भ्रांतिमात्र है।······अतः दोनों चाहिए'।

'क्रिया की श्रेष्ठता बतानेवाले बड़े-बड़े सिद्धांत की बात मुझे अच्छी नहीं लगती। हे अखंडेश्वर, पक्षी जैसे—उभय पक्षों से आकाश में उड़ता है

श्रीप्रभुदेव वचनामृत

[प्रभुदेवर पिंड संभववादगद्य—नित्यनिरंजन परंज्योति वाङ्म-नक्कगोचरमप्प श्रीपरमेश्वरनु कैलासदल्लिह एल्ल शिवगणंगळोळगे अत्यंत श्रेष्ठनागुत्तिह मायाकोळाहळनेंब गणेश्वरनु ओप्पुत्तिरलु आ मायेयोंदु दिन श्रीपार्वतीदेवियरु परमेश्वरन कूडे संवादिसि ई माया कोळाहळनेंब गणेश्वरनु आमायेय तोरिद परियन्तु ईतन माया-सकलन माडि तोरुवेनेंदु प्रतिज्ञेयं माडि तन्न ओलगद वाद्यव बारिसुव ओब्ब रुद्रकन्निकेयकरेदु नीनु ई मायाकोळाहळनेंब गणेश्वरन सोलिसि बा एंदु निरूपिसलु माहाप्रसादवेंदु अनुज्ञेयं कैकोंडु आरुद्र कन्निके शिवन ओलगक्के बप्प दारियोळु तन्न मायाविलास स्वरूपमं तोरि मेरेयुत्त मुंदे बंदु निंदिरलु आग णेश्वरनु बरुत आ कन्निकेय रूपलावण्यमं कंडु मनमुट्टि हारैसि तन्नतानेच्चत्तु हा एंदु बेरगागि एनगी मायाधीन संभविसितल्ला एनुत्त चिंताक्रान्तनागि शिवनोलगक्के बरलु अवनु गणेस्वरनस्थितियनरिदु नीनु मायेगे मनसोत कारण माया-धीननागि मर्त्यदल्लि हुट्ट होगेनलु, देवा; नानुमर्त्यदल्लि हुट्टि निम्मनेंत-रिवेनेनलु अदक्के नीनु अंजदिरु नानु निन्न मुसुकिदमायेयं निवृत्तिय माडि निन्नसंसार बंधनवं बिडिसि निन्न अंतरंगदल्लि नानुगुरुमूर्तियागि बहिरंगदल्लि अनुमिषनेंब गुरुमूर्तियागि निन्न करस्थलक्के महालिंगमं तोरिसिकोट्टु सद्योन्मुक्तनं माडिदपेनु। नीनुमर्त्यदल्लि होगि श्रीवीर-शैवाचारक्के प्रथमाचार्य पुरुषनादपे। निन्निंद मर्त्यलोकद महागणं-गळेल्लरु कृतार्थरादपरु, होगेंदु शिवनु अभयहस्तमं कोडलु महाप्रसाद-वेंदनुज्ञेयं कै कोडुं मानुषाकार चैतन्य कळेय धरिसि मेरुविंगे दक्षिण भागद जंबूद्वीपद मध्यदोळु नागवसाधिपति एंब शिवभक्तन सति सुज्ञानदेविय बसिरल्लि कळा प्रवेशितनागि जनिसि अल्लमनेंब नाममं धरिसलु आ रुद्रकन्निकेयु शिवनिरूपिनिंद[आ पुरदोळोब्ब शिवभक्तन बसिरल्लि जनिसि कामलते एंब नाममं धरिसलु आस्त्रीगे तानु पुरुषनागि सुखसंगदि केलवुसंवत्सरंगळं कळेयलु आ कामलतेयु विश्रापवनैदि तनगेयु श्रीपरमेश्वरन करुण प्रसन्नमप्प कालदोळु

अल्लमप्रभुरायन संगदोळगडगिर्द शिवतत्त्व दर्शनवेंतिर्दुदेंदडे— प्रथमदल्लि पिंडस्थलवादुदु]

[प्रभुदेवजी का पिंडसंभव—नित्यनिरंजन वाङ्मन से अगोचर परशिव अपने गणों के साथ कैलास में विराजमान थे। उस सभा में गणों में अत्यंत श्रेष्ठ 'मायाकोलाहल' नामक गणेश्वर भी उपस्थित था। उस गणेश्वर को देखकर पार्वती ने परमेश्वर से प्रश्न किया कि इसने माया का परित्याग कैसे किया। मैं इसको मायासकल (माया से युक्त) बनाकर छोड़ूँगी। इस प्रतिज्ञा के साथ ही पार्वती ने अपनी सभा में वाद्यवादन करनेवाली एक रुद्रकन्या को बुलाकर कहा कि तुम इस माया कोलाहल गणेश्वर को पराजित कर आओ। पार्वती के आज्ञानुसार रुद्रकन्या ने शिवसभा की ओर आनेवाले मार्ग पर रूपलावण्य से युक्त अपने मायाविलास का प्रदर्शन किया। शिवसभा में आते समय गणेश्वर ने उसके मायाविलास को देखा और वह उस पर मोहित हो गया। पुनः स्वयं सजग होकर पश्चात्ताप करने लगा कि—ओहो मैं इस माया से मोहित हो गया। इस प्रकार चिंताक्रांत मुद्रा से जब शिव की सभा में आया तब उसकी स्थिति को जानकर परशिव ने कहा कि तुम माया से मोहित हो गए। अतः तुमको मर्त्यलोक में जन्म लेना होगा। इस आज्ञा से घबराकर गणेश्वर ने पूछा कि—स्वामिन् यदि मैं मर्त्यलोक में जन्म लूँगा तो पुनः आपको कैसे जानूँगा। अभयदान देते हुए शिव ने कहा—कि तुम मत डरो मैं तुम्हारी आवृतमाया का निवारण करूँगा, तुम्हारे सांसारिक बंधनों का नाश करूँगा, बहिरंग में 'अनुमिष' नामक गुरु बनकर तुम्हारे करस्थल में 'महालिंग' दिखा दूँगा और तुम्हें सद्योमुक्त करूँगा। तुम मर्त्यलोक में जन्म लेकर वीरशैवाचार के प्रथम आचार्यपुरुष होगे। तुमसे मर्त्यलोक के महागण कृतार्थ हो जायेंगे। इस आज्ञा को महाप्रसाद के रूप में स्वीकार करते हुए गणेश्वर ने मानुषाकार चैतन्यकला से युक्त होकर मेरुपर्वत के दक्षिण भाग में स्थित जंबूद्वीप में 'नागवसाधिपति' नामक शिवभक्त की पत्नी सुज्ञान देवी के गर्भ से जन्म लिया और अल्लम नाम धारण किया।

इधर रुद्र कन्या ने भी शिव की आज्ञा से उसी नगर के एक शिवभक्त के घर में जन्म लिया और वह 'कामलता' नाम से प्रसिद्ध हो गई। उस कामलता का पति होकर अल्लम ने कुछ संवत्सर व्यतीत किये। अनंतर कामलता शाप से मुक्त हो गई। उस समय अल्लम पर परशिव की कृपा

हुई। इस अनुग्रहकाल में प्रभुदेवजी ने अपने में जो शिवतत्त्व का साक्षात्कार किया उसी का इसमें वर्णन है। अतः इस स्थल का नाम 'पिंडस्थल' पड़ा।]

(१) पिंडस्थल

१—शिलेयोळगण पावकनंते उदकदोळगण प्रतिबिंबदंते बीजदोळगण वृक्षदंते शब्ददोळगण निश्शब्ददंते गुहेश्वरा निम्म शरण संबंध।

वचन १—पाषाणगत अग्निवत्, जलगत प्रतिबिंबवत्, बीजगत वृक्षवत्, शब्दगत निःशब्दवत् गुहेश्वर ! तुम्हारा 'शरण संबंध' है।

अर्थ १—जिस प्रकार शिला में अग्नि अव्यक्त एवं व्याप्त रहती है; जिस प्रकार जल में किसी वस्तु का प्रतिबिंब रहने पर भी वह जल के गुणधर्मों से रहित होता है—जलीय विकारों से विकृत नहीं होता है और जैसे वृक्ष बीज में अव्यक्त रूप में रहता है, जैसे शब्द से निःशब्दता को पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार परब्रह्म पिंडस्थ होने पर भी अभेद्य (भेदेन ज्ञात नहीं) है।

२—कल्लोळगण किच्चु उरियबल्लुदे ? बीजदोळगण वृक्ष उलियबल्लुदे ? तोरलिल्लागि बीरलिल्लारिगेयु गुहेश्वरा निम्मनिलव अनुभव सुखि बल्लु।

वचन २—क्या पाषाणगत अग्नि (ज्योतिरूप से) जल सकती है ? क्या बीजगत वृक्ष कंपित हो सकता है ? गुहेश्वर ! तुम्हारा निलय किसी को गोचर नहीं हो सकता, केवल उसे अनुभवसुखी (अनुभवी) ही जान सकता है।

अर्थ २—जैसे पाषाणस्थित अग्नि स्फुरित नहीं होती है, उसी प्रकार परब्रह्म इस पिंड में वर्तमान होकर भी अतिरिक्त रूप से प्रकट नहीं होता है। जैसे बीज में वृक्ष विद्यमान होने पर भी प्रकट रूप से गोचर नहीं होता है, उसी प्रकार पिंडस्थ ब्रह्म किसी को गोचर नहीं होता है, फिर भी 'इदमहम्' इस उभय भाव से रहित महानुभावी (महानुभवी) ही उसे जान सकता है।

३ – जलदोळगिर्द किच्चु जलव सुडदे, जलवु तानागियं इद्दित्तु नोडा। नेलेयनरिदु नोडिहनेंदडे, अदु जलवु तानल्ल। कुलदोळगिर्दु कुलव बेरिसदे नेलेगेट्टु निंदुदनारु बल्लरु? होरगोळगे तानागिर्दु मत्तेतलेदोरदिप्पुदु गुहेश्वरा निम्म निलवु नोडा।

वचन ३—देखो, बड़वानल जल को न जलाकर स्वयं जलरूप बनकर रह गया। उसके मूल तक जाकर देखो तो वह (बड़वानल) स्वरूपतः जल नहीं है। कुल गोत्रों में रहते हुए भी उनसे परे (अतिरिक्त) होकर रहनेवाली वस्तु को कौन जान सकता है। गुहेश्वर, बाहर भीतर रहकर भी तुम्हारा स्वरूप (निलय) आँखों से परे हैं।

अर्थ ३—शुक्र और शोणित के संयोग से उत्पन्न एवं जलबुद्बुद के सदृश इस शरीर में छिपी हुई परशिव रूपी ज्ञानाग्नि इस जड़पिंड को दग्ध किए बिना ही इसी में छिपकर तद्रूप बन गई। विवेक के द्वारा विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह (परशिव ज्ञानाग्नि) जड़पिंड रूप नहीं है। कुल, गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम, नाम और रूपों से युक्त होकर भी वह (परशिव) सबसे अयुक्त एवं सर्वातीत हो गया है। इस प्रकार परवस्तु किसी को गोचर नहीं हुई।

४ – नेलद मरेय निधानदन्ते, मुगिल मरेयलडगिर्द मिंचिनंते, बयल मरेयलडगिर्द मरीचनंते, कंगळ मरेयलडगिर्द बेळगिनन्ते गुहेश्वरा निम्म निलवु।

वचन ४—भूगत निधिवत्, आकाशगत तड़ितवत्, अंतरिक्षगत मरीचिकावत्, नेत्रगत प्रकाशवत् गुहेश्वर! तुम्हारा निलवु (स्वरूप) है।

अर्थ ४—भूगत निधि के समान, मेघ के मध्य अप्रकटरूप से रहनेवाली विद्युत्—बिजली के समान; एवं अंतरिक्ष में निष्कंपित मरीचिका के समान परब्रह्म वस्तुपिंड में अव्यक्त और निश्चल है। नेत्र में रहनेवाली प्रभा को जिस प्रकार नेत्र से अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार पिंडवर्ती ब्रह्म को पिंड से अलग करके वर्णन नहीं किया जा सकता।

—०—

(२) पिंडज्ञानस्थल

इंतप्पमहापिंडस्थलवु ता तन्नलीलेयिम् तन्नलगडगिद सकल निष्कलात्म तत्वंगळनुंदु माडि तोरबेकेंदु इच्छैसलु ज्ञानोदयवायित्तागि मुंदे पिंडज्ञानस्थलद वचन।

[प्रथम स्थल में परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया, उस परब्रह्मतत्त्व को स्वलीला के कारण इच्छा हुई कि स्वगत सकलात्मक और निष्कलात्मक तत्त्वों का निर्माण कर प्रकट करूँ। इस इच्छा की उत्पत्ति के साथ ज्ञान का उदय हुआ। इसी आधार पर अगले स्थल का नाम 'पिंडज्ञान स्थल' पड़ा—]

५—आदि आधार विल्लदंदु, हम्मु बिम्मुगळिल्लदंदु सुराळनिराळ विल्लदंदु सचराचरवेल्ल रचनेगे बारदंदु, गुहेश्वरा निम्म शरणनुदयिसिदनंदु।

वचन ५—आदि आधार से पूर्व, महत्–अहंकार से पूर्व, सकल निष्कल से पूर्व सचराचर प्रकट होने के पूर्व गुहेश्वर, तुम्हारे शरण की उत्पत्ति हुई।

अर्थ ५—परमशिवतत्त्व में आदि और आधार बनने से पहले, महत् और अहंकार की उत्पत्ति के पहले, सकल और निष्कल इन दोनों की उत्पत्ति के पूर्व और समस्त लोकों का विस्तार होने के पहले उस महाघनतत्त्व से 'चिच्छक्ति' का उदय हुआ और वही चिच्छक्ति 'शरण' रूप में प्रकट हुई।

६—नाद बिंदु गळिल्लदंदु, निर्भयनेंब गणेश्वरनु। उत्पत्ति स्थिति लयविल्लदंदु, अक्षयनेंब गणेश्वरनु। ओदुवेदंगळिल्लदंदु ओंकारनेंब गणेश्वरनु। युग जुगविल्लदंदु ऊर्ध्वमुखनेंब गणेश्वरनु। गुहेश्वरनेंब लिंगविल्लदंदु निर्मायनेंब गणेश्वरनु।

वचन ६—नाद और बिंदु के पूर्व मैं निर्भय नामक गणेश्वर था। उत्पत्ति और स्थिति के पूर्व अक्षय नामक गणेश्वर था। पठित वेदों के पूर्व मैं ओंकार नामक गणेश्वर था। युग और जगत् के पूर्व ऊर्ध्वमुख नामक गणेश्वर था और गुहेश्वर लिंगाभिधान के पूर्व मैं निर्माय नामक गणेश्वर था।

अर्थ ६—नाद और बिंदुस्वरूप शिवशक्ति को पिंड धारण करने की आशंका का भय मेरे द्वारा ही उत्पन्न हुआ। इसके पहले मैं निर्भय नामक गणेश्वर था। उत्पत्ति, स्थिति और लय जब नहीं था (अर्थात् यह अनित्य भाव मेरे द्वारा ही उत्पन्न हुआ परंतु मैं उस उत्पत्ति, स्थिति और लय के अधीन नहीं हूँ) उस समय मैं अलय नामक गणेश्वर था। यह ब्रह्म है, वह ब्रह्म है' इस प्रकार निवचन करनेवाला श्रुतिवाक्य मेरे द्वारा ही प्रकट हुआ, उसके पहले मैं ओंकार नामक गणेश्वर था। युग और जगत् आदि अधोमुख ब्रह्मांड मुझसे ही उत्पन्न हुए। किंतु अब मैं ऊर्ध्वमुख हूँ। 'अहं और शिव' इस प्रकार की द्वैतभावना (भ्रांति) मुझसे ही हुई। इस भ्रांति (द्वैतभाव) के अभाव में मैं निर्माय (मायारहित) हूँ।

७—अय्या, जलकूर्म, गज फणिपतिय मेले धरे विस्तरिसि निल्लदंदु, गगनविल्लदंदु, पवनन सुळुहिल्लदंदु अग्निगे कळेदोरदंदु तरुगिरि तृण काष्ठंगळिल्लदंदु, युग जुग मिगिलेनिसि निंद हदिनाल्कु भुवननेलेगोळ्ळदंदु, निजवनरिदिहवेंब त्रिजगदाधिपतिगळिल्लदंदु तोरुव बीरुव भावदल्लि भरित अगम्य गुहेश्वर लिंगवु।

वचन ७—स्वामिन्! जल, कूर्म, गज और फणिपति पर पृथ्वी प्रकट होकर अस्तित्व में आने के पहले, गगन प्रकट होने के पहले, वायु संचरित होने के पहले, अग्नि को तेज प्राप्त होने के पहले, तरु, गिरि और काष्ठों की उत्पत्ति के पहले, युग और जुग (जगत्) में श्रेष्ठ कहलानेवाले चतुर्दश भुवनों की उत्पत्ति के पहले उस वस्तु (शिवतत्त्व) को जाननेवाले त्रिजगदाधिपतियों की सृष्टि के पहले अगम्य गुहेश्वरलिंग प्रकट और विस्तार होनेवाले भाव में भरित है।

अर्थ ७—पंच भूत आदि स्थावर और जंगम की उत्पत्ति के पहले, जल कूर्म, गज, फणिपतियों पर पृथ्वी का विस्तार होने के पहले, गगन की उत्पत्ति के पहले, पवन का संचार होने से पहले और अग्नि को तेज प्राप्त होने के पहले स्वयंभू निजरूप में था। उस निजवस्तु को—'हमने जाना है और देखा है' यह कहनेवाले त्रिजगदाधिपति (ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र) की उत्पत्ति के पहले वह शिवतत्त्व निजरूप में था।

८—अय्या, नीनु निराळ निर्मायनागिप्पेयागि आकाशद प्रकाशविल्लदंदु, साक्षि सभेगळिल्लदंदु, सचराचरवेल्ल रचनेगे बारदंदु,

आधारदोळगणविभूतियने तेगेदु, भूमियनेलेगोळिसि, पंचाशत्कोटि-विस्तीर्ण भुवन मंडलक्के सुत्तिहरिव सप्तसागरंगळु पंभत्तारु कोटि तोंभत्तेळु लक्ष काल भुवन मंडलक्के उदय ब्रह्मांड अरवत्तारु कोटि तारामंडलवेंदडे, बेळगि तोरिद हन्नेरडु ज्योतिय, निलिसि तोरिद हदिनाल्कुभुवनव। ई जगद जंगुळिय काव गोवळ तानागि, चवुराशिलक्ष जीवराशिगळिगे राशिआळ तानागि सकलर अळिविन उळिविन निंद निजव नोडि कंडेनु गुहेश्वरा निम श्री पादक्के नमो नमो एनुतिर्देनु।

वचन ८—स्वामिन्, तुम निराविल एवं निर्माय हो। (तुमने) आकाश की उत्पत्ति के पूर्व, साक्षि सभा के पूर्व, समस्त सचराचर प्रकट होने के पूर्व आधारस्थित विभूति को निकालकर पृथ्वी का निर्माण किया उसमें पंचाशत् का कोटि विस्तीर्ण भुवनमंडल को व्याप्त कर प्रवहमान (बहनेवाले) सप्त-सागर, ८६ कोटि ६७ लाख कालयुक्त भुवनमंडल के उदय, ब्रह्मांड ६६ कोटि तारामंडल, प्रकाशित होनेवाले द्वादश ज्योतियों को रखकर प्रकट किया। इस भुवन के जीवराशियों के गोपाल (रक्षक) बनकर सबके लय (नाश) और अस्तित्व के कारणीभूत (बने हुए) तुमको मैंने देखा। गुहेश्वर, तुम्हारे श्रीचरण के लिये नमोनमः।

अर्थ ८—निराविल और निर्माय रूप परशिवतत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति के पहले निजरूप में था। उस समय वह अपने स्वरूप को किसके समक्ष व्यक्त करता, क्योंकि उस समय अन्य कोई नहीं था। इसलिये उसने जगत् की सृष्टि के लिये कारण बनकर अपना महदहंकारवाली 'चित्विभूति' (चिच्छक्ति) को आत्मांतर्गत स्थान से निकाल लिया। वही 'चित्तायते धातुबद्धं शरीरस्थम्' कहा जाता है। इस चिच्छक्ति द्वारा पंच सादाख्य तत्त्वों की उत्पत्ति हुई। उन सादाख्यों से अष्टतनु की उत्पत्ति हुई। अष्टतनु द्वारा ब्रह्मांड आदि नाना प्रकार के प्रपंच का उदय हुआ। (इसमें ब्रह्मांडवलय, सूर्यमंडल, तारामंडल, चतुर्दशभुवन कालकल्पित प्रमाण इत्यादि आ जाते हैं) इस महान् संसार में रहनेवाले चौरासी (८४) लाख जीवराशियों का वही परशिव कर्ता बन गया। और 'यद्दृष्टं तन्नष्टम्' उक्ति के अनुसार यह समस्त संसार उसी महान् तत्त्व में ही लीन हो गया।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस समस्त संसार के लय होने के पश्चात् बची हुई सुज्ञान दीप्ति मैंने देखी। परंतु उसका वर्णन मैं क्या कर सकता हूँ? अर्थात् नहीं कर सकता।

९—तले इल्लद तलेयातंगे करुळिल्लद ओडलु नोडा। अनलंगे अंगविल्लदंगने सतियागिप्पळु। इवरिब्बरबसिरल्लि हुट्टिदळेम्मतायि। ना हुट्टि तायकैविडिदु संगव माडि निर्दोषि यादेनु काणा गुहेश्वरा।

वचन ९—देखो, शिररहित शिरवाले को नाड़ीरहित उदर है। 'अनल की' अंगरहित स्त्री पत्नी बन गई। इन दोनों के उदर से मेरी माँ की उत्पत्ति हुई। उत्पन्न होकर माँ का पाणिग्रहण और संग करके, गुहेश्वर, मैं निर्दोष पन गया।

अर्थ ९—शिररहित शिर=ज्ञान की तुरीय नामक वृत्ति (ज्ञान) का नाश होने के पश्चात् बची हुई शुद्ध ज्ञप्ति। नाड़ीरहित उदर=इंद्रियाँ। अनल=परमशिव। अंगरहित स्त्री=पराशक्ति। मैं=शरण (शिवत्व को प्राप्त पुरुष)। माँ=चिच्छक्ति। पाणिग्रहण=चिच्छक्ति के प्रति अटल श्रद्धा। संग करना=उस चिच्छक्ति के साथ सामरस्य करना।

ज्ञान की तुर्य नामक वृत्ति (ज्ञान) नष्ट होने के पश्चात् जो बचती है, वह शुद्ध ज्ञप्ति है। वही परमशिव के लिये शिर के समान है। उस शिव के लिये इंद्रिय रूपी नाड़ीरहित परकाय ही उदर बन गया है और अकाय (शरीर से रहित) पराशक्ति उसकी पत्नी बन गई है। इन दोनों के गर्भ से—परशिव और पराशक्ति के द्वारा—चिच्छक्ति का उदय हुआ। उसी चिच्छक्ति के गर्भ से मेरी (शरण) उत्पत्ति हुई। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने निश्चल भाव से उस चिच्छक्ति का ग्रहण कर लिया और उसी के साथ सामरस्य कर लिया। इसलिये मेरे समस्त दोष नष्ट हो गए हैं।

१०—एन्न नानरियदंदु मुन्न नीनेनागिर्दे हेळा? मुन्नबाय मुच्चि-कोंडिर्देनेंबुदु नानिन्नकरिणंद कंडेनु। एन्ननानरिद बळिक इंनु नी बायदेरेदु मातनाडिदडेअदनिन्न करिणंद कंडु नाचिदे नोडा। एन्न कांब निनगे निन्नकांब एनगे संचद नोट ओंदे नोडा गुहेश्वरा! निन्न बेडगिन विन्नणवनरिदे नोडा।

वचन १०—बताओ हे 'मैं', अपने को जानने के पहले तुम क्या थे ? पहले मेरा मुख बंद था इसे मैंने तुम्हारे नेत्रों द्वारा देखा। मैंने जब अपने को जान लिया तब तुमने मुख खोलकर कहा, इसको मैं तुम्हारे नेत्रों द्वारा देख, लज्जित हूँ। मेरे द्वारा तुमको देखनेवाली और तुम्हारे द्वारा मुझको देखनेवाली रहस्य की दृष्टि एक ही है। गुहेश्वर देखो, तुम्हारे मोहित सौंदर्य को मैंने जान लिया।

अर्थ १०—शिवत्व भाव को प्राप्त शरण ने अपनी ज्ञानदृष्टि से देखा कि अनादि काल से परमतत्त्व निःशब्द था और यह कह दिया कि वह परमशिव मैं ही हूँ। उसके पश्चात् उसने शब्द के द्वारा 'मैं ही शिव हूँ' उच्चारण किया था, ज्ञान के द्वारा (दृष्टि से) उसका अनुभव किया। पश्चात् उस शब्द 'मैं शिव हूँ' की भी निवृत्ति (लय) हो गई। अर्थात् पूर्ण शिवत्व का लाभ होने के अनंतर 'शिवोऽहम् शब्द का लय हो गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार शिवतत्त्व का देखनेवाले (शरण) ज्ञानी के लिये और उस शरण को देखनेवाले परशिव के लिये मूल (कारण) ज्ञान एक ही है। इस प्रकार मैंने स्व (अपने) को जानकर शिवत्व को प्राप्त कर लिया, अतः हर्ष हो रहा है।

११—मायद् बलेयल्लि सिलुकिद् मरुळ नानेंदरिद् परिय नोडा। लिंगवेंदरिद् परिय नोडा। तन्नविनोदक्के बंदु निश्चित निराल गुहेश्वरनेंदरिद् परिय नोडा।

वचन ११—मैं मायाजाल में फँसा हुआ पागल हूँ—ऐसा समझने की रीति देखो, लिंग (शिव) हूँ, इसे समझने की रीति देखो, अपने विनोद के लिये आया था, (परंतु मैं) निराविल निश्चिंत गुहेश्वर हूँ, ऐसा समझने की रीति देखो।

अर्थ ११—मैंने माया के बंधन रूपी पाश को तोड़ दिया और भ्रांति एवं दोष को छोड़कर शिवज्ञान प्राप्त कर लिया। इसलिये उस महालिंग (परमशिव) की महत्ता को मैं सद्विवेक के द्वारा देख सका। तब यह समझ लिया कि मैं (परशिव) ने ही अपने विनोद के लिये, अपनी लीला के कारण संसार को धारण कर लिया था। परंतु वास्तव में मैं निश्चित और निराविल हूँ।

—०—

(३) मायाविलास-विडंबनस्थल

इंतुतन्नपिंडज्ञानद लीलेयिंद माया महदादि प्रपंचु तनगन्यवागिरलु आमायय तानरिदु बेर्पडिसि निवृत्तिय मुखदिंद विडंबिसुत्तिरलु मुंदे मायाविलास-विडबंनस्थलवादुदु

पिंडज्ञान के पश्चात् माया और महत् आदि प्रपंच अपने से भिन्न रूप में दिखाई पड़े। उस माया को जानकर उसकी निवृत्ति करने की दृष्टि से मायाविलास का विडंबन (उपहास) करने लगा। अतः अग्रिम स्थल का नाम 'मायाविलास-विडंबन स्थल' हो गया है।

१२—कायद मोदलिगे बीजवावुदेंदरियदी लोक। इंद्रियंगळु बीजवल्ल। आ कला भेदवल्ल। स्वप्नबंदेरगित्तल्ला। इदावंगू शुद्ध सुविधानवल्ल काणा गुहेश्वरा।

वचन १२—यह जगत् नहीं जानता है कि शरीर का बीज क्या है? इंद्रियाँ बीज नहीं है। कलाभेद भी नहीं। ओह! स्वप्न (वत्) प्राप्त हो गया है। देखो गुहेश्वर, यह किसी को गोचर नहीं होगा। (और) किसी को शुद्ध शांतिदायक नहीं होगा।

अर्थ १२—शिव के अंशभूत आत्मा का शरीर से संबंध होने के लिये इंद्रियाँ मूल कारण नहीं है, क्योंकि इंद्रियाँ जड़ हैं और आत्मा का कलाभेद भी मूल कारण नहीं है, क्योंकि आत्मा निर्मल कला से युक्त है। प्रश्न होता है कि आत्मा से देह का संबंध कैसे हुआ? तो इसका उत्तर प्रभुदेवजी यों दे रहे हैं—शिवज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् मैंने यह जान लिया कि शिव के अंशभूत आत्मा को अकस्मात् (स्वप्न की भाँति) विस्मरण प्राप्त हो गया अर्थात् वह 'शिवोऽहम्' भाव को भूल गया और उसने 'देहोऽहम्' भाव का ग्रहण कर लिया। अतः विस्मरण ही देह संबंध के लिये मूल कारण है।

१३—अंडजवेंब तत्तियोडेदु पिंड पल्लटवागि, गंड गंडरनरसि तोळलि बळलुत्तिद्दारे। खंडभूमंडलदोळगे कंडेनोंदु चोद्यव कंदन कैय्य दर्पणव प्रतिबिंब नुंगित्तु। दिवारात्रि उदयद बेळगनु कत्तले नुंगित्तु। गुहेश्वरनल्लिये निर्वयलायित्तु।

वचन १३—अंडज नामक अंड फूटकर पिंड से पलट गया। पति पति को खोजने में पीड़ित हो रहा है। खंड भूमंडल में मैंने एक आश्चर्य देखा। शिशु (बालक) के हस्तगत दर्पण को प्रतिबिंब ने निगल लिया। दिवा, रात्रि और उदय के प्रकाश को अंधकार ने निगला और वह गुहेश्वर में ही विलीन हो गया।

अर्थ १३—अंडज=चिद्बिंदु। ऊर्ध्वरेतस् नामक रस से बद्ध पंचवर्णात्मक स्वरूप 'सकल' तत्त्वरूपी शिशु को गर्भस्थ कर परम शिवतत्त्व से उत्पन्न हुआ, अतः इसे अंडज कहा गया है। अंड=ब्रह्मांड। पिंड से पलट जाना=शिवांशिक आत्मा का अपने स्वाभाविक पिंड (शिवोऽहम् भाव) को भूलकर 'देहोऽहम्' भाव ग्रहण करना। पति=परशिव। शिशु=कर्मावशिष्ट (शिष्य)। दर्पण=परब्रह्म। निगलना=परब्रह्मस्वरूप बन जाना। दिवा=ज्ञान। रात्रि=अज्ञान। उदय=शुद्ध ज्ञान। निगलना=माया से व्याप्त होना।

ऊर्ध्वरेतस् नामक रससंबंध से पंचवर्णात्मक स्वरूप 'सकल' तत्त्व को गर्भस्थ करके परशिवतत्त्व से चिद्बिंदु की उत्पत्ति हुई। उस चिद्ब्रह्मांड से प्रपंचब्रह्मांड का उदय हुआ। उस ब्रह्मांड में समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति के साथ ही साथ अपने स्वाभाविक (मूलस्वरूप) पिंड को भूलकर मिथ्या पिंड (शरीर) धारण कर एक जीव भी उत्पन्न हुआ। इस मिथ्याभूत पिंड में जिनको ज्ञान का उदय हो गया है, वे सब अब भी द्वैतज्ञान से परशिव (परब्रह्म) की खोज कर रहे हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने खोज करनेवाले उस खंडित ज्ञान को भेदकर निज वस्तु को जान लिया। अतः मुझे आश्चर्य हुआ।

इस प्रकार स्वयं अपने की खोज करनेवाले सुविवेक नामक शिष्य की ज्ञानदृष्टि के सामने (द्वैतरूप से) गोचर होनेवाला परमशिव दर्पण (स्थान) बन गया। अर्थात् शिष्य ने परशिव में अपने स्वरूप को देखा और समझा कि दर्पणस्थानीय परशिव अपने (मुझ) में प्रतिबिंबित हो गया है। उसके पश्चात् उस प्रतिबिंब भाव ने ही परशिव को निगल लिया। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान को उत्पन्न करनेवाला महाज्ञान मिथ्या ज्ञान रूपी अंधकार में प्रविष्ट था। परंतु निजतत्त्व (परशिव) प्राप्ति के द्वारा उसको जान लेने से वह (मिथ्या) उसी (परशिव) में लीन हो गया।

१४—रक्कसिगिब्बरु मक्कळु, तोट्टिल मेलैवरु, रक्कसि बाणतियादरे

मक्कळिगिन्नेंतो ? तोट्टिल तूगुवे जोगुळवाडुवे । रक्कसि बाणतिय तोट्टिलु नुंगित्तु । इदेनु हेळा गुहेश्वरा ।

वचन १४—राक्षसी के दो पुत्र हैं, हिंडोल (झूले) पर पाँच (पुत्र) हैं । राक्षसी प्रसूतिका बन गई तो अब पुत्रों की क्या गति होगी ? मैं झूला झूलूँगा और गाऊँगा । राक्षसी प्रसूतिका का झूला खा गई । गुहेश्वर, बताओ ? यह क्या है ।

अर्थ १४—राक्षसी=माया (माया चतुर्दश भुवनों को व्याप्त कर लेती है अतः उसका उपमान राक्षसी है) । दो पुत्र=माया के संकल्प भाव से उत्पन्न जीव और प्राण—जीव और प्राण माया के संकल्प भाव से उत्पन्न होते हैं । हिंडोल= शरीर । जीव रूपी शिशु के लिये आश्रय होने से झूले के समान है ।पाँच पुत्र= माया से उत्पन्न पंचभूत (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश) । राक्षसी का प्रसूतिका बनना = माया स्वपुत्रों को खा जाती है और पुनः उत्पन्न कर लेती है—माया के द्वारा उत्पन्न पंचमहाभूत, प्रलय काल में उसी माया में विलीन हो जाते है और सृष्टिकाल में पुनः प्रकट हो जाते हैं । मैं=शिवज्ञानी । झूला झूलना=अवशिष्ट कर्म की समाप्ति तक शरीर धारण करना । गाना = शब्द-जाल से व्यवहार करना ।

चतुर्दश भुवनों में व्याप्त माया के संकल्प भाव से जीव और प्राणों को उत्पत्ति हुई । उसी से पंचमहाभूत भी उत्पन्न हुए । परंतु यह माया राक्षसी की भाँति अनंतकाल से इन जीव, प्राण और पंचभूतों को खाती और उत्पन्न करती हुई चली आ रही थी—माया से उत्पन्न जीव, प्राण और पंचमहाभूत प्रलयकाल में उसी माया में विलीन होते हैं और सृष्टिकाल में प्रकट हो जाते हैं । इस प्रकार जन्म-मरण के प्रवाह में पड़े हुए जीवों की मुक्ति कैसे हो सकती है ? प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैं भी इस माया के अधीन होने के कारण जब तक उस देह और कर्म का संबंध था तब तक इस संसार में रहा और शब्दजाल के द्वारा प्रारब्ध का भोग (अनुभव) करता रहा ।

१५—गगनद मेलोंदभिन्नद गिळि हुट्टि सय संभ्रमदल्लि मनेय माडित्तु । ओंदु गिळि इप्पत्तैदु गिळियायित्तु । ब्रह्मनागिळिगे हंजरवाद । विष्णुवागिळिगे कोरे कूळाद । रुद्रनागिळिगे कोळु ओद । इंतीमुव्वर मुंदण कंदन नुंगि दृष्ट नाम नष्टवायित्तु । इदेनु हेळा गुहेश्वरा ?

वचन १५—गगन से अभिन्न एक शुक ने उत्पन्न होकर संभ्रम से एक सुंदर गृह बनाया। एक शुक पंचविंश शुक बन गया। उसके लिये ब्रह्म पंजर विष्णु सूक्ष्माहार और रुद्र मार्गतस्कर बना। इन तीनों के सामनेवाले बालकों का उसने भक्षण कर लिया। इष्टनाम नष्ट हो गया। गुहेश्वर, बताओ यह क्या है।

अर्थ १५—गगन=आत्मतत्त्व—'आत्मा आकाशमयं तावत्'। शुक=जीव रूपी हंस। सुंदर गृह=शरीर। पंचविंश शुक=पंचविंशात्मक जीव। ब्रह्म=ब्रह्मतत्त्व संबंधी रजोगुण। पंजर=रजोगुण से बना हुआ स्थूल शरीर। विष्णु=विष्णुतत्त्व संबंधी सात्त्विक (सत्त्व) गुण। सूक्ष्माहार=सत्त्व गुण से बना हुआ सूक्ष्म शरीर। रुद्र=रुद्रतत्त्व संबंधी तमोगुण। मार्गतस्कर=रुद्रतत्त्व संबंधी तमोगुण से बना हुआ कारणशरीर।

आत्मा के अहंकार की तुर्यावस्था में जीव रूपी हंस का उदय हुआ। उसने आनंद का स्थान समझकर संसार रूपी घर का निर्माण कर लिया। उसके लिये ब्रह्मतत्त्व संबंधी रजोगुण से उत्पन्न स्थूल शरीर ही आश्रयस्थान बना गया। विष्णुतत्त्व संबंधी तत्त्वगुण से उत्पन्न, इंद्रियों के विषय आदि की स्थिति-गति उस जीव के लिये आहार बन गई। रुद्रतत्त्व संबंधी तमोगुण से बने कारणशरीर के संपर्क से ही आत्मा में विस्मरण छा गया और उसी से जीवभाव की भ्रांति फैल गई। इसी जीवभाव की भ्रांति ने तत्त्वत्रय का अवग्रहण कर लिया, अतः आत्मा के स्वरूप और लक्ष्य नष्ट हो गए।

१६—बेलद बोंबेगे जलद बण्णव नुडिसि हळ्ळवु परियाश्रमदल्लि उलिव गेज्जेय कट्टि वायुवनलन संचक्के अरळेलेय शृंगारव माडि आडिसुव यंत्रवाहक नारो? बयल कंभक्के तंदु सयवेंदु परव कट्टि-दडे सयवद्वयवायित्तु। एनेंबे गुहेश्वरा।

वचन १६—पृथ्वी की प्रतिमा पर पानी का रंग चढ़ाकर नाना प्रकार के आश्रम में, ध्वनित (शब्दायमान) किंकिणी बाँधकर वायु (और) अनलों के कूट (मिलन) के लिये अश्वत्थपर्ण का आभरण बनाकर खेलाने (क्रीड़ा कराने) वाला—यंत्रवाहक यह कौन है? स्वयं को समझकर शून्यस्तंभ में पर को बाँधने से स्वयं अद्वय बन गया। गुहेश्वर मैं क्या कहूँ?

अर्थ १६—पृथ्वी=पृथ्वी के अंशवाला शरीर। पानी का रंग=जलतत्त्व। ध्वनित किंकिणी=पृथ्वी और वायु तत्त्व से बने हुए प्रकृतिगुण। वायु=वायु-

तत्त्व। अनल=अग्नितत्त्व। अश्वत्थपर्ण = प्रारब्ध। (पट्ट)। यंत्रवाहक = परशिव। शून्य=मिथ्या। स्तंभ=निश्चल, दृढ़ बुद्धि। स्वयं=नित्य सत्य। पर = ब्रह्म। अद्वय=अद्वैत।

पृथ्वी के अंश से बने हुए शरीर में जलतत्त्व का संमिश्रण कर लेने से—पृथ्वीतत्त्व और जलतत्त्व के संमिश्रण से—उसमें नाना प्रकार के प्राकृत गुण उत्पन्न हुए। उन गुणों के द्वारा इंद्रियों—करणों और उनकी क्रियाओं का निर्माण हुआ। वायु और अग्नि उस शरीर के लिये आधार बन गए। साधन और आभरण से युक्त शरीर में रहनेवाले जीवरूपी नट (पात्र) के ललाट पर प्रारब्ध संकलित हो गया। इस प्रकार परशिव ने जीव रूपी अभिनेता को संसार रूपी आभूषण पहना दिया और स्वयं यंत्रवाहन–सूत्रधार–बनकर उस जीव के द्वारा नाना प्रकार के आश्रम–वर्णाश्रम–आदि धर्मों में क्रीड़ा कराई। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने समझ लिया कि आभरण रूपी यह संसार मिथ्या है और परशिव मात्र सत्य है। इस निश्चयात्मक बुद्धि के कारण मेरा द्वैत-भाव नष्ट हो गया तथा मैं अद्वैत बन गया।

१७—इप्पत्तैदु तलेयोळगे एळुमोले, मुखवेंदु, हदिनारु बायि, नूरिप्पत्तु कोरेदाडे, हृदयदल्लि हुदुगिद्दग्निय तेगेदु मुद्दाडि, ध्वनिय धर्मव नुंगि, मनद्बण्णगळडगि, हेत्ताइ मगन नुंगि, शिशु ताय वेसलागि गुहेश्वरनेंब निलवु अंगयमोले नुंगित्तु॥

वचन १७—पंचविंश (पचीस) शिरों में सप्तस्तन, अष्टमुख, चतुर्दश-मुखद्वार, विंशोत्तरशत (१२०) क्रूर दंत हैं। (उसके) हृदयांतरित (भीतर की) अग्नि को बहिर्गत कर चूमकर ध्वनिधर्म को निगलकर मन के वर्ण नष्ट हो गए। माँ ने पुत्र का भक्षण कर लिया। पुत्र ने माँ को जन्म दे दिया। हस्तगत पयोधर (कुच) ने गुहेश्वरस्वरूप को निगल लिया।

अर्थ १७—पंचविंश = शिर के समान पंचविंश तत्त्व। सप्तस्तन = सप्त व्यसन। अष्टमुख=अष्टमद। चतुर्दश मुखद्वार=चौदह इंद्रियाँ। विंशोत्तरशत क्रूर दंत=एक सौ बीस करणों का व्यापार। अग्नि=ज्ञान रूपी अग्नि। चूमना =दृढ़ (निश्चल) भाव से ग्रहण करना। ध्वनिधर्म = शब्दजाल। मन का वर्ण = मन के संकल्पभाव से व्यक्त होनेवाले नाना विकार। माँ=चिच्छक्ति। पुत्र = चिच्छक्तिस्वरूप को प्राप्त शरण। हस्तगत पयोधर = इष्ट लिंग। भक्षण =लीन हो जाना।

जिस प्रकार शरीर में मस्तक प्रधान है उसी प्रकार उसमें पचीस तत्त्व भी प्रधान हैं। स्तन जिस प्रकार क्षीर भर भरकर शिशु का पोषण करता है उसी प्रकार सप्त व्यसन संसार के सुख रूपी रस को भरकर उस देह का पोषण करते हैं। इस शरीर में अष्ट मद हैं। इन्हीं के द्वारा सप्त विषयों के सुख का आस्वादन होता है। इसीलिये इन आठ मदों को आठ मुख कहा है। चौदह इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेंद्रिय, पाँच ज्ञानेंद्रिय अंतःकरण चतुष्टय) मुखद्वार (मुखविवर) के सदृश हैं। उन चतुर्दश इंद्रिय रूपी मुखद्वारों में एक सौ बीस (१२०) व्यापारवाले करण प्रधान हैं और वे दाँत की तरह हैं, जिनके द्वारा विषयों का चर्वण होकर जीव का भोग संपन्न होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने इस माया से भ्रांत जीव के हृदय में छिपी हुई ज्ञानरूपी अग्नि को स्वानुभाव (स्व अनुभव) से प्रज्वलित कर लिया और उसको मायायुक्त देह से अलग कर निश्चल भाव से उसकी रक्षा की। इसलिये उस समय मेरे समस्त शब्दजालों का लय हो गया। इस शब्दजाल के लय हो जाने से मन के संकल्प के द्वारा जो नाना प्रकार के विकार दिखाई पड़ते थे वे सब नष्ट हो गए। मन के संकल्प और विकल्पों का नानात्व जब नष्ट हो गया तब 'चित्शक्ति' स्वरूप बन गया—साधक ने अपनी साधना के बल से शरीर को शुद्ध कर दिया अतः मुझ में शक्ति का संचार हो गया। (आत्मा—पहले पहल इसी चिच्छक्ति के द्वारा मायिक संसार में आया था परंतु साधना और विवेक के द्वारा माया रूपी परदा पुनः उसी चिच्छक्ति का स्वरूप बन गया है)। इसीलिये जननी द्वारा पुत्र का भक्षण करना, और पुत्र द्वारा माँ को जन्म देने का दृष्टांत दिया है। (शरण) साधक जब चिच्छक्ति स्वरूप हो गया तब 'अहम्' 'शिवोऽहम्' भाव भी नष्ट हो गया। इसीलिये एकमात्र शिवतत्त्व के रूप में अवशिष्ट रह गया। वही परमशिवतत्त्व 'कर-स्थल' में रहनेवाले लिंग (इष्टलिंग) में छिप गया है।

२८—जंबूद्वीपद बेवहारि खंड-भंडव तुंबि कुंभिनियुदरद मेले प्रसारवनिक्किद। उष्ण तृष्णे घनवागि कडलेळु समुद्रवं कुडिदु नीर-डिसिदात अरलुगोंडु बेरगाद। शिशु ताय हेणन होत्तुकोंडु हेसर हेळु-त्तेदाने गुहेश्वरनेंब निलव वसुधेयाकृतियु नुंगित्तु।

वचन १८—जंबूद्वीप के व्यापारी ने खंड-भांड भरकर मेदिनी के उदर पर आपण (दुकान) कर लिया। उष्णता और तृष्णा के आधिक्य से सप्त

सागरों का पान करने पर भी तृषा (प्यास) के आधिक्य से घबरा गया और चकित रह गया। शिशु माँ के शव (चर्म) को धारण कर नाम बताते हुए चला आ रहा है। गुहेश्वर के स्वरूप को वसुधाकृति (माया) ने भक्षण कर लिया था।

अर्थ १८—जंबूद्वीप=शरीर (जिस प्रकार जंबूद्वीप ने भूमध्यस्थित मेरु पर्वत का परिवेष्टन किया है उसी प्रकार स्थूल शरीर ने भी अहंकाररूपी मेरु-पर्वत का आच्छादन किया है। अतः इसे जंबूद्वीप कहा गया है)। व्यापारी=शरीर के गुण, धर्म और कर्मों का व्यापार करनेवाला जीव। खंडभांड=इंद्रियाँ तथा अंतःकरण आदि साधन द्रव्यों का संग्रह। मेदिनी का उदर=अहंकार रूपी भित्ति। दुकान करना=करण आदि विकारों का विस्तार करना। सप्त सागरों का पान करना=संसार के विषय-सुखांबुधि का भोग करना। शिशु=जीव। माँ=माया। शव=माया से उत्पन्न शरीर। नाम बताना=जाति, वर्ण कुल एवं गोत्रों के अधीन हो जाना।

जिस प्रकार व्यापारी व्यापार करने के लिये गाड़ी में सामग्री भर लेता है तथा किसी स्थान पर उन सामानों को सजाकर व्यापार करता है और व्यापार द्वारा प्राप्त लाभ से और भी आशान्वित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार इंद्रियों के गुण, धर्म तथा कर्मों का व्यापार करनेवाले जीव रूपी व्यापारी ने अहंकार से युक्त इस शरीर रूपी गाड़ी पर कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय तथा अंतःकरण रूपी सामग्रियों का संग्रह करके उन पदार्थों को अहंकार रूपी भित्ति पर सजाया। उन इंद्रियों के विकार से जीव की कामना तथा तृषा बढ़ गई। इसलिये उसने संसार के विषयसुख रूपी सागर का पान कर लिया। इससे उसकी आशा और तृषा अधिक मात्रा में बढ़ गई। अतः जीव चकित हो गया और घबरा गया। इसलिये उस माया के संकल्प से उत्पन्न जड़ शरीर को धारण कर जाति, वर्ण, कुल, गोत्र तथा नाम बताता हुआ चला आ रहा है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार मिथ्या शरीर में जो शिवतत्त्व छिप गया था उसको मैंने प्राप्त कर लिया है।

१९—भूमिय कठिणवनु, आकाशद मृदुवनु, तिळिवगमनदल्लिये निंदिर्‍नु। उदकदोळगे हुट्टिद तृष्णे उदकवनरसित्तल्ला? ओळगे सत्तु होरगाडुत्तिदे गुहेश्वरनेंब महिम बेरगागि अल्लिये निंदनु।

वचन १९—पृथ्वी की कठिनता को तथा आकाश के मृदुत्व को जानने

वाला मन उसी में रह गया। भला! उदक से उत्पन्नप तृष्णा जल खोजने लगी! भीतर मृत होकर बाहर क्रीड़ा करता है। गुहेश्वर ममामहिम, चकित होकर उसी में रह गया।

अर्थ १६—पृथ्वी=अनात्म—मायातत्व। आकाश = आत्मतत्त्व 'आत्मा आकाशमयं तावत्। उदक=मन। जल=मन।

आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व को अनुभव द्वारा जाननेवाला मन उनका विचार करने में रह गया—संकल्पबद्ध हो गया। इसलिये वह अपने स्वरूप को भूल गया। पुनः उस मन में यह इच्छा हुई कि अपने को जानूँ। इस-लिये उदक से उत्पन्न तृष्णा ने उदक की खोज की—इस प्रकार यद्यपि मन के अंतरंग में अपना स्वरूप नष्ट हो गया है, फिर भी वह बाह्य तथा आभ्यंतर विचार द्वारा व्यवहार करता है। इस तरह वह मन पर शिवस्वरूप का अनुभव न कर सकने के कारण चकित रह गया।

२०—भूमियाकाश ओंदु जीवनुदर, अल्लि घनवनु घनवेन्नदवंगे किरिदनु किरिदेन्नदवंगे, आघनवु मनक्केगमनिसिदडे इन्नुसरियुंटे गुहेश्वरा।

वचन २०—भूमि और आकाश एक ही जीव का उदर है। उसमें महान् को महान् तथा अल्प को अल्प न कहनेवाले मन को परशिवतत्त्व का साक्षात्कार होगा तो गुहेश्वर, क्या उस मन के लिये कोई उपमान होगा।

अर्थ २०—यह ठीक है कि 'पिंडब्रह्मांडयोरैक्यम्'—पिंड और ब्रह्मांड में कोई भेद नहीं है, अर्थात् ब्रह्मांड में जो वस्तु है वह पिंड में भी है और पिंड में जो वस्तु है वह ब्रह्मांड में भी है। इस उक्ति के अनुसार अपने शरीर को छोटा और ब्रह्मांड को बड़ा नहीं समझना चाहिए, फिर भी महाघनतत्त्व ही मैं हूँ, 'मैं ही शिव हूँ' समझकर जो स्वयं मनोमूर्त्ति बन जाता है उसके लिये कोई उपमान नहीं हो सकता।

२१—ब्रह्मपास विष्णुमाये पंबवलेय बीसि होन्नु हेण्णु मण्णेंब भ्रांतिय तोरि मुकण्णनाडिद बेंटेय आशेयेंब गुटुक निक्कि हेसदे कोन्देयल्ला गुहेश्वरा।

वचन २१—ब्रह्मपाश, 'विष्णुमाया (रूपी) जाल फैलाकर कांचन, कामिनी तथा भूमि की भ्रांति दिखाकर और आशा रूपी दाना देकर विरूपाक्ष

(जीव का) शिकार कर रहे थे। हे गुहेश्वर, भला तुमने निर्दयता से उस शिकार को मार दिया।

अर्थ २१—ब्रह्मपाश=रजोगुण रूपी पाश। विष्णुमाया=विष्णुतत्त्व संबंधी सत्वगुण रूपी जाल। विरूपाक्ष=शिव।

शिवजी (आखेट) शिकार खेलने की इच्छा से ब्रह्मतत्त्व संबंधी रजोगुण से निर्मित तथा विष्णुतत्त्व संबंधी सत्त्वगुण रूपी जाल बिछाकर जीव रूपी मृग के समान कांचन, कामिनी तथा भूमि रूपी धान्य की आशा दिखाकर शिकार कर रहे थे। 'आशया बध्यते लोकः कर्मणा बहुचिंतया। आयुःक्षीणं न जानाति वेणुसूत्रं विधीयते। जीव रूपी मृग उस पाश में फँस गया था। उसको गुहेश्वर ने मार दिया। अर्थात् शिव ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् मैंने उस जीव में व्याप्त माया का निवारण कर लिया फलतः जीवभाव नष्ट हो गया।

२२—ब्रह्म घनवेंबेने ब्रह्मन नुंगित्तु माये। विष्णु घनवेंबने विष्णुव नुंगित्तुमाये रुद्र घनवेंबेने रुद्रन नुंगित्तु माये। ता घनवेंबेने तन्न नुंगित्तु माये, इंतु सर्ववू निम्ममाये। निम्ममाये ओब्बरनोब्बरनोळकों-डित्ते हेळा गुहेश्वरा।

वचन २२—क्या (मैं) ब्रह्म को बड़ा कहूँ ? माया ब्रह्म को निगल गई। क्या विष्णु को बड़ा कहूँ। उसको भी माया निगल गई। क्या रुद्र को बड़ा कहूँ ? माया ने रुद्र को भी निगल लिया। क्या 'अहम्' को बड़ा कहूँ ? माया 'अहम्' को निगल गई। गुहेश्वर, बताओ क्या तुम्हारी माया ने इन सबको स्वाधीन कर लिया है ?

अर्थ २२—राजस अहंकार से ब्रह्म माया के अधीन है। सात्त्विक अहं-कार से विष्णु माया के अधीन है और तामस अहंकार से रुद्र माया के अधीन है 'अहं ब्रह्म' कहलानेवाले ब्रह्मज्ञानी वृथा अहंकारवश मायासक्त हैं। इस प्रकार परशिव के अधीन रहनेवाली माया ने समस्त संसार को वशीभूत कर लिया है।

२३—देवरनेल्लर होडेतंदु देवियरोळु कूडिच्चु माये। हरहरा ? माय इद्देडेय नोडा। शिवशिवा माय इद्देडेयनोडा परडेंबत्तु कोटि प्रमथ गणंगळु, अंगाल कण्णवरु, मेय्यल्ला कण्णवरु; नंदिवाहन रुद्ररु, इवरेल्लरु मायेय कालुगाहिन सरमाले काणा गुहेश्वरा।

वचन २३—देखो, माया ने देवों को पकड़कर देवियों से मिला दिया ! शिव शिव ! माया से युक्त स्थान को देखो। हर हर ! माया से युक्त स्थान को देखो। गुहेश्वर, दो अस्सी कोटि प्रमथगण, अक्षपाद, अक्षशरीरी, नंदिवाहन रुद्र ये सब माया की पादकिंकरी की मुंडमाला बन गए हैं।

अर्थ २३—अनंत कोटि रुद्र, नंदीश्वर, अक्षपाद, अक्षशरीरी इत्यादि प्रमथगण स्वयं शिव होने पर भी अपने स्वरूप को न जानकर कैलास नामक प्रवेशिकापुर में आश्रित हो गए हैं, तथा उस पुर में रहनेवाले सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य पद से मोहित (भ्रमित) होकर भ्रांत हो गए हैं। इस माया में आसक्त होने से वे लोग स्वस्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं।

२४—आडंबरदोळगाडंबरविदेनो ? हारित्तु ब्रह्मनोलग। केदरिक्ति देनय्या ? सारु-सारेनुत्त विष्णु अजन नुंगि रुद्रयोनियोळडगित्तिदेनो ? बेरिल्लद मर नीरिल्लद नेळलोळगे तोरिद प्रति-बिंबव नानेंबे गुहेश्वरा।

वचन २४—यह क्या है, आडंबर में आडंबर ? उड़ गई ब्रह्म की सभा ? क्यों क्रुद्ध हो गई है ? यह क्या है ? 'हटो, हटो' कहते हुए विष्णु ने ब्रह्मा को निगला और रुद्रयोनि में छिप गया। यह क्या है ? मूलरहित वृक्ष जलरहित छाया में प्रतिबिंबित होता है। गुहेश्वर, इस प्रतिबिंब को मैं क्या कहूँ ?

अर्थ २४—आडम्बर=माया का आडंबर, (चित्र मय संसार) आडंबर= मायासंसार में रहकर (मायासक्त होने पर) भी जीव का अपने प्रयत्न के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना (शिवत्व का लाभ करना)। ब्रह्म की सभा=ब्रह्मसृष्टि। ब्रह्म=राजसतत्त्व। विष्णु=सात्त्विकतत्त्व। रुद्रयोनि=निजवस्तु का स्थान— सुषुप्ति। मूलरहित वृक्ष=स्वस्वरूप ज्ञान रूपी वृक्ष। जल=मन। छाया=उन्मनी तत्त्व का सद्भाव।

अपने अंतरंग में सुज्ञान का उदय होने के पश्चात् शिवशरण ने माया के आडंबर की स्थिति-गतियों को देखा। उस समय उसको विदित हो गया कि समस्त ब्रह्मांड की सृष्टि मिथ्या है। अर्थात् मायाप्रपंच की भावना नष्ट हो गई और सात्त्विक भाव का उदय हुआ। वही शुद्ध सात्त्विक भाव रुद्र-तत्त्व-सुषुप्ति में प्रविष्ट हो गया (सुषुप्ति निजवस्तु का स्थान है) निजवस्तु

के स्थानभूत उस सुषुप्ति में स्वस्वरूपज्ञान रूपी वृक्ष का उदय हुआ—सुषुप्ति में जीव को स्वस्वरूप का ज्ञान होने के लिये कोई कारण नहीं है। अतः मूल-रहित वृक्ष कहा है। जीव को जब स्वस्वरूप का ज्ञान हुआ तब उसने मन की समस्त चंचलता को नष्ट कर दिया इसलिए उन्मन की सद्भावरूपी छाया में उसका प्रतिबिंब पड़ गया।

२५—चन्द्रमनोळगण एरळेय नुंगिद राहुविन नोटअंदंदिगे बंदु काडित्तु नोड़ा। ओंदर तले ओंदर बसिरु अंदंदिगे बंदु काड़ित्तु नोड़ा। नंदि, नंदिय नुंगि बंदुदु महीतळक्कागि इंदु रविगड़णवनानेंबे गुहेश्वरा?

वचन २५—देखो, चंद्रगत मृग के भक्षक राहु की दृष्टि ने यदा कदा आकर पीड़ा (दुःख) दी। देखो, एक के शिर और एक के देह दोनों ने मिलकर यदा कदा पीड़ा उत्पन्न की। नंदी नंदी को निगलकर आज मही (पृथ्वी) तल में आया है। गुहेश्वर, मैं इस रविपुंज को क्या कहूँ?

अर्थ २५—चंद्र=चिद्विंदु (जिस प्रकार चंद्रमा संसार के अंधकार को दूर करके अपनी षोडश कला के परिपूर्ण भाव से सुधाकर स्वरूप है उसी प्रकार 'चिद्विंदु' अंतरंग के अज्ञान रूपी अंधकार का नाश कर शिवज्ञान की कला से परिपूर्ण परमशांतिमय है)। मृग='शिवोऽहम्' भाव का उदय। राहु='शिवोऽहम्' भाव में संदेह की उत्पत्ति। शिर=ज्ञान। उदर (देह) = अज्ञान। नंदी=सुज्ञान।

जिस प्रकार संसार के अंधकार का निवारण कर अपनी षोडश कलाओं से परिपूर्ण चंद्र, सुधापिंड के समान आकाश में विराजमान होता है और उस अवसर पर राहु आकर उसको पीड़ा देता है, उसी प्रकार जिस समय शिव-ज्ञान की कला से परिपूर्ण परमशांतिमय 'चिद्विंदु' भी अंतरंग के अज्ञानरूपी अंधकार को दूर कर—स्वस्वरूप में विराजमान होता है उस समय विस्मरण उसे पीड़ित करता है। यही चंद्रगत मृगरूप है। इस कलंक के कारण शिवोऽहम् भाव में शंका उत्पन्न हुई—विस्मरण हो गया। अर्थात् यहीं पर ज्ञान और अज्ञान का मिलन हो गया। इस ज्ञानाज्ञान से युक्त होकर आत्मा पीड़ित हो रही है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि परमशिव (सुज्ञानप्रभा) ज्ञान—अज्ञान से युक्त होने के कारण 'प्रतिसूर्य' न्यायवत् शरीर धारण कर इस संसार में आया है। अतः इस रहस्य को जानकर मुझे आश्चर्य हुआ।

२६—ऊरमध्यद करण-काडिनोळगे बिद्दिद्दावे ऐदुहेणनु। बंदु बंदु अळुवरु। बळग घनवाद् कारण हेणनु बेयदु। काडु नोंद्दु माड़ उरियित्तु गुहेश्वरा।

वचन २६—ग्राम के मध्य नेत्रारण्य में पाँच शव पड़े हैं। संबंधित लोग (बंधुवर्ग) आ आकर रोते हैं। घनत्व (भारीपन) के कारण शव नहीं जल रहे हैं। गुहेश्वर, अरण्य नहीं जला, प्रासाद जल गया।

अर्थ २६—ग्राम=पंचभूतों से बना हुआ शरीर। नेत्र=अज्ञानदृष्टि। अरण्य=भवारण्य। पाँच शव=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध रूपी अचेतन विषय। बंधुवर्ग=इंद्रियाँ और अंतःकरण। भारीपन=अनंत काल का कर्म। प्रासाद=शरीर।

पंचभूतों से निर्मित शरीर के अज्ञानरूपी नेत्र में संसाररूपी अरण्य व्याप्त हुआ है। उसमें शब्द, स्पश, रूप, रस तथा गंध ये पाँच शव के समान है, क्योंकि सब जड़ हैं। इनसे संबंध रखनेवाली इंद्रियाँ और अंतःकरण शब्द स्पर्श आदि का उपभोग करके और भी उन्मत्त हो गए हैं—विषय भोग से इंद्रियों की वासना बढ़ जाती है, इसलिए विषयों का और संसाररूपी अरण्य का नाश नहीं होता, परंतु शरीर नष्ट हो जाता है।

२७—हुलिय बेन्निलि ओंदु हुल्ले होगि मेदुबंदेनेंदोडे इदकंडु बेरगादे। रक्कसिय मनेगे होगि निद्रेगैदु बंदेनेंदाड़े, इद कंडु बेरगादे। जवन मनेगे होगि सायदे बदुकि बंदेनेंदोडे इदकंडु बेरगादे गुहेश्वरा।

वचन २७—गुहेश्वर, कहा कि एक हरिण ने 'शार्दूल (सिंह) की पीठ पर बैठे बैठे मैं चरकर आया हूँ', कहा तो उसे देखकर मैं अचरज में पड़ गया। उसने कहा कि 'राक्षसी के घर मैं सोकर आया हूँ' तो उसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। उसने कहा कि 'मृत्यु के घर से जीवित लौट आया हूँ' तो उसे देखकर मैं विस्मित हो गया।

अर्थ २७—हरिण=जीव। शार्दूल=कालरूपी सिंह। पीठ पर बैठे बैठे चरना=अनंत काल से विषयसुखों का भोग करना। राक्षसी=माया। घर=शरीर। सोकर=स्वस्वरूप भूलकर। मृत्यु का घर=जन्म-मरण के बंधन में पड़ा हुआ शरीर।

सुविवेक से स्वयं अपने स्वरूप को जान लेने के पश्चात् प्रभुदेवजी माया-विलास के संबंध में अपना अनुभव इस प्रकार बता रहे हैं—कालरूपी सिंह

समस्त संसार का भक्षण करता है। जीवरूपी मृग ने (मैंने) उसी काल के साथ चलकर संसार के विषयसुख की घास चर ली—विषयों का भोग कर लिया। परंतु वासना का क्षय हो जाने से मैंने अपना स्वरूप पहचान लिया। अतः आश्चर्य हो रहा है कि माया के द्वारा निर्मित पंचभूतों के आश्रय में अपना स्वरूप भूल गया था, परंतु अब मैंने पहचान लिया। पहले मैं जन्म-मरणरूपी परिभव में मृत्युबाधा से पीड़ित हो रहा था किंतु अब उस जन्म-मरण की यातना से मुक्त हो गया हूँ। इसलिए आश्चर्य हो रहा है कि इन अछेद्य बंधनों को मैंने कैसे पार कर लिया।

२८—हृदय कंदद मेले हुट्टित्तु। हरिदु-हब्बिकोब्बि हलवु फलवा-यित्तु नोड़िरे। परिपरिय फलंगळवेडिदवरिगित्तु, आ फलव बयसि-दवरु जलदो ळगे बिद्दरे नोडि नगुत्तिर्दें गुहेश्वरा।

वचन २८—देखो, हृदय-गुफा से उत्पन्न होकर (अज्ञान) मदमत्तता से विस्तृत रूप में फैल गया है और उसने अनंत फलों से भरित होकर फला-कांक्षियों के लिये विविध फल दिए। गुहेश्वर, वे फलाकांक्षी जल में गिर पड़े हैं और उन्हें देखकर मुझे हँसी आ रही है।

अर्थ २८—हृदय-गुफा से उत्पन्न=हृदय-कमलकर्णिका के मूलाहंकार से उत्पन्न (अज्ञान)। मदमत्तता=समस्त करणरूपी पुष्पों से मस्त। फैलना=दसवायुरूपी पर्णों से बढ़ना। फल=इंद्रियाँ, संसारसुख। जल=संसार-सागर।

स्वस्वरूप का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् प्रभुदेव जी मायाजाल और उसमें फँसे हुए जीवों का वर्णन इस प्रकार कर रहे हैं—अज्ञानरूपी वृक्ष हृदय-कमलकर्णिका में स्थित 'मूलाहंकाररूपी बीज से पैदा हुआ है'—अर्थात् मूलाहंकार से अज्ञान की उत्पत्ति हुई है। उसकी शाखोपशखाएँ दस नाड़ी तथा दस वायुओं में फैल गई है—दस नाड़ियाँ तथा दस वायुओं में अज्ञान व्याप्त हो गया है। इन दस नाड़ियों और दश वायुओं से निर्मित समस्त करण—अंतःकरण कुसुमसदृश हो गए हैं। इसके पश्चात् वह अज्ञानरूपी वृक्ष इंद्रियरूपी मधुर फलों से भरित हो गया है।

अतः इस अज्ञानरूपी वृक्ष ने जीव सामान्य को यथारुचि वांछित फल प्रदान किया है। परंतु फलरूपी संसारसुखों का भोग करके बेचारे जीव इंद्रियों के सुख को ही सत्य समझकर बारंबार संसारजाल में फँस जाते हैं। उनको देखकर शिवज्ञानी हँसते हैं।

२९—पंचाशत्कोटि भूमंडलवनोंदु तले इल्लद मुंड नुंगित्त कंडनु। तले इल्लद कंडु बेरगादेनु नवखंड मंडल भिन्न वाद्दंदु, आ तलेय कंडवरूंटे गुहेश्वरा ?

वचन २९—मैंने पंचाशत् कोटि भूमंडल को निगल गए हुए शिर-रहित धड़ (कबंध) देखा। शिरविहीन को देखकर मैं चकित रह गया। नवखंडमंडल का लय हुए बिना गुहेश्वर, क्या उस शिर को देखनेवाला कोई होगा ?।

अर्थ २९—शिर=ज्ञान। कबंध=अज्ञान। नवखंडमंडल=मायाप्रपंच। शिर=सुज्ञान।

प्रभुदेव जी ने माया के विलास को केवल शास्त्रजन्य ज्ञान से न देखकर अपने अनुभव द्वारा देखा और उसका वर्णन इस प्रकार किया—'ज्ञानकांड-परिच्छेद्य कर्मकांड रतोनरः। शिरच्छेद कबंधस्य मंडनं (कस्य) कुर्वति' (?) इस उक्ति के अनुसार शिर का अर्थ ज्ञान और कबंध का अर्थ अज्ञान है। समस्त विश्व में अज्ञान ही व्याप्त हो गया है। इसके रहस्य को मैंने केवल प्रमाणवृत्ति द्वारा न देख कर जब उसका निजानुभव द्वारा निरीक्षण किया और उसे समझ लिया तब अज्ञान से युक्त ज्ञान (द्वैतबुद्धि) खंडित हो गया और अखंडित (अखंड) ज्ञान में परिणत हो गया। इसलिये इस अखंड भाव में उस 'शिवोऽहम्' भाव का बोध नहीं होता है (शब्द की भी निवृत्ति हो जाती है)।

३०—अरगिन-पुत्थळिय नुरि कोंड्डे उदक बायारि बळलुत्तिदे। अगिं बो बावि एनगिं बो। अगिदातसत्त। बावि-बत्तित्तु। इदु कारण नेरे मूरु-लोक बरुसूरे ओयित्तु गुहेश्वरा।

वचन ३०—लाक्षा की पुतली में आग लगने से जल तृषित होकर पीड़ित हो रहा है। अरे! कुँआ खोदो कुँआ मेरा स्थान है। खोदनेवाला मर गया, कुँआ सूख गया। इसलिये हे गुहेश्वर, तीनों लोक व्यर्थ ही लुट गए।

अर्थ ३०—लाक्षा की पुतली=शरीर—एक जन्म के मल से उत्पन्न लक्ष्य और दूसरे जन्म के मलत्रय के कारण बने हुए शरीर का संबंध (अज्ञान) एक ही है अतः लाक्षा शब्द का प्रयोग किया है। जल=मन। कुँआ= विषयरूपी कूप। कुँआ खोदनेवाला=जीव।

मलत्रय (आणव, कार्म और मायाजन्य मल) संबंध से बने हुए शरीर में जब तापत्रय की अग्नि व्याप्त हो गई तब कामादि तृष्णा से मन अत्यंत व्याकुल हो उठा। इसलिये उसने शरीररूपी स्थल पर विषयरूपी कूप का निर्माण कर दिया और जीव ने उस कुँए से उत्पन्न संसार के भोगविलास रूपी जल का पान कर लिया, इसलिये उसकी मृत्यु हो गई। उस जीव के साथ इंद्रियों की भी मृत्यु हो गई। प्रभुदेव जी कहते हैं कि इस प्रकार सांसारिक भ्रांति से समस्त जीव व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं।

३१—अंगद कोनेय मेलण कोडग कोंबिंगे हारित्तु अय्या ओंदु सोजिग। केय्य नीडलु मय्येल्लव नुंगित्तु। ओय्यने करेदड़े मुंदे निंदित्तु। मेय्यांतोडे बयलायित्तु गुहेश्वरा।

वचन ३१—स्वामिन्, शरीर के शिखर पर बैठा हुआ मर्कट शाखा के ऊपर कूद पड़ा, यह एक अचरज है। हाथ पसारने पर वह संपूर्ण शरीर निगल गया। प्रेमपूर्वक बुलाने पर (सामने) उपस्थित हो गया। गुहेश्वर, काया के दान करने पर वहीं लय हो गया।

अर्थ ३१—मर्कट=मन। शाखा=इंद्रिय। हाथ पसारना=संकल्प करना। शरीर को निगलना=संकल्प भाव से संपूर्ण शरीर में व्याप्त होना। बुलाना=सुज्ञानबोध से जगा देना। उपस्थित होना=निश्चल भाव से रहना। काया दान=स्व को शिव समझना।

शरीर रूपी वृक्ष पर रहनेवाला मन रूपी मर्कट इंद्रियरूपी शाखोपशाखा पर कूद पड़ा। इसलिए उस मन को ग्रहण कर एकाग्र भाव से ध्यान-मग्न करने की इच्छा करते ही उस (मन) ने स्वयं संकल्प बनकर संपूर्ण शरीर को व्याप्त कर लिया। सुज्ञान (बोध) उपदेश से आह्वान करने पर अपनी चंचलता को छोड़कर निश्चित (स्थिर) बन गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार मन के स्थिर हो जाने पर उस (मन) ने अपने को शिव समझ लिया इसलिये उस (मन) का लय हो गया—वह शिवस्वरूप बन गया।

३२—भूत भूतव कूडि अद्भुतवायित्तु। किच्चु कूडित्तु। नीरु नीरडिसित्तु। उरि पवनदोषदोळगिर्दु वायु इम्भड़िसिद्दुदकंडे गुहेश्वरा।

वचन ३२—भूत से भूत मिलकर अद्भुत बन गया। अग्नि थक गई।

जल तृषित हो गया। गुहेश्वर, अग्नि-पवन के मिलनजन्म दोष से वायु द्विगुणित हो गई। इसे मैंने देखा।

अर्थ ३२—भूत=पंचमहाभूत—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश। भूत=सूक्ष्म पंचभूत—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। अद्भुत=शरीर। अग्नि=ज्ञानाग्नि। जल=मन। तृषित होना=विषय की आशा बढ़ना। अग्नि=तापत्रयाग्नि। वायु=प्राणवायु।

जब स्थूल, सूक्ष्म और कारण पंचभूतों के समरस—संयोग—से मिथ्या-पिंड के रूप में एक अद्भुत शरीर की उत्पत्ति हुई, तब इस अद्भुत शरीर में रहनेवाली ज्ञानाग्नि तेजोहीन हो गई—आणव आदि मल से आवृत हो गई। इसीलिये मन में विषय की तृष्णा, आशा बढ़ गई। तापत्रय की अग्नि प्राणवायु के विकारों से और बढ़ गई। अतः प्राणवायु विकृत बन गई।

३३—अडवियोळगे कळ्ळरू कडवरध स्वामियनु हुडुकि हुडुकि अरसुत्तलिद्दारे। सोडरु नंदि काणदे अन्नपानद हिरियरेल्लरु तम्म-ताव-रियदे अधर-पावननुंडुतेगि, सुरापानव बेडुत्तिद्दारे। अरिदु हारुवनोब्ब अरिद तलेय हिडिदुकोंडु अध्यात्मद विकारद नेत्तरव कुडिदनु नोड़ा गुहेश्वरा।

वचन ३३—अरण्य में तस्कर (चोर) आर्त स्वामी की खोज कर रहे हैं। दीप बुझ जाने से अंधे होकर अन्नपानावलंबी के वृद्ध लोग स्वस्वरूप को न जानकर अधरामृत पान करके उद्वेलित हो गए हैं। पुनः वे सुरापान चाहते हैं। गुहेश्वर, ज्ञानाभिमानी ब्रह्मज्ञनी ने शिर (ज्ञान) लेकर अध्यात्म-विकार का रक्तका पान कर लिया है, देखो।

अर्थ ३३—अरण्य=भवारण्य। तस्कर=करण। आर्त स्वामी=जीव। दीप=सुज्ञान-ज्योति। अंधे=अज्ञानी। अन्नपानावलंबी वृद्ध लोग=द्वैत-ज्ञानी। अधरामृत=संसार-सुख। सुरापान=शिवज्ञान। अध्यात्म-विकार का रक्त=मिथ्या ब्रह्मज्ञान।

संसाररूपी घोर अरण्य में जीवरूपी पथिक ने मिथ्या देहरूपी चर्म धारण कर लिया है। अपना मार्ग–स्वस्वरूप–भूल गया है, अतः मतिभ्रष्ट भी हो गया है। परमार्थ-वंचक करण (अंतःकरण) रूपी लुटेरे उस जीव का अनुसरण करते हैं—जीव में द्वैत की भावना उत्पन्न कराते हैं—इसलिये उस

द्वैत–ज्ञान (अज्ञान) से सुज्ञानरूपी ज्योति आच्छादित होती है और उसका प्रकाश मंद पड़ जाता है। इस प्रकार ज्ञानज्योति जब क्षीणप्रकाश बन जाती है, तब अन्नोदक के आधार पर रहनेवाले पंडितंमन्य लोग अपने स्वरूप को भूल जाते (नहीं जानते) हैं। स्वस्वरूप को भूलकर तथा द्वैत–ज्ञान के आस्वादन से वे लोग व्यर्थ ही अहंकारी निर्णय करते हैं। फिर असाध्य शिवतत्त्व की आशा करते हैं, परंतु ऐसे लोगों को शिवतत्त्व की प्राप्ति कैसे होगी? क्योंकि ज्ञान के मद में (अहंकार से) शिवतत्त्व की इच्छा करना भी मिथ्या–अज्ञान–है और उससे संसार का ही पोषण होता है।

३४—मुगिल-वरणद पक्षि, मगनकैयरगिळि गगल कोलंबिनल्लि स्वप्नद निलवनु तेगेदेच्चवनारो ? उपमिसबारदु। जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्तिय नडुवे त्रिजगवायित्तु। जगज्योतिनिन्नमायय नेनेंबेनु गुहेश्वरा।

वचन ३४—आकाश के वर्णवाले स्वप्नभूत मिथ्या पक्षी को जो शिशु के हस्तगत शुक के समान है, लक्ष्य कर इंद्रचाप से किसने घात किया ? इसकी कोई उपमा नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न (और) सुषुप्ति के बीच त्रिलोक बन गया। गुहेश्वर, जगज्ज्योतिरूप तुम्हारी माया को मैं क्या कहूँ।

अर्थ ३४—आकाश के वर्णवाला पक्षी=मिथ्यापिंडधारी जीव। शिशु के हस्तगत शुक=अज्ञानी जीव। इंद्रचाप=मिथ्यारूपी धनुष।

छायामात्र—मिथ्या—पिंडधारी जीवरूपी हंस जो बालक के हाथ में रहनेवाले शुक के समान अज्ञ था, परशिव ने उसी जीव को लक्ष्य करके मिथ्याभूत मायारूपी बाण से वेध दिया। इसलिये वह जीवहंस स्थूल शरीररूपी भूमि पर गिर पड़ा (शरीर धारण कर लिया और मृत हो गया) जब इस स्थूल शरीर का संपर्क हुआ तो जीव अवस्थात्रय—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—के अधीन बन गया और इसी प्रकार तीनों लोक अवस्थात्रय के अधीन हो गए हैं। प्रभुदेव जी कहते हैं कि तीनों लोक में व्याप्त परशिव की इस माया को देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है।

३५—कडल नुंगिद कप्पिन परिभव नवसासिर सिडिलुहोय्द बयलिंगे बरण उंटे ? कंगळ मुंदण कनसु, हिंगद तुंबिय परिमळ। अंगविल्लद रूहिंगे संगउंटे ? इदेनो गगनद हरणने कोयदु मुगुदे हच्चिय नरियळु ? हग रणद हम्माविन हयनु सयवप्पुदे गुहेश्वरा ?

वचन ३५—सागर के भक्षक कृष्ण का नवसहस्र प्रलय है। क्या बिजली गिरने पर अंतराल में कोई वर्ण (रंग) दिखाई पड़ेगा ? जो स्वाप्निक नेत्र के पुरोवर्ती स्वप्नवत् है, जो परिमल से भ्रांत मधुकरवत् है, जो अंगरहित रूपवान् है, क्या उसके साथ संग (समरस) होगा ? यह क्या है, मुग्धा आकाश के फल को तोड़कर (उसका) आस्वाद नहीं जानती है। गुहेश्वर, क्या मिथ्या गोक्षीर का आस्वादन होगा ?

अर्थ ३५—सागर=संसार। कृष्ण=अज्ञानांधकार।

मायारूपी अंधकार संसार भर में व्याप्त हो (फैल) गया है, उसने नवसहस्र प्रलयपर्यंत जीव को भी आच्छादित कर रखा है। सृष्टि के प्रारंभकाल से जीव को आच्छादित रखनेवाला अज्ञान सृष्टि के प्रलय पर्यंत उस (जीव) का पीछा नहीं छोड़ता। अतः जिस प्रकार अंतरिक्ष में बिजली गिरने पर भी उस (अंतरिक्ष) में किसी प्रकार का रूपरंग दिखाई नहीं पड़ता उसी प्रकार उस जीव का स्वरूप दीखता नहीं। अर्थात् इस मायापिंड में आत्मा के वर्तमान रहने पर भी उससे (माया से) आच्छादित होने के कारण उसका (जीव का) पता नहीं लगता। क्योंकि अब उसका स्वरूप स्वाप्निक जगत् (वस्तु) की भाँति मिथ्या बन गया है और भ्रमर जिस प्रकार पुष्प में रहकर उसके परिमल (गंध) से मोहित हो जाता है तथा उस परिमल की भ्रांति से सदा इधर उधर घूमता रहता है उसी प्रकार वह जीव भी संसार के संग से विषयभोगों का आस्वादन किया करता है और इसीलिये उस विषयभोग की भ्रांति से इतस्ततः (इह-पर में) घूमता है। यद्यपि उसका स्वरूप इंद्रधनुष की तरह दिखाई पड़ता है परंतु है वह क्षणिक। इसलिये भ्रांत, मिथ्या और क्षणिक इस जीव के द्वारा प्राप्त सुखानुभव से परमानंद का लाभ (परम शिवस्वरूपत्व) नहीं हो सकता। यदि कोई उसी जीव के द्वारा परम सुख को प्राप्त करने का साहस करता है तो वह ऐसा ही है जैसा काल्पनिक आम्रफल का भक्षण और उससे सुखानुभूति की आशा। प्रभुदेव जी कहते हैं कि यद्यपि इस मायिक जीव के द्वारा सुख का अनुभव होता है तथापि वह ऐंद्रजालिक द्वारा निर्मित (बने हुए) गोक्षीर, घृत आदि के समान ही है।

३६—मायद कैयल्लि ओले कंठव कोट्टरे, लघुविनविघुनव बरेयित्तु नोडा। अरगिन पुत्थळिगे उरिय सीरेयनुडिसिद्रे, अदु सिरिय सिंगरवायुत्तु नोडा। अंबरदोळगाडुव गिळि पंजरदोळगण बेक्कनुंगि रंभेय तोळिदगलित्तु नोडा गुहेश्वरा।

वचन ३६—देखो, माया के हाथ में पत्र दिया तो उसने निःसारता और विघ्न लिख दिया। लाक्षा की पुतली को अग्नि की धोती पहनाना ही उसके लिये सुंदर शृंगार बन गया। देखो गुहेश्वर, गगन में क्रीड़क शुक पंजरस्थ विड़ाल का भक्षण कर रंभा के भुजा से विलग हो गया।

अर्थ ३६—लाक्षा की पुतली=आणव आदि मल से युक्त शरीर। पत्र=जीव का ललाट। अग्नि=सुज्ञान। अंबर=आत्मतत्त्व। शुक=परमहंस। पंजर=देह। मार्जार=स्वस्वरूप। रंभा=माया। भुजा=माया का संसर्ग।

प्रभुदेव जी मायाजाल से कैसे पार हो गए और माया का कार्य कैसा है—इत्यादि का अनुभव बता रहे हैं—जब माया ने समस्त विश्व का अवग्रहण (व्याप्ति) कर लिया तब उस मायापिंडरूपी शासन के ऊपर संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण कर्मों को संकलित कर दिया—लिख दिया और सत्य को मिथ्या तथा मिथ्या को ही सत्य बना दिया। मैंने इस रहस्य को सद्विवेक के द्वारा जान लिया और उस मलदेह में सुज्ञानरूपी महाप्रकाश फैला दिया। इसलिये मायिक देह शुद्ध और निर्मल बन गया—ज्ञानोदय हुआ। अतः जब आत्मतत्त्व में क्रीड़ा करनेवाले जीवरूपी परमहंस ने देहरूपी संसार में रहकर भी अपना स्वरूप प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प कर लिया, तब उस निश्चल भाव से ही परशिव और पराशक्ति के अभिन्न संयोग की भाँति मैंने भी समरसता को प्राप्त कर लिया—परमशिवत्व का लाभ कर लिया।

३७—हिरिदप्प जलधिय मडुविनोळगे करिय कब्बिल जालव बीसिद नोडय्या। अरिद तले पेदु, अरियद तले पेदु, करिय तले पेदु मुंदिद्दावे नोडय्या। करिय कब्बिल जालव होत्तुकोंडु होदरे नेत्रद लोकुळियाडित्त कंडे गुहेश्वरा।

वचन ३७—स्वामी, संसार-सागर के बीच एक काले व्याध ने जाल फैला दिया है। देखो, पाँच ज्ञात मस्तक, पाँच अज्ञात मस्तक और पाँच गज-मस्तक सामने पड़े हुए हैं। कालव्याध जाल को उठाकर ले गया तो गुहेश्वर, मैंने नेत्र में वसंत की क्रीड़ा (वसंतोत्सव) देखी।

अर्थ ३७—कालव्याध=काम (कंदर्प) रूपी व्याध (शिकारी)। पाँच ज्ञात मस्तक=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध (ये पाँच तन्मात्राएँ शरीर में भी हैं और उससे भिन्न रूप से भी ज्ञात होती हैं, अतः इनको ज्ञात मस्तक कहा

गया है)। पाँच अज्ञात मस्तक=पंच ज्ञानेंद्रियाँ (पंच ज्ञानेंद्रियाँ देह के लिए प्रधान हैं और इन्हीं के द्वारा समस्त विषयों का ज्ञान होता है परंतु देह के साथ तादात्म्यापन्न होने से ये देह से अतिरिक्त—अलग—रूपेण नहीं जानी जा सकती, अतः उनको अज्ञात मस्तक कहा है)। गजमस्तक=पाँच कर्मेंद्रिय (पाँच कर्मेंद्रियों को स्वयं प्रज्ञा नहीं है, वे मन के अधीन रहकर बाह्य व्यापार करती हैं, उन्हें इसलिये गजमस्तक कहा है)। व्याध का जाल उठा ले जाना=कामना और अज्ञान आदि की निवृत्ति।

प्रभुदेव जी कहते हैं कि संसाररूपी महासागर में कामरूपी शिकारी (व्याध) ने मायारूपी जाल फैला दिया है और जीव के सामने शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध नामक पाँच ज्ञात विषय, ज्ञानेंद्रियरूपी पाँच अज्ञात विषय तथा गज (हाथी) के सदृश वर्तमान पाँच कर्मेंद्रियरूपी प्रज्ञारहित विषय की सामग्री उपस्थित कर दी है। इन विषयों को देखकर जीव उस जाल में फँस गया था, परंतु मैंने उस जीव के पाश को तोड़ दिया, इसलिये पाश की निवृत्ति हो गई। अर्थात् समस्त मायाजाल नष्ट हो गया, इस प्रकार जीव की भ्रांति नष्ट हो गई और अंतरंग में सुज्ञान का उदय हो गया। इसीलिये स्वस्वरूप का साक्षात्कार करके अब मैं विशुद्ध आनंद, सागर में मग्न होकर क्रीड़ा कर रहा हूँ।

३८—कोणन कोडिन तुदियल्लि एळुनूरेप्पत्तु सेदियबावि, बावियोळगोंदु बगरिगे, बगरिगेयोळगोब्ब सूळे नोडय्या। आ, सूळेय कोरळल्लि एळु नूरेप्पत्ताने नेरित्त कंडे गुहेश्वरा।

वचन ३८—महिष-शृंग (सींग) के शिखर पर सात सौ सत्तर (७७०) कूप हैं। कूप में एक क्षुद्र जलाशय है, उसमें एक वारांगना (वेश्या) बैठी है। देखो गुहेश्वर, मैंने उसके कंठ में सात सौ सत्तर गजारोहियों को देखा।

अर्थ ३८—महिष=जीवरूपी पशु। शृंग=अहंकार तथा ममकार। कूप=अहंकार, ममकार के संकल्प भाव के भेद से निर्मित ७७० नाड़ियाँ जो संसार के विषयरस से भरित हैं। क्षुद्र जलाशय=शरीर। वारांगना=अशुद्ध माया। कंठ=माया से उत्पन्न अस्थिर भाव।

प्रभुदेव जी कहते हैं कि जीवरूपी पशु के अहंकार और ममकार ये दो सींग के समान हैं। इन्हीं दोनों संकल्प और विकल्प के भेद से सात सौ सत्तर नाड़ियाँ, संसार के विषयरस को भरकर जलपूरित कूप के सदृश हो

गई हैं। इन नाड़ियों के मध्य (बीच में) मणि के रूप में नौ छिद्र से युक्त शरीर क्षुद्र जलाशय के सदृश है। उस (शरीर) में माया अपनी दुर्भावना तथा दुर्व्यवहार से वारांगना की भाँति हो गई है। उसी (शरीर) पर अधिकार कर बैठी है। उस वारांगना के अस्थिर भावरूपी कंठ में जो सात सौ सत्तर (७७०) नाड़ियाँ हैं, उनमें करण आदि जिनके द्वारा जीव का व्यवहार चलता है, अहंकार से विशिष्ट हो गए हैं, अर्थात् माया ने उस जीव को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। इसलिये जीव-पशु अनंत काल से मायाराज्य में घूम रहा है।

३९—हुलिय तलेय हुल्ले, हुल्लेय तलेय हुलि, ई एरड़र नडु ओंदायित्तु। हुलियल्लु, हुल्लेयल्लु। केलदलोंदु बंदु मेलुकाडित्तु नोड़ा। तले इल्लद मुंड तरगेलेय मेदरे एले मरेयायित्तु काणा गुहेश्वरा।

वचन ३९—सिंह-शिरवाला मृग और मृग-शिरवाला सिंह इन दोनों की कटि एक है। वे न सिंह हैं न मृग। समीप आकर एक ने रोमंथ किया (पगुरी की)। देखो गुहेश्वर, शिररहित देह (कबंध) ने शुष्क पर्ण का भक्षण कर लिया तो पर्ण ने (शिर को) आच्छादित कर दिया।

अर्थ ३९—सिंह-शिरवाला मृग=माया। मृग-शिरवाला सिंह=काल। एक कटि=अज्ञान। एक ने=प्रारब्ध ने। रोमंथ=पुण्य-पाप का भक्षण करना। शिर-रहित देह (कबंध)=अज्ञानी जीव। शुष्क पर्ण=मायिक (संसार) का सुखभोग।

काल की सहायता से मायारूपी मृग समस्त संसार में व्याप्त हो जाता है और उस माया के सहयोग से कालरूपी सिंह संसार को खा जाता है (नष्टकर देता है)। इन दोनों के मूल में एक ही अज्ञान कारण है, जैसे हरिण अरण्य में वास करता है, चंचल स्वभाव का है, वृथा-भ्रांतिलक्षण-संबंधी है, देखने में सुंदर लगता है और तृण एवं जल का सेवन करता है, उसी प्रकार माया भी संसाररूपी अरण्य में रहती है, चंचल गुण से युक्त है वृथा-भ्रांति-जननी तथा अज्ञानियों की दृष्टि में सुंदर रूपवाली है। जिस प्रकार व्याघ्र प्राणियों को निर्दयता से मार देता है उसी प्रकार काल भी निर्दयता से संसार को नष्ट कर देता है। अतः इन दोनों को हरिण और सिंह कहा गया है। जीव में अज्ञान व्याप्त है इसीलिए वे दोनों (माया और काल) उसका नाश कर देते हैं। अज्ञानवश जीव जनन और मरण के अधीन हो जाता है—अर्थात् जीव को नष्ट करने के लिये अज्ञान (विस्मरण) ही सहायक बनता है; इसलिये

दोनों का उदर एक है—ऐसा कहा गया है। माया और काल इन दोनों के बीच में प्रारब्ध जो न काल है और न माया, भोक्ता बनकर पुण्य और पाप का भोग करता है। इसीलिये जीव भ्रांत हो गया है और उसका चरित्र भ्रष्ट हो गया (वह चरित्रहीन हो गया)। जब चरित्रहीन हो गया तो इस (जीव) ने प्रपंच नामक शुष्क पर्णों का भी भक्षण कर लिया—सांसारिक विषय में लिप्त हो गया। इसलिये उन विषयभोगों ने अब जीव का आच्छादन कर लिया है।

४०—करेयदे बंदुद हेळदे होदुद नारु अरियरल्ला। अंदंदिगे बंद प्राणिगळारु अरियरल्ला। गुहेश्वरनेंब लिंग उण्णदे होदुदनारु अरियरल्ला।

वचन ४०—स्वामिन्, बिना निमंत्रण के आए (और) कहे बिना ही चले गए, ओह! इस रहस्य को कोई नहीं जान रहा है। अनंत काल से आए हुए प्राणी नहीं जान रहे हैं। गुहेश्वर (लिंग) भोग किए बिना ही चला गया है, ओह! इसे कोई नहीं जान रहा है।

अर्थ ४०—जन्म लेने के लिये किसी के न बुलाने पर भी जीव इस संसार में वृथा ही बारंबार जन्म लेता है और जाते समय किसी से कुछ कहे बिना ही चला जाता है (मर जाता है)। अतः इस आवागमन के रहस्य को कोई नहीं जान रहा है, क्योंकि जीव अनित्य होने के कारण जैसे उत्पन्न होता है वैसे ही मृत होता है, अतः उसे इस जन्म-मरण के रहस्य को जानने का अवसर ही नहीं मिलता। परंतु उन (जीवों) में से एक (मैं) देह धारण करने पर भी अदेही और संसार में रहने पर भी असंग रहकर पुण्य तथा पाप का अनुभव (भोग) किए बिना चला गया। इस अद्भुत रहस्य को कोई नहीं जानता है, इस पर प्रभुदेव जी चिंता करते हैं।

४१—आयित्तो उदयमान, होयित्तो अस्तमान। अळिदवल्लागिरलाद निर्मितंगळेल्लवु कत्तले गविथित्तु, मूरु लोकदोळगे इदरच्चुगवेनु हेळा गुहेश्वरा ?

वचन ४१—उत्पन्न होना ही उदय है, चला जाना ही अस्त है। जन्म-मरण से युक्त सकल पदार्थ अज्ञानांधकार से आवृत हो गए हैं, गुहेश्वर! बता, इसका रहस्य क्या है? तीनों लोक में यही स्थिति है।

अर्थ ४१—संसार की सृष्टि ही उदय है, उसका अंत होना ही अस्त है।

इन दोनों (सृष्टि और लय) के बीच में रहनेवाले समस्त पदार्थ अनित्य हैं। अतः जल बुद्बुद के सदृश इस मायाशरीर को धारण करनेवाले सकल जीव अज्ञान में मग्न हो गए हैं और जन्म-मरण के चक्कर में पड़ गए हैं। यह स्थिति केवल इसी लोक में ही नहीं प्रत्युत तीनों लोक में है—उन लोकों के जीव भी अज्ञानांधकार में पड़े हुए हैं, क्योंकि उनको भी शिवत्व का बोध नहीं है। प्रभुदेव जी इस पर चिंता करते हैं कि इस रहस्य को कोई नहीं जान रहा है।

४२—कालुगळेरडु गालि कंडय्या। देहवेंबुदु तुंबिदबंडि कंडय्या। बंडिय होडेवरैवरु मानिसरु। ओब्ब रिगोब्बरू समविल्लया। अदरि-च्छेयनरिदु होडेय दिद्दरे अदरच्चु मुरियित्तु गुहेश्वरा।

वचन ४२—(मेरे) दोनों पाद चक्र हैं, शरीर भरा हुआ रथ है। पाँचों रथचालक (सारथि) नहीं मान रहे हैं। उनमें परस्पर असमता है। उसकी इच्छा के अनुसार न चलाने पर गुहेश्वर, रथ का अक्ष (धुरा) टूट गया है।

अर्थ ४२—रथ=शरीर। पंच सारथि=पाँच प्राणवायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। अक्ष=अज्ञान। टूटना=अज्ञान का नाश और शिवतत्त्व की प्राप्ति।

इंद्रिय, मन, बुद्धि आदि सामग्रियों से भरे हुए शरीररूपी रथ के लिये दोनों पाद (पैर) चक्र के समान हैं। रथरूपी शरीर में पाँच प्राणवायु सारथि के रूप में विद्यमान हैं अर्थात् देहरूपी रथ का संचालन पाँच प्राणवायु द्वारा होता है। सम और विषम आदि गति से युक्त होने के कारण इन वायुओं में परस्पर साम्य नहीं है। विषय की ओर उन्मुख होने के कारण बारंबार जन्म-मरण के बंधन में पड़ना तथा अनंत दुःख की यातना भोगना इत्यादि उस शरीर की इच्छा है, परंतु मैंने उसकी इच्छा के अनुसार उस मार्ग पर इस शरीर को नहीं चलाया, किंतु उसकी इच्छा के विपरीत सदाचार-सन्मार्ग—पर चलाया, इसलिए उस (शरीररूपी रथ) का अक्ष टूट गया—अज्ञान नष्ट हो गया अर्थात् मुझे शिवत्व का लाभ हो गया।

४३—आरक्केय सिरिगे आरक्केय चिंतिसुवरु। आरक्केय बड-तनक्के आरक्केय मरुगुवरु। इदारक्के आरक्के एनक्क एनक्के भायद बेळ्वे हुरुळिल्ल। कौंदु कुभित्तु नोडा गुहेश्वरा।

वचन ४३—अन्य की संपत्ति के लिये अन्य चिंतित है। अन्य के दारिद्रय से अन्य पीड़ित है। यह क्यों ? किसके लिये यह सब माया का यौतुक (दान) है। यह साररहित है। गुहेश्वर, (माया) वध करके (पुनः) आह्वान करती है, देखो।

अर्थ ४३—माया के संकल्पभाव से उत्पन्न समस्त वस्तुजात न जीव है न जीवसंबंधी। जीव ने यह मायिक शरीर अर्थात् दूसरों की वस्तु धारण कर ली है। काणत्वबधिरत्व, कृशतापुष्टता, कुरूपसुरूप तथा सुखदुख उसी मायिक शरीर का धर्म है। तथापि उन्हें अपना समझकर वह (जीव) व्यर्थ ही चिंता करता है और उसी चिंता से स्वयं नष्ट हो जाता है।

प्रभुदेव जी कहते हैं कि यद्यपि माया जीव के स्वरूप को नष्ट कर देती है तथापि पुनः उसको बुलाती है (मरनेवाला जन्म लेता है)। इस प्रकार दूसरों की वस्तु की लाभहानि से चिंता करते हुए जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है।

४४—तोटव बित्तिदरेम्मवरु। काहकोट्टरु जवनवरु। नित्यवल्लद संसार वृथा होयित्तल्ला। गुहेश्वर निक्किद किच्चु होत्तिकलुंदु अट्टुणळिल्ला।

वचन ४४—अपने पूर्वजों (संबंधी लोगों) ने उद्यान (भूमि) में बीजारोपण किया। यमदूत ने उस पर पहरा दिया। ओह! नित्यरहित संसार वृथा नष्ट हो गया। गुहेश्वर द्वारा लगी हुई अग्नि को (सब लोग) प्रज्वलित करते हैं किंतु उसे ही पाक बनाकर कोई भोग नहीं कर सका।

अर्थ ४४—मातापिता के संयोग से उत्पन्न इस शरीर के लिये समस्त संसार को भक्षण करनेवाला काल (यम) पहरा देने लगा तो संसार अनित्य बन गया। इस अनित्य संसार में समस्त जीव परशिव द्वारा लगी हुई तापत्रय की अग्नि से दग्ध हो रहे हैं, तथापि उसके रहस्य को नहीं जान रहे हैं।

प्रभुदेव जी कहते हैं कि उन तापत्रय का ज्ञानाग्नि में पाक बनाकर उसका भोग करना चाहिए, परंतु इस रहस्य को जानने और पाक बनाने का अवसर मायिक जीव को नहीं मिलता है। इसलिये पीड़ित हो रहे हैं।

४५—निर्णयवनरिपद मनवे दुगुडवनाहारगोंडियल्ला। मायासूत्र विदेनो ? कंगोळगण कत्तले तिळियरल्ला बेळगिनोळगण शृंगार बळलुत्तिदे गुहेश्वरा।

वचन ४५—ऐ निर्णय न जाननेवाले मन ! तूने जड़ (द्वैत) को ही आहार बना लिया यह कैसा मायासूत्र है ? आह ! नयनगत तम को कोई नहीं जाता है। गुहेश्वर, प्रकाशगत शृंगार व्याकुल हो रहा है।

अर्थ ४५—निर्णय को न जाननेवाला मन=स्वस्वरूप न जाननेवाला। द्वैत=द्वैतज्ञान। नयनगत तम=अज्ञानांधकार। प्रकाश=परमशिव। शृंगार=शिव।

इस वचन का भाव यह है कि यदि किसी के मन में—'मैं स्वस्वरूप को नहीं जानता हूँ'—इस प्रकार की आशंका उत्पन्न हो तो समझ लेना चाहिए कि यहीं से माया का सूत्रपात हो गया। स्वस्वरूप को भुला देना माया का प्रथम कार्य है, क्योंकि ज्ञानज्योति (शिव) के सामने मायारूपी मेघ के आ जाने से मंद पड़ गई है। इसीलिए सब लोग 'सुज्ञानप्रभा में मैं महाज्ञान-प्रकाशवान हूँ' अर्थात् 'शिवोऽहं' ऐसा नहीं समझ सके और उन्होंने द्वैत ज्ञान से अन्यत्र ब्रह्म की खोज करनी आरंभ कर दी परंतु वह कैसे मिल सकता है। अतः उसकी अप्राप्ति में वे लोग व्याकुल हो रहे हैं। उन लोगों को देखकर चिंता करते हुए प्रभुदेव जी कह रहे हैं कि प्रकाशगत शृंगार व्याकुल हो रहा है अर्थात् स्वयं शिव होने पर भी विस्मृतकंठाभरणवत् अपनी खोज करने में सब लोग इधर उधर भटकते हैं और पीड़ित होते हैं।

---

(४) संसारहेयस्थल

इन्तु मायेय विलासव विडम्बिसुत्तिर्दातनु आ मायेगे समीपनु। अदेन्तेन्दोडे तनगे माये इदिरिट्टु तोरिहुदागि, तन्नल्लिभिन्नविल्लवेंब विचार हुट्टिल्लागि ताने माया विकारि एन्दरिदु, अन्यव विडंबिसुवद बिट्टु तन्न हेयोपायव ताने विडम्बिसुत्तिरलु, मुन्दे संसार हेयस्थलवादुदु।

उपर्युक्त प्रकार से मायाविलास का विडंबन करनेवाला उसके समीप है क्योंकि वह (माया) अपने (देखनेवाले) से भिन्न रूप में गोचर होती है और अभी तक देखनेवाले को अपने अभिन्नत्व का बोध नहीं हुआ है। इसीलिये वह (मायाविलासविडंबन करनेवाला) समझता है कि वास्तव में 'मैं ही माया से विकृत हो गया हूँ'। अतः उस माया का विडंबन करना छोड़कर अपने हेयोपाय का विडंबन करने लगता है। एतदर्थ इस स्थल का नाम 'संसारहेयस्थल' पड़ गया है।

४६—संसारवेंब हेण बिद्दरे, तिनबंदनाय जगळव नोडिरे। नाय जगळव नोडि हेणनेद्दु नगुत्तिदे। गुहेश्वरनेंब लिंग अल्लिल्ल काणिरे।

वचन ४६—संसाररूपी शव पड़ा हुआ है। भक्षणार्थ आए हुए सारमेयों (कुत्तों) का झगड़ा देखो। सारमेयों का झगड़ा देख (करके) शव उठकर हँस रहा है। देखो भाई, गुहेश्वराभिधान लिंग (शिव) वहाँ नहीं है।

अर्थ ४६—सारमेय=इंद्रिय। झगड़ा=इंद्रिय और मन का संघर्ष। जीवन्मृत संसार अनित्य है इसलिए शव के समान है। इस जीवन्मृत पिंड को खाने के लिए इंद्रियरूपी श्वान उपस्थित हो गए हैं और मन के साथ झगड़ा कर रहे हैं—नेत्र देखना नहीं चाहता है, श्रोत्र सुनना नहीं चाहता है, त्वगिंद्रिय स्पर्श करना नहीं चाहती है। इसी प्रकार अन्य इंद्रियाँ भी अपने अपने कार्य नहीं करना चाहती हैं तथापि मन उनकी बात नहीं सुनता है और बलात् उनको प्रेरित करता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि मन विषयों से निवृत्त होकर स्वस्थ रहना चाहता है परंतु दुष्ट इंद्रियाँ बलपूर्वक उसको प्रेरित करती हैं। प्रभुदेव जी कहते हैं कि सद्विवेक के द्वारा इन सबों

का निरीक्षण करने पर मुझे विदित हुआ कि मेरी स्थिति हास्यास्पद (विकृत) हो गई है। परंतु अभी भी द्वैतज्ञान के कारण परशिव (लिंग) का बोध नहीं हो रहा है।

४७—हळ्ळदोळगोन्दु दुळ्ळि बरुत्तिरलु नोरे तेरेगळु तागिद्वल्ला ! संसारवेंब सागरदोळगे सुखदुःखंगळु तागिद्वल्ला ! इदक्किदु मूर्तियाद कारण प्रळयवायित्तु गुहेश्वरा।

वचन ४७—ओह ! जलप्रवाह में बुद्बुद आते समय फेन और तरंगों से संस्पृष्ट हो गया। संसारसागर में सुखदुःखों का स्पर्श हो गया। गुहेश्वर, यह जल ही मूर्ति है अतः उसी में लय हो गया।

अर्थ ४७—बुद्बुद्=माया से उत्पन्न शरीर। तरंग=सुखदुःख।

जिस प्रकार नदी में बुद्बुद् उठते हैं और बहते समय फेन तथा तरंगों से संपर्क होते ही जलरूप होने के कारण उसी जल में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार संसारसागर से उत्पन्न जीव भी डूबते (मरते) और उठते (उत्पन्न होते) आ रहे हैं। इसलिये सुखदुःखों से संस्पृष्ट हो गए एवं संसारसागर में ही डूब गए।

४८—मानद तोरेयाविगे कोळगद तोरेय केच्चलु, ताळमरदुद्दिह वेरडु कोडु नोडा ! अदनस होगि आरुदिन अदुकेट्टु मूरुदिन अघटित घटित गुहेश्वरा अरसुव बारै।

वचन ४८—देखो, छोटी पेन्हाई गाय का स्तन घटप्रमाण (गाय से भी पुष्ट) है। उसके तालवृक्ष के समान दो सींग हैं। उस (गाय) को खोजने के लिये छ दिन बिता दिए, तीन दिन और बिताने पर भी उसका पता नहीं लगा। अघटित घटना घटक गुहेश्वर, आओ (उसे) खोजें।

अर्थ ४८—गाय=देहाभिमानी जीव। स्तन=विषयरस से भरा हुआ संसार। दो सींग=अहंकार और ममकार। छ दिन=षडंग योग। तीन दिन=ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेय।

देहाभिमानी जीव छोटी गाय के समान है। परंतु उसका स्तन संसार के विषयरूपी रस से भरा हुआ है उस (जीव) का स्थान (संसार) दुग्ध-स्रावोन्मुख स्तन के समान बहुत विशाल है। उसके अहंकार और ममकार नामक दो तालवृक्ष के समान अत्युन्नत सींग हैं। उस जीवरूपी पशु को

खोजने के लिये छ दिन बिता दिए अर्थात् षडंग योग को सोपान बनाकर देखा, परंतु वह नहीं मिला। अतः और आगे देखने की इच्छा से तीन दिन लगाए—ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेय नामक सोपान का आरोहण किया, पर वह नहीं दिखाई पड़ा। अर्थात् ज्ञातृ ज्ञान ज्ञेय में जाने से जीव का जीवत्व नष्ट होता है। प्रभुदेव जी कहते हैं कि इस रहस्य को जानकर मैंने परमतत्त्व के साथ सामरस्य कर लिया (परमशिवत्व का लाभ कर लिया)।

४९—आनेय हेण बिद्दरे, कोडग मुद्दाडिसित्त कंडेनय्या। काडोळगोब्ब सूळे करेकरेदोत्तिय कोंबुद कंडेनय्या। हाळूरोळगे नाय जगळव कंडे। इदेनु सोजिगहेळा गुहेश्वरा ?

वचन ४९—हाथी का शव पड़ा है, उसका चुंबन करनेवाले मर्कट को मैंने देखा। कानन में बुला बुलाकर बंधक रखवाने (वशीभूत करने) वाली एक वारांगना को मैंने देखा। नष्टग्राम (खंडहर) में श्वानों का कलह देखा। बताओ गुहेश्वर, यह अचरज क्या है।

अर्थ ४९—हाथी का शव=अहंकार। चुंबन=देह की रक्षा करना। मर्कट=मन। कानन=भवारण्य। वारांगना=माया। बंधक रखवाना=जीव के स्वरूप को नष्ट करना। नष्टग्राम=पंचभूत शरीर।

अहंकाररूपी मत्त गज जीवन्मृत होकर शरीररूपी भूमि पर पड़ा हुआ है। मनरूपी मर्कट संकल्प-विकल्परूपी हाथ में उसको लेकर उसका लालन-पालन करता है। इस भवारण्य में मायारूपी पण्यस्त्री (वेश्या) सबको मोहित करती है और उनकी समस्त वस्तुओं का अपहरण करके अंत में उस (जीव) को भी वशीभूत कर लेती है। इसलिये संसार खंडहर के समान बन गया है। अतः पंचभूतात्मक शरीररूपी ग्राम में इंद्रियरूपी श्वान विषयरूपी मांस-पिंड के लिये झगड़ा कर रहे हैं। इस कलहात्मक संसार को देखकर प्रभुदेव जी आश्चर्यभरित हो रहे हैं।

५०—कुलदलधिकनु होगि, होलगेरियल्लि मनेकट्टिद्रे कुलगेडदे इप्प परिय नोडा। आतन कुलदवरेल्लरु मुखवनोडलोल्लदिहारे। कुलवुळ्ळवरेल्लरु कैविडिदरु। कुलगेट्टवनेंदु तिळिदु विचारिसलु, होलेगेट्टु होयित्तु, काणा गुहेश्वरा।

वचन ५०—कुलश्रेष्ठ अस्पृश्यों की गली में यदि घर बना लिया तो कुल-

(५) गुरुकारुण्यस्थल

इन्तु संसारवेंब दुस्सारव बेर्पडिसि तन्न निजवनोडिहनेंदरे इदिरिट्टल्लदे, तन्न काणबारदागि, अदेन्तेन्दोडे तन्न मुखव ता नोडिह-नेम्बवनु इदिरे कन्नडि विडिदल्लदे, काणेनेंदु कन्नडिय मुंदु माडिकोंडु नोडुबनंते तन्नि दिरेगुरुवनुंदु माडि कोंड उपावस्थेय माडुत्तिरलु मुंदे गुरु करुण स्थलवादुदु ।

उपर्युक्त प्रकार से संसार के असारत्व को जानकर शिष्य (जीव) अब अपने स्वरूप का साक्षात् करना चाहता है। जैसे कोई व्यक्ति अपना मुख देखने के लिये दर्पण का सहारा लेता है वैसे ही शिष्य गुरु की सहायता लेता है (गुरु की शरण में जाता है)। उस शरणागत शिष्य को गुरु करुणापूर्वक उपदेश देते स्वस्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं। इस स्थल में इसी का वर्णन है। अतः इसका नाम 'गुरुकारुण्यस्थल' है।

५१—कंडुद हिडियलोल्लदे, काणदुदनरसि हिडिदिहनेंदरे सिक्क-देम्ब बळलिकेय नोडा ! कंडुदने कंडु गुरुपादव हिडिदल्लि काणदुद काणबहुदु गुहेश्वरा ।

वचन ५१—दृश्य का ग्रहण न करके लोग अदृश्य का ग्रहण करने की इच्छा करते हैं और उसकी अप्राप्ति से व्याकुल होते हैं। देखो गुहेश्वर, दृष्टगुरु के पादारविंद को देखकर उसी का आश्रय करने से अदृश्य को भी देख सकते हैं।

अर्थ ५१—अदृश्य परब्रह्म को ब्रह्माद्वैत से साध्य करना चाहे तो वह भी द्वैत ही होगा। इसलिये उससे ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः सकलतत्त्वसन्निहित श्रीगुरुचरणों का आश्रय करने से उस अदृश्य परब्रह्म का साक्षात्कार भी हो जायगा।

५२—कृतयुगदल्लि श्रीगुरु, शिष्यंगे बडिदु बुद्धिय कलिसिदरे आगलि महाप्रसादवेंदेनय्या। त्रेतायुगदल्लि श्रीगुरु, शिष्यंगे बैदु बुद्धिय कलिसिदरे आगलि महाप्रसादवेंदेनय्या। द्वापरदल्लि श्रीगुरु

शिष्यंगे झंलिसि बुद्धिय कलि सिदरे आगलि महाप्रसादवेंदेनय्या। कलियुगदल्लि श्रीगुरु शिष्यंगे वंदिसि बुद्धिय कलिसिदरे आगलि महाप्रसाद् वेंदेनय्या। गुहेश्वरा निम्मकालद कट्ळेय कलितनक्के नानु वेरगादेनु।

वचन ५२—गुरु ने कृतयुग में शिष्य को ताड़ना देकर उपदेश दिया तो उसे मैंने महाप्रसाद कहकर स्वीकार किया। त्रेतायुग में डाँटकर उपदेश दिया तो उसे मैंने महाप्रसाद के रूप में स्वीकार किया। द्वापरयुग में झुँझलाकर उपदेश दिया तो मैंने महाप्रसाद के रूप में स्वीकार किया। कलियुग में शिष्य की वंदना करके उपदेश दिया तो मैंने उसे महाप्रसाद कहकर स्वीकार किया। गुहेश्वर, तुम्हारी काल की अधीनता के संघर्ष को देखकर मैं चकित रह गया।

अर्थ ५२—कृतयग में···ताड़ना देना=अनंत काल के संसारताप से दुःखित होकर कदाचित् अपने आप सजग हो जाना। त्रेतायुग में···डाँटकर उपदेश देना=विषयभोग से इंद्रियों को पराङ्मुख करना। द्वापर में···झुँझला कर उपदेश देना=शिवभाव की प्राप्ति। कलियुग में श्रीगुरु का शिष्य की वंदना करके उपदेश देना=गुरु-शिष्यों का सामरस्य-तादात्म्यापन्नत्व।

इस वचन में प्रभुदेव जी परिचय दे रहे हैं कि सर्वकर्मों से विमुक्त हो जाने के अनंतर शेष (शिष्य) को श्रीगुरु की कृपा किस प्रकार प्राप्त हुई है—प्रथमतः मेरे मन में अनादि काल से मायाजाल में फँसे रहने के कारण कदाचित् उस दुःख के संबंध में एक प्रकार का उपताप उत्पन्न हुआ और 'नाऽहम्' भाव का उदय हुआ। दूसरे में स्वयं सजग होने के अनंतर इंद्रियों को विषयभोग से पराङ्मुख कर दिया और 'कोऽहम्' भाव का उदय हुआ। तृतीय में मेरे सर्वांग में लिंग (शिव) भाव भरित हो गया अथच 'सोऽहम्' भाव का उदय हुआ। चतुर्थ में गुरु और शिष्य ये दोनों भाव नष्ट हो गए तथा 'सोऽहम्' भाव का भी लय हुआ। अतः मैं 'निर्भाव' बनकर सेव्य (पूज्य) बन गया हूँ। इसीलिये प्रभुदेव जी कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से मेरे 'नाऽहम्', 'कोऽहम्' और 'शिवोऽहम्' भाव का लय हुआ और निरहं भाव से परमतत्त्व के साथ मिलकर अब मैं एकाकी बन गया हूँ।

५३—अय्या नीनेनगे गुरुवप्पोडे, नानिनगे शिष्यनप्पोडे एन्न करणादि गुणंगळ कळेदु एन्न कायद कर्मव तोडेदु एन्न प्राणन धर्मव

निलिसि, नीनेन्न कायदलडगि नीनेन्नप्राणदलडगि, नीनेन्न भावदल-डगि, नीनेन्न करस्थलक्के बंदुकारुण्यव माडु गुहेश्वरा ।

वचन ५३—स्वामिन्, तुम मेरे गुरु बनोगे और मैं तुम्हारा शिष्य बनूँगा। तुम मेरे करण-गुणों का नाश करो। मेरे काय-गुणों का लय करो। मेरे प्राण-धर्मों का निरोध करो। गुहेश्वर, तुम मेरे काय, प्राण और भाव में अंतर्धान होकर मेरे करस्थल में आओ और अनुग्रह करो।

अर्थ ५३—प्रभुदेव जी कहते हैं—शिष्य ने श्रीगुरु के अनुग्रह (उपदेश) का ग्रहण करते समय उनसे इस प्रकार निवेदन किया—हे गुरु, मेरे शरीर में वर्तमान समस्त कर्मों का नाश करके प्राण-धर्मों को दूर कीजिए और करणों की निवृत्ति करके उनको शिवकाय, शिवचैतन्य और शिवभाव में परिणत कीजिए तथा उनमें अंतर्लीन 'शिवत्व' के रहस्य को समझाइए। आपही मेरे करस्थल में लिंग के रूप में उपस्थित होकर कारुण्य (अनुग्रह) प्रदान कीजिए।

५४—अट्टित्तोंदु ओडित्तोंदु, मुट्टि हिडियित्तोंदु, अट्टाटिके यल्लि अरिदावुदु, हसु माणिकव नुंगि ब्रह्मोतिगोळगायित्तु । मूर्तियादुदे अमूर्तियादुदु, अमूर्तियादुदे मूर्तियादुदु इदनेंतु तेगेय बहुदु ? इदनेंतु कोळबहुदु ? अगम्य अगोचर कायवु लिंगदोळगडगि, प्राणवु लिंग-दोळडगि, नीनेन्न करस्थलदोळगे मूर्तिगोंडु कारुण्यव माडु गुहेश्वरा ।

वचन ५४—एक ने पीछा किया, अन्य भाग गया, दूसरे ने आकर उसका स्पर्श कर लिया। पता नहीं चला, सब खेल में ही हो गया। पशु माणिक्य को निगलकर ब्रह्मभावापन्न हो गया। मूर्त ही अमूर्त बन गया, अमूर्त मूर्त बन गया। इसे कैसे पृथक् (अलग) कर सकते हैं? कैसे ग्रहण कर सकते हैं? अगम्य अगोचर काय, प्राण लिंग में अंतर्धान हो गए हैं, गुहेश्वर, उस अंतर्लीन होने का रहस्य तुम मेरे करस्थल में आकर बताओ।

अर्थ ५४—पीछा करना=ज्ञान का उदय। भागना=अज्ञान का नाश। दूसरा=सुबुद्धि। खेल में=अनायास। पशु=जीव। माणिक्य=ज्ञानरत्न। ब्रह्म-भावापन्न होना='शिवोऽहम्' भाव का बोध। मूर्त का अमूर्त बनना=मायिक शरीर नित्य बनना। अमूर्त का मूर्त बनना=निराकार परमशिव होना श्रीगुरु की कृपा से इष्टलिंग के रूप में प्राप्त होना।

प्रभुदेव जी अपने को प्राप्त गुरुकृपा का परिचय दे रहे हैं—ज्ञानोदय के पश्चात् मेरे अंतरंग में व्याप्त अज्ञानांधकार नष्ट हुआ और सुज्ञान का प्रकाश व्याप्त हो गया। उसके अनंतर मैंने सुबुद्धि और निश्चल भाव से श्रीसद्गुरु-चरण का आश्रय लिया। इसीलिये मैं अनायास ही कृतार्थ हो गया हूँ।

जीवरूपी पशु ने ज्ञानरत्न का भक्षण किया, अतः सदुपदेश के द्वारा पशुत्व नष्ट होकर ब्रह्मेति—'शिवोऽहम्' भाव में वह आ गया। अथच मल से आवृत शरीर शिवकाय बन गया और वही काय अकाय (रूपरहित) बन गया। इस अकाय तथा नित्यकाय का ग्रहण तथा प्राप्त करना असाध्य है। इसलिये हे गुरु, आप इष्टलिंग बनकर कृपापूर्वक मेरे करस्थल में आइए और उस अगम्य काय का अकाय में अंतर्धान होना अथच विकृत प्राण के लिंग में अंतर्धान होने का रहस्य समझाने की कृपा कीजिए।[1]

५५—काणदुद नरसुवरल्लदे, कंडुदनरसुवरे हेळा ? घनको घन वाद वस्तु ताने गुरुवाद, ताने लिंगवाद, ताने जंगमवाद, ताने प्रसाद वाद, ताने मंत्रवाद, ताने यंत्रवाद, ताने सकल विद्यास्वरूपवाद। इन्तिवेल्लव नोळकोंडु एन्न करस्थलक्के वंद बळिक इन्नु निर्विकार गुहेश्वरा।

वचन ५५—अनदेखी (वस्तु) की खोज करनी चाहिए, देखी की खोज करने की क्या आवश्यकता ? घन से भी घन वस्तु स्वयं गुरु बन गई, स्वयं लिंग बन गई, स्वयं 'जंगम' बन गई, स्वयं 'प्रसाद' बन गई, स्वयं मंत्र बन गई, स्वयं यंत्र बन गई और सकल विद्यातत्त्व-स्वरूप बन गई। इस प्रकार इन सबको स्वाधीन करके (इष्टलिंग के रूप में) मेरे 'करस्थल' में तुम्हारे उपस्थित होने के पश्चात् हे गुहेश्वर, अब मैं निर्विकार हूँ।

अर्थ ५५—अदृश्य वस्तु की खोज करने से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती और व्यर्थ ही परिश्रम होता है। इसीलिए साकार गुरु प्रत्यक्ष है उसी में अदृष्ट वस्तु की खोज कर उसका साक्षात्कार कर लेना चाहिए। सर्वगुण-संपन्न श्रीगुरु शिष्य के लिए स्वयं इस प्रकार अनुग्रह करते हैं—गुरु बन-कर दीक्षा देते हैं (दीक्षा के द्वारा आणव आदि मल का निवारण हो जाता है)। लिंग बनकर पूजा करवाते हैं। जंगम बनकर शास्त्रों का उपदेश देते

१—वीरशैव धर्मावलंबी अपने शरीर पर सदा गुरु प्रदत्त इष्टलिंग धारण करते हैं और उसी को करतल में रखकर पूजा करते हैं।

हैं। प्रसाद बनकर परिणाम (परम सुख) दिखाते हैं। षडक्षरी मंत्र बनकर शिष्य के अंतरंग में रहते हैं। यंत्र बनकर सकल क्रियाओं में रहते हैं और सकलविद्यास्वरूप बनकर महानुभाव (स्वात्मानुभूति) में रहते हैं। प्रभुदेव जी कहते हैं कि गुरु की कृपा से उपर्युक्त प्रकार मेरा संपूर्ण शरीर लिंग (शिव) बन गया और सर्वांगों के समस्त विकार नष्ट हो गए। अतः अब मैं निर्विकार बन गया हूँ।

५६—कस्तुरिय मृग बंदु सुळियित्तल्ला ! सकल विस्तारद रूहु बंदु निंदित्तल्लय्या। अवग्रह बंदु सोंकिदेंदरियनय्या। अवग्रह बंदु हिडियित्तेंदरियनय्या। हृदय कमल मध्यदल्लि गुरुवनारिदु, पूजिसि, गुरुविख्यातनेंबुद नानरिदेनय्या गुहेश्वरनल्लि हिंदण दुष्टरतु होदुद कंडेनय्या।

बचन ५६—ओहो ! कस्तूरीमृग का संचार हो गया। सकल विस्तार का रूप प्राप्त हो गया। अब मुझे अवग्रह के स्पर्श करने की आशंका नहीं। मैं नहीं जानता कि अवग्रह ने मुझे ग्रहण किया है। मैंने समझ लिया है कि हृदयकमलस्थित गुरु को जानकर और उनकी पूजा करके मैं 'गुरुविख्यात बन गया हूँ।' मैंने गुहेश्वर में पुनर्भव के नाश को देखा।

अर्थ ५६—कस्तूरीमृग=स्वानुभाव (स्वानुभव)। सकल विस्तार का रूप=शिवस्वरूप। अवग्रह=अज्ञान (संसार की बाधा)। हृदयकमलस्थित गुरु=ज्ञानरूपी गुरु।

श्रीगुरु की कृपा से मेरे अंतरंग में स्वानुभाव (स्वानुभव) रूप कस्तूरी-मृग का संचार हो गया, उसी से शिव (लिंग) भावनारूपी सुगंध व्याप्त हो गई अर्थात् मेरे अंतरंग और बहिरंग में शिवभावना छा गई। इसके पश्चात् वही शिवभावना अंतरंग और बहिरंग में 'दर्पण-प्रतिबिंब-ज्ञान' की भाँति परशिव मूर्ति बन गई। उस मूर्ति के स्पर्श से मेरा अज्ञान नष्ट हो गया, अतएव लौकिक विषयावग्रहण की आशंका नहीं है। क्योंकि मैं सर्वथा शिव-मय बन गया हूँ। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस शिव (लिंग) को दिखाने-वाले ज्ञान-गुरु को मैंने अपने अंतरंग में समझ लिया अतः मेरा भवपाश नष्ट हो गया है।

५७—एणे, बत्ति, प्रणते कूडि ज्योतिय बेळगय्या। अस्थि माँस

देह प्राण निःप्राणवायित्तु । दृष्टिवरिदु मनमुट्टद परिइन्नेंतो ? मुट्टि लिंगव कोंडडे केट्टित्तु ज्योतिय बेळगु । इदु कष्टवेंदरिदेनु गुहेश्वरा ।

वचन ५७—तैल, बत्ती और दीया (तीनों) के मिलने से ज्योति का प्रकाश है । देखो, अस्थि, मांस, देह और प्राण निष्प्राण बन गए हैं । दृष्टि खुलने पर भी (ज्ञानोदय के पश्चात् भी) मन से स्पर्श क्यों नहीं होता । स्पर्श कर लिंग को ग्रहण करने से ज्ञानज्योति का प्रकाश नष्ट हो जायगा । गुहेश्वर, इसको मैं कष्टदायक समझता हूँ ।

अर्थ ५७—तनुरूपी दीये में मनरूपी बत्ती रखकर सद्विवेक नामक तैल का सेचन करने से महाज्ञानप्रकाशरूपी ज्योति व्याप्त हो गई । इस महाज्ञान-प्रकाश से मेरी अस्थि, मांस संबंधी देह ने अपने प्राणवायु के विकार त्याग दिए और संपूर्ण शरीर लिंगमय बन गया । इस लिंग को द्वैतदृष्टि से नहीं देखना चाहिए । इस सर्वांगलिंगमय दशा में कोई ममकार-भाव से 'इष्टलिंग' की आराधना करेगा तो यह द्वैतज्ञान होगा और वह परिपूर्ण ज्ञान खंडित (नष्ट) हो जायगा । इसलिये गुरु की कृपा से अब मेरा द्वैतभाव नष्ट हो गया है ।

५८—पाताळदिंदत्त मातवल्लवरिल्ल । गगन दिंद मेले अनुभाव तालिल्ल । ओळगण ज्योतिय बेळग बल्लवरिल्ल । होरगण होरगनु अरिय बल्लवरिल्ल । हिंदण हिंदनु, मुंदण मुंदनु तंदे तोरिद नम्म गुहेश्वरनु ।

वचन ५८—पाताल से आगे की बात जाननेवाले कोई नहीं हैं । गगन से आगे का कोई 'अनुभाव' (अनुभव) (किसी को) नहीं है । अंतर्ज्योति को प्रज्वलित करनेवाला कोई नहीं है । बाह्य से बाह्य को जाननेवाला कोई नहीं है । गुहेश्वर, भूत के भूत एवं भविष्य के भविष्य को मेरे पिता (गुरु) ने मुझे दिखा दिया है ।

अर्थ ५८—जो लोग केवल शास्त्र का अध्ययन करते हैं और उसके बल पर ब्रह्म का वर्णन करते हैं उनका ज्ञान वाक्यज्ञान (वागद्वैत=द्वैतज्ञान) है । जो वस्तु को देखकर वर्णन करते हैं उनका ज्ञान भी द्वैत है । 'द्यावा भूमी जनयन् देवः एक एव' इस श्रुति के अनुसार परब्रह्म सत्य और पाताल लोक से अतिरिक्त नहीं हैं, प्रत्युत उन्हीं लोकों (ब्रह्मांड) में व्याप्त है । इस तत्त्व का साक्षात्कार द्वैतज्ञान के द्वारा नहीं हो सकता । ब्रह्मज्ञानी को समस्त संसार

अपने से भिन्न रूप में गोचर नहीं होना चाहिए। अर्थात् वास्तविक ज्ञानी संसार को अपने से भिन्न नहीं देखता है और संपूर्ण जगत् में अपने को पाता है। द्वैतज्ञानवाले इस रहस्य को नहीं समझ सकते हैं।

जीवभाव से अपनापन (शिवोऽहम्) और उस अपनेपन से जीवभाव का लय हो गया। ये दो मार्ग हैं। अपनेपन के पश्चात् तत्त्वविवेक है और तत्त्वविवेक के आगे स्वस्वरूप का स्थान है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार के सद्विवेक को मैंने श्रीगुरु की कृपा से प्राप्त कर लिया है।

५९—एत्तण मामर ? एत्तण कोगिले ? एत्तणिंदेत्त संबंधवय्या ? बेट्टद नेल्लिय कायि समुद्रदोळगण उप्पु एत्तणिंदेत्त संबंधवय्या ? गुहेश्वर लिंगक्केयु एनगेयु एत्तणिंदेत्त संबंधवय्या।

वचन ५९—भाई, कहाँ का आम्रवृक्ष और कहाँ की कोकिला ? (इन दोनों में) कैसा संबंध ? पर्वतीय आमलक (आँवले) से सागर के लवण का क्या संबंध ? गुहेश्वर, लिंग और मुझमें क्या संबंध ?

अर्थ ५९—'अंग' और 'लिंग' में संबंध नहीं है, क्योंकि अंग जड़ है, लिंग अजड़ (चैतन्य) है। मन और लिंग का भी संबंध नहीं है, क्योंकि मन विकल्पात्मक होने के कारण अंधकारतुल्य है और लिंग (ज्ञान) प्रकाशात्मक है। जिस प्रकार कोकिला तथा आम्रवृक्ष, पर्वतीय आँवला एवं सामुद्रिक लवण-ये दोनों भिन्नदेश के अथच भिन्न स्वभाव के होने के कारण परस्पर असंबद्ध हैं, उसी प्रकार जड़, चेतन एवं ज्ञान अज्ञान से युक्त शरीरधारी जीव का भी 'महालिंग' से संबंध नहीं था, तथापि कर्पूरशेष की भाँति तनुधर्म और मनधर्म नष्ट होने से मैं 'महालिंग' स्वरूप बन गया और उसी के 'इष्टलिंग' बनकर 'करस्थल' में आने से दोनों का संबंध हो गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार अपनी क्षीणता और 'महालिंग' की महत्ता को देखकर मुझे अत्यंत आश्चर्य हो रहा है।

६०—काणबारद लिंगवु करस्थलक्के बंदरे एनगिदु सोजिग, एनगिदु सोजिग। अहुदेनलम्मेनु अल्लेनलम्मेनु गुहेश्वर लिंगवु निराळ निराकार बयलु, आकारवादरे।

वचन ६०—अदृश्य (निराकार) 'लिंग' 'करस्थल' में आ गया तो इससे मुझे अत्यंत आश्चर्य है। शांत, निराविल और शून्य गुहेश्वर साकार हो गया तो उसको मैं अस्ति नहीं कह सकता और नास्ति भी नहीं कह सकता।

अर्थ ६०—अगम्य अगोचर शांत और निराकार 'महालिंग' भक्ति के कारण साकार बनकर 'करस्थल' में विराजमान है। 'करस्थल' में आए हुए इस लिंग को मैं अस्ति नहीं कह सकता हूँ क्योंकि अस्ति कहने से द्वैतभाव आ जाता है, और नास्ति भी नहीं कह सकता हूँ क्योंकि यह गुरु द्वारा प्रदत्त है। इसलिये उस शांत, निर्विकार और 'शून्य' महालिंग के साकार बनकर 'करस्थल' में आ जाने से शिष्य आश्चर्यान्वित हो गया।

६१—आदिय मुट्टि बंद शरणंगे बंधविल्लवय्या। जन्म कोटि क्रूर कर्मव माडिदवंगे सोंकिन सोबग हेळलिक्के अंगदल्लि लिंग सोंकिद शरणंगे कायदोळ गुळ्ळ करणंगळु कळाकुळ कळाभेदवय्या। सुखद सोंकिन सोबग इन्नारिगेयु हेळलिल्ल गुहेश्वरा।

वचन ६१—भाई, आदि का स्पर्श कर आए हुए 'शरण' के लिए बंधन नहीं है। कोटि जन्मों से क्रूर कर्म किये हुए (व्यक्ति) के लिये लिंगस्पर्श-जनित सौभाग्य (आनंद) को बतानेवाले 'शरण' के कायस्थित करण व्याकुल हो जाते हैं। गुहेश्वर, उस सुख-स्पर्श-सौभाग्य का (आनंद) मैंने किसी से नहीं कहा।

अर्थ ६१—श्रीगुरु की कृपा से अपने मूलज्ञान (स्वरूप) को प्राप्त शरण के लिये कोई बंधन नहीं है। उस 'महालिंग' के स्पर्श से प्राप्त आनंद को, उन सांसारिक जनों के समक्ष प्रकट करने की इच्छा करते ही जो अनंत जन्मों से क्रूर कर्म करते आ रहे हैं उस शरण के अंतरंग और बहिरंग की इंद्रियाँ व्याकुल हो उठती हैं। अर्थात् उस निरतिशय आनंद को शब्द द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता—केवल अनुभवैकगम्य है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसीलिये उस निरतिशय आनंद को मैंने किसी से नहीं कहा।

६२—ज्योतियोळगण कर्पुरक्कें, अप्पुविन कैयलिप्प उप्पिंगे श्रीगुरुविन हस्तदोळगिप्प शिष्यंगे ई मूरक्केयू बेरे क्रियावर्तक उंटे गुहेश्वरा?

वचन ६२—गुहेश्वर, अग्निगत कर्पूर, जलगत लवण एवं श्रीगुरु के करगत शिष्य क्या इन तीनों का क्रियावर्तक अन्य होगा?

अर्थ ६२—जिस प्रकार अग्निगत कर्पूर अग्नि के रूप में ही दिखाई पड़ता है न कि कर्पूर के रूप में एवं जलगत लवण जल के रूप में ही ज्ञात

होता है न कि लवण के रूप में उसी प्रकार श्रीगुरुतत्त्व में वर्तमान शिष्य, गुरुतत्त्व-स्वरूप ही है। अतः वह गुरुतत्त्व से भिन्न होकर गोचर नहीं होता।

६३—गुरुशिष्य संबंधवनरसलेंदु होदरे ताने गुरुवाद् ताने शिष्य नाद्, ताने लिंगवाद्। गुहेश्वरा निम्मशरणन कायद् कैयल्लि लिंगव कोट्टरे भाव बत्तले यायित्तु ?

वचन ६३—मैं गुरु और शिष्य का संबंध खोजने गया तो स्वयं गुरु बन गया, स्वयं शिष्य बन गया और स्वयं लिंग बन गुहेश्वर, तुम्हारे शरण के 'करस्थल' पर लिंग पर स्थापित करने पर उसका भाव दिगंबर (निर्भाव) बन गया।

अर्थ ६३—अपने स्व को भूलकर श्रीगुरुतत्त्व में विश्रांति प्राप्त 'शरण' (शिष्य) स्वयं गुरु बन गया। गुरु ने स्व को भूलकर शिष्य के भाव में विश्रांति पाई, इसलिये वह गुरु ही स्वयं शिष्य बन गया। अर्थात् गुरुतत्त्व और शिष्य ये दोनों परस्पर एकरस (समरस) हो गए और लिंग के साथ अभिन्न रूप से मिल गए। इस प्रकार गुरु-शिष्यभाव नष्ट हो गया और स्वयं 'लिंग' (शिव) बन गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस शिवभाव को प्राप्त 'शरण' के करस्थल में लिंग के आने से 'मैं शरण हूँ, और यह लिंग है' इस प्रकार की द्वैतभावना नष्ट हो गई (भाव निर्भाव बन गया)।

---

(१) भक्तस्थल

इंतु गुरु करुण स्थलदिंद अविरळ लिंग संबंध वहुंद तच्छिष्य नु तन्न सांग क्रिया वर्तनेय आचरिसि तोरुत्तिरलु मुंदे भक्त स्थल वादुदु।

'गुरुकारुण्यस्थल' में श्रीगुरु की कृपा से 'महालिंग' के साथ शिष्य का अविरल संबंध हो गया है। अब वह (शिष्य) अपने सांग-क्रियावर्तन द्वारा उसका आचरण भी करके दिखा देता है। आचरण में श्रद्धाभक्ति का सहारा लेने के फलस्वरूप इस स्थल का नाम 'भक्तस्थल' बन गया।

६४—भविय तंदु, भक्तन माडि, पूर्वाश्रयव कळेद बळिक, पूर्वाश्रयवनेत्ति नुडिव गुरुद्रोहिय मात केळलागदु। हेसरिल्लद लिंगक्के हेसरिट्टुव लिंगद्रोहिय मात केळलागदु। पूर्वदल्लि नामविल्लद गुरु, हेसरिल्लद लिंग, हेसरिल्लद शिष्य, इंती त्रिविध स्थलवनरियदे केट्टरु गुहेश्वरा।

वचन ६४—'भवि' को भक्त बनाकर उसका पूर्वाश्रम (मायिकधर्म) नष्ट कर लेने के पश्चात् उसके पूर्वाश्रम को लेकर 'भवि' कहनेवाले गुरुद्रोही की बात नहीं सुननी चाहिए। नामरहित 'लिंग' का नामकरण करनेवाले लिंगद्रोही की बात नहीं सुननी चाहिए। गुहेश्वर, आदि में नामरहित गुरु, नामरहित लिंग, एवं नामरहित शिष्य इस त्रिविध स्थल को न जानकर लोग नष्ट हो गए।

अर्थ ६४—भवि=दीक्षा की पूर्वावस्था वाला (मायिक धर्म से युक्त पुरुष)। भक्त=गुरु का कृपापात्र।

दीक्षा (श्रीगुरु की कृपा) से जिसने अपना भवि-जन्म नष्ट कर लिया है उसे पहले के जात्यादि धर्मों से विशिष्ट करके नहीं कहना चाहिए। 'भक्त' को 'भवि' कहनेवाले गुरुद्रोही हैं। नाम और सीमा रहित लिंग के लिये नाम एवं सीमा नहीं बनानी चाहिए। उस नाम-सीमारहित लिंग को नाम-सीमा से सहित कर बात करनेवाले लिंग द्रोही हैं। अतएव गुरु, लिंग एवं शिष्य इन तीनों का आदि में कोई नाम नहीं है। परंतु इस रहस्य को न जानकर

शब्द-सूतक द्वारा (गुरु अलग हैं, लिंग अलग हैं और शिष्य अलग हैं इस प्रकार) व्यवहार करके सब लोग नष्ट हो गए। अर्थात् वे लोग परशिवतत्त्व से वंचित रह गए। वे केवल मोक्षार्थी कह लाएंगे।

६५—बेवसायव माडि, मनेय बिय्यक्के बत्तविल्लदिद्दरे, आ बेवसायद् गोखेकय्या ? क्रय विक्रयवमाडि, मनेय संच नडेय दन्नक्क आ क्रय विक्रयद् गोखेकय्या ? ओडेयन नोलैसि तनुविंगे अष्टभोगव पडेयदिद्दरे आ ओलगद् गोखेकय्या ? भक्तनागि भवं नास्तियागदिद्दरे आ उपदेशव कोट्ट गुरु कोंड शिष्य इवरिब्बर मनेयल्लि मारी होगलि गुहेश्वरा।

वचन ६५—कृषिकर्म करके गृहनिर्वाह के लिए धान्य नहीं मिला तो ऐसे कृषिकर्म के लिए क्या चिंता ? क्रय-विक्रय करके गृहकार्य संपन्न नहीं हुआ तो उस क्रय-विक्रय के लिये क्या चिंता ? स्वामी का मनःप्रसादन करने पर भी शरीर के लिये अष्टभोग नहीं मिले तो ऐसे मनःप्रसादन की भी क्या चिंता ? यदि भक्त बनकर भी कोई भवनास्ति (भव का नाश) नहीं कर सका तो गुहेश्वर, उपदेष्टा गुरु अथच उपदिष्ट शिष्य इन दोनो के घर में मृत्यु का प्रवेश हो जाए।

अर्थ ६५—भवि-जन्म का लय करके भक्त होने के पश्चात् भी यदि भूत-काल का भवि-गुण-संबंध नष्ट न हुआ तो गुरूपदिष्ट उपदेश मिथ्या है और शिष्य-द्वारा गृहीत अनुग्रह भी मिथ्या है। अर्थात् गुरु के उपदेश के पश्चात् भवत्व का नाश होना ही भक्त का लक्षण है।

६६—मेरुव सारिद कागे, हॊंबण्णवागदिद्दरे, आ मेरुविंदत्तण हुलुमोरडि सालदे देवा ? निम्न पूजसि धावतिगोंबडे आधावतियिंद मुन्निन विधिये सालदे ? गुहेश्वरा निम्नपूजिसि सावडे, निम्मिंद होरगण जवने साल दे ?

वचन ६६—हे देव, मेरु गिरि तक पहुँचकर भी यदि काक सुवर्णमय नहीं बना तो उसके लिये मेरु पर्वत से छोटा तृणयुक्त टीला क्या पर्याप्त नहीं है ? गुहेश्वर, तुम्हें पूजकर भी यदि भ्राति ही रही तो क्या उस पूजा से प्राक्तन विधि ही योग्य नहीं है ? और यदि तुम्हारी पूजा करके भी कोई मृत हुआ तो क्या तुमसे बाह्य मृत्यु उचित नहीं है ?

अर्थ ६६—इस वचन का भाव यह है कि अंग (शरीर) पर लिंग धारण करने के पश्चात् अर्थात् दीक्षा ग्रहण करने के अनंतर जन्म-मरण आदि देहधर्म को जीत लेना चाहिए। परंतु दीक्षित होने के पश्चात् भी जिसने जन्म एवं मरण पर विजय नहीं प्राप्त की, प्रत्युत जो उसी के चक्र में पड़ा रहा ऐसे पुरुष का जन्म निरर्थक है।

६७—काळरक्कसिगोब्ब मग हुट्टि, कायद राशिय मोगवुत्त सुरिवुत्तलिर्दनय्या ? काळरक्कसिय भूग मोलेय कोय्दु देवकन्निकेय मरेय होक्कवाय तुत्तेल्लुवनुगलोल्लदे, कारिद्डे आतने भक्तनेंबे गुहेश्वरा।

वचन ६७—भाई, काल-राक्षसी को एक पुत्र उत्पन्न हो गया। वह काय-राशि का ग्रहण और त्याग करता चला जा रहा है। देखो, जो काल-राक्षसी का स्तन और नासिका काटकर देवकन्या की शरण में आता है और मुखाग्रस्थित ग्रास का भक्षण नहीं करता प्रत्युत त्याग देता है गुहेश्वर, उसी को मैं भक्त कहूँगा।

अर्थ ६७—काल-राक्षसी=माया। पुत्र = संसारी जीव। काय-राशि= संसार। ग्रहण=जन्म। त्याग=मरण। स्तन=विषय-रस का घट। नासिका= दुर्वासना (अहंकार)। देवकन्या=ज्ञानशक्ति। मुखाग्रस्थित ग्रास=प्रारब्ध कर्म।

माया से उत्पन्न जीव, मिथ्या संसार की राशि को सामने रखकर शरीर-रूपी कड़ाह में डूबता और उतराता हुआ जन्म-मरण के अधीन हो गया है। जो उस माया की अहंकाररूपी नासिका और संसार-रस से भरित विषयरूपी घट (स्तन) का छेदन करके ज्ञानशक्ति का सहारा लेगा एवं प्रारब्ध आदि कर्मों का भोग न करके उनका परित्याग करेगा, वही 'शरण' है।

६८—राजसभे देवजभेयोळगे, देवराज पूजकरेल्लु मुख्यरिगे गुरुविन करुण इरवल्लरे अय्या ! पूजकरेल्लुरु इंतह परिगळकंडु बेरगादे गुहेश्वर। इवरेल्लु संसार व्यापकरु।

वचन ६८—भाई, राजसभाओं और देवसभाओं में देवराज आदि प्रमुखों को क्या गुरु-करुणा प्राप्त है ? वे सब पूजक हैं। उनकी रीति को देखकर मैं चकित हो गया हूँ। गुहेश्वर, वे सब लोग संसार में व्यापक (मग्न) हैं।

अर्थ ६८—गुरु के कृपा-पात्र बनकर इंद्र, रुद्र आदि गण (लिंग) शिव की पूजा करते हैं, परंतु उस पूजा के द्वारा राजभोग और देवभोग की ही कामना करते हैं। फलस्वरूप वे लोग गुरूपदिष्ट होने पर भी फल-दायक संसार में मग्न रहा करते हैं—मुक्त नहीं होते हैं।

६६—अन्तरव बल्लेवेंदु अहंकार बेडेगोंडु लेक्कगोळ्ळरय्या! गुरु हिरियरु तोरिद उपदेशदिंद वागद्वैतव कलितु वादिपरल्लदे आगुहोगें-बुदनरियरु। युक्तिय नरियरु मुक्तियनरियरु भक्तियनरियरु। मत्तु वादिगळेनिसुबरु होदरु गुहेश्वरा सले कोंड मारिंगे।

वचन ६६—भाई, अपने को अन्तरज्ञ माननेवाले अहंकारी लोग गणना में नहीं आ सकते हैं (नगण्य है)। वे गुरु एवं बड़ों के उपदेश द्वारा वागद्वैत सीखकर वादी बन जाते हैं किंतु उन्हें भविष्य का ज्ञान नहीं रहता, वे न युक्ति जानते हैं न भक्ति जानते तथा मुक्ति भी नहीं जानते हैं। गुहेश्वर, वादी कहलानेवाले वे सभी मरणाधीन होकर चले गए।

अर्थ ६६—श्रीगुरु से उपदेश प्राप्त कर तथा संस्कारानुस्यूत एवं मिथ्याचार की भक्ति के बल से वागद्वैत सीखकर सबके साथ वाग्वाद करने-वाले सम्यक् ज्ञान से अपरिचित होने के कारण न युक्ति को जानते हैं न भक्ति को अतएव मुक्ति को भी नहीं जानते हैं। इसलिये वे लोग लिंग (शिव) पथ के लिये योग्य नहीं हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि—फलस्वरूप वे सब मरणाधीन होकर चले गए।

७०—ऐदु मुखदंगनेगे, हदिनैदु देहनोडा! आ अंगनेय मनेयोळगिर्दु, तावारेंबुदनरियदे, बायिगे बंदंते नुडिवरु गुहेश्वरा निम्मनरियद जड़रुगळु।

वचन ७०—पंचमुख की कामिनी को पंचदश काय (शरीर) हैं देखो! उस कामिनी के घर में रहकर गुहेश्वर, तुम्हें न जाननेवाले जड़ लोग 'स्वयं आप कौन हैं' यह न जानकर मनचाही बात करते हैं।

अर्थ ७०—पंचमुख=पंचमहाभूत। कामिनी=माया। पंचदश शरीर= स्थूल पंचभूत, सूक्ष्म पंचभूत और कारण पंचभूत। कामिनी का घर= मायिक शरीर।

पंच महाभूत, माया के पाँचमुख के समान हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण पाँचभूत उस माया के शरीर हैं। इस माया से निर्मित शरीर रूपी घर में रहकर सब लोग अपने स्वरूप को भूल गए हैं फिर भी मनचाहे बकते रहते हैं वे लोग केवल वाभिकाम में ही मदमत्त होकर झूमते रहते हैं। वे जड़ हैं।

७१—एरणे बेरे, बत्ति बेरे, एरडू कूडि सोडरायित्तु। पुण्य बेरे, पाप बेरे, एरडू कूडि ओडलायित्तु। मिगावारदु, मिगदिरवारदु, ओड लिच्छेय सलिसदे निमिष विरवारदु। काय गुणवळिदु मायाज्योति वायुव कूडद मुन्न भक्तिय माडवल्लुडातने देव गुहेश्वरा।

वचन ७१—तेल भिन्न है, बत्ती भिन्न है—दोनों सम्मिलित रूप से दीप बन गए हैं। पुण्य अलग है पाप अलग है—दोनों के योग से शरीर बना है, उसका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। अतिक्रमण किए बिना भी नहीं रहना चाहिए। शारीरिक इच्छा की पूर्ति किए बिना एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए। गुहेश्वर, शरीर के गुण का नष्ट करके माया-ज्योति के वायु से मिलन के पहले भक्ति करनेवाला ही देव है।

अर्थ ७१—पुण्य ही प्राण है और पाप ही उदर है इन दोनों के योग से शरीर निर्मित हुआ है। प्रारब्ध से उपलब्ध उस शरीर का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अर्थात् उस शरीर के स्थित्यर्थ भोग करना चाहिए। पर उस शरीर का पात होने के पहले जो लिंग (शिव) के लिये भक्ति का आचरण करता है वही भक्त है। इस प्रकार लिंग की भक्ति करनेवाला ही यथार्थ भक्त है।

७२—होन्नु माये एंबरु, हेण्णु माये एंबरु, मण्णु माये एंबरु, होन्नु मायेयल्लु, हेण्णु मायेयल्लु। मनद मुंदणासेये माये काणा गुहेश्वरा।

वचन ७२—कान्चन को माया कहते हैं, कमिनी को माया कहते हैं और भूमि को माया कहते हैं। कान्चन माया नहीं, कामिनी भी माया नहीं और भूमि भी माया नहीं। गुहेश्वर, मन की आशा ही माया है।

अर्थ ७२—लोक में मूढ़ लोग, कांचन, कामिनी और भूमि को माया कहते हैं तथा उनको त्यागने का उपदेश देते हैं। वस्तुत: वे माया नहीं हैं, किंतु उनमें मनकी आसक्ति ही माया है। अतएव आसक्तिरूप माया से रहित होकर जो उन पदार्थों को गुरु, लिंग और 'जंगम' को अर्पण करता है वही निर्माय है।

७३—कळ्ळगंजि काड होक्कडे, हुलि तिंबुद मावुदे ? हुलिगंजि हुत्तव होक्कडे सर्प तिंबुद मावुदे ? कालक्कंजि भक्तनाद्डे कर्म तिंबुद मावुदे ? मृत्युविन वाय तुत्ताद् वेष डंभकर नेनेंबे गुहेश्वरा ।

वचन ७३—चोर के भय से जंगल में भाग जाओगे तो क्या व्याघ्र खाने से छोड़ेगा ? व्याघ्र से डरकर वलमीक में जा घुसोगे तो क्या सर्प खाने (काटने) से छोड़ेगा ? काल से भीत होकर भक्त बनने से क्या कर्म खाने से छोड़ेगा ? गुहेश्वर, मृत्युमुख के ग्रास इन दांभिकों को मैं क्या कहूँ ?

अर्थ ७३—जो काल और कर्म से भय खाकर भक्त बनेगा, वह 'भक्तस्थल', के लिये योग्य नहीं होगा, क्योंकि उसकी भक्ति 'सहज भक्ति' नहीं होगी। ये भक्तवेशधारी दांभिक मृत्यु के ग्रास हैं, अतः उनकी भक्ति यथार्थ नहीं है।

७४—ऐदु सर्पगळिगे तनु ओंदु दंत वेरडु। आ सर्प कडिदु, सत्त हेणनु सुळिदाडु वद् कंडे। ई नित्य वरियद् ठाविनल्लि भक्ति येल्लियदु गुहेश्वरा।

वचन ७४—पाँच सर्पों के लिये शरीर एक है, दाँत दो। उस सर्प के दंशन से मृत शव को स्पंदित होते हुए मैंने देखा। गुहेश्वर, नित्य को न जाननेवाले स्थान (व्यक्ति) में भक्ति कहाँ ?

अर्थ ७४—पाँच सर्प=पंचेंद्रियाँ। शरीर=मन। दाँत=संकल्प-विकल्प। मृत=शरीर। शव=जीव।

शिवज्ञानी प्रभुदेव जी कहते हैं कि अहंकार से युक्त देह में भक्ति का उदय होना असंभव है, क्योंकि उस शरीर में पंचेंद्रिय रूप कराल सर्पों के लिये मन ही शरीर (आवास स्थान) है। इन्द्रियाणां मनो नाथः। संकल्प और विकल्प रूपी दो दाँत हो गए हैं। मन दाँत रूपी संकल्प और विकल्प द्वारा इच्छापूर्वक विषयों का ग्रहण और अनिच्छापूर्वक त्याग का कार्य करता है। इंद्रियरूपी सर्प ने प्राणों को डँस लिया है अतएव शरीर मृतप्राय है। अर्थात् शरीर में ज्ञान नष्ट हो गया है और अज्ञान व्याप्त है। फलस्वरूप वह जीवन्मृत हो गया है। फिर भी इंद्रियों की इच्छापूर्ति के लिये इधर उधर भटकता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस अनित्य शरीर में रहकर जीव शिव-भक्ति को कैसे पा सकता है।

७५—हुट्टिदल्लिये होंदुदेल्लरिगेयू स्वभाव। पुण्य पाप वेल्लरिगेयू स्वभाव। महाशिवतत्त्वदल्लि हुट्टिद भक्तरु आगम तत्त्वदल्लि होंदिदडेनु? आ पुण्य पापविल्लागि अवरु महानुभावरु। आदडेनु? लोकद परियै अल्लु। इदु लोकद परि एंब अज्ञानिगळ नेनेंबे गुहेश्वरा।

वचन ७५—जहाँ उत्पन्न हुआ है वहीं विलीन हो जाना सबका स्वभाव है। पाप और पुण्य सबके लिये यही स्वाभाविक है। महाशिवतत्त्व से उत्पन्न भक्त के लिये आगम तत्त्व प्राप्त करने से क्या (लाभ)? पाप और पुण्य से रहित होने से वे 'महानुभाव' हो सकते हैं किंतु उससे क्या? गुहेश्वर, यह लोक की रीति नहीं है। इसे लोकरीति कहनेवाले अज्ञानियों को मैं क्या कहूँ।

अर्थ ७५—जिस प्रकार संसार की कोई वस्तु उसी से उत्पन्न होती है और उसी में विलीन हो जाती है उसी प्रकार श्रीगुरुतत्त्व से उत्पन्न भक्त का प्रपंच उसी गुरुमार्गाचार में लीन हो जाता है। यही लोक की रीति है। परंतु जो लोग महाशिवतत्त्व से उत्पन्न होकर उसी में लीन नहीं होते प्रत्युत अनित्य देह का आश्रयण करते हैं और उसी प्रकृति की भावी योनियों में आवृत्ति करते चलते हैं, वे उल्लिखित रीति के विरोधी हैं।

७६—आरु इल्लदारण्यदोळगे मनेय कट्टिदरे काड किच्चेद्दु बंदु, हत्तिसल्ला। आ उरियोळगे मने बेवल्लि मनेयोडेयनेत्त होदनो? उरियोळगे बेंद मने बेगेयागवुद कंडु मनेयोडेयनळलुत्त बळलुत्तैदाने। गुहेश्वरा निम्म ओलविल्लद ठाव कंडु मनदल्लि हेसि तोलगिदेनय्या।

वचन ७६—भाई, निर्जन अरण्य में (मैंने) एक घर का निर्माण किया पर उसमें दावाग्नि व्याप्त हो गई। उस समय घर का स्वामी कहाँ गया, (उसका) पता नहीं। आग लगने पर भी घर नहीं जला, इसे देखकर गृहपति रोता और तड़पता रहता है। गुहेश्वर, तुम्हारी कृपा से रहित स्थान को देखकर मैं मन में लज्जित हो गया और मैंने उस स्थान को छोड़ दिया।

अर्थ—७६ निर्जन अरण्य=भवारण्य (संसार)। घर-(पंचभूत और सप्त धातुओं से निर्मित) शरीर। अग्नि=तापत्रय। गृहपति=जीव। रोते, तड़पते रहना=जन्ममरण के दुःख से पीड़ित होना। कृपा से रिक्तस्थान=माया से व्याप्त स्थान।

संसार नामक अरण्य में जीव ने पंचमहाभूत और सप्तधातुओं से निर्मित शरीररूपी एक घर अपने लिये बनाया। पर उस भवारण्य में तापत्रय रूपी अग्नि उत्पन्न एवं उस शरीर रूपी घर में व्याप्त हो गई। उस तापत्रय की अग्नि से अभिभूत जीव अपने स्वरूप को भूल गया। पर आश्चर्य यह है कि शरीर रूपी घर में तापत्रय की अग्नि के व्याप्त होने पर भी उस (शरीर) के गुण और अंतःकरण आदि धर्म नष्ट नहीं हुए, और बराबर तदाश्रित व्यवहार चलता रहा। इस स्थिति में जीव व्याकुल होने लगा। तब मैंने सोचा कि इस घर (शरीर) में श्रीगुरु के अनुग्रह (कृपा) के अभाव में यह सब हो रहा है। अतः गुरु की करुणा (अनुग्रह) प्राप्त करके मायिक व्यापार का निवारण और शिवत्व का लाभ प्राप्त किया।

७७—अणोरणीयान् महतो महीयान् एंब श्रुति हुसि। लिंग विर्द ठाविनल्लि प्रळय उंटे? भक्तर भावदल्लिर्पनल्लदे मत्तेल्लेयू इल्ल गुहेश्वरा।

वचन ७७—'अणोरणीयान् महतो महीयान्' नामक श्रुति असत्य है। क्या शिव (लिंग) से युक्त स्थल का प्रलय होगा। गुहेश्वर, शिव (लिंग) भक्तों के भाव में ही रह सकता है अन्यत्र नहीं।

अर्थ ७७—'अणोरणीयान् महतो महीयान्' श्रुति कहती है कि शिव अणु, रेणु, तृण एवं काष्ठ में सर्वत्र व्याप्त रहता है, किंतु यह बात असत्य है। कारण यह कि जिस काय में शिव रहता है वह काय मुक्त, नित्य एवं ज्ञान-युक्त होना चाहिए। लेकिन अणु रेणु एवं तृणकाष्ठादि न नित्य हैं न ज्ञान-युक्त अतएव मुक्त भी नहीं हैं। इसीलिये परशिव, शिवभक्तों के भाव में ही रहता है, और कहीं नहीं।

७८—प्रणुतेयु इदे, बत्तियु इदे, ज्योतिय बेळगुवडे तैलविल्लदे प्रभे तानेल्लियदो? गुरुविदे, लिंगविदे, शिष्यन सुज्ञानोदयवागदन्नकर भक्ति एल्लियदो? सोहं मेंबुद् केळि दासोहव माडदिर्दडे अतिगळवे गुहेश्वरा।

वचन ७८—दीपक है, बत्ती भी है, तैल न हो तो ज्योति का प्रकाश कैसे होगा। गुरु है और लिंग भी है। शिष्य के ज्ञानोदय के बिना भक्ति कैसे साध्य होगी। हे गुहेश्वर, जो 'सोऽहम्' सुनकर 'दासोऽहम्' नहीं करता वह निंद्य है।

अर्थ ७८—जिस प्रकार ज्योति के प्रकाश के लिये तैल प्रधान है उसी प्रकार गुरु और लिंग के संबंध के लिये शिष्य का ज्ञान जीवातु (प्राण) है। 'सोऽहम्' कहकर आए हुए 'जंगम' (आचार्य) को शिवस्वरूप मानकर 'दासोऽहम्' भाव से उसकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। इस निर्णय को जो नहीं जानता है वह 'भक्तिस्थल' के लिये योग्य नहीं है।

७९—ग्रनतरद चित्रद रूह वरेय बहुदल्लदे प्राणव वरेय बहुदे अय्या ? दिव्यागमंगळु हेळिद क्रियलु दीक्षेय माडबहुदल्लदे भक्तिय माडबहुदे अय्या ? प्राणवह भक्ति तन्मय नीनु ई गुणवुळ्ळल्लि नीनिहे इल्लदल्लि नीनिल्ल गुहेश्वरा।

वचन ७९—स्वामिन्, बड़े से बड़ा चित्र अंकित किया जा सकता है पर क्या उसमें प्राणप्रतिष्ठा भी हो सकती है। दिव्यागमोक्त क्रियाओं से दीक्षासंस्कार किया जा सकता है पर क्या उस (शिष्य) में भक्ति भरी जा सकती है ? गुहेश्वर, तुम सप्राण भक्ति में तन्मय हो। जहाँ यह गुण है वहाँ तुम हो, जहाँ यह नहीं है वहाँ तुम भी नहीं हो।

अर्थ ७९—जिस प्रकार चित्रकार चाहे जितना बड़ा चित्र बना सकता है परंतु उसमें प्राणप्रतिष्ठापन नहीं कर सकता, उसी प्रकार श्रीगुरु शिष्य को दिव्यआगमोक्त क्रियाओं से दीक्षित कर सकता है पर उस शिष्य में ज्ञान नहीं भर सकता। इसलिये शिष्य के द्वारा ही ज्ञान का संपादन होना चाहिए। अतएव इस प्रकार की ज्ञानयुक्त निष्काम भक्ति में ही शिव (लिंग) रहता है। सकाम भक्ति में शिव (लिंग) नहीं रहता।

८०—गंडगिंद मुन्न हेंडति हुट्टि, गंडगिंद किरियळादळु। आ हेंडति ओड हुट्टिदळादळेंबुद केळि आ गंड संगव माडिदडे, इब्बरिगोंदु मगुवु हुट्टितल्ला। आ हुट्टिद मगुव ताइ मुद्दाडिसिदडे ताय तक्कैसित्तिदेनु हेळा ? ता पद्दू पति भक्तिय माडित्त कंडु गुहेश्वरलिंगके भक्ति परिणाम वायित्तु।

वचन ८०—पति के पहले उत्पन्न होकर पत्नी पति से भी छोटी हो गई। अपनी सहोदरी (भगिनी) लगती है—ऐसा सुनकर पति ने उससे संग कर लिया और उन दोनों से एक शिशु भी उत्पन्न हो गया। उस प्रसूत पुत्र को माँ प्यार करने लगी तो पुत्र ने माँ को सचेत कर दिया। गुहेश्वर, बताओ

यह क्या है ? पत्नी स्वयं उठकर पतिभक्ति करने लगी। इस प्रकार की भक्ति तुम्हारे योग्य हो गई।

अर्थ ८०—पति=श्रीगुरु। पत्नी=शिष्य। शिशु=लिंग। माँ=ज्ञानशक्ति।

गुरु पति है और शिष्य पत्नी। गुरु से उपदेश लेने के पहले शिष्य में ज्ञानोदय (विरक्तिजन्य ज्ञान) होता है इसलिये संसारपाश का छेदन कर शिष्य गुरु का आश्रय लेता है। इसी अभिप्राय से गुरु से पूर्व शिष्य के होने की बात कही गई है। (यही अभिसंधि पति से पत्नी के पूर्ववर्ती कहने में भी निहित है)। इस प्रकार बड़े होने पर भी 'नगुरोरधिकम् नगुरोरधिकम्' इस श्रुति के अनुसार गुरुपुत्र बनकर गुरु की शुश्रूषा करने से वह शिष्य छोटा हो गया। इतने पर भी वह शिष्य रूपी पत्नी उस गुरुतत्त्व से भिन्न नहीं है क्योंकि वह गुरुतत्त्व के साथ ही उत्पन्न है। इसलिये शिष्य रूपी पत्नी गुरु रूपी पति के लिये बहिन के सदृश हो गई। गुरु ने उस शिष्य के साथ अविरल संग—सामरस्य—कर लिया और उन दोनों के संग से 'लिंग' नामक एक शिशु उत्पन्न हो गया। वह लिंगभाव ज्ञानशक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ फिर भी उस ज्ञानशक्ति का आलिंगन (आश्रय) करके भक्तांगना कहलाया। वह भक्तांगना सजग होकर 'लिंग' की भक्ति करने लगी है। यद्यपि भक्त शिव स्वरूप बन गया है फिर भी ज्ञानशक्ति के आश्रय से भक्ति करता है (ज्ञाना-चार करता है)। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार की सद्भक्ति गुहेश्वर के योग्य हो गई।

८१—मुन्निन परियंतुटल्लु। आदडेंतहुदु आगदडितायित्तु। हलवु परिय बयके तार्कणे यादंते गुहेश्वर लिंगवु तनुव तन्नत्त-लोग्दनु।

वचन ८१—(शरण) पहले की भाँति नहीं है। यदि वैसा होता तो कैसे साध्य होता पहले की भाँति न होने पर ही ऐसा हुआ है। ये नाना प्रकार के भाव तारक बनते गए जिससे गुहेश्वर लिंग ने (इस) शरीर को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।

अर्थ ८१—पहले की भाँति=दीक्षा के पहले की अवस्था। तारक=सहायक। प्रभुदेवजी कहते हैं कि अंग पर लिंग के स्पर्श (धारण) होने से प्रथमतः स्वस्वरूप का साक्षात्कार हुआ और फिर क्रमशः अनेक प्रकार के विषय उत्पन्न होते गए। प्रथम विवेक का स्वरूप यह है—'मूलतः मैं भक्त हूँ। पूर्व जन्म

(दीक्षा के पहले) की भाँति नहीं हूँ ।' पुनः द्वितीय विवेक में 'मूलतः मैं भक्त न होता तो संप्रति सद्भक्ति की प्राप्ति कैसे होती ।' तीसरे विवेक पर निश्चय हुआ 'मैं भवि जन्मवाला नहीं हूँ अतएव सद्भक्ति की प्राप्ति हो गई है ।' इस प्रकार दृष्ट, श्रुत और अनुमान से स्वस्वरूप को जानकर मैंने उस लिंग के साथ सामरस्य कर लिया ।

८२—कायक्के मज्जन, प्राणक्के ओगर इव माडलेबेकु । सुळिव सुळुहु उळ्ळन्नक्क इव माडले बेकु । गुहेश्वरनेंब लिंगक्के आत्मनुळ्ळन्नक्कर भक्तिय माडले बेकु ।

वचन ८२—शरीर के लिये स्नान तथा प्राण के लिये भोजन करना ही चाहिए । जब तक प्राण का संचार है तब तक ये दोनों कार्य करने ही चाहिए । जब तक आत्मा है तब तक गुहेश्वर की भक्ति करनी ही चाहिए ।

अर्थ ८२—जिस प्रकार शरीर के लिये स्नान एवं प्राणस्थिति के लिये भोजन आवश्यक है उसी प्रकार जब तक मन में 'मैं लिंग धारण करनेवाला भक्त हूँ' इस प्रकार की भावना है, जबतक शरीर में प्राण का संचार है और जब तक लिंग जाननेवाला ज्ञान है तबतक इष्टलिंग के लिये अष्टविधअर्चना एवं षोडशोपचार पूजन करना ही चाहिए और प्राणस्वरूप 'जंगम लिंग' (शिवयोगी) के लिये समस्त पदार्थों का अर्पण करके भक्ति का आचरण करना ही चाहिए ।

८३—बंद बट्टेय निंदु नोडदे, बंद बट्टेय कंडु सुखियादे । निंद निलव मुंदुगेडिसि, निंद निलव मुंदुगोंडित्तु । तंदे मक्कळगुण ओंदे भावदलडगि, संदिल्लद कालोळगे कैमूडित्तु । ओंदने हिडिदु, ओंदने बिट्टरे इंदु नम्म गुहेश्वरन सद्भक्तियायित्तै संगन बसवण्णा ।

वचन ८३—आए हुए मार्ग का अवलोकन न करके जिस मार्ग से आया था उसको देखकर मैं सुखी बन गया । पूर्वावस्था को अवरुद्ध करके (मैंने) वर्तमान दशा को आगे बढ़ाया । पिता और पुत्र का भाव एक ही में विलीन होकर अभिन्न पाद में हस्त का उदय हो गया । हे 'संगन बसव' एक का ग्रहण कर अन्य त्याग करने से आज वह (ज्ञानभक्ति) गुहेश्वर की सद्भक्ति हो गई ।

अर्थ ८३—आए हुए मार्ग=संसारमार्ग । जिस मार्ग (से)=शिवतत्त्व ।

पूर्वावस्था=जनन-मरण। वर्तमान दशा='शिवोऽहम्' भाव। पिता=गुरु। पुत्र=शिष्य। एक=एकभाव। अभिन्न पाद=शिष्य का सदाचार। हस्त=दृढ़-संकल्प। एक (का ग्रहण)=सद्भक्ति।

प्रभुदेवजी कहते हैं जब मैंने समझ लिया कि 'मैं उस मायायोनि का संबंधी नहीं हूँ, 'किंतु अनादि शिवतत्त्व से आया हुआ हूँ' तब मैं आनंदविभोर हो गया। अनंतर (मैंने) मायाशरीर धारण करने पर भी उस शरीर के मायात्व का नाश कर दिया और अपने स्वभाव (शिवत्व) की ओर उसको अग्रसर कर दिया। इसलिये उस सद्विवेकी शिष्य एवं श्रीगुरु के हृदय का एकीकरण (सामरस्य) हो गया और शिष्य का सदाचार (वर्तन) ही भेदरहित (अभिन्न) पाद बन गया। उस सदाचार रूपी पाद में (कृतनिश्चय) दृढ़ भावरूपी हस्त उत्पन्न हो गया। उस (दृढ़भाव) हस्त से सद्भक्ति का ग्रहण कर लिया। क्रियाकलाप एवं सद्भक्ति इन दोनों में से क्रियाकलाप (स्थूल) को छोड़कर भक्ति का अवलंबन कर लिया। इसलिये यही भक्ति गुहेश्वर की भक्ति हो गई। यही हितकर है।

८४—तंदेय सदाचार मक्कळदेंबरु। गुरु मार्गाचार शिष्यनदेंबरु। मेलु पंक्तिय काणरु नोडा! तत्त्वद मेलु पंक्तियत्तले उळियित्तु। कत्तलेय। मरेयल्लि काणरुनोडा। तत्त्वद हादियनु भक्तिय भेदवनु इवरेत्त बल्लरैय्या गुहेश्वरा?

वचन ८४—जैसे पुत्र का सदाचार पिता से आता है वैसे ही शिष्य का सदाचार गुरु (मार्ग) से आता है। उच्च पद को नहीं देख रहे हैं। देखो, तत्त्व का उच्चपद उधर ही रह गया। अंधकार के परदे के पीछे नहीं देख रहे हैं। देखो गुहेश्वर, तत्त्व का मार्ग एवं भक्ति का रहस्य ये लोग कैसे जानेंगे।

अर्थ ८४—इस वचन का अभिप्राय यह है कि 'गुरूक्ति मार्गस्ते लिंगं व्रतस्थं परमेश्वरी' उक्ति के अनुसार जिस प्रकार पुत्र का वर्ण, आश्रम और आचार आदि धर्म पैतृक हुआ करता है उसी प्रकार शिष्य के सदाचार गुरु के ही होते हैं। किंतु इस रहस्य को कोई नहीं जानता। अज्ञानांधकार रूपी परदे के पीछे लोग नहीं देख रहे हैं, इसलिये उनके लिये उच्चपद (शिवतत्त्व) अदृश्य ही रह गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस रहस्य को जानकर (कि गुरु शिष्यों का आचार एक है) गुरु 'लिंग तथा जंगम,' की भक्ति

करता है उसी की भक्ति योग्य हैं। इसके विपरीत आचरण करनेवाले दांभिक हैं। अर्थात् उनकी भक्ति 'भक्तस्थल' के लिये योग्य नहीं है।

८५—अद्वैतव नुडिदु अहंकारि यादेनय्या ! ब्रह्म व नुडिदु नानु भ्रमित नादेनय्या ! शून्यव नुडिदु नानु सुखदुःखक्के गुरियादेनय्या ! गुहेश्वरा निम्म शरण संगन बसवण्णन सान्निध्य दिंदानु सद्भक्तनादेनय्या।

वचन ८५—स्वामिन्, अद्वैत कहकर मैं अहंकारी बन गया। 'ब्रह्म' कहकर भ्रमित हो गया। शून्य कहकर सुख-दुःख के अधीन बन गया। गुहेश्वर, तुम्हारे शरण 'संगन बसव' के संग से मैं सद्भक्त बन गया।

अर्थ ८५—प्रभुदेवजी कहते हैं कि आचरण के बिना वाङ्मात्र से अद्वैत कह कर मैं अहंकारी बन गया था। 'ब्रह्म' कहकर भ्रांत हो गया था एवं 'शून्य' कहकर सुख-दुःखों से संस्पृष्ट हो गया था। इस प्रकार भक्ति तथा आचार के बिना वागद्वैत से भ्रांत होकर अंत में मैं श्रीसंगन बसव की शरण में आया और उनके संग से सद्भक्त बन गया। अतः मन में शरीर की भावना और शरीर में मन की भावना जब तक है तब तक श्रीगुरु, लिंग और 'जंगम' की सद्भक्ति करनी चाहिए। यही सत्य है। इस सद्भक्ति का परित्याग कर केवल वागद्वैत करना विडंबना मात्र है।

८६—हळेगालदलोब्ब पुरुषंगे एळेय कनिकेय मदुवेय माडलु केळदियरैवरु निब्बण बंदरु। हसेय मेले मदुवणिगन तंदु निलिसलोडने शशिवदने बंदु कैविडिदळु। मेलुदायदलोब्ब सति कण्ण सन्नेय माडुत्तिरे कूडे बंद निब्बण गित्तियरेल्ल हेंडिरादरू। दूरविल्लद गमनक्के दारिय पयण हलवायित्तु। साराय निर्णयव नानेनेंबे गुहेश्वरा ?

वचन ८६—पुराने पुरुष (वृद्ध) के साथ एक छोटी कन्या का विवाह करते समय पाँच सखियाँ बरात में आगईं। मंडप में वर को खड़ा करते ही शशिवदना (कन्या) ने आकर उसका पाणिग्रहण कर लिया। छत पर (बैठी हुई) एक स्त्री के इंगित से साथ में आई हुई पाँचो बराती सखियाँ पत्नी बन गईं। विप्रकर्षरहित गमन के लिये मार्ग अनंत हो गए। गुहेश्वर, प्रधान (मार्ग के) निर्णय को मैं क्या कहूँ ?

अर्थ ८६—वृद्ध पुरुष=दीक्षा से पूर्व के संस्कार को नष्ट कर शिवसंस्कार से युक्त पुरुष। छोटी कन्या=चिच्छक्ति। पाँच सखियाँ=इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, मंत्रशक्ति, आदिशक्ति तथा पराशक्ति। मंडप=सदाचार। पाणिग्रहण=ज्ञानशक्ति और चिच्छक्ति का सामरस्य। छत पर बैठी हुई स्त्री=पराशक्ति। इंगित करना=भक्ति में अत्यंत आसक्त होना।

पूर्वसंस्कार नष्ट करके श्रीगुरु की कृपा से जब शिवसंस्कार से युक्त हो गया तब शिष्य ने अपने पूर्वापर का विचार किया। इससे ज्ञात हुआ कि 'मैं अनादि संसिद्ध परशिव ही हूँ' इस विवेक के अनंतर चिच्छक्ति का उदय हुआ। अर्थात् ज्ञान और चिच्छक्ति मूल में एक ही हैं, परंतु शिष्य में विवेक (ज्ञान) का उदय होने के पश्चात् ही चिच्छक्ति का उदय हुआ अतः विवेकी (शरण) को वृद्ध और चिच्छक्ति को छोटी कन्या कहा है। इन दोनों (ज्ञानशक्ति) वृद्ध पुरुष और चिच्छक्ति (कन्या) का दांपत्यभाव से विवाह (समरस) करते समय पाँच सखियाँ बरात में आई अर्थात् इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, मंत्रशक्ति, आदिशक्ति और पराशक्ति अनुकूल बन गई। सदाचार रूपी विवाहमंडप में वर (ज्ञानी) को खड़ा करते ही चिच्छक्ति रूपी कन्या ने उसका पाणिग्रहण कर लिया। अर्थात् ज्ञानशक्ति के साथ चिच्छक्ति का सामरस्य तभी हो सकता है जब साधक सद्भक्ति (सदाचार) रूपी मंडप में प्रवेश करता है (निश्चल भाव से सदाचार संपन्न हो जाने पर चिच्छक्ति के साथ मिलन होता है) इस चिच्छक्ति के मिलन से 'शरण', (चिच्छक्ति को प्राप्त ज्ञानी) सहज क्रियासंपन्न बन गया। फलतः उसकी उत्तर कक्षवाली पराशक्ति का साक्षात्कार होने लगा। परिणाम यह हुआ कि वह भक्ति विशेष में अत्यंत श्रद्धान्वित हो गया, इसलिये वे पाँचों सखियाँ (इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, मंत्रशक्ति, आदिशक्ति और पराशक्ति) सहायक बन गई। अर्थात् ज्ञानशक्ति और चिच्छक्ति का सामरस्य हो जाने से उसी में सब शक्तियों का भी विलीनीकरण हो गया। इस प्रकार चिच्छक्ति स्वरूप शरण के लिये परब्रह्मवस्तु समीप हो गई। इस समीपस्थ वस्तु की प्राप्ति के लिए अनंत सत्पथ हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इनके विषय में मैं क्या कहूँ ? अर्थात् उस अवस्था को प्राप्त करने से वाग्वृत्ति अवरुद्ध हो जाती है।

८७—देव कंडा, भक्त कंडा, मरळि मरळि शरणेंब कंडा। होयित्तल्ला भक्ति जलव कूडि, सावन्नकर सरस उंटे गुहेश्वरा ?

वचन ८७—देव को देखा, भक्त को देखा, पुनः पुनः (मैंने) 'शरण' कहनेवाले को भी देखा। हाय! भक्ति मिट्टी में मिल गई। गुहेश्वर, क्या मरे बिना सरसता मिलेगी?

अर्थ ८७—'यह देव हैं मैं भक्त हूँ' इस भावना द्वारा आचरण करने के फलस्वरूप 'शिवोऽहम्' भाव की प्राप्ति हो जाने पर भी सहज भक्ति का क्रम पूर्ववत् चलते रहना सद्भक्ति का क्रम है। इसे न जानकर द्वैतज्ञानपूर्वक संपादित होनेवाली क्रियाएँ जड़ हैं—निर्वीर्य हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उन जड़ात्मक क्रियाओं द्वारा परशिव तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी।

८८—मुंदु जावदलेद्दु, लिंगदंघ्रिय मुट्टि, सुप्रभात समयदल्लि सद्भक्तर मुखव नोडुवुदु। हुट्टिदुदक्किदे सफल नोडा! सत्यवचन विंतेंदुदु। इदिल्लदवर कंडडे ना नोल्ले गुहेश्वरा।

वचन ८८—भोर में उठकर शिवलिंग के अंघ्रि का स्पर्श करके सुप्रभात में सद्भक्तों का मुखावलोकन करना ही जन्म लेने का सुफल है, यही सत्य वचन है। देखो गुहेश्वर, इससे विपरीत व्यक्तियों को मैं देखना नहीं चाहता।

अर्थ ८८—उषःकाल में उठकर अष्टविध अर्चना एवं षोडशोपचार पूजा करनी चाहिए और सद्भक्त शरणों की वंदना करके 'दासोऽहम्' इस भावना से लिंग की सदैव वंदना करनी चाहिए। यही सद्भक्ति का क्रम है। इस क्रम को न जान कर की जानेवाली समस्त क्रियाएँ दुष्क्रिया कहलाएँगी।

८९—उलुहिन वृत्तद नेळलडियलिद्दु, गलभेयनोल्लेनेंबुदेंतय्या! पट्टद राणिय मुखव मुद्रिसि, मेट्टि नडेव सतिय शिरव मेट्टि निलुव परि एंतय्या। आदिय हेंडतियनुल्लंघिसिद कारण, मेदिनिय-मेले निलबारदु। साधकरेल्लरु मरुळादुद कंडु नाचि नगुतिर्देनु-गुहेश्वरा।

वचन ८९—स्वामिन्, 'मुखर वृत्त की छाया में रहकर (मैं) शब्द को सुनना नहीं चाहता हूँ, इस कथन की क्या संगति है। (भूतल पर) चित्रित पट्टरानी के मुख को पददलित कर चलनेवाली पत्नी के भी शिर पर खड़ा होने की वृत्ति क्या है। आदिपत्नी का उल्लंघन करने के कारण मेदिनी पर खड़ा

रहना असंभव है। गुहेश्वर, साधक जन पागल हो गए। उन्हें देखकर मुझे लज्जा भी आती है और हँसी भी।

अर्थ ८९—मुखर वृक्ष=सक्रिय शरीर। छाया=माया। पट्टरानी=इच्छा-शक्ति। मुख=कारण। पददलित करनेवाली=क्रियाशक्ति। आदिपत्नी=ज्ञानशक्ति। मेदिनी=भक्ति।

शरीर रूपी वृक्ष, जिसकी शाखोपशाखाएँ अधोमुख हैं और जिसका मूल ऊर्ध्व है, प्राणवायुओं के विकार से शब्दजाल का उच्चारण करता है, और उस शब्दायमान वृक्ष की (माया रूपी) छाया में रहकर 'इन शब्दों को नहीं सुनूँगा' अर्थात् 'माया से लिप्त नहीं होऊँगा' यह कहना कैसे संभव होगा। तात्पर्य यह है कि माया की छाया में रहने पर भी मायिक गुणों से असंस्पृष्ट होना कैसे संभव है। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य प्राप्त करने के लिये पहले 'इच्छा' की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि उसके बिना किसी कार्य का उपक्रम नहीं होता। इसलिये गुरुकरुणा रूपी पट्टाभिषेक होने के पहले उसी इच्छाशक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिये उस (इच्छाशक्ति) को पट्टरानी कहा। परंतु पट्टरानी रूपी 'इच्छाशक्ति' के बल पर पूर्ण विश्वास न रखकर उसको द्वार (कारण) बनाकर सक्रिया का आचरण करना चाहिए। अतः इच्छाशक्ति को पददलित करके चलनेवाली उस सक्रिया (क्रियाशक्ति) को सती कहा। इस क्रियाशक्ति के ऊपर दृढ़ भाव से आश्रयण करना चाहिए। 'ज्ञानशक्ति' रूपी पत्नी पहले से ही शरण के साथ रहनेवाली है उसका परित्याग करने से अर्थात् ज्ञानरहित हो जाने से अज्ञान व्याप्त हो जाएगा। उस अज्ञान द्वारा की जानेवाली समस्त क्रियाएँ जड़ कहलाएँगी। अतः ऐसी क्रियाएँ भक्तस्थल के लिये योग्य नहीं होंगी। अतएव आदिपत्नी का उल्लंघन करने के कारण 'मेदिनी पर खड़ा नहीं रहना चाहिए' कहा। प्रभु-देवजी कहते हैं कि इस क्रम को न जानकर भ्रांतिपूर्वक की जानेवाली भक्ति हास्यास्पद है।

९०—आचारव नरियदे, विभववळियदे, कोपबडगदे, ताप मुरियदे, बरिदे भक्तरादेवेंदु बेब्बने बेरेववर कंडिंगे नानु मरगुवे काणा गुहेश्वरा।

वचन ९०—आचार को जाने बिना, विभव का त्याग किए बिना, क्रोध को दूर किए बिना, ताप का नाश किए बिना 'हम भक्त बन गए हैं' ऐसा

झूटमूठ कहते हुए अहंकार में चूर व्यर्थ ही नष्ट होनेवालों को देखकर, गुहेश्वर, मुझे करुणा आती है।

अर्थ ६०—सदाचार को बिना समझे एवं अंतःकरण से कामक्रोधादिकों को दूर किए बिना 'मैं भक्त हूँ, इस प्रकार का दंभ भरनेवालों का जीवन निष्प्रयोजन है।

६१—आशेगे सत्तुदु कोटि, आमिषक्के सत्तुदु कोटि, होन्नु हेण्णु, मण्णिंगे सत्तुदु कोटि, गुहेश्वरा निनगागि सत्तवरनारनु काणे।

वचन ६१—आशा के लिये करोड़ों मर गए, आमिष के लिये करोड़ों मर गए। कांचन कामिनी और भूमि के लिये करोड़ों मर गए। गुहेश्वर, मैंने तुम्हारे लिये मर मिटनेवाले किसी एक को भी नहीं देखा।

अर्थ ६१—सभी लोक आशा, आमिष, कांचन, कामिनी और भूमि के लिये आमरण प्रयत्नशील रहते हैं, पर सहज भक्ति में कृतनिश्चय होकर लिंगतत्त्व में लीन होने के लिये कोई भी उद्यत नहीं दिखाई पड़ता।

६२—आदियल्लि बसवण्णनुत्पत्यवाद कारण नागलोकद नाग गणंगळिगेयू बसवण्णन प्रसाद। मर्त्य लोकद महागणंगलिगेयू बसवण्णन प्रसाद। देव लोकद देव गणंगळिगेयू बसवण्णन प्रसाद। गुहेश्वरा निम्माणे एनगेयू, निनगेयू बसवण्णन प्रसाद।

वचन ६२—आदि में (जब) 'बसव' भाई का उदय हुआ तो नागलोक के नागगणों को उनका प्रसाद मिला, मर्त्यलोक के 'महागण' को उनका प्रसाद मिला, देवलोक के 'देवगण' को उनका प्रसाद मिला, गुहेश्वर, तुम्हारी शपथ। मुझे और तुम्हें भी उन्हीं बसव भाई का प्रसाद मिला है।

अर्थ ६२—चिच्छक्ति समस्त संसार के लिये कारणीभूत है, अर्थात् चिच्छक्ति से समस्त संसार का उदय होता है, उसी में वह रहता है और उसी में उसका लय हो जाता है। यही चिच्छक्ति ने 'बसव' का रूप धारण कर लिया है, अतः समस्त विश्व 'बसव' के अंतर्गत है। सारे जगत् को 'बसव' का ही प्रसाद मिला है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस 'बसव' की भक्ति के रस में 'महालिंग' सन्निहित (वर्तमान) है। अतएव उस 'महालिंग' के लिये और 'लिंगवेदी' (शिवयोगी) को भी 'बसव' का प्रसाद ही मिला है।

६३—कब्बुनद गुंडिगेयल्लि रसद भंडव तुंबि, होन्न माडबल्लडे, अदु परुष काणिरण्णा ! लिंग बंदुंबडे प्रसाद कायवोप्पोडे अंदंदिगे भवकर्म मुट्टलम्मवु काणिरे। आदिय प्रसादक्के बाधे इल्लकाणिरे। शशियल्लि करगदु। बिसिलल्लि कोरगदु रसडंड होन्नु गुहेश्वरा निम्म शरण।

वचन ६३—भाई, लोहभांड में सिद्धरस भरकर जो सुवर्ण बनेगा वह परुष होगा। देखो, लिंग का भोग हो सके और प्रसाद काय बन सके तो कभी भी भवकर्म का स्पर्श नहीं होगा। देखो, आदि प्रसाद के लिये बाधा नहीं है। वह (सुवर्ण) न तो चंद्रमा से क्लिन्न होगा और न आतप (धूप) से उत्तप्त। गुहेश्वर, तुम्हारा शरण रसभुक्त (रसनिर्मित) सुवर्ण (परुष) है।

अर्थ ६३—सिद्धरस=सुवर्ण बनाने के लिये प्रस्तुत किया हुआ पारद (पारा)। जिस प्रकार लोहपात्र में सिद्धरस भरकर सुवर्ण बनाते हैं, उसी प्रकार सर्वांग सुख लिंग द्वारा ग्रहण करने योग्य बन जाने पर उस अंग (शरीर) में उसका प्रसाद रूप में निक्षेप हो जाता है। उस प्रसाद के निक्षेप से मन एवं प्राण इंद्रियादि सहित शरीर प्रसादकाय (शिवकाय) बन जाता है जिससे भव का छेदन हो जाता है। इस प्रकार का प्रसाद ही अनादि संसिद्ध प्रसाद है। इस प्रसाद से बना हुआ (प्रसाद) काय चंद्र और सूर्य की प्रभा के अधीन न होकर सिद्धरस से निर्मित सुवर्ण (परुष) की भाँति होता है। अर्थात् भवबाधा रूपी शीतातप का भय उस प्रसादकाय को नहीं होता।

६४—नच्चुमच्चिन लिंगव अहिसि, मच्चु ओळकोंडित्तय्या। कर्पुरद करडिगेय गासि माडिदंतायित्तु। लिंगानु भाविगळ संगदिंदानु कण्देरेदेनु काणा गुहेश्वरा।

वचन ६४—स्वामिन्, अत्यंत प्रियकर (इष्ट) लिंग को धारण करने से उसमें गाढ़ प्रीति हो गई। मानो कर्पूर की मंजूषिका का घात हो गया। गुहेश्वर लिंगानुभावियों के संग से मेरी आँखें खुल गईं।

अर्थ ६४—प्रभुदेवजी कह रहे हैं कि—मैंने अंग पर लिंग धारण करके उसका जब अत्यंत लोलुपता से ग्रहण किया और शरणों (शिवानुभावियों) के संसर्ग द्वारा लिंग और प्राण के एक होने की अनुभूति प्राप्त की, तब

महाविवेक से हृदय का मंथन हो गया और मुझे लिंग का संबंध दृष्टिगोचर होने लगा।

६५—हृदय कमलदोळगोंदु मरिदुंबि हुट्टित्तु। हारि होगि, आकाशव नुंगित्तय्या! आ तुंबिय गरिय गाळियल्लि मूरुलोक वेल्लवु तले केळगायित्तु। पंचवर्णद हंसे, पंजरव खंडिसिदरे गरिमुरिदु तुंबि नेलक्के उरुळित्तु। निजदुदयद बेडगिन कील गुहेश्वरा निम्म शरणरनु भाव संगदल्लिर्दु कंडेनय्या।

वचन ६५—स्वामिन् हृदय कमल में एक छोटा सा भ्रमर उत्पन्न हुआ जो वहाँ से उड़कर आकाश को निगल गया। उस भ्रमर की वायु से तीनों लोक उलट गए। पंचरंगी हंस ने जब पंजर को तोड़ दिया तो भ्रमर की पाँखें टूट गईं। फलतः वह भूमिपर गिर पड़ा। गुहेश्वर, निजोदय के सुरहस्य को मैंने तुम्हारे शरणों के संग में रहकर पहचान लिया।

अर्थ ६५—भ्रमर=अज्ञान। आकाश=आत्मतत्त्व। पाँख=अज्ञान क्रिया। पंचवर्ण का हंस=पंचीकरणवाला जीव। पंजर=देह की अनित्यता।

इस वचन में प्रभुदेवजी 'शिवशरणों के संग (अनुभाव) से अज्ञान की निवृत्ति का वर्णन कर रहे हैं—हृदयकमल-कर्णिका के कुहर में तमो-वर्ण और भ्रमयुक्त अज्ञान रूपी भ्रमर उत्पन्न हुआ, जिसने आत्मतत्त्व का आच्छादन करके संसार में अंधकार (अज्ञान) फैला दिया। इसलिये तीनों लोक उस अज्ञान में पड़ गए और उसी में क्रीड़ा कर रहे हैं। इस अज्ञान की निवृत्ति मैंने इस प्रकार की—पंचीकरण के वर्ण एवं धर्म से युक्त जीव हंस के आश्रयभूत पिंड का सद्विवेक द्वारा खंडन किया। इसलिये अज्ञान रूपी भ्रमर के पंख रूपी प्रपंच का लय हो गया। इस प्रकार भ्रमर (अज्ञान) का नाश होने के अनंतर मैंने महानुभावी शरणों के संग में रहकर निजस्वयंभू-परशिवतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

६६—लिंगवनु प्राणवनु ओंदुमाडि तोरिद गुरु विर्दनल्ला! लिंग विर्दनल्ला। इदक्के साक्षि, मुंदे जंगमविर्दनल्ला! ई त्रिविध दृष्टव कंडु बेरेव अज्ञानक्के नानु बेरगादेनु गुहेश्वरा।

वचन ६६—लिंग और प्राण इन दोनों के अविभक्त रूप का प्रदर्शक

गुरु है—लिंग है, इसका साक्षी 'जंगम' है। गुहेश्वर, तीनों को प्रत्यक्ष देखकर भी 'अन्य है'—इस प्रकार कहनेवालों के अज्ञान से मैं चकित हूँ।

अर्थ ६६—लिंग में प्राण गुणों का लय हो गया और लिंग गुण शेष रह गए। अर्थात् प्राण ने अपने मायिक गुणों का परित्याग कर लिंगभाव प्राप्त कर लिया। यही प्राणलिंग-संबंध है। इस प्रकार प्राणलिंग-संबंध का साक्षात्कार श्रीगुरु के उपदेश से प्राप्त इष्टलिंग के दर्शन तथा जंगम—(लिंग) के बोध से हो गया। इन (गुरु; लिंग और जंगम) से अतिरिक्त कोई अन्य पद नहीं है।

६७—कब्बिन बिल्लुमाडि, परिमळदल्लि अंबमाडि, निल्लोबल्लाळे। एन्न मनदल्लि एसेय बल्लेयल्ला गुहेश्वरनेंब लिंगव।

वचन ६७—हे शूर इक्षुका धनुष और परिमल का बाण बनाकर खड़े रहो! तुम, गुहेश्वर नामक लिंग को मेरे मन में छोड़ सकते हो।

अर्थ ६७—इस वचन का भाव यह है कि शरणरूपी सती में लिंग पति के प्रति रागातिरेक उत्पन्न हो गया है, फलतः वह संग के लिये नितांत व्याकुल है।

६८—कंगळेके नोड़बेड़वेंदरे माणवु। श्रोत्रंगळेके आलिसबेड वेंदडे माणवु। जिव्हे एके रुचिसबेड वेंदडे माणवु। नासिकवेके वासिसबेड वेंदडे माणवु। त्वक्केके सोंकबेडबेंदडे माणवु। ई भेदव नरिदु नुडियलु, समधातु वायित्तु। गुहेश्वर लिंगक्के ओलिद कारण अभिमान लज्जे बेसत्तु होयित्तु।

वचन ६८—देखने से मना करने पर भी नेत्र क्यों नहीं मान रहे हैं। सुनने से मना करने भी श्रोत्र क्यों नहीं मान रहे हैं। आस्वाद करने से मना करने पर भी जिह्वा क्यों नहीं मान रही है। गंध ग्रहण करने से मना करने पर भी घ्राण क्यों नहीं मान रहा है। स्पर्श करने से मना करने पर भी त्वक् क्यों नहीं मान रहा है। इस रहस्य को जानकर कहने पर (मैं) 'समधातु' बन गया। गुहेश्वर से प्रेम करने पर अभिमान और लज्जा निराश लौट गई।

अर्थ ६८—विषयोन्मुख होने के कारण पंचेद्रियाँ मना करने पर भी अपने अपने विषय नहीं छोड़तीं। इसलिये इनका त्याग करके लिंग का संग नहीं

करना चाहिए, प्रत्युत इनके सुख को लिंगार्पित करके सामरस्य कर लेना चाहिए। इसीसे देह और इंद्रियों का अभिमान समाप्त हो सकता है।

६६—बिसुजंते जवळि गंभ लेसायित्तु। मन लेसायित्तु। मेलु-वोदके मगुळे आ अंगके किच्चनिक्कि सुट्टु मनेयनिवु माडुवे। लिंग जंगमके हुट्टु गेट्टु बट्टबयलल्लि नानिद्देने गुहेश्वरा।

वचन ६६—धरन (और) खंभे की जोड़ी बढ़िया हो गई। घर सुदृढ़ बन गया, सुंदर आच्छादन भी हो गया। पुनः उस शरीर (घर) में अग्नि जलाकर लिंग और 'जंगम' के लिये गृह का विस्तार कर दिया। गुहेश्वर, मैं जन्मरहित होकर शून्य में रह गया हूँ।

अर्थ ६६—धरन=समस्त क्रियाएँ। खंभ=लिंग निष्ठा। आच्छादन= आचार। गृह=शरीर।

इस शरीर रूपी गृह में समस्त क्रियाएँ धरन हैं, लिंग निष्ठा स्तंभ है, और आचार भव्य छत है। इस प्रकार भक्त ने अपना शरीर लिंग के लिये सुंदर घर के रूप में निर्मित कर दिया। पुनः ज्ञानाग्नि से उन समस्त क्रियाओं का दहनकर सुज्ञान क्रिया के रूप में उनको परिणत कर दिया। उसी प्रकार उस लिंगनिष्ठा को ज्ञानाग्नि से जलाकर वह निर्भाव बन गया और आवरण के रूप में रहनेवाले आचार को भी ज्ञानाग्नि से जलाकर स्थान बना दिया। इस प्रकार सर्वाचार-संपद् से युक्त भक्त ने अपने शरीर रूपी घर को सुज्ञान गृह करके 'महालिंग' के वास योग्य बना दिया। फल-स्वरूप शरण (भक्त) के (मायिक) तनु, मन और प्राण ज्ञानाग्नि से दग्ध होकर भवरहित (शिवमय) बन गए और वह शरण सद्योमुक्त हो गया।

१००—तनु तरतरंबोगि; मनवु निम्मल्लि सिलुकित्तय्या। नोटवे प्राणवागि आप्यायन निम्मल्लि अरतुदय्या। सिलुकित्तु शून्य दोळगे। गुहेश्वर निराळवय्या।

वचन १००—स्वामिन्, शरीर क्रमशः अपने को भूल गया। मन तुम में मग्न हो गया। दृष्टि प्राण बन गई, प्राण तुष्टि रूप हो तुममें लीन हो गए और शून्य में मिल गए। गुहेश्वर निराविल है।

अर्थ १००—दृष्टि का प्राण बनना=इष्टलिंग को देखनेवाले नेत्र में

तन्मयता का आ जाना। प्राण तुष्टि रूप हो···लीन हो गए=द्वैतरूप में गोचर होनेवाला आनंद उसी लिंग में मिल गया। शून्य में मिलना=अंग के सुख का लिंग सुख बन जाना।

'महालिंग' के इष्टलिंग बनकर करस्थल में आ जाने से पूर्ण तुरीय अवस्था प्राप्त हो गई। फलस्वरूप मेरे शरीर की भावना (देहोऽहम्) लुप्त हो गई। जब उस भावना का लय हुआ तब मन 'महालिंग' के ध्यान में मग्न हो गया। इसीलिये उस लिंग के निरीक्षण करनेवाले नेत्रों में परवशता छा गई। इस प्रकार शरीर, मन, एवं भाव 'महालिंग' में मिल गए, इससे शरण (उनका) अविरल संगी बन गया—(उसने) शिवसामरस्य प्राप्त कर लिया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस अवस्था में कोई भी सुख मुझसे भिन्न रूप में विदित नहीं होता। इस प्रकार अंग के सुख का लय हो गया और वह लिंग सुख बन गया—एतदर्थ समस्त शरीर निराकार हो गया।

१०१—मन बसुरादरे कै बेसलायित्तु कंडे। कर्पूरद कंप किवि कुडियित्त कंडे। मुत्तिन डाळव मूगु नुंगित्त कंडे। कंगळु हसिदु वज्रव-नुंगित्त कंडे। ओंदु नीलदोळगे मूर लोकवडगित्त कंडे गुहेश्वरा।

वचन १०१—मन ने गर्भ धारण किया पर हस्त को प्रसव करते हुए मैंने देखा। कर्पूर-गंध का पान करते हुए कर्ण को देखा। मोती का लावण्य निगलती हुई नासिका को देखा। बुभुक्षा से वज्र को निगलते हुए नेत्रों को देखा। गुहेश्वर, एक ही नील (मणि) में लीन तीनों लोकों को मैंने देखा।

अर्थ १०१—मन का गर्भ=अंतरंग में शिवभाव (लिंग) का उदय होना। हस्त का प्रसव=महालिंग का इष्ट लिंग बनकर 'करस्थल' में आना। कर्पूर=स्वानुभाव (स्वानुभव)। गंध=सद्वासना (बोधामृत)। मौक्तिक=मुक्ति। लावण्य=प्रभा। नेत्र=सुज्ञान रूपी दृष्टि। बुभुक्षित होना=महाशिव तत्त्व के प्रति आकांक्षा। वज्र=महाधन वस्तु (परशिव)। नील (मणि)=माया।

काष्ठ में रहनेवाली अग्नि जिस प्रकार मंथन द्वारा बहिर्गत होकर प्रकाश-मान हो जाती है, उसी प्रकार 'शरण' के मनोगत 'महालिंग' का स्वरूप गुरु कारुण्य एवं महानुभाव के संयोग द्वारा बहिर्गत होकर 'इष्टलिंग' बन

जाता है और 'करस्थल' में आकर जगमगाने लगता है। शरण ने स्वानुभाव रूपी सद्वासना से युक्त बोधामृत कर्णद्वार पान (श्रवण) किया। (यहाँ कर्पूर से स्वानुभाव की उपमा इसलिये दी गई है कि जिस प्रकार कर्पूर सुगंध, सुरुचि, निर्मल, सुशैत्य एवं आत्महितता आदि गुणों से युक्त है उसी प्रकार स्वानुभाव भी निर्मल, सद्वासना, श्रोत्रों के लिये अमृतमय एवं परम शांति से युक्त है, अतः दोनों समान हैं)। सद्वासना रूपी नासिका स्वानुभाव रूपी सुगंध का ग्रहण करती है। इस (सद्वासना रूपी) नासिका ने मोक्षरूपी मोती की प्रभा को निगल लिया। अर्थात् सद्वासना से स्वानुभाव रूपी प्रकाश की प्राप्ति हो गई। इस स्थिति में सुज्ञान रूपी दृष्टि में उस महाघन (परशिव) वस्तु को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा हुई और फलस्वरूप उस (सुज्ञान) ने महाघन (शिवतत्व) रूपी वज्र का भक्षण कर लिया। अर्थात् सुज्ञान से शिवत्व का लाभ हुआ। शिवतत्त्व से वज्र की उपमा इसलिये दी गई है कि जिस प्रकार वज्र निर्मल प्रभा से युक्त, अभेद्य एवं उत्तम रत्न है उसी प्रकार शिवतत्त्व भी निर्मल प्रभा से युक्त, अभेद्य एवं अनर्घ्य है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि नीलमणि के समान कृष्ण वर्ण एवं तमोगुण से युक्त माया में तीनों लोक डूब गए हैं। इसलिये उनको स्वस्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो रहा है।

१०२—काल सडगर कैय्यलदे। कैय्य सडगर कंगळलदे। अदेनु कारण वेंदडे कंगळे कारणवागि ओंदु मातिनोळगे विचारवदे। कन्न-डियोळगे कायवदे। इदेनु कारण तिळियलरियरु हेळा गुहेश्वरा।

वचन १०२—पाद का सौंदर्य हस्त में है। हस्त का सौंदर्य नेत्र में है। क्योंकि नेत्र ही कारण है। एक वाक्य में ही विचार है। दर्पण में काय है। गुहेश्वर, बताओ (लोग) इसे क्यों नहीं समझ रहे हैं ?

अर्थ १०२—पाद=सदाचार। सौंदर्य=शिवलीला से सत्पथ में प्रवृत्त होना। हस्त का सौंदर्य='इष्टलिंग' का 'आचारलिंग' बन जाना (लिंगप्रवर्तना) नेत्र=शिवदृष्टि।

श्रीगुरु की कृपा से जिसने 'लिंग' को स्वायत्त (धारण) कर लिया है उस शरण के लिये सदाचार का सद्वर्तन पाद है और शिवलीला से सत्पथ गामी होना उस सदाचार रूपी पाद का सौंदर्य है। सदाचार सत्पथ के लिये 'इष्टलिंग' कर्तृस्थान है क्योंकि वही (इष्टलिंग) आचारलिंग बन जाता है।

इसी अभिप्राय से पाद का सौंदर्य हस्त में है ऐसा कहा। उस करस्थल लिंग के लिये निरीक्षण ही आश्रय है, क्योंकि मिलन के लिये निरीक्षण ही कारण होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने इस रहस्य को जान लिया और मैं स्वस्वरूप को प्राप्त हो गया हूँ। परंतु उस ज्ञान को यदि शब्द द्वारा व्यक्त करूँगा तो वह अपने आपको आलिंगन करने की भाँति 'एकवाक्य प्रतिष्ठा' कहलाएगा। इसी प्रसंग के लिये 'एक वाक्य में ही विचार है' कहा। दर्पण को देखकर यह समझ लेना सद्विवेक है कि 'मैं अपने को देख रहा हूँ, वास्तव में वह मुझसे अलग नहीं है'। परंतु जो इस विवेक को नहीं जानते वे सब अक्रमी (अज्ञानी) हैं।

१०३—अमृत सागर दोळगिर्दु, आकळ चिंते एके? मेरु मंदिर दोळगिर्दु जरग लोकद चिंते एके? श्रीगुरुविनोळगिर्दु तत्त्व विद्येय चिंते एके? प्रसाददोळगिर्दु मुक्तिय चिंते एके? करस्थल दोळगे, लिंगविर्द बळिक, मत्तिन्नाव चिंते एके हेळा गुहेश्वरा?

वचन १०३—अमृतसागर में रहकर गाय की चिंता क्यों। मेरुमंदिर में रहकर स्वर्गलोक की चिंता क्यों। श्रीगुरुतत्त्व में रहकर तत्त्वविद्या की चिंता क्यों। प्रसाद में रहकर मुक्ति की चिंता क्यों। कहो गुहेश्वर, करस्थल में 'लिंग' रहते हुए किसी अन्य वस्तु की चिंता क्यों।

अर्थ १०३—जैसे अमृतसागर में रहकर उस अमृत का ही पान करना चाहिए परंतु उसको न जानकर गाय की इच्छा करना अज्ञान है, एवं सुवर्ण-पर्वत पर रहकर सुवर्ण का उपयोग करना न जानकर यह कहना अज्ञान है कि सुवर्ण से युक्त धूलि को धोऊँगा और छानूँगा, उसी प्रकार वांछित फलप्रदायक 'महालिंग' के श्रीगुरु की कृपा से 'इष्टलिंग' बनकर हस्तामलकवत् होने के अनंतर उसी में समस्त वस्तुओं की प्राप्ति कर लेनी चाहिए। परंतु इस रहस्य को न जानकर अन्य वस्तु की चिंता करना अज्ञान है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मोक्ष इससे भिन्न नहीं है। अतः अन्य शिवतत्त्व एवं योगाभ्यास आदि की चिंता करना अज्ञान है तथा व्यर्थ ही पीड़ित होना है।

१०४—ईश्वरन नरिदेवेंदु तुडिदु बेसरवोदरएणगळेल्ल प्राणलिंग वेंबरय्या! मन घन वेंदरियदे मरुळु गोंडरु। ईश्वरन नरिदडे ता शिवनु। गुहेश्वर नेंबुदु बेरिल्ल।

वचन १०४—अपने को ईश्वरज्ञ कहकर भ्रष्ट हो गए हो। 'मन ही घन है, ऐसा न समझकर तुम पागल हो गए हो। जो ईश्वर को जानता है वह स्वयं शिव है। गुहेश्वर नामक वस्तु पृथक् नहीं है।

अर्थ १०४—जिसको शिवत्व का साक्षात्कार हो गया; उसको चाहिए कि वह शब्द द्वारा अपने को प्रकट न करे। यदि करता है तो द्वैती कहलाएगा। क्योंकि जाननेवाला अलग (भिन्न) और जानी हुई वस्तु भिन्न प्रतीत होती है अथच उच्चरित शब्द भी नष्ट हो जाता है। हाँ उस साक्षात्कार को शिव (लिंग) संबंध कह सकते हैं परंतु प्राणलिंग (लिंग के साथ प्राण का सामरस्य) नहीं कह सकते। जिसके मन में 'संशय का संबंध' नष्ट हो जाने पर 'महालिंग' का आवास हो जाता है और जिसके ध्यान का भी लय हो जाता है, उसको अनुभव करना चाहिए कि 'मैं ही शिव हूँ' (शिवोऽहम्)। प्रभुदेवजी कहते हैं कि सब लोग इस रीति को छोड़कर अन्यत्र शिव की खोजकर मूढ़ बन गए हैं।

१०५—कर्म नास्ति एंबे। अनास्ति एंबे ज्ञान कोब्बिन लुलिबे। उलिदंते नडेवे। संगड सहित करस्थलक्के वंदु नीनु बयलागे एन्ननु बयलु माडिदे गुहेश्वरा।

वचन १०५—मैं कर्म को नास्ति कहूँगा, और अनास्ति भी कहूँगा। ज्ञानमद में खेलूँगा जैसे बोलूँगा वैसे ही चलूँगा (व्यवहार करूँगा)। गुहेश्वर, संगसहित मेरे करस्थल में आकर शून्य हो गए हो और तुमने मुझको भी शून्य बना दिया है।

अर्थ १०५—मेरी क्रियमाण समस्त सत्क्रियाएँ नष्ट हो गई हैं। परंतु अद्वैत को जान लेने के पश्चात् भी मैंने दुर्विवेक द्वारा उन सत्क्रियाओं का परित्याग नहीं किया है। वे सत्क्रियाएँ लिंग की प्रभा में लीन होकर 'दग्ध पट' न्यायवत् शिवलिंगक्रिया बन गई हैं। इसी अभिप्राय से 'कर्म को नास्ति कहूँगा और अनास्ति भी कहूँगा, कहा। इस अद्वैत अवस्था में उस सुज्ञान क्रियावर्तन का उच्चारण (शब्द द्वारा व्यक्त करना) लीला विनोदमात्र है। अर्थात् जो कुछ कहना है अपने आपको कहना है और जो कुछ करना है अपने आपको करना है। इस प्रकार कहना और करना दोनों एक हो गए। फलस्वरूप मेरे (मुझ शरण के) सर्वांग में लिंग का सामरस्य हो गया—संपूर्ण शरीर शिवमय बन गया। इसलिए साकार रूप से करस्थल

में विराजमान होने पर भी मुझसे अतिरिक्त न होने के कारण (इष्टलिंग) निराकार है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'निर्वयल' (निराकार) समाधि उसी को साध्य हो सकती है जो शिवलिंग के साथ सामरस्य कर सकता है।

१०६—निच्चक्के निच्च ओत्तेय बेडिद्डे, अच्चुगवायित्तव्व नम्म नल्लंगे। किच्चने होत्तुकोंडु अर्चनेय नाडलु अच्चुगवायित्तव्वा नम्म नल्लंगे। अर्चनेय गळिहवनिळुहिद्रे बळिक निश्चिंतवायित्तु गुहेश्वरा।

वचन १०६—नित्य के लिये नित्य को ही न्यास (गिरवी) रूप में माँगने पर मेरे पति को अचरज हुआ। अग्नि को धारण कर अर्चना करने पर मेरे पति को अचरज हुआ। गुहेश्वर, अर्चना के भार (चिंता) को उतारने के अनंतर मैं निश्चिंत हो गया।

अर्थ १०६—अंग पर लिंग के धारण करने पर उसके स्वस्वरूप को जान लेना चाहिए तब 'प्राणलिंग' समझकर उसी की पूजा करना उचित है। परंतु इसके विपरीत (अनुभव के बिना) उपाधि द्वारा लिंग को पूजकर मुक्ति की कामना करना द्वैतज्ञान (अज्ञान) है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि औपधिक पूजा का परित्याग एवं सर्वांग में ज्ञानाग्नि का आवरण कर परमानंद लीला में लीन रहना ही शिव के लिये सुखदायक है, इस प्रकार वृत्तिज्ञान एवं क्रिया के भेद की निवृत्ति कर लेने के अनंतर मुझे निजत्व की प्राप्ति हो गई।

१०७—आसे एंब कूसनेत्तलु, रोषवेंब तायि मुंदे बंदिर्पळु नोडा। इंती एरडिल्लुद कूसनेत्त बल्लडे आतने लिंगैक्यनु गुहेश्वरा।

वचन १०७—देखो, आशा रूपी बालिका को गोद में लेने पर रोष रूपी माँ सामने आ जाती है। गुहेश्वर, इस द्वंद्वातीत बालिका को जो गोद में ले सकता है। उसी का लिंगैक्य होता है।

अर्थ १०७—आशा रूपी बालिका=शिवज्ञान (प्राप्ति) की अभिलाषा। रोष रूपी माँ=विरक्ति।

मन में जब तक शिवत्व प्राप्त करने की इच्छा है तब तक मैं 'उस लिंग से अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता हूँ' इस प्रकार का वैराग्य सामने आ जाता है। अतः 'जानने की अभिलाषा' और नहीं जानता हूँ इस प्रकार का वैराग्य इन दोनों का परित्याग करने पर स्वानुभाव का उदय हो

जाता है। उस स्वानुभाव को सर्वांग में जो व्याप्त कर देता है उसी का लिंगैक्य (शिव के साथ सामरस्य) होता है।

१०८—तायि वंजे यादल्लदे शिसु गतवागदु। वीज नष्ट वादल्लदे, ससि गत वागदु। नाम नष्ट वादल्लदे नेम नष्टवागदु। मोदलु गेट्टल्लदे लाभदाशे बिडदु। गुहेश्वरनेंव लिंगद निजव नेय्दुवडे पूजेय फल मादल्लदे भवं नास्ति यागदु।

वचन १०८—माँ के वंध्या हुए बिना पुत्र का अंत नहीं होता। बीज के नाश के बिना अंकुर का नाश नहीं होता। नाम के नाश के बिना नियम का लय नहीं होता। पहले हानि के बिना लाभ की आशा नहीं छूटेगी। गुहेश्वर के निजत्व का लाभ करने के लिए पहले पूजा-फल और भव का नाश करना चाहिए।

अर्थ १०८—जिस प्रकार माँ के वंध्या हो जाने से गर्भ का नाश हो जाता है, बीज का लय हो जाने पर वृक्ष का आविर्भाव नहीं होता, नाम के ही नष्ट हो जाने से नियम भी नहीं रहता और पहले ही द्रव्य का अभाव रहने से लाभ (वृद्धि) नहीं होता, उसी प्रकार शिवत्व का लाभ करना चाहे तो औपधिक पूजा और फल-पद की आकांक्षा के परित्यागपूर्वक भव का नाश करना चाहिए।

१०९—बेट्टक्के चळियादडे एन होद्दिसुवरय्या। बयलु बत्तले इद्दरे एन तुडिसुवरय्या। भक्तनु भवियादडे, अदेन नुपमिसुवेनय्या गुहेश्वरा।

वचन १०९—जब मेरु (पर्वत) को शीत लगेगा तो क्या ओढ़ाओगे। आकाश दिगंबर (नग्न) होगा तो क्या पहनाओगे। गुहेश्वर यदि भक्त 'भवि' बन जाएगा तो मैं उसका उपमान क्या दे सकूँगा।

अर्थ १०९—जिस प्रकार मेरुपर्वत के लिए आयोजित होने पर कोई आवरण नहीं प्रस्तुत हो सकता और जिस प्रकार निराकार दिगंबर आकाश का भी कोई आवरण नहीं हो सकता, उसी प्रकार लिंग की भक्ति करनेवाले भक्त की समस्त क्रियाओं के नष्ट हो जाने पर जब वह स्वयं 'शिव' बन जाता है तो उसके लिए किसी प्रकार के आचार का आवरण नहीं रह जाता।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसीलिए इस भवि (फलाकांक्षारहित होकर क्रियाचार करनेवाले) की उपमा किसी से नहीं दी जा सकती। वह उपमातीत है।

११०—सत्त बळिक मुक्तिय हडिदि हेनेंदु पूजि सहोदरे, आ देव-रेन कोडुवरो ? सायदे नोयदे स्वतंत्रनागि संदु भेद विल्लुदिर्प गुहेश्वरा निम्म शरण।

वचन ११०—मृत्यु के अनंतर मुक्ति की कामना से देव की पूजा करने पर वे देवता क्या दे सकते हैं। गुहेश्वर, तुम्हारा शरण (मैं) बिना मरे, बिना कष्ट झेले. स्वतंत्र बनकर अभेद्य हो गया है।

अर्थ ११०—इह लोक में जन्म लेकर भक्ति करने पर भी यदि कोई मरने के पश्चात् मुक्ति की प्राप्ति करना चाहता है तो उसके लिए मोक्ष असाध्य है। क्योंकि मरण ही जन्म का बीज है इसलिए जो मरता है वह जन्म भी लेता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस शरीर को त्यागने (मृत्यु) के पहले जो अपने को 'नित्य निरंजन परशिवस्वरूप' मानता है उसी को मोक्ष मिलता है—वही 'स्वतंत्र शिव' है। (शरीर के स्थितिकाल में ही शिवत्व का अनु-भव करना वास्तविक मोक्ष है)।

१११—नीरु नेळलने कडिदु मेरुवेंबुद नुंगि शारदे एंबवळ बाय कट्टि कारमेघद बेळस निरहरि नुंगलु, दारि मृत्युव नुंगि नगुत्तिर्दित्तु। नारिय बेन्न मेले गंड बंदु कुळ्ळिरलु नीर होळेयवरेल्लर कोडनोडेदवु। कारेयमुळ्ळेद्दु कलि गळनट्टि सदेवाग सोरु मुडियाके गोरवन नेरेदळु। बळ्ळु आनेय नुंगि ओळ्ळेय समुद्रव कुडिदु कुळ्ळिर्द शिसु हलबरनेय्दे नुंगि अत्ते अळियन कूडि कोडगव हडेदल्लि हत्तरिर्द हावडिगननदु नुंगित्तु। कप्पे सर्पन हिडिदु ओत्ति नुंगुवाग कप्पेय कोरळल्लि बिळिदु कॆंपडरलु निश्चित वायित्तु गुहेश्वरन शरणंगे कट्टिदिर कप्पुरद ज्योतियंते।

वचन १११—(मैंने) जल की छाया का छेदन कर लिया (और) मेरु के निगलनपूर्वक शारदा का मुख बंदकर दिया। (फलस्वरूप) (शुद्ध) प्रवाह ने नीलमेघ के फल का भक्षण कर लिया अतः मार्ग मृत्यु को निगीर्ण कर हँसने लगा। पत्नी की पीठ पर आकर पति के बैठ जाने से

जलाहरण करनेवालों के समस्त घट फूट (नष्ट) गए। झरवेर शूरों का पीछा कर जब अपने काँटों से उन्हें मार रहा था तब दीर्घ वेणी वाली (स्त्री) संन्यासी से आ मिली। शृगाल ने गज का भक्षण कर लिया और श्रेष्ठ समुद्र का पान कर स्वस्थ बैठे हुए शिशु ने अनेक (लोगों) को निगीर्ण कर लिया। सास ने दामाद के संग से एक मर्कट को जन्म दिया, वह मर्कट सँपेरे को निगल गया। मेढ़क ने सर्प को पकड़ लिया और बलपूर्वक उसका निगीर्ण करते समय उस (मेढ़क) की कंठस्थित धवलिमा अरुण हो गई। फलस्वरूप गुहेश्वर का 'शरण' अग्निगत कर्पूर की भाँति निश्चिंत बन गया।

अर्थ १११—जल=मन। छाया=विस्मरण। मेरु=अहंकार। शारदा का मुख=वाग्वृत्ति। नीलमेघ=मायिक शरीर (जैसे नीलमेघ अल्पकालिक है वैसे ही मायिक शरीर भी अल्पकालिक—अनित्य—है)। फल=शारीरिक गुणधर्म एवं कर्म। प्रवाह=शुद्ध आनंद रूपी जलप्रवाह। मार्ग=मोक्षमार्ग। पत्नी=शरण (भक्त) रूपी स्त्री। पीठ=सुज्ञान क्रिया। पति=लिंग (शिव)। जलाहरण करनेवाले=समस्त इंद्रियाँ। घट=इंद्रियों का व्यापार। झरवेर= विषय। शूर=देव, दानव, एवं यति। पीछा करना=विषय का साहचर्य होना। दीर्घ वेणी वाली (स्त्री)=चिच्छक्ति। संन्यासी=सुज्ञान लिंग। शृगाल= 'शिवोऽहम्' भाव। मत्तगज='अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्याकारक अहंकार। श्रेष्ठ समुद्र=भक्तिरसांबुधि। शिशु=शिष्य। अनेक (लोग)=मायिक वर्ण एवं धर्म। सास=पराशक्ति। दामाद=शरण। मर्कट=उन्मनी अवस्था। सँपेरा= जीव। मेढ़क=ब्रह्मरंध्र। सर्प=कुंडलिनी। धवलिमा=सात्विक एवं राजसगुण। अरुण होना=राजस और सत्विक का भी लय हो जाना।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि संसार के विषय रस, प्राणवायु के स्पंदन एवं चंचलता से युक्त मेरे मन रूपी जल में विस्मरण रूपी छाया छिप गई थी उसको मैंने काट दिया (विस्मरण का निवारण कर दिया)। मेरे शरीर में मूलाहंकार रूपी मेरुपर्वत का आवास था—उसने मेरे संपूर्ण शरीर का आच्छादन कर रखा था अर्थात् मैं उस अहंकार की वृत्ति के अधीन बन गया था। परंतु अब मैंने उसका निगरण कर लिया। (अहंकार नष्ट हो गया)। फलस्वरूप मेरी वाग्वृत्ति नष्ट हो गई अर्थात् 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्याकारक मूलाहंकार की वृत्ति का लय होने के पश्चात् वाग्वृत्ति अवरुद्ध हो गई। फलस्वरूप अभ्रच्छाया रूपी मेरे शरीर के मायिक गुणधर्म और कर्म को शुद्ध

आनंद रूपी जलप्रवाह ने निगीर्ण कर लिया (मायिक व्यापार नष्ट हो गए— और मेरे अंतरंग में शुद्ध आनंद व्याप्त हो गया)। इस प्रकार श्रीगुरु की कृपा के अभिवर्षण से वह काय सत्काय बन गया। उस शरीर के द्वारा आचरित क्रिया (मुमुक्षुमार्ग) ने शरीर की अनित्यता का नाश कर उसे नित्यकाय बना दिया। इस सुज्ञान को प्राप्त शरण रूपी पत्नी के सत्क्रिया नामक पूर्व भाग का त्याग कर लिंग रूपी पति उस (शरण) की ज्ञानाचार रूपी पीठ (उत्तर भाग) पर बैठ गया। अर्थात् शरण ने ज्ञानाचार करना प्रारंभ कर दिया फलस्वरूप उस पति रूपी लिंग के साथ शरण रूपी पत्नी का सामरस्य हो गया वह शिव बन गया। इसलिये उस (शरण) के मनोधर्म (संकल्प-विकल्प) रूपी पथ द्वारा जलाहरण करनेवाली स्त्रियों (गमनागमन करनेवाली समस्त इंद्रियों) के व्यापार रूपी घट का नाश हो गया (इंद्रियों के मायिक व्यापार का लय हो गया)।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिस समय विषयादि कंटकों से देव, दानव, यति और योगी आदिकों की बुद्धि विद्ध (भ्रष्ट) हो रही थी उस समय विषयासक्त न होने के कारण उस 'शरण' के अंतरंग की चिच्छक्ति ने अन्य संग का परित्याग कर सुज्ञानरूपी संन्यासी से आ मिली। अर्थात् चिच्छक्ति एवं ज्ञानशक्ति का सामरस्य हो गया। फलस्वरूप जिस प्रकार निर्जन स्थान में एकाकी बनकर श्रृगाल ध्वनि करता रहता है उसी प्रकार अंतरंग में 'शिवोऽहम्' रूपी श्रृगाल एकाकी बनकर ध्वनि करने लगा और उसने 'सोऽहम्' भावरूपी मत्तगज को निगीर्ण कर लिया ('शिवोऽहम्' भाव का उदय हो जाने से 'सोऽहम्' भाव का लय हो गया)। इस प्रकार जब शरण शिव बन गया तब वह वैसे ही भक्तिरसांबुधि में डूबकर विषय रूपी विष से मुक्त होने पर भी भृत्यभाव रूपी भय से ग्रस्त रहता है। जैसे जलसर्प जल में विषोपद्रव से मुक्त होने पर भी अन्य के भय से आशंकित रहता है। निष्कर्ष यह कि भक्त विषयवासना से मुक्त एवं सुज्ञान से युक्त (शिव) हो जाने पर भी गुरुवंदना और शुश्रूषा आदि भृत्यभाव से समन्वित रहता है। अतएव प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस भृत्यभाव में भवसागर छिपा हुआ है। इस प्रकार जब कर्मावशेष (शिष्य) रूपी शिशु ने अनेक वर्ण एवं धर्म को स्व में विलीन कर लिया तब पराशक्ति से उत्पन्न ज्ञानशक्ति के पति (शरण) ने (परशिवस्वरूप होने के कारण) पराशक्ति के साथ संग (सामरस्य) कर लिया। फलस्वरूप इन दोनों के सामरस्य से स्वभाव तत्त्व (उन्मनी) रूपी

कपि का उदय हुआ और उस (कपि उन्मनी) ने जीव रूपी उस सँपेरे को ग्रहण कर लिया। जिसने शंका रूपी विष से युक्त तथा पाँचफण वाली पंचेंद्रिय नामक सर्पणी को पकड़ रखा था। भाव यह है कि शरण ने जीव के जीवभाव को नष्ट कर जीवन्मुक्ति (शिवत्व) का लाभ कर लिया। इस प्रकार जीवन्मुक्त दिव्य शिवयोगी के सगुण ब्रह्म की मूलकुंडलिनी ब्रह्मरंध्र के परम शांति बिंदु में जब लीन हो गई तब सात्विक एवं राजस गुण का भी लय हो गया। फलस्वरूप समस्त अंतरंग एवं बहिरंग की व्याकुलताएँ लुप्त हो गईं और वह 'अग्नि कर्पूरवत्' निराविल एवं निश्चित बन गया।

११२—पृथ्वि कुळ मंटपद मेले पद शिले विगिदु, तळकंभ कळसद मेले केसरु गल्लु, ओंदु मठकोंबत्तु तुंबियोळाप वगेय वण्णद मेले हिरिदप्प संयोग, अंगजन पडे कोटि मुंडवेद्दु, कुणिवल्लि रण उंड भूमियनु मीरिद गुहेश्वरनु।

वचन ११२—(मैंने) पृथ्वी तत्त्व के मंडप (नींव) पर आधारशिला रखकर (उस पर) आधारस्तंभ खड़ा कर दिया। पुनः उस पर कलश रख दिया, फिर (उस पर) पाटन का पत्थर रखकर पाट दिया। उस नवनिर्मित मठ के नवद्वारों में 'परिपूर्ण' रूपी ध्वनि व्याप्त हो गई। उसकी प्रभा में महाघन वस्तु के साथ संयोग हो गया। अंगज की सेना के करोड़ों मुंड उठकर नृत्य करने लगे। गुहेश्वर, तुम्हारे शरण ने रण (भुक्त) भूमि पार कर ली।

अर्थ ११२—पृथ्वी तत्त्व का मंडप=पंचभूत संमिश्रित देह। आधारशिला=सुचित्। आधारस्तंभ=एकोऽहम् भाव। कलश=सुज्ञान। पाटन का पत्थर=ज्ञान विश्रांति नामक ज्ञेयस्थल। नवद्वार=नवनाड़ी (छिद्र)। अंगज=कामविकार। सेना=करण। मुंड=अहंकार से रहित इंद्रियाँ। नृत्य करना=शरण का (लीला मात्र) व्यवहार। रण (भुक्त) भूमि=मायाशरीर।

पृथ्वी आदि पंचभूतों के अंशों से सम्मिश्रित देह एक मंदिर के लिये नींव के समान है। उस शरीर रूपी नींव पर मैंने 'सुचित्' नामक शिला रखकर खंभे के लिये आधारस्थल प्रस्तुत किया। उस सुचित् से 'एकोऽहम्' भाव का उदय हुआ और वह आधारस्थल के ऊपर खंभे के समान हो गया। उस 'एकोऽहम्' भाव से सुज्ञान का उदय हो गया और वह उस खंभे के कलश (हस्तिशुंडाकार पत्थर=घुड़िया) के सदृश हुआ। उस सुज्ञान रूपी

कलश के ऊपर एक ज्ञेयस्थल है, जहाँ जीव विश्रांति पाता है। समस्त पदार्थों का आधारभूत होने के कारण उसे पाटन कहा गया। इस प्रकार एक दिव्य शिवयोगी के पिंडमंदिर में नवनाड़ी (छिद्र) रूपी नवद्वार हैं उन नव द्वारों में प्राणलिंग की प्रभा अर्थात् 'शिवोऽहम्' नामक ध्वनि पूर्णरूप से व्याप्त हो गई। इस प्रभा के आविर्भाव के पश्चात् महाघन तत्त्व से सामरस्य हो गया। इसलिए कामदेव की सेना रूपी समस्त इंद्रियों के अहंकार रूपी शिर कट गए और केवल मुंड उठकर नृत्य करने लगे। अर्थात् समस्त कारणों के अहंकार और ममकार नष्ट हो जाने से शरण की इंद्रियाँ 'दग्धपट न्यायवत्' लीलामात्र व्यवहार करने लगीं। अतः शरण ने रण (भुक्त) भूमि पार कर ली—देह भाव को नष्ट कर दिया (शिवत्व का लाभ कर लिया)।

———

(२) महेश्वरस्थल

सूत्र—इंतु भक्त स्थल दल्लि सदाचार संपत्तु विडिदु आचरिसि ऐक्यनाद सद्भक्तनु मुंदे महेश्वर स्थलदल्लि निष्ठामुखदिंद आचरिसि बेरिसुव भेदवेंतेंदोडे मुंदे महेश्वर स्थल वादुदु।

सद्भक्ति के द्वारा सदाचरण करने के पश्चात् जो गुरु और शास्त्र में निष्ठा रखकर आचरण करता है वह 'महेश' कहलाता है। इस 'स्थल' में उसी 'महेश' का निरूपण होने से इसका नाम 'महेश्वरस्थल' है।

१—आगम पुरुषरिरा, निम्म आगम मायवागि होयित्तल्ला! विद्या पुरुषरिरा, निम्म विद्ये अविद्येयागि होदल्लि बरुमुखरागिर्दि-रल्ला! वेद पुरुषरिरा, निम्म वेद होलबुदप्पि होदल्लि निम्म वेदवे दैववेंदु केट्टेरल्ला! पुराण पुरुषरिरा, निम्म पुराण विचार भ्रष्टागि होदल्लि नीवु ओडने भ्रष्टागि होदिरल्ला! शास्त्र पुरुषरिरा, निम्म शास्त्र महापदद होनलल्लि होदल्लि भक्त देहिक देवनेंदरियदे केट्टि-रल्ला! यत्रशिवस्तत्र महेश्वरनेंदु हेळित्तु मुन्न। अंतु भक्त नित्य सत्य सन्निहित गुहेश्वरा निम्म शरण।

वचन १—आगमपुरुषो, ओह! तुम्हारा आगम निःशेष हो गया। विद्यापुरुषो, ओह! तुम्हारी विद्या के अविद्या रूप में परिणत हो जाने से तुम रिक्तमुख हो गए। वेदपुरुषो, तुम्हारा वेद पथभ्रष्ट हो गया। अतः उसी को देव कहकर तुम भी नष्ट हो गए। पुराणपुरुषो, तुम्हारे पुराण विचारभ्रष्ट हो गए फलतः तुम भी भ्रष्ट हो गए। शास्त्रपुरुषो, तुम्हारे शास्त्र के महापद (महावाक्य) प्रवाह में बह जाने से 'भक्त दैहिक देव है' ऐसा न समझकर ओह! तुम भी नष्ट हो गए। 'यत्र शिवस्तत्र माहेश्वरः' यह श्रुतिवाक्य प्रमाण है। गुहेश्वर, तुम्हारा शरण भक्त नित्य, सत्य और परम संनिहित है।

अर्थ १—जब वेद, शास्त्र, पुराण, आगम आदि समस्त विद्याएँ 'शिव-स्वरूप' को नहीं जानती हैं तब उनका अध्ययन करनेवाले लोग, उस

शिवस्वरूप को कैसे जान सकेंगे। अर्थात् शास्त्रों का केवल अध्ययन करनेवाले शिवस्वरूप को नहीं जान सकते। सत्य एवं सदाचारयुक्त जिस 'महेश्वर' में शिव रहता है वही शिवस्वरूप को जान सकता है।

२—कल्लु होरिनोळगोंदु किच्चु हुट्टित्त कंडे। हुल्लु मेलेरळेय हुलिय सरसव कंडे। एल्लुरू सत्तु आडुत्तिपुंद कंडे। इन्नेल्लिय भक्ति हेळा गुहेश्वरा ?

वचन २—मैंने पाषाण के छिद्र में उत्पन्न अग्नि को देखा। तृणभक्षक और व्याघ्र के साथ खेलनेवाले मृग को मैंने देखा। मृत होकर खेलनेवाले सभी को मैंने देखा। गुहेश्वर, कहो अब भक्ति कहाँ है।

अर्थ २—पाषाण=पाषाण सदृश जड़ पिंड (शरीर)। अग्नि=अहंकार। तृण=संसार के विषयों में आसक्त जीव। व्याघ्र=कालरूपी व्याघ्र। मृत होना= जीवभाव की भ्रांति से युक्त होना।

पाषाण सदृश जड़पिंड में अहंकार नामक अग्नि उत्पन्न होकर बढ़ गई है। संसार के विषयसुख तृण एवं पत्ते के समान है। उनका भक्षण करनेवाला (संसार सुखभोग में लिप्त) जीव पशु के समान है। वह (जीवरूपी मृग) काल नामक व्याघ्र के साथ मैत्रीभाव से रहता है। अर्थात् उस काल के संग से मृत होने पर भी पुनः उसी का संग करता है। इस प्रकार समस्त जीव जीवभाव की भ्रांति से युक्त होकर व्यवहार करते हैं। अतः इन अज्ञानी संसारियों को भक्ति की प्राप्ति कैसे होगी।

३—कुरूपि सुरूपिय नेनेदडे सुरूपियप्पने ? आ सुरूपि कुरूपिय नेनेदडे कुरूपियप्पने ? धनवुळ्ळवर नेनेदरे दारिद्र्य होहुदे ? पुरातनर नेनेदु कृतार्थरादेवेंबरु। तम्मल्लि भक्ति निष्ठे इल्लदवर कंडडे मेच्चनु गुहेश्वरा।

वचन ३—कुरूपी सुरूपी का ध्यान करने से क्या सुरूपी होगा ? सुरूपी उस कुरूपी का ध्यान करने से क्या कुरूपी होगा ? धनी का ध्यान करने से क्या दरिद्रता मिट जायगी ? पुरातनों का स्मरण करके 'हम पवित्र हो गए हैं' ऐसा (कुछ लोग) कहते हैं। अपने में भक्ति और निष्ठा से रहित व्यक्तियों को देखने पर हमारा गुहेश्वर अनुग्रह नहीं करेगा।

अर्थ ३—जिस प्रकार कुरूपी सुरूपी का और सुरूपी कुरूपी का ध्यान करने से सुरूपी और कुरूपी नहीं होता तथा दरिद्र कुबेर का ध्यान करने से धनिक नहीं होता, उसी प्रकार केवल पुरातनों का ध्यान करके यदि कोई मुक्त होना चाहेगा तो कभी नहीं हो सकता। किंतु लिंगनिष्ठा से आचरण करके पुरातनों के श्रेष्ठमार्ग को देख और समझकर उसके अनुसार आचरण करनेवाला ही पुरातनों का स्मरण और कीर्तन करने से कृतार्थ हो सकता है।

४—कारण विल्ल कार्यविल्ल, एतक्के भक्तरादेवेंबिरो। अय्वर बाय एंजलनुंबिरि। अय्वर स्त्रीयर मुखवनरियिरि। मूरु संकोलेय दळेयलरियिरि। कायविडिदु लिंगव मुट्टिहेनेंब भ्रमेय नोडा गुहेश्वरा।

वचन ४—कारण नहीं, कार्य भी नहीं (फिर भी) क्यों कहते हो—हम भक्त बन गए हैं। पाँचों के मुख का उच्छिष्ट खाते हैं। पाँच नारियों के मुख को नहीं जानते। तीन श्रृंखलाओं को तोड़ना नहीं जानते। गुहेश्वर, शरीरधारण करने पर भी लिंग होने का अभिमान करनेवाले के भ्रम को देखो।

अर्थ ४—पाँचों का उच्छिष्ट=पंचेंद्रियों का सुख। पाँच नारियाँ=इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, मंत्रशक्ति, आदिशक्ति और पराशक्ति। तीन श्रृंखलाएँ= कांचन, कामिनी और भूमि।

जो स्वस्वरूप को जानता है वह भक्ति को भी जानता है और जो भक्ति करता है वह अवश्य स्वरूप को जानता है। परंतु जो स्वस्वरूप को नहीं जानता और संकल्प करता है कि 'मैं भक्ति करूँगा' उसका प्रयास निष्प्रयोजन है। अतः 'कार्य भी नहीं कारण नहीं' ऐसा कहा गया। पंचभूतों के लिये इंद्रियाँ मुख के समान हैं। अज्ञानी जीव उनका उच्छिष्ट रूपी संसारसुख का आस्वादन करते हैं। जो इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, मंत्रशक्ति, आदिशक्ति और पराशक्ति नामक पाँच स्त्रियों के स्वरूप को नहीं जानते एवं कांचन, कामिनी और भूमिरूपी श्रृंखला (बंधन) को तोड़ना नहीं जानते वे यदि शिवसाक्षात्कार करने का दंभ भरते हैं तो वह अज्ञानमात्र है। इसलिये प्रभुदेवजी कहते हैं कि शरीर के गुणधर्मों को ग्रहण कर लिंग का साक्षात्कार करना संभव नहीं।

५—उदयवायित्त कंडु उदरक्के कुदिवरय्या। कत्तलेयायित्त कंडु, मज्जनक्केरेवरय्या। लिंगक्के नेमविल्लु। इरुळिगोंदु नेम हगलिगोंदु नेम। लिंगक्के नेमविल्लु। काय ओंदेसे जीव ओंदेसे गुहेश्वरनेंब लिंग वु तानों दे से।

वचन ५—उदय को देखकर उदर की चिंता करते हैं। रात्रि को देखकर अभिषेक करते हैं। लिंग के लिये नियम नहीं है। रात्रि के लिये एक नियम और दिन के लिये एक नियम है किंतु लिंग के लिए कोई नियम नहीं है। काय एक ओर, जीव एक ओर गुहेश्वर नामक लिंग एक ओर।

अर्थ ५—इस वचन का भाव यह है कि सब लोग अपने पेट के लिये अहोरात्र चिंता करते हैं। लिंग की उपासना का समय न जानकर काल के विधि-नियम से अभिषेक एवं पूजा किया करते हैं। समय को देखकर पूजा करना समय का नियम कहलाता है, किंतु वह लिंग की पूजा नहीं हो सकती। क्योंकि लिंग की पूजा के लिये समय का नियम नहीं है। अतः काल के नियमानुसार पूजा करनेवालों के साथ लिंग का संबंध नहीं हो सकता।

√६—अग्गवणि, पत्रे, पुष्प, धूप, दीप, निवाळि यल्लि पूजिसि पूजिसि, बळलुत्तिद्दारे। एनेंदरियरु एंतेंदरियरु। जनमरुळो जात्रे मरुळो एंबंते एल्लरू पूजिसि, एनन् काणदे लयक्कोळगागि होदरु गुहेश्वरा।

वचन ६—जल, पत्र, पुष्प, धूप, दीप और नीराजना से पूजते-पूजते पीड़ित हो रहे हैं। ये लोग नहीं जानते कि यह क्या है और कैसा है। गड्डलिकाप्रवाह की भाँति गुहेश्वर, सब लोग समझ के बिना पूजकर रिक्त हाथ कालकवलित हो गए।

अर्थ ६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो लोग लिंग (शिव) के प्रति अटल श्रद्धा न रखकर (निष्ठारहित होकर) केवल बाह्य पूजा करने-वालों को देखकर लिंग की पूजा करते हैं फिर भी समझते हैं कि 'हम मुक्त हो गए' वे सब भ्रांत हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्वयं निष्ठावान् बनकर शिवपूजा करने पर शिवत्व का लाभ होगा।

७—मज्जनक्केरेदु, फलवबेडुवरय्या ! तमगेल्लियदो आफलवु सिताळक्कल्लदे ? पत्रे पुष्पदल्लि पूजिसि फलवबेडुवरु तेमगेल्लियदो आफलवु गिडुगळिगल्लदे ? सुयिधानवनर्पिसि, प्रसादद फलव बेडुवरु। तमगेल्लियदो आफलवु हदिनेंटु धान्यकलदे ? अंगदोड़वेय लिंगक्के कोट्टु, फलववेडुव सर्व अन्यायिगळ नेनेंबे गुहेश्वरा ?

वचन ७—देखो, अभिषेक करके फल माँगते हैं। वह फल जल के लिये है अपने लिए कहाँ ? उनको कैसे मिलेगा ? पत्र-पुष्पों से पूजकर फल माँगते हैं पर वह फल वृक्षा के लिए है, उनको कैसे मिलेगा ? तृप्ति का अर्पण करके प्रसाद का फल माँगते हैं पर वह फल अट्ठारह धान्य के लिये है उनको कैसे मिलेगा ? गुहेश्वर, अंग की वस्तु को लिंग के लिये देकर फल माँगनेवाले अन्यायियों को मैं क्या कहूँ ?

अर्थ ७—इस वचन का भाव यह है कि निष्ठा-भक्ति से लिंग में लोलुप न होकर केवल अष्टविधअर्चना की उपाधि से उस (शिव) की पूजा करने पर उसका फल अन्योन्य के लिये होता है अर्थात् जल से लिंग का अभिषेक करने पर उसका पुण्य (फल) जल के लिये है क्योंकि 'लिंग' की तुष्टि जल से हुई है अतः फल अर्चक को कैसे मिलेगा ? इसी प्रकार पत्र, पुष्प, फल आदि वस्तु का समर्पण कर देने से उसका फल वृक्षादि को मिलेगा और अष्टादश धान्य का भोग लगाएँगे तो उसका फल उन धान्यों को प्राप्त होगा अर्पण करनेवालों को नहीं। इसलिए प्रभुदेवजी कहते हैं कि उपाधि से रहित और निष्ठान्वित होकर पूजा करने से ही कोई मुक्त हो सकता है।

८—हाल नेमव हिडिदात बेक्कागि हुट्टुव। कडलेय नेमव हिडिदात कुदुरेयागि हुट्टुव। अग्गवणिय नेमव हिडिदात कप्पेयागि हुट्टुव। पुष्पद नेमव हिड़िदात तुंबियागि हुट्टुव। इवुषट्स्थलक्के होरगु। भक्ति, निष्ठे इल्लदवर कंडडे मेच्च गुहेश्वरा।

वचन ८—दूध का व्रत रखनेवाला बिड़ाल का जन्म लेगा। चने का व्रत रखनेवाला अश्व का जन्म लेगा। जल का व्रत रखनेवाला मेढक का जन्म लेगा। पुष्प का व्रत रखनेवाला भ्रमर का जन्म लेगा। ये सब नियम 'षट्स्थल' से बाह्य हैं। हमारा गुहेश्वर, भक्ति और निष्ठा से रहितों पर कृपा नहीं करेगा।

अर्थ ८—जो लोग 'लिंग' के लिये नियत निष्ठा, साग्रह व्रत का नियम करते हैं वे लोग 'लिंग' (शिव) के साथ सामरस्य कर सकते हैं। जो इसके विपरीत स्वेच्छा से नियम का पालन करते हैं वे 'लिंग' (शिव) के योग्य नहीं हैं।

९—अग्नि स्तंभद रक्षे दृदु, मने बेंबित्तय्या ! बलमुरिय शंखविद्दु पद होयित्तय्या ! एक मुखद रुद्राक्षि यिद्दु विघ्नवायित्तय्या ! इवेल्लव साधिसिदरे, एनूइल्लदंतायित्तु गुहेश्वरा।

वचन ९—भाई, अग्निस्तंभन विद्या के होने पर भी घर जल गया। दक्षिणावर्त-शंख रहने पर भी पदवी नष्ट हो गई। एकमुखी रुद्राक्ष रहने पर भी विघ्न आ गया। गुहेश्वर, इन सबको साधने पर भी कुछ नहीं रह गया।

अर्थ ९—इस वचन का भाव यह है कि 'लिंग' (शिव) में विश्वास रखकर निष्ठा से पूजा करने पर सब कुछ सिद्ध हो जाता है। उसके बिना सब कुछ साधने पर भी व्यर्थ हो जाता है।

१०—जातिगारन कालु मुळ्ळुतागि नोंदित्तेंबंते, सूनेगारन मनेयल्लि हेणहोगि अळुवंते, कन्नगळ्ळन मनेयल्लि बट्टलु होगि मरुगुवंते, ठकन पूजेगे मेच्चुवने नम्म गुहेश्वरनु ?

वचन १०—जिस प्रकार दांभिक कंटक के स्पर्शमात्र से दुःखानुभव का प्रदर्शन करता है, जिस प्रकार हत्यारा अपने गृह से निकाले जाते हुए शव के प्रति (मिथ्या) शोक प्रकट करता है, जिस प्रकार चोर बाह्य प्रदर्शन के लिये गृह से चुराई गई कटोरी के प्रति दुःख का भाव प्रकाशित करता है (ये सब असंगत प्रदर्शन हैं) उसी प्रकार प्रवंचक की पूजा से गुहेश्वर के प्रसाद का (असंगत कार्य-कारणभाव) संबंध है।

अर्थ १०—प्रवंचक की पूजा वैसी ही है जैसा कंटक के स्पर्शमात्र से ढोंगी का व्यथाप्रदर्शन। यह प्रदर्शन वैसा ही उपेक्षणीय है जैसा गृहहीन व्यक्ति का यह कहकर रोना कि मेरे गृह से वस्तु चोरी चली गई। इसी प्रकार निष्ठाहीन व्यक्ति का 'लिंग' के प्रति दीनभाव प्रदर्शन करना उपेक्षणीय है। उससे लिंग की कृपा नहीं होगी।

११—सासवेयष्टु सुखके सागरदष्टु दुःख मोड़ा ! गळिगेय बेटव

माडिहेनॆंब परिय नोडा । तन्ननिक्कि निधानव साधिसिहेनॆंद्डे, विन्नाण तप्पित्तु गुहेश्वरा ।

वचन ११—देखो, सर्षप-मात्र सुख के लिये सागर के समान दुःख है। देखो, क्षणिक इंद्रियों का सुखोपभोग करने की रीति । गुहेश्वर, स्व को देकर निधान की प्राप्ति करना चाहे तो सौंदर्य नष्ट हो जायगा ।

अर्थ ११—इस वचन का भाव यह है कि क्षणिक एवं क्षुद्र सासारिक सुख का लोलुप होकर जिसने अपने आप (स्व) को लयाधीन कर लिया, यदि वह व्यक्ति शिव का साक्षात्कार करना चाहे, तो सर्वथा असंभव है ।

१२—जवन कद्द कळ्ळनु, अगलि मिक्कु होद्रे, अगलक्के हब्बित्तु । अल्लल्लि नोड्लु शरण संगवनरसुवरेल्लु अल्लल्लिगे नोडिरे साधकरेल्लरु । साधिस होगि अभेद्यवनरियदे, केट्टरु गुहेश्वरा ।

वचन १२—यम की चोरी करनेवाला चोर जब अलग होकर चला गया तो यह समाचार सर्वत्र व्याप्त हो गया । सर्वत्र सब लोग 'शरण' का संग खोजते हैं । देखो, सर्वत्र साधक दृष्टिगोचर होते हैं । गुहेश्वर, साध्य की सिद्धि के लिये प्रस्थित होनेवाले लोग अभेद्य को न जानने से नष्ट हो गए ।

अर्थ १२—मृत्यु बाधा को पारकर लेने पर भी व्यक्ति जब तक शिव को अपने से भिन्न समझता है, द्वैत भाव रखता है और इस बात के प्रयत्न में रहता है कि मैं चरणों के संग से उस तत्त्व को समझ लूँगा तब तक उसका अंतरंग 'मैं कौन हूँ' इस भावना से भावित रहा करता है और इस पद्धति से वह साधक कभी भी साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता ।

१३—भव उळ्ळन्नकर यावत्ति माणदु, शरीर उळ्ळन्नकर अवस्थे माणदु, गुहेश्वरनॆंब नेनहुळ्ळन्नकर लिंगवॆंबुद बिड्लागदु ।

वचन १३—भव के अस्तित्व पर्यंत प्रयास नहीं छूटता शरीर के अस्तित्व पर्यंत अवस्था नहीं छूटती जब तक गुहेश्वर का ध्यान है तब तक लिंग का त्याग नहीं करना चाहिए ।

अर्थ १३—जिस प्रकार जब तक भव का अस्तित्व है तब तक प्रयत्न नहीं छूटता और जब तक शरीर है तब तक शरीर की अवस्था नहीं छूटती, उसी प्रकार जब तक गुहेश्वर का ध्यान बना है तब तक लिंग का त्याग नहीं करना चाहिए । यदि शरीर धारण करने के पश्चात् उद्भूत संसार के चिह्न (शारी-

रिक विकार) नष्ट नहीं होते, तो वैसा करने के लिये दृढ़ भाव से 'लिंग' में आस्था रखनी चाहिए। अर्थात् शिव (लिंग) के प्रति निष्ठा रखकर शिवार्पण भाव से काम करते रहने पर किसी प्रकार का बंधन नहीं रहेगा।

१४—मज्जनक्केरेवरेल्ल इद्दल्लि फलवेनु? मुद्रेधारिगळप्परय्या! लिंगदल्लि निष्ठेयिल्ल। जंगमदल्लि प्रेमिगळल्ल। वेषधारिगळप्परय्या! नोडि माडुव भक्त सज्जन सारायनल्ल। गुहेश्वर मेच्चनय्या!

वचन १४—भाई अभिषेक करनेवालों के रहने से क्या प्रयोजन? वे सब मुद्राधारी कहलाएँगे। लिंग के प्रति निष्ठा, जंगम के प्रति प्रेम नहीं है तो वे सब (साधक केवल) वेशधारी हैं। देखकर पूजनेवाला भक्त, मुक्त नहीं हो सकता। ऐसे लोगों पर गुहेश्वर की कृपा नहीं होती।

अर्थ १४—जिसमें लिंग के प्रति निष्ठा और 'जंगम' के प्रति प्रेम नहीं है वह वेशधारीभक्त (दांभिक) कहलाएगा। ऐसे व्यक्तियों का दिया अभिषेक एवं अर्चना लोकाचार हो सकती है, वास्तविक लिंगार्चना नहीं हो सकती।

१५—कोट्ट कुदुरेयनेरलरियदे, मत्तोंदु कुदुरेय बयसुवरु वीररू अल्ल, धीररू अल्ल। इदु कारणनेरेभूरु लोकवेल्लवु हल्लणव होत्तुकोंडु बळलुत्तिद्दारे। गुहेश्वरनेंब लिंगवनवरेत्तबल्लरु?

वचन १५—दिए हुए अश्व पर आरूढ़ न होकर अन्य अश्व की इच्छा करनेवाला न शूर है न धीर। इसीलिये देहरूपी भार ग्रहण कर तीनों लोक पीड़ित हो रहे हैं। वे लोग गुहेश्वर लिंग को कैसे जानेंगे।

अर्थ १५—श्रीगुरु ने अनुग्रह करके 'करस्थल' हथेली में लिंग दिया है। उसी का ध्यान करने पर वांछित फल की प्राप्ति हो जायगी। इसके विपरीत जो अन्य पथ का अवलंबन करता है, उसकी साधना लिंगनिष्ठा नहीं होगी। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो लोग 'करस्थल' के लिंग में अटल श्रद्धा न रखकर द्वैत बुद्धि से अन्यत्र 'लिंग' की खोज करते हैं वे सब देहरूपी भार का वहन (धारण) कर इतस्ततः (इह-पर में) संचरण करते हैं।

१६—जीवविल्लद हेणन हिडिदाडुवरय्या! प्रति इल्लद प्रतिगे प्रति माडुवरय्या! शिरविल्लद मुंडक्के सेसेयनिक्कुवरय्या गुहेश्वरा।

वचन १६—स्वामिन्, जीवरहित शव का वहन (ग्रहण) कर क्रीड़ा कर रहे हैं। देखो उपमारहित वस्त्र के लिये प्रतिमान देते हैं। देखो गुहेश्वर, ये लोग शिररहित शरीर (कबंध) पर अक्षत चढ़ाते हैं।

अर्थ १६—प्रतिमान=उपमा। शिररहित शरीर=ज्ञानशून्य व्यक्ति।

श्रीगुरु से प्राप्त 'लिंग' में संपूर्ण शिवकलाएँ रहती हैं। उसकी पूजा करने से सर्वार्थ की सिद्धि हो जाती है। स्वेच्छापूर्वक जो अन्य लिंग (स्थावर आदि) की जो शिवकला से विहीन है, पूजा करता है उसकी पूजा वैसी ही है जैसे शव के साथ आनंदपूर्वक व्यवहार। अर्थात् कलारहित लिंग की पूजा करने से कोई फल नहीं मिलता।

१७—आद्यरल्ल, वेद्यरल्ल, साध्यरल्लद, हिरियरु नोडा! तनु विकार, मन विकार, इन्द्रिय विकारद हिरियर नोडा। शिवचिंते, शिवज्ञानिगळकंडोडे, अलिवाडि नुडिवरु गुहेश्वरन नरियद कर्मिगळय्या।

वचन १७—न आद्य है न वेद्य, सब साध्यरहित वृद्धों को देखो। तनविकार, ममविकार और इंद्रियविकार के वृद्धों को देखो। गुहेश्वर को न जाननेवाले कर्मी, शिवचिंतामग्न एवं शिवज्ञानी को देखकर निंदा करते हैं देखो।

अर्थ १७—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसके पास स्वानुभूति एवं स्वतः सिद्धि नहीं है और जो स्वयं मनोविकार, तनविकार अथच इंद्रियविकारों से परिपूर्ण है जो केवल शास्त्राभ्यास के बलपर 'वाग्द्वैत' करते रहते हैं वे लोग महाज्ञानियों को देखकर उनके साथ तिरस्कार भाव से बात करते हैं और उनकी निंदा भी करते हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे निंदकों को कभी मुक्ति का लाभ नहीं होगा।

१८—अळवरियद भाषे, बहुकुळवादनुडि, इंतेरडर नुडि हुसियय्या। बहुभाषितरु सुभाषित वर्जितरु, शरणसति, लिंगपति एंबरु। हुसियय्या। इंतप्पवर कंडु नाचुवेनय्या गुहेश्वरा।

वचन १८—अनुभवरहित भाषा एवं नाना प्रकार की बातें ये दोनों मिथ्या है। सुभाषितरहित एवं बहुभाषी 'शरणसती लिंगपति' कहकर झूठ ही चिल्लाते हैं। गुहेश्वर, इन लोगों को देखकर मैं लज्जित हूँ।

अर्थ १८—इस वचन का भावार्थ यह है कि स्वयं आचरणविहीन होने पर भी दांभिकगण असाध्य भाषा का व्यवहार एवं दुराग्रहपूर्वक असाध्य नियमों का ग्रहण कर वाचाल बन जाते हैं, फिर भी चिल्लाते हैं कि 'शरण-सती है एवं लिंग पति'। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे दांभिकों के ऊपर गुहे-श्वर की कृपा नहीं हो सकती।

१६—अमरावतिय पट्टणदल्लि देवेन्द्रनाळुव नंदनवनवय्या! अत्तसारेले कामा मोहवे? निनगे लोकादि लोकवनेल्लुव मरुळु माडिदे कामा। गुहेश्वर लिंगवनरि। भो।

वचन १६—भाई, अमरावती नगरी में देवेंद्र से शासित नंदनवन है। हे मोहक काम, उधर ही चले जाओ तुमने लोकादि-लोकों को मोहित कर रखा है। अहो, तुम गुहेश्वर लिंग को जानो।

अर्थ १६—देव, दानव एवं मानन आदि समस्त लोग काम के जाल में फँस गए हैं। 'लिंगदेही' (शिव शरीरी) 'शरण' उस (लिंग) के प्रति निष्ठा एवं प्रेम रखता है अतएव वह उस (लिंग) के विरह में व्याकुल है। उसमें काम-विकार के लिए स्थान नहीं है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि हे मदन, इसलिये उस शरण के पास तुम्हारा कोई काम नहीं, तुम अन्यत्र चले जाओ।

२०—देश गुरियागि, लयवागि होद्वर कंडे। तमंध गुरियागि, लयवागि होद्वर कंडे। काम गुरियागि बेंदु होद्वर कंडे। नी गुरियागि होद्वर काणे गुहेश्वरा।

वचन २०—मैंने प्रपंच दिदृक्षा से लय को प्राप्त करनेवालों को देखा। तमसाच्छन्न होकर लय की ओर जानेवालों को देखा। काम के वशवर्ती होकर लयाधीन होनेवालों को देखा। परंतु गुहेश्वर, तुम्हारे अधीन होकर जानेवाले किसी को मैंने नहीं देखा।

अर्थ २०—इस वचन का भाव यह है कि देश भ्रमण करने (संसार को देखने) की इच्छा से इस संसार में आकर सब लोग कामदेव के बाण से विद्ध (विषयोन्मुख) हो गए हैं। फलस्वरूप नष्ट भी हो गए हैं—जन्म-मरण के बंधन में पड़कर लयाधीन हो गए हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जन्म-मरण को जीत लेने के अनंतर लिंग के लिए तन देकर उसी के साथ मिलने

(सामरस्य करने) वाला—शिवत्व का लाभ करनेवाला—कोई नहीं दिखाई देता। अथवा दिखाई भी पड़ता है, तो लाखों में कहीं कोई एक।

२१—आ मातु ई मातु हो मातेल्लवु नेरेदु होयितल्ला। भक्ति नीरल्लि नेरेदु जलव कूडि होयित्तल्ला। सावन्नक्कवसर उंटे गुहेश्वरा।

वचन २१—ओह, यह बात, वह बात, एवं हो बात (बे बात की बात) ये सब बातें नष्ट हो गईं। भक्ति मिट्टी में मिल गई। गुहेश्वर, क्या मृत्यु के बिना अवसर मिलेगा ?

अर्थ २१—इस वचन का भाव यह है कि जो व्यक्ति सत्यवान् नहीं है, जीवन पर्यंत मन चाहे (स्वेच्छापूर्वक) भाषण करता रहता है एवं अंत में मृत भी हो जाता है ऐसे व्यक्ति (जीव) के साथ लिंग का संबंध (सामरस्य) कभी नहीं हो सकता।

२२—अग्निगे तंपुंटे ? विषक्के रुचियुंटे हेळा ? कंगळिगे मरेयुंटे हेळालिंग वे ? दाळिकारंगे धर्मउंटे ? कंगळिगे करुळुंटे ? गुहेश्वरा निम्म शरणरु मूरुलोक वरियै निश्चटरय्या।

वचन २२—बताओ, क्या अग्नि में शैत्य है ? क्या विष में रुचिकरत्व है ? क्या नेत्र में अच्छादन है ? क्या लुटेरे के करुणा है ? क्या नेत्र में राग है ? गुहेश्वर, तीनों लोक जानता है कि तुम्हारा शरण निश्चित है।

अर्थ २२—इस वचन का भाव यह है कि लिंगधारी भक्त प्रम एवं निष्ठा से उसी लिंग (शिव) में लोलुप बन गया है—अत्यंत आसक्त हो गया है। फलस्वरूप उसके शरीर के गुण-धर्म लिंग के गुण-धर्म बन गए हैं। अतः उस (शरण) के किसी गुण एवं अवगुण को परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

२३—लिंग भक्तनेंदु जगवेल्ल सारुतिप्परु। लिंगभक्तन इंबावुदेंदरियरु। लिंगभक्त हम्मु बिम्मिनवने ? लिंगभक्त सीमेयादवने ? प्राणविल्लदरूपु, ओडलिल्लद जंगम, उळिद्वेल्ला शठे एंबनु गुहेश्वरा।

वचन २३—(दांभिक गण) संसार-भर में ढिंढोरा पीटते हैं कि हम शिवभक्त हैं, (पर) शिवभक्त का स्वरूप नहीं जानते। क्या शिवभक्त अहंकार-ममकार से युक्त होता है ? क्या शिव भक्त सीमावान् होता है ? (वह) प्राण-विहीन रूपवान् है, शरीर-रहित 'जंगम' है। गुहेश्वर, (इससे) विपरीत लोगों को मैं शठ समझूँगा।

अर्थ २३—जो लिंग (शिव) में निष्ठा रखकर उसी में तल्लीन हो गया है, उस व्यक्ति में अहंकार-ममकार एवं जाति, सूतक आदि विकार नहीं हैं। क्योंकि उस शरीर के प्राण-गुण नष्ट हो गए हैं। अतः शरण निरुपाधिक (शिव) होकर संचरण करता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को जानकर जो व्यवहार करता है वही लिंग-देही (शिवशरीरी) है इसके विपरीत व्यक्ति औपाधिक है।

२४—भक्त भक्तरेंबरु, पृथ्विय पूर्वाश्रयव कळेयलरियदन्नक्कर, अप्पुविन पूर्वाश्रयव कळेयलरियदन्नक्कर, तेजद पूर्वाश्रयव कळेयलरियदन्नक्कर, वायुविन पूर्वाश्रयव कळेयलरियदन्नक्कर, आकाशद पूर्वाश्रयव कळेयलरियदन्नक्कर, सोम सूर्यर पूर्वाश्रयव कळेयलरियदन्नक्कर, आत्मन पूर्वाश्रयव कळेयलरियदन्नक्कर भक्तनेंदु लिंगव पूजिसुववर कंडु, नानु बेरगादे गुहेश्वरा।

वचन २४—सब लोग अपने को भक्त, भक्त कहते हैं। (किंतु) पृथ्वी के पूर्वाश्रय को त्यागना नहीं जानते अप् के पूर्वाश्रय को त्यागना नहीं जानते, तेज के पूर्वाश्रय को त्यागना नहीं जानते वायु के पूर्वाश्रय को त्यागना नहीं जानते आकाश के पूर्वाश्रय को त्यागना नहीं जानते, सोम एवं सूर्य के पूर्वाश्रय को त्यागना नहीं जानते और आत्मा के पूर्वाश्रय को त्यागना नहीं जानते (अपने को) भक्त कहकर लिंग (शिव) की पूजा करते हैं। गुहेश्वर, इन लोगों को देखकर मुझे आश्चर्य होता है।

अर्थ २४—इस वचन का भाव यह है कि—पृथ्वी, अप् तेज, वायु आकाश, चंद्र, सूर्य और आत्मा नामक आठ मूर्ति के पूर्वाश्रय को दूर किए बिना लिंग (शिव) की पूजा करनेवाले केवल भौतिक पिंड हैं। अतः वे लोग लिंग (शिव) पथ के योग्य नहीं हैं।

२५—अन्यर जव सोंकदे, तन्नरजव बाधिसदे, रविय बेळस बळसदे, लिंगद बेळस तंदु, जंगमदल्लि सविसुत्तिर्प लिंगभक्त आ भक्तनल्लि गुहेश्वर लिंग विप्पनु।

वचन २५—अन्य रज का स्पर्श किए बिना, अपने रज को बाधा पहुँचाए बिना एवं रविफल का उपयोग किए बिना जो लिंग-फल 'जंगम' को

अर्पित करता है; वही लिंग (शिव) भक्त है। उसी भक्त में गुहेश्वर का आवास होता है।

अर्थ २५—जो अन्य पिंड की आशा एवं आकांक्षा न करके अपने पिंड का भी नाश नहीं करता तथा रोष आदि की आशा छोड़कर लिंग (शिव) से प्राप्त द्रव्य का संग्रह करके 'जंगम' को अर्पित करता है वही लिंग (शिव) भक्त है, उसी भक्त में निरंतर लिंग (शिव) का आवास होता है।

२६—त्रिविधद् नित्यव त्रिविधद् अनित्यव बल्लुवरारो ? त्रिविधक्के त्रिविधवनित्तु त्रिविध प्रसादव कोळबल्लुडे आतन त्रिविधनाथनेंबेनु। आतन वीरनेंबे, आतन धीरनेंबे, गुहेश्वर लिंगदल्लि आतनच्च प्रसादि एंबे।

वचन २६—त्रिविध नित्य एवं त्रिविध अनित्य को कौन जानता है ? त्रिविध को त्रिविध समिर्ष कर जो त्रिविध प्रसाद का ही ग्रहण करता है उसी को मैं त्रिविध-नाथ कहूँगा। गुहेश्वर उसी को मैं शूर एवं वीर कहूँगा। उसी को मैं 'अच्छ प्रसादी' कहूँगा।

अर्थ २६—त्रिविध नित्य=गुरु, लिंग एवं जंगम। त्रिविध अनित्य=स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर। त्रिविध प्रसाद=शुद्ध, सिद्ध, प्रसिद्ध नामक प्रसाद।

जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन त्रिविध शरीरों की अनित्यता का नाश कर उस कायलय में गुरु, लिंग और जंगम नामक त्रिविध नित्य की स्थापना-पूर्वक उस लिंगत्रय को तन, मन, धन यह त्रिविध अर्पित कर देता है वही लिंग का स्वामी बन जाता है अतः वही शूर, वीर एवं शुद्धप्रसादी है।

२७—प्रणव मंत्रव कर्णदल्लि हेळि, श्री गुरुशिष्यन अंगद मेले लिंग प्रतिष्ठेय माडिद बळिक, प्राणदल्लि लिंग विप्पुदेंब व्रतगेडिगळ मातकेळलागदु। ओळगिप्पने लिंगदेवनु ? मलमूत्रद हेसिकेय मांसद नडुवे अल्लि प्राणविप्पुदल्लदे लिंगविप्पुदे ? आप्राणन तंदु इष्टलिंग-दल्लिरिसि नेरेयबल्लुडे आतने प्राणलिंग संबंधि एंबे। अल्लदवर मेच्चुवने नम्म गुहेश्वर लिंगवु ?

वचन २७—कर्ण में प्रणव मंत्र कहकर श्रीगुरु के द्वारा शिष्य के अंग पर लिंग की प्रतिष्ठा हो जाने पर प्राण में लिंग का संबंध हो जाता है; ऐसा

कहनेवाले व्रतभ्रष्टों की बात नहीं सुननी चाहिए। क्या लिंगदेव भीतर हैं? क्या मल-मूत्र की उस दुर्गंध में लिंग (शिव) रहेगा? जो प्राण को लिंग में रखकर समरस कर सकता है उसी को मैं 'प्राणलिंग-संबंधी' कहूँगा। क्या इसके विपरीत व्यक्ति पर हमारे गुहेश्वर की कृपा होगी?

अर्थ २७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो व्यक्ति श्रीगुरु की कृपा प्राप्त कर अपने शरीर पर लिंग धारण कर लेता है, उस लिंग के साथ प्राण का सामरस्य कर लेता है उसी को 'प्राणलिंगी'—शिव के साथ प्राण का सामरस्य करनेवाला—कहना उचित है। इसके बिना केवल बाह्य लिंग धारण मात्र से 'मैंने लिंग के साथ प्राण का सामरस्य कर लिया है' ऐसा कहना उचित नहीं है।

२८—कायदोळगण जीवव मीरि होह कळ्ळन संग बेड। निम्म निम्म वस्तुव सुयिधानव माडिकोळ्ळि गुहेश्वरनेंब कळ्ळन कोंदरे अळुववरारु?

वचन २८—शरीर में रहनेवाले जीव का अतिक्रमण कर जानेवाले चोर का संग नहीं करना चाहिए। अपनी अपनी वस्तु की शांति (रक्षा) करो। गुहेश्वर नामक चोर का वध करने पर कौन रोएगा?

अर्थ २८—इस वचन का भाव यह है कि काय-भाव एवं जीवभाव से अतिरिक्त होकर रहनेवाले लिंग (शिव) के साथ सामरस्य करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए 'वह लिंग ही मैं हूँ' (शिवोऽहम्) समझने पर भूत, भविष्य आदि की कोई चिंता नहीं रहेगी।

२६—अक्कटा! जीवन त्रिविधवे मूरक्के मुट्टदे होदेयल्ला। बिंदु-विन कोड़न होत्तुकोंडु, अंदछंदगेट्टु आडुवरय्या! गुहेश्वर निराळवे अय्दरिंद केट्टित्तु मुरुलोक।

वचन २६—ऐ जीव के त्रिविध तू त्रिविध का स्पर्श किए बिना ही चला गया। स्वामिन् बिंदुघट धारण कर ये लोग विकृत हो स्वच्छंद क्रीड़ा कर रहे हैं। असंग गुहेश्वर, पाँचों से तीनों लोक भ्रष्ट हो गए।

अर्थ २६—जीव का त्रिविध=विश्व, तैजस, प्राज्ञ। त्रिविध=इष्ट, प्राण, भाव। बिंदु-घट=मांसपिंड।

इस वचन का तात्पर्य यह है विश्व तेजस एवं प्राज्ञ नामक जीवत्रय क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म कारण रूपी स्थान में, इष्ट प्राण और भाव नामक लिंग के साथ सामरस्य नहीं कर सका। फलस्वरूप मांसपिंड धारण कर स्वेच्छा-पूर्वक व्यवहार करते हुए संसार में संचार कर रहा है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि पंचभूतों से उत्पन्न पिंड और उनके गुणों से भ्रांत होकर तीनों लोक नष्ट हो रहे हैं।

३०—अष्टदळ कमलद मेलिप्प निःशून्यन मर्मवनरियदे, प्राण-लिंगवेंदेंबरु। संदेह शुद्धिय वंचकरु अंगदाप्ययनक्के लिंगवनरसुव भंडरनेनेंबे गुहेश्वरा ?

वचन ३०—संदेही एवं सिद्धिशून्य अष्टदलकमल के ऊर्ध्वगत निःशून्य का मर्म नहीं जानता। पर 'प्राणलिंग' 'प्राणलिंग' कहता है। गुहेश्वर, अंग की तुष्टि के लिये शिव की खोज करनेवाले इस निर्लज्ज को मैं क्या कहूँ।

अर्थ ३०—हृदयकमल में ही प्राणलिंग विराजमान है। उसको न जान कर द्वैतभाव से जो अन्य शिव की खोज करता है उससे 'प्राणलिंग' का संबंध नहीं हो सकता। प्रत्युत वह व्यर्थ ही परिश्रांत होता है।

३१—लिंगार्चने इल्लदमुन्न, सिंगियनारोगिसिदिरि। संजे समाधि-गळिल्लद मुन्न उंडिरि। चेन्नन मनेयल्लि चित्रगुप्त रिरियद मुन्न एत्ति-द्दिरि। कांचियपुरव बैचिट्टिरि। कैलासदल्लि निम्म चिक्कुदरदल्लि ईरेळु भुवन वेल्लवु निम्म रोम कूपदल्लड्गिदवु, प्राणापान, व्यानोदान, समान, रहित गुहेश्वरा।

वचन ३१—तुमने शिवार्चना के पूर्व विषपान कर लिया, रात्रि एवं समाधि के पूर्व भोजन कर लिया। सुंदर के घर में चित्रगुप्तों का प्रवेश हो जाने के पूर्व उसे उठा दिया। कांचीपुर को छिपा लिया। कैलास तुम्हारे उदर में है। चतुर्दश भुवन तुम्हारे रोमकूप में हैं। गुहेश्वर आप प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान रहित हैं।

अर्थ ३१—विषपान=प्रपंच का लय (मायिकगुणों का लय)। भोजन= आनंद। सुंदर का घर='शरण' का शरीर (शिवकाय)। उठा लेना=मृत्यु को जीत लेना।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिवपूजा आदि क्रिया का व्यवहार होने के पहले शरण (मैं) ने प्रपंच का लय कर लिया। फलस्वरूप काल कल्पित मंत्र-तंत्र

आदि विलीन हो गए। वह महा सुख-सागर में लीला-विलास कर रहा है—प्रपंच में रहने पर भी 'पद्मपत्रवत' उसके गुणधर्म से निर्लिप्त होकर व्यवहार करता है। बाह्याभ्यंतर के दोष से रहित एवं भक्तिभाव से भीतर शरीरधारी उस शरण के उदर में कैलास का आवास हो गया है। चतुर्दश भुवन उसके रोमरूप में छिप गए हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस स्थिति को प्राप्त 'शरण' ही वास्तव में प्राणवायु के विकार से रहित 'प्राणलिंग' का संबंधी है।

३२—कंगळालिय करिय नाळदल्लि ईरेळु भुवनंगळडगिदवु। नाटक नाटकव नटिसुत्त, आडिसुव सूत्रदपरि, गुहेश्वरलिंग निराळ चैतन्य।

वचन ३२—नेत्र-कनीनिका (पुतली) की नाड़ी में चतुर्दश भुवनों का लय हो गया है। निराविल चैतन्य गुहेश्वर नाना प्रकार के नाटक में शैलूष (नट) बनकर अभिनय करते हैं फिर भी उसकी रीति सूत्रधार की भाँति है।

अर्थ ३२—समस्त वस्तु को देखनेवाली दृष्टि की सूक्ष्म नाड़ी में जिस प्रकार रूप आदि चतुर्दश भुवन छिपे रहते हैं उसी प्रकार 'शरण' के अंतरंग में सर्वव्यापक शिव छिप गया है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस शरण की स्थिति नाटकीय पात्रवत् एवं सूत्रधारवत् हो गई है।

३३—मरनोळगण पत्र फलंगळु मरकाल वशदल्लि तोरुवंते, हरनोळगण प्रकृति स्वभावंगळु हरभावदिच्छेगे तोरुववु। लीलेयाद्डुमापति, लीले तप्पिदडे स्वयंभु गुहेश्वरा।

वचन ३३—जैसे वृक्षगत पत्र-पुष्पादि वृक्ष-स्थितिकाल में ही दृष्टिपथ में आते हैं वैसे ही शिवगत प्रकृति, स्वभाव आदि उसकी इच्छा समय में ही प्रकट होते हैं। लीला-काल में गुहेश्वर उमापति हैं लीला के अभाव में स्वयंभू।

अर्थ ३३—पत्र, पुष्प तथा फल जिस प्रकार वृक्ष के अस्तित्व-काल में ही प्रकट होते हैं उसी प्रकार शिवगत विश्व उसके इच्छा काल में प्रकट होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि सृष्टि के अस्तित्व-काल में शिव उमापति हैं लय काल में स्वयंभू हो जाते हैं।

३४—ओडिनलुंटे कन्नडिय नोट? मरुळिनकूट विपरीत चरित्र। नोटदसुख तागि कोटलेगोंडनु। गुहेश्वर लिंगवु ओब्बने अचळ, उळिदवरेल्लरू सूतकिगळु।

वचन ३४—खपड़े में क्या दर्पण का नैर्मल्य (बिंबग्राहित्व) है ? पागल के साथ संग ही विपरीत चरित्र है। दृष्टि-सुख के स्पर्श से पीड़ित हो गया। केवल गुहेश्वर लिंग शुद्ध है अन्य सब लोग सूतकी (अशुद्ध) हैं।

अर्थ ३४—इस वचन का भाव है कि अज्ञान में ज्ञान की सी प्रकाशन क्षमता नहीं है। उस अज्ञान का संसर्ग ही विपरीत भाव है। अतः प्रभुदेवजी कहते हैं कि उसके परित्यागपूर्वक सुज्ञान दृष्टि की प्राप्ति कर लेने से लिंग (शिव) के प्रति मेरा विरह-भाव बढ़ गया। उस विरहाधिक्य से तन्मय होने के कारण अब मैं किसी प्रकार के दोष से संस्पृष्ट नहीं हूँ।

३५—एसेयदिरु, एसेयदिरु कामा निन्नबाण। हुसियलेको ? काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इवु सालवे निनगे ? गुहेश्वर लिंगद विरहदल्लि बेंदवर मरळि सुडलुंटे मरुळ कामा ?

वचन ३५—हे मदन, अपने बाणों से मत मारो ! मत मारो ! चूकते क्यों हो। काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर क्या वे सब तुम्हारे लिये पर्याप्त नहीं हैं। गुहेश्वर लिंग के विरह में दग्ध शरण को क्या तुम पुनः जला सकते हो ?

अर्थ ३५—इसका अभिप्राय यह है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अंग विकारों को नष्ट करके जिसने शरीर को ज्ञानाग्नि में दग्ध कर लिया है—शिवकाय बना दिया है—उस शरण के (मेरे) लिये काम, क्रोध आदि की आशंका नहीं हो सकती।

३६—सति भक्तेयादोडे होलेगंजलागदु। पति भक्तनादडे कुलक्कंजलागदु। सति पति एंब अंग सुखहिंगि लिंगवे पतियाद बळिक, सतिगे पतियुंटे ? पतिगे सतियुंटे ? पालुंडु मेलुंबरे गुहेश्वरा ?

वचन ३६—पत्नी भक्तिमती हो गई है, तो रजस्वला होने से नहीं डरना चाहिए। पति भक्त बन गया है, जाति से भय ग्रस्त नहीं होना चाहिए। पति-पत्नी नामक (दांपत्य) अंग सुख नष्ट करके लिंग के पति बन जाने पर क्या पत्नी के लिये पति और पति के लिए पत्नी रह जाती है ? गुहेश्वर, क्या क्षीरपान के पश्चात् कोई पुनः भोजन करेगा ?

अर्थ ३६—शरीर के गुण-धर्म नष्ट होकर लिंग (शिव) के गुण-धर्म बन जाने पर उस शरीर का विकार नष्ट हो जाना चाहिए। प्राण वृत्तियाँ भी यदि बहिर्मुख भाव को त्याग कर लिंगोन्मुख हो जायँ, तो पूर्वावस्था की विकृतियों को विनष्ट हो जाना चाहिए। इस प्रकार जिसने रागप्रेरित जड़ोन्मुख प्राण एवं इंद्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को लिंगोन्मुख कर दिया है वही शरण है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार जिसने शरीर एवं प्राण के विकारों को दूर कर दिया है वही पत्नी है और लिंग उसका पति है इसके अतिरिक्त अन्य पति-पत्नी नहीं है।

३७—उरिगे उरियने तोरुवेनु। अमृतद कळेयल्लि निलिसुवेनु। नानु ब्रह्मस्थानदल्लि गुहेश्वर लिंग निरंतरवागि इर्दैनय्या।

वचन ३७—अग्नि को मैं अग्नि से ही प्रदर्शित करूँगा। अमृत की कला में खड़ा कर दूँगा। ब्रह्मरंध्र में गुहेश्वर लिंग बनकर निरंतर वास करूँगा।

अर्थ ३७—जब मैंने लिंगज्ञान के साथ भेदीय ज्ञान का संबंध स्थापित कर लिया तब मुझे परम सुखामृत की प्राप्ति हो गई। फलस्वरूप अब मैं गुहेश्वर लिंग बनकर ब्रह्मरंध्र में वास करूँगा।

३८—अद्भुतवेंब पिशाचि मूरुलोकवनवग्रहिसित्तय्या। आ अद्भुतदोळगोंदु ग्रह निरंतर नलिदाडुत्तिर्दित्तु। वज्रयोगि खग रंध्र तुरदल्लि गुहेश्वर लिंगवु ताने नोडा।

वचन ३८—अद्भुत रूपवाली पिशाचिनी ने त्रैलोक्य का अवग्रहण कर लिया है। देखो, उसमें एक ग्रह निरंतर क्रीड़ा कर रहा था। वज्र योगी, खगरंध्रपुर में स्वयं गुहेश्वर लिंग बन गया है।

अर्थ ३८—पिशाचिनी=माया। ग्रह=जीव। क्रीड़ा करना=स्वस्वरूप भूल कर मायिक व्यापार करना। वज्र=ज्ञानशक्ति। योगी=ज्ञानशक्ति के साथ सामरस्य करनेवाला। खगरंध्र=ब्रह्मरंध्र।

माया रूपी अद्भुत पिशाचिनी ने तीनों लोकों को आच्छादित कर लिया है। भ्रमवश उसमें एक जीव रूपी ग्रह भ्रमण कर रहा था। परंतु जब इस मायाधीनता का ज्ञान मुझे प्राप्त हो गया तब मैंने उस भ्रम (अज्ञान) का निवारण कर लिया और अभेद्य ज्ञानशक्ति का संग कर लिया (ज्ञानशक्ति स्वरूप बन गया) फलस्वरूप अब मैं ब्रह्मरंध्र में परम ज्ञान-लिंग बनकर वास कर रहा हूँ।

३९—अनल नरण्य दोळगे दल्लि मरदे डेयलारनु काणे, संग्राम धीररेल्लरु नेलेगेट्टरागि, मायामंजिन कोटेगे रंजनेय कोत्तळ, 'अंजनेय कट्टळे, गुहेश्वरन शरण ऐक्य स्थलव मेट्टलोडने सर्ववु साध्यवायित्तु।

वचन ३९—अरण्य में अग्नि उत्पन्न हो जाने पर वृक्ष के नीचे मैंने किसी को नहीं देखा। संग्राम के सब वीर स्थान भ्रष्ट हो गए। मायाहिम के दुर्ग की शोभा रूपी खाई एवं अंजन का बाँध सब के सब गुहेश्वर शरण के 'ऐक्य स्थल' में प्रवेश करते ही (उसके) अधीन बन गए।

अर्थ ३९—अरण्य=भवारण्य। अग्नि=तापत्रय। संग्राम के वीर=माया-सक्त होने पर भी अद्वैत-सिद्धि को लिये दंभ करनेवाला। 'ऐक्य स्थल'=पर-शिव के साथ सामरस्य।

संसार रूपी अरण्य में तापत्रय रूपी अग्नि के व्याप्त हो जाने से अद्वैत को प्राप्त करने का दंभ भरनेवाले शूरवीर (योगी एवं संन्यासी) मति भ्रष्ट हो गए। परंतु असाध्य को साधनेवाले एवं सामरस्य संपन्न 'शरण' को स्वभाव स्थल (उन्मनी) में प्रवेश करते ही समस्त वस्तु की सिद्धि प्राप्त हो गई।

४०—पंचेन्द्रिय सप्तधातुवनतिगळेदल्लि फलवेनो ? काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर विषयवनतिगळेदल्लि फलवेनो ? इवेल्लव कोंद पाप निम्मतागदु गुहेश्वरा।

वचन ४०—पंचेंद्रिय एवं सप्त धातुओं का परित्याग करने से क्या प्रयोजन ? काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर इत्यादि विषयों को त्याग देने से क्या प्रयोजन ? इन सब की हत्या का पाप तुम्हें नहीं लग सकता है।

अर्थ ४०—इस वचन का भाव यह है कि काम, क्रोध, आदि निसर्ग-जात ऐंद्रिय एवं मानस प्रवृत्तियाँ हैं, अतएव उनका परित्याग असंभव है इसलिये ऐंद्रिय एवं मानसिक विषयों का परित्याग का प्रयत्न छोड़ कर उन्हें लिंगोन्मुख कर देना चाहिए (जड़विमुख कर लिंगोन्मुख कर देना चाहिए) प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस रहस्य को जानकर शिव के साथ संबंध स्थापित करेगा उसको सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त होगी।

४१—लिंग ओळगो होरगो बल्लडे नीवु हेळिरे ? लिंग एडनो बलनो बल्लडे नीवु हेळिरे ? लिंग हिंदो मुंदो बल्लडे नीवु हेळिरे ?

लिंगस्थूलवो, सूक्ष्मवो बल्लडे नीवु हेळिरे ? लिंग प्राणवो, प्राणलिंगवो बल्लडे नीवु हेळिरे गुहेश्वरलिंगवनू ।

वचन ४१—गुहेश्वर लिंग बाहर है या भीतर, तुम जानते हो, तो बताओ। वाम (भाग) में है या दक्षिण में जानते हो तो बताओ ? पूर्व भाग में है या पश्चिम में जानते हो तो बताओ ? स्थूल है या सूक्ष्म जानते हो तो बताओ ? लिंग प्राण है या प्राण ही लिंग है जानते हो तो बताओ ?

अर्थ ४१—इस वचन का अभिप्राय यह है कि स्थूल, सूक्ष्म, अधः ऊर्ध्व अंतरंग एवं बहिरंग इत्यादि किसी वस्तु के साथ लिंग का संबंध नहीं है। इसलिये जो व्यक्ति इस विपरीत भाव का परित्याग कर देता है उसीके साथ लिंग का संबंध हो जाता है।

४२—तनु निम्म पूजिसुव कृपेगे संदुद ! मन निम्मनेनेव ध्यानक्के संदुदु । प्राण निम्म रतिसुखक्के संदुदु । इंतु तनु मन प्राण निमगे संदिप्प निस्संगियाद निश्चट लिंगैक्य काणा गुहेश्वरा ।

वचन ४२—शरीर तुम्हारी पूजा से प्राप्त कृपा के योग्य नहीं है, ध्यान तुम्हारे ध्यानयोग्य नहीं है। प्राण तुम्हारे रति सुख के योग्य नहीं है। गुहेश्वर, इस प्रकार तन मन एवं प्राण को तुम्हें अर्पित कर शरण (मैं) निःसंग एवं निश्चल बन गया है।

अर्थ ४२—जिसने आचार के साथ स्वशरीर का, ध्यान के साथ मन का शिवरति सुख में प्राणों का सामरस्य कर लिया है वही निश्चल और शिव के साथ तादात्म्यापन्न है।

४३—तनुविंगे तनुवागि, मनक्के मनवागि, जीवक्के जीववागि इर्दुदनारु बल्लरो ? अदुदूरेंदु, समीपवेंदु महांतगुहेश्वर नोळगेंदु होरगेंदु बरुसूरेवोदरु ।

वचन ४३—तन में तन मन में मन और जीव में जीव बनकर रहनेवाली वस्तु को कौन जान सकता है। 'वह दूर है, समीप है, महंत गुहेश्वर में है' इत्यादि कहकर सब लोग व्यर्थ ही लुट गए।

अर्थ ४३—वास्तविक शरण के साथ लिंग का सर्वात्मना संबंध (सामरस्य) इस प्रकार रहता है—उसके शरीर में शरीर के रूप में, मन में मन के रूप में

एवं प्राण में प्राण के रूप में लिंग (शिव) विद्यमान रहता है। परंतु इस रहस्य को न जानकर जो लिंग (शिव) को अंतरंग बहिरंग दूर और समीप इत्यादि कहते सुनते इधर उधर खोजते हैं उनको शिव सामरस्य की कभी प्राप्ति नहीं हो सकती। वे लोग अज्ञानी (द्वैती) हैं।

४४—खेचर पवनदंते जातियोगिय निलवु मातिनोळु धातु नुंगि उगुळूतुदिन्नें तो ? भूचक्रवळयव आचार्य रचिसिद ग्रामवेल्लव सुट्टु नेम नेलगत वायित्तु। नेमनामव नुंगिग्राम प्रभुवने नुंगि गुहेश्वर गुहेश्वर एनुत निर्वयलायित्तु।

वचन ४४—जाति योगी का स्वरूप खेचर पवन की भाँति है। उसने धातु एवं बात को निगीर्ण कर लिया है। अब कैसे बाहर करेगा। भूचक्र वलय एवं आचार्यरचित समस्त ग्राम का दहन कर नियम धराशायी हो गया है गुहेश्वर, गुहेश्वर कहते हुए नियम नाम ग्राम एवं प्रभु को निगल कर 'निर्वयल' (शून्य) बन गया है।

अर्थ ४४—जैसे वायु अंतरिक्ष में अदृश्य रूप से संचरण करती है, उसका स्वरूप दृष्टिगोचर भी नहीं होता उसी प्रकार वह शरण भी, जिसने नाम और रूप को निगीर्ण कर लिया है, शरीरी होते हुए भी दृष्टिपथ में अवतीर्ण नहीं होता। निगीर्ण नाम रूपों को अब वह पुनः बाहर नहीं निकालेगा। अर्थात् कुल-गोत्र जन्ममरण के बंधन में नहीं पड़ेगा। क्योंकि उस (शरण) की देह के चिह्न नष्ट हो गए हैं। गुरुकृपा से बनी हुई नाना क्रियाओं के नष्ट होने के फलस्वरूप 'नियम' (यह) संज्ञा भी नष्ट हो गई है। इस स्थिति में वह 'स्व' को तनुमुख (सृष्टिकर्ता) समझता है। इसीलिये उस शरण को 'स्वापन्न' (लिंगभावापन्न) कहना चाहिए।

---

(३) प्रसादीस्थल

'महेशस्थल' में 'नैष्ठिकी भक्ति' द्वारा आचरण कर सामरस्य प्राप्त 'शरण' जब 'सावधान भक्ति' द्वारा आचरण करता है तब उसका नाम 'प्रसादी' होता है।

१—बेडद मुन्न माडबल्लुडे भक्त। बेडुवने लिंग जंगम ? बेडुवव-रिगू, बेडिसि कोंबुवरिगेयू प्रसादविल्लु गुहेश्वरा।

वचन १—परकीय प्रेरणा से निरपेक्ष भक्ति करनेवाला ही भक्त है। क्या 'लिंग-जंगम' कामना करता है ? गुहेश्वर, प्रेरणापूर्वक अपनी उपासना करानेवाले एवं प्रेरित होकर उपासना करनेवाले दोनों (जंगम एवं भक्त) को प्रसाद नहीं मिलता है।

अर्थ १—जो उपस्थित 'जंगम' के स्वरूप को जानता है और निरुपाधिक भाव से उसको समस्त पदार्थ अर्पित कर देता है वही भक्त है। जो उस भक्त के अंतरंग को जानकर उसकी सेवा स्वीकार करता है वही 'जंगम है। इस नीति को न जानकर जो सकाम भक्ति करता है तथा जो काम्य भाव से सेवा स्वीकार करता है, वे दोनों न भक्त हैं न 'जंगम' प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन कामयुक्तों को 'प्रसाद' की प्राप्ति नहीं होगी।

२—लिंग जंगम ओंदे एंदु कंदोळगोंडिरल्ला ? मूरेडेयल्लि मुट्टित्तु। त्रिविधाचार, लिंग ओंदेडेयल्लि, जंगम, ओंदेडेयल्लि, प्रसाद ओंदे-डेयल्लि, इन्तु एल्लिय प्रसादवो गुहेश्वरा।

वचन २—ओह, लिंग, जंगम को एक कहकर आप लोग कलंकित हो गए। त्रिविधाचार तीन स्थलों में पहुँचता है। लिंग, 'जंगम एवं प्रसाद' तीनों तीन विभिन्न स्थलों पर हैं। गुहेश्वर, (जहाँ तीनों अभिन्न हों) ऐसा प्रसाद कहाँ है।

अर्थ २—इस वचन का भाव यह है कि 'लिंग' और 'जंगम' केवल इन दोनों को एक (अभिन्न) कहने से 'लिंग' 'जंगम', और 'प्रसाद' रूपी त्रिपुटी नष्ट हो जायगी। क्योंकि 'लिंग' 'जंगम' एवं प्रसाद एक ही हैं। इसलिये

प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे द्वैत बुद्धिवालों को प्रसाद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

३—हसिवायित्तेन्दु हसिदु मज्जनक्केरेवरय्या ? तृषेयायित्तेन्दु अर्पितव माडुवरय्या, इदेन्तु भक्तिय संबंध ? इदेन्तु शरण संबंध ? इदेन्तु लिंग संबंध ? कारणविल्लद भक्तियकंडडे होगनूकुवनु गुहेश्वरा।

वचन ३—(दांभिक) बुभुक्षावश त्वराशील होते हैं, और तृष्णातिरेक की शांति के लिये त्वराशील होकर 'लिंग' के लिये अभिषेक एवं अर्पण करते हैं। इस प्रकार भक्ति का निर्वाह कैसे होगा ? (दांभिकों की) ऐसी भक्ति को गुहेश्वर देखेगा तो घर से बाहर कर देगा।

अर्थ ३—लिंग की तृप्ति के लिये अर्पित न करके जो अपने शरीर की बुभुक्षा और पिपासा की शांति के लिये प्रसाद एवं पादोदक ग्रहण करता है फिर भी कहता है कि 'मैंने प्रसाद सेवन कर लिया' उसके लिये न लिंग है न 'जंगम' और न 'प्रसाद' ही। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस द्वैतभाव से व्यवहार करनेवाला 'लिंग' से बाहर है। अर्थात् उसको शिवत्व का लाभ नहीं हो सकता।

४—प्राणव मारुवंगे प्राणलिंगवेल्लियदो ? इष्टलिंग पूजकरेल्ल नेमव माडुवरु। सूनेगारंगे प्रसादवेल्लियदो ? गुहेश्वरा।

वचन ४—प्राणविक्रेता के पास प्राणलिंग कहाँ है ? सब इष्टलिंग के पूजक (हैं और) व्रत करते हैं। गुहेश्वर, इन मारकों को प्रसाद की प्राप्ति कैसे होगी ?

अर्थ ४—इस वचन का भाव यह है कि प्राण ही लिंग है और लिंग ही प्राण है। परंतु इस रहस्य को न जानकर जो अन्य लिंग की पूजा करते हैं, उन द्वैत बुद्धिवालों को प्रसाद का लाभ नहीं हो सकता।

५—ओळगे तोळेयलरियदे होरगे तोळेदु कुडिवुत्तिर्दरय्या ! पादोदक प्रसादव नरियदे बंद बट्टेयल्लि मुळुगुत्तिद्दारे गुहेश्वरा।

वचन ५—देखो, (अपने) अंतरंग के प्रक्षालन को न जानकर केवल बाह्य प्रक्षालनपूर्वक (लिंगोदक का) पान करते हैं। गुहेश्वर, 'पादोदक एवं प्रसाद को न जानकर सब लोग चलकर आए हुए (मायिक) मार्ग में मग्न हैं।

अर्थ ५—जो अपने अंतरंग के मलत्रय (आणव माया एवं कर्म) को दूर नहीं कर देता, और बहिरंग में लिंग का अभिषेक करके पादोदक एवं प्रसाद का सेवन करता है उसकी भवबाधा (जन्ममरण) कभी नष्ट न होगी।

६—तम्म तम्म मुखदल्लि लिंगवनोलिसिद्वरु, आराधिसिद्वरु बेडिदुद पडेद्वरुँएल्ल लिंगभोगोपभोगिगळागि भोगिसुवरल्ल। गंगे-वाळुकरेल्ल वरमुखिगळागि मूर्तियळिदु होद्रु गुहेश्वरा।

वचन ६—स्वेच्छानुसार 'लिंग' से वर प्राप्त करनेवाले, आराधना करने-वाले इच्छित वस्तु की सिद्धि करनेवाले ये सब लोग लिंग-भोगोपभोगी, बनकर भोग करनेवाले नहीं हैं। गुहेश्वर ये गंगा की सिकता के समान (हैं) और वरमुखी (वरप्रदाता) बनकर मूर्ति को नष्ट करके चले गए हैं।

अर्थ ६—रुद्र आदिक गणों ने ईश्वर को पूजकर यद्यपि इच्छित पद प्राप्त कर लिया है तथापि लिंग भोगोपभोग (शरीर के स्थितकाल में शिवत्व का लाभ) न करके सब लयाधीन बनाए हैं। इसलिये प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार लिंग भोगोपभोग करनेवाला लाखों में एक (अपूर्व है)।

७—बेळगिनोळगण रूप तिळिदु नोडिये कळेदु, हिडियदे हिडिदु-कोळबल्लनागि लिंगप्रसादि। जातिसूतकवळिदु शंके तलेदोरदे, निश्शंक-नागि आत समय प्रसादि। सकल भ्रमेयने जरिदु, गुहेश्वर लिंगदल्लि बसवण्णनोब्बने अच्च प्रसादि।

वचन ७—जो प्रकाशगत रूप को ज्ञानात्मिका दृष्टि से देखकर द्वैतबुद्धि से धारण किए बिना उसका ग्रहण कर सेवन (अनुभव) कर सकता है वही 'लिंगप्रसादी' है। जो जातिसूतक आशंका का परित्याग कर निःशंक बन जाता है वह 'समयप्रसादी' है। समस्त भ्रमों का परित्याग कर गुहेश्वर (लिंग) में मग्न एकमात्र 'बसव' शुद्धप्रसादी है।

अर्थ ७—इस वचन के द्वारा प्रभुदेवजी प्रसादी के त्रिविध 'लिंग-प्रसादी, 'समयप्रसादी' एव 'शुद्धप्रसादी' स्वरूव बता रहे हैं जो अपने सर्वांग में व्यापक रूप से प्रकाशमान 'लिंग' शिव का साक्षात्कार करता है (स्व को शिवरूप में अनुभव कर लेता है), उसको द्वैतभाव से धारण नहीं करता, (गुरुप्रदत्त 'इष्टलिंग' को स्वरूप से अतिरिक्त नहीं मानता) उक्त

लिंग के लिये समस्त पदार्थों का अर्पण करके स्वानुभूति प्राप्त करता है वह 'लिंगप्रसादी' है। जो लिंगधारियों के जात्यादि सूतक का विवरण पूछे बिना प्रसाद ग्रहण करता है वह 'समयप्रसादी' है। जो अंतरंग एवं बहिरंग के विकारों को नष्ट करके प्रसन्न प्रसाद ग्रहण करता है 'वह 'शुद्धप्रसादी' है।

८—तनुव तागद मुन्न, मनव तागद मुन्न, आप्यायन बंदु एडे-गाळ्ळद मुन्न, अर्पितव माडबेकु। गुरुविन कैयल्लि पळतटवागद मुन्न, अर्पितव माडबेकु। एडदकैयल्लि किच्चु बलद कैयल्लि हुल्लु, उरिहत्तित्तु गुहेश्वरा निम्म प्रसादिया।

वचन ८—शरीर से स्पर्श होने के पूर्व; मन से स्पर्श होने के पूर्व तथा तुष्टि की प्राप्ति के पूर्व (पदार्थ) अर्पित करना चाहिए। वाम हस्त में अग्नि दक्षिण हस्त में तृण है। गुहेश्वर तुम्हारे 'प्रसादी' में अग्नि व्याप्त हो गई।

अर्थ ८—स्वकीय शरीर एवं मन के स्पर्श होने से पहले 'लिंग' (शिव) के तन एवं मन से संबंध होकर जो पद अर्पित करता है वही 'प्रसादी' है। अर्थात् जो साधक अपने मन एवं शरीर से पदार्थों का स्वोद्देश्य ग्रहण नहीं करता, प्रत्युत 'लिंग' से अपने तादत्म्यापन्न करता हुआ लिंग के उद्देश्य से उनको ग्रहण करता है वही 'प्रसादी' है। ऐसे 'प्रसादी' के समर्पण करनेवाले हस्त के लिये कोई बंधन नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार अग्नि में तृण पड़ जाने पर वह दग्ध हो जाता है उसी प्रकार भगवदर्पित वस्तु भी भगवत्प्रसाद बन जाती है।

९—तन्न मुट्टि नीडिदुदे प्रसाद। तन्न मुट्टदे नीडिदुदे ओगर। लिंगक्के कोट्टु कोंडडे प्रसादि। इदुकारण इन्तप्प भृत्याचारिगल्लदे प्रसादविल्ल गुहेश्वरा।

वचन ९—स्व स्पर्शपूर्वक प्रदेय वस्तु प्रसाद है, स्व से, अस्पृष्ट पदार्थ का अर्पण अन्न है। जो लिंग को समर्पण कर अपने को अर्पित करता है वही 'प्रसादी' है। अतः गुहेश्वर, इस भृत्याचारी को भी प्रसाद मिलेगा अन्य लोगों को नहीं।

अर्थ ९—इस वचन का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति 'मैं लिंग के लिये हूँ' ऐसा समझकर पदार्थ स्वीकार करता है और उसे उससे जो सुख प्राप्त होता है वही प्रसाद है। जो स्व को भूल गया है (शिव के साथ जिसका

तादात्म्य हो गया है) उसके द्वारा स्वीकृत पदार्थ लिंग से बना हुआ अन्न है। पदार्थसमर्पण के इस रहस्य को जो जानता है वही लिंग 'प्रसादी' है।

१०—आधि इल्लदिद्दडे लिंग प्रसादि एंबे। व्याधि इल्लदिद्दडे-जंगम प्रसादि एंबे। लौकिकद सोंकल दिद्दडे समय प्रसादि एंबेनु। इन्तीप्रसाद संबंधियादातनच्च प्रसादिएंबेकाण गुहेश्वरा।

वचन १०—गुहेश्वर, जिसमें आधि नहीं है मैं उसे 'लिंगप्रसादी' कहूँगा। जिसमें व्याधि नहीं है उसे मैं 'जंगमप्रसादी' कहूँगा। जिसमें लौकिकता (भौतिकता) का स्पर्श नहीं है उसे मैं 'जंगमप्रसादी' कहूँगा। जिसमें उस त्रिविध (आधि, व्याधि एवं भौतिकता) का संबंध नहीं है उसे मैं 'शुद्धप्रसादी' कहूँगा।

अर्थ १०—इस वचन का भाव है कि जिसमें आधि, व्याधि, एवं भौतिकता इन त्रिविध सूतकों (दोषों) का स्पर्श नहीं है वे क्रमशः 'लिंगप्रसादी', 'जंगमप्रसादी' एवं 'समयप्रसादी' कहलाएँगे। जिसमें तीनों (आधि, व्याधि, भौतिकता) का अभाव है वह शुद्धप्रसादी है।

११—सर्व सुयिधानि एनिसिकोळबल्लडे, बंद काम क्रोधव लिंगार्पितव माडवेकु। अलगिन कोनेय मोनेय मेलण सिंहासन होरळि होगबारदु। शिवाचारद धारे मेरे मुट्टदमुन्न अर्पितव माड बल्लडे भिन्नभाववेल्लियदो गुहेश्वरा।

वचन ११—जो अपने को सर्वशांत प्रख्यापित करना चाहता है उसे चाहिए कि वह उद्रिक्त कामक्रोधआदिकों को लिंगार्पण (शिवार्पण) कर दे। असिधाराग्रस्थितसिंहासन को पुनः नहीं लौट जाना चाहिए। शिवाचार की धारा सीमोल्लंघन करने के पूर्व, जो अर्पित करना जानता है, गुहेश्वर, उसमें भिन्न (द्वैत) भाव कहाँ है ?

अर्थ ११—इस वचन का अभिप्राय यह है कि जो सर्वदा शांतिसागर में निमग्न हैं; यदि वे शरीर से उद्भूत गुण-धर्मों से अस्पृष्ट होकर पदार्थों का अर्पण कर सकते हैं उन्हीं को अभिन्नप्रसादी कहना उचित है। इसके विपरीत आचरण करनेवाला भव की बाधा से निवृत्त नहीं होगा।

१२—अच्चप्रसादि अच्चप्रसादि एंबिरि केळिरय्या। निच्चक्के निच्च हुसिव हुसिगळ कंडेवल्ला ? निम्मल्लि वायु बीसद मुन्न, आकाश

बलियद मुन्न लिंगक्के अर्पिसुव मुखव नरियरय्या भोजनव माडि भाजनवनिट्टु होह हिरियरिगे भंग नोडा गुहेश्वरा।

वचन १२—सुनो भाई, डिंडिम घोषपूर्वक अपने को शुद्धप्रसादी, 'शुद्ध-प्रसादी' के रूप में प्रख्यापित करनेवालों को हम देख रहे हैं अपने में वायु का संचरण होने के पूर्व, आकाश की वृद्धि होने के पूर्व (पदार्थों को) लिंगार्पित करने का रहस्य आप नहीं जानते। गुहेश्वर, बड़े बड़े लोग भोजन (भोग) कर भाजन (शरीर) छोड़कर चले जाते हैं, उनके लिये यह अत्यंत अपमान-जनक है।

अर्थ १२—इस वचन का भाव यह है कि जो लोग केवल मुखतः अपने को 'प्रसादी, प्रसादी' कहते हैं वे असत्यवादी हैं, क्योंकि वे स्वशरीर में वायवीय प्राण का संचार होने के पूर्व एवं आकाशीय भ्रम व्याप्त होने के पूर्व सर्वांग को लिंग पर (शिवार्पण) करके संपूर्ण शरीर को प्रसाद (नित्य) काय बनाना नहीं जानते। इसलिये प्रभुदेवजी कहते हैं कि उपर्युक्त रहस्य को न जानकर जो संपूर्ण शरीर को नित्य (शिवकाय) बना देता है वही 'शुद्धप्रसादी' है। इस रीति का परित्याग कर जो अपने को बड़ा ज्ञानी समझता है और अंत में शरीर यहीं छोड़कर चला जाता है उसकी भवबाधा नष्ट नहीं हो सकती।

१३—अनुभावदिंद हुट्टित्तु लिंग, अनुभावदिंद हुट्टित्तु जंगम अनुभावदिंद हुट्टित्तु प्रसाद, अनुभावदनुविनल्लि गुहेश्वरा निम्म शरण अनुपम सुखि।

वचन १३—अनुभाव से लिंग की उत्पत्ति हुई। अनुभाव से 'जंगम' की उत्पत्ति हुई, अनुभाव से ही 'प्रसाद' की उत्पत्ति हुई, गुहेश्वर, तुम्हारा शरण अनुभाव ज्ञान से ही अनुपम सुखी है।

अर्थ १३—इस वचन का भाव यह है कि अनुभाव (विवेक) से ही 'लिंग', 'जंगम' एवं प्रसाद की उत्पत्ति होती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस त्रिविध (लिंग, जंगम, प्रसाद) की प्राप्ति मुझे अनुभाव (विवेक) से हुई अतएव अब मैं अनुपम सुखी बन गया हूँ।

१४—मन बीसरवेंब गाळि बीसित्तु। विद्यामुखद ज्योति नंदित्तु कत्तले यल्लि गतिय काणदे दुम्मान नेलेगोंडित्तु नोडा। सुम्मान

होयित्तु। सकल कळाविद्या गुरुवल्लि नुतिताळवेंब गुह्यतागि, सुताळवेंब शरणनंगदल्लि बिद्दु गुरुविंगे प्रसादवायित्तु। शिष्यंगे ओगरवायित्तु नोडा। लौकिक नायक नरक अर्पित मुखवनरियदे अनर्पित मुखवायित्तु गुहेश्वरा।

वचन १४—मन रूपी वायु का प्रसार हो जाने से विद्यामुख की ज्योति बुझ गई थी अंधकार में गतिहीन (पथभ्रष्ट) हो जाने से अज्ञान व्याप्त हो गया था। फलस्वरूप सुज्ञान भी नष्ट हो गया था। (परंतु) गुरु शरणागति रूपी गुह्य का स्पर्श हो जाने से वह (अन्न) शिष्य के स्तोत्ररूपी अंग में पड़कर गुरु के लिये प्रसाद बन गया तथा उस (शिष्य) के लिये ओदन (अन्न)। अतः गुहेश्वर, लौकिक (दुःख) का एवं नायक नामक नरक आदि का भोग न करके मैं अनर्पित (अभोगी) बन गया।

अर्थ १४—इस वचन का भाव यह है कि मनोविकार रूपी वायु का प्रसार हो जाने से अंतरंग की ज्ञानज्योति शांत हो जाती है फलस्वरूप अज्ञान फैल जाता है इसलिये समस्त व्यापार अज्ञानमूलक चलने लगता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को जानकर मैंने अपने मन को शिव के साथ संबद्ध कर दिया फलस्वरूप ज्ञान गुरु के द्वारा समस्त कलाएँ उत्पन्न हो गईं और मैंने अपने गोप्यांग के साथ समरस कर लिया इसी कारण शिष्य (मेरे) द्वारा स्वीकृत सुख गुरु के लिये प्रसादमुख बन गया फलस्वरूप लौकिकता और अर्पित, अनर्पित ये सब नष्ट हो गए।

१५—पदवनर्पिस बहुदल्लदे पदार्थवनर्पिस बारदु। ओगरव नर्पिस बहुदल्लदे प्रसादवनर्पिस बारदु। गुहेश्वरा निम्म शरणरु हिंद नोडि मुंदनर्पिसुवरु।

वचन १५—पदवी का अर्पण कर सकते हैं न कि पदार्थ का। अन्न का अर्पण कर सकते हैं न कि प्रसाद का। गुहेश्वर, तुम्हारा शरण भूत को देखकर भविष्य का अर्पण करता है।

अर्थ १५—इस वचन का सार यह है कि कोई भी व्यक्ति लिंग के लिये प्राप्त पदार्थों के रूप का अर्पण कर सकता है परंतु उस रूपगत रुचि का अर्पण नहीं कर सकता प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को जानकर मैंने रूप और रस को समरस करके लिंग के अर्पित कर दिया।

१६—घनवप्प बोनवनु ओदनुविन परियाणदल्लि हिडिदु, गुरु-लिंगवारोगणेय माडि, मिक्कुद, प्रसाद ई तेरद घनवप्प लिंगवनु ओदनुविनल्लि तंदिरिसि, घनवप्प बोनवनु लिंगवारोगणेय माडि, मिक्कुद कोळबल्लडे प्रसादि। इन्तीतेरन बेसगोळबल्लडे एन्न बेस-गोळ्ळै गुहेश्वरा।

वचन १६—घनरूपी अन्न को रहस्यमय भाजन (पात्र) में रखकर गुरु एवं लिंग को अर्पित करने के पश्चात् जो अवशिष्ट रहता है वही प्रसाद है। इस प्रकार के घनतर लिंग को स्वाधीन करके तथाविध अवशिष्ट का जो सेवन करता है वही प्रसादी है।

अर्थ १६—इस वचन का भाव यह है कि परिपूर्ण 'प्रसादी' के परिपूर्ण अंगरूपी पात्र में परिपूर्ण अन्न का संग्रह हो जाने पर उसे परिपूर्णत्व प्राप्त हो जाता है। इस परिपूर्णत्व को 'गुरुप्रसाद' कहते हैं। इस गुरुप्रसाद का सेवन करनेवाले शरण के अंगरूपी भाजन में परिपूर्ण रुचि व्याप्त हो जाती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को वही जान सकता है जो उपर्युक्त विधि को जानता है।

---

(४) प्राणलिंगीस्थल

इंतु प्रसादि स्थलदल्लि सावधान मुखदिंदाचरसि, ऐक्यवाद प्रसादियु मुंदे अनुभाव मुंतागि, आचरसि, बेरसुव भेदवेंतिदुदेंदोडे, मुंदे प्राणलिंगि स्थल वादुदु ।

'प्रसादीस्थल' में यह रहस्य उद्घाटित किया गया है कि 'सावधान भक्ति' द्वारा सामरस्य की उपलब्धि होती है। संप्रति प्रस्तुत स्थल में 'अनुभव भक्ति' को कार्यान्वित करने से किस प्रकार सामरस्य की प्राप्ति होती है इस रहस्य का उद्घाटन किया जा रहा है।

१—कदळिय बनव होक्कु, होलबु तिळियदन्नक बयल गाळिय हिडिदु, गट्टिमाडदन्नक बरिदे बहुदे शिवज्ञान ? षड्वर्ण वळिय-दन्नक बरिदे बहुदे ? अष्ट मदवळियदन्नक मद मत्सरव माडलिल्ल, होदकुळिगोळलिल्ल गुहेश्वर लिंगवु कल्पितदोळगल्ल ।

वचन १—कदलीवन में प्रवेश करने पर मार्ग को समझे बिना वायु का ग्रहण कर उसे घन (ठोस) बनाए बिना क्या शिवज्ञान निःशुल्क मिलेगा। षड्वर्ण एवं अष्ट मदों का नाश किए बिना क्या शिवज्ञान निःशुल्क मिलेगा। (शरण ने) मदमत्सर नहीं दिखाया, (वह) दुःखाधीन नहीं हुआ। देखो, गुहेश्वर-लिंग कल्पित नहीं है।

अर्थ १—शरीर विकाररूपी कदलीवन में प्रविष्ट होकर जो उसके रहस्य को जानता है, जो प्राण, अपान आदि वायु के विकारों को और षड्वर्ण (क्षुत्, पिपासा, दुःख ? मोह जन्म एवं मरण) को नष्ट कर देता है तथा जो किसी प्रकार के (आंतरिक एवं बाह्य) विकारों से दुःखित नहीं होता एवं जो लिंग को ही प्राण समझकर इसी अटल ज्ञान से युक्त हो जाता है वही 'प्राणलिंगी' है।

२—शब्द, स्पर्श, रूपु, रस, गंध पंचेंद्रिय सप्तधातु अष्टमददिंद मुंदुगाणदवरु नीवु केळिरे, लिंगवार्तेय वचनद रचनेय माडुवरय्या,

संसारद मच्चु बिडदन्नकर सूक्ष्म शिवपदवु साध्यवागदु गुहेश्वर लिंगदल्लि वाक्कु पाकवादडेनो मनपाकवागदन्नकर ?

वचन २—अरे, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, पंचेंद्रिय, सप्तधातु, अष्टमदों से दिग्भ्रांत पुरुषो, सुनो। आपलोग लिंगवार्ता के वचनों की रचना करते हैं। संसार के व्यामोह का परित्याग किए बिना सूक्ष्म शिव पदवी की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुहेश्वरलिंग के विषय में मन का पाक हुए बिना वाक पाक होने से क्या प्रयोजन।

अर्थ २—लिंग के साथ जिनके प्राण का संबंध नहीं हुआ है यद्यपि वे शारीरिक नाना प्रकार के विकारों के मद में लिंग (शिव) की चर्चा के लिये वाग्जाल करते हैं परंतु ऐसा करना निष्प्रयोजन है। क्योंकि ऐसे अनुभवहीन व्यक्तियों की बातें वाग्विलास मात्र होती हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे अनुभवशून्य व्यक्ति इसीलिये गुहेश्वर को नहीं जान सकते।

३—मर्त्यलोकद मानवरु देगुलदोळगोंदु देवर माडिदडे आनु बेरगादेनय्या निच्चक्के निच्च अर्चनेय पूजनेय माडिसि भोगव माडुववर कंडु नानु बेरगादेनु गुहेश्वरा निम्म शरणरु हिंदे लिंगव निरिसि होदरु।

वचन ३—मर्त्यलोक के मनुष्य देवालय में (जब किसी) देवता का प्रतिष्ठापन करते हैं, (तब) उन्हें देखकर मुझे आश्चर्य होता है। नित्य के लिये नित्य (प्रतिदिन) पूजा कराकर भोगविलास करनेवालों को देखकर मुझे आश्चर्य होता है। गुहेश्वर, सब लोग लिंग को यहीं छोड़कर चले गए।

अर्थ ३—प्रभुदेवजी कहते हैं कि देह ही देवालय तथा प्राण ही लिंग है। तथापि यह रहस्य न जानकर लोग बाह्य मंदिर में लिंग की प्रतिष्ठा, पूजा आराधना आदि करते कराते हैं परंतु अंत में वे लोग मर जाते हैं और लिंग यहीं रह जाता है। अतः इन द्वैत बुद्धिवालों का 'प्राणलिंग' से सबंध नहीं हो सकता।

४—बरिय नच्चिन मच्चिन भक्तिय भक्तरु लिंगव मुट्टियू मुट्टद ओळ लोट्टेगळु नेरेदु गळहुतिप्परु तमतमगे अनुभावव नुडिवरु अनुभावदनुवरियदिद्दरे हिंदण अनुभाविगळु, गुहेश्वर लिंगद सुखव मुट्टिदल्लि मरळि भवकल्पित बेल्लियदू ?

वचन ४—कृत्रिम श्रद्धा भक्ति से समन्वित भक्त लिंग धारण करने पर भी 'लिंगविहीन के समान ही है। ये मिथ्यापिंडधारी परस्पर मिलकर शिवज्ञानी की निंदा करते हैं और अपने को अनुभावी (अनुभवी) बताते हैं। क्या पूर्व के अनुभावी अनुभाव नहीं जानते थे। गुहेश्वर लिंग का सुख प्राप्त होगा तो पुनः भव की प्राप्ति नहीं होगी।

अर्थ ४—स्वांतरंग में श्रद्धा, भक्ति एवं लिंग के प्रति निष्ठा के बिना केवल वचन की रचना करते हुए 'अनुभाव, अनुभाव' कहने से भव की प्राप्ति के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगेगा। अर्थात् वागद्वैत के बल पर 'लिंग' से संबंध (सामरस्य) नहीं हो सकता।

५—भावदलोब्ब देवर माडि मनदलोंदु भक्तियमाडि कायद कय्यलि कार्य उंटे ? वेंयके बळलुवरु नोडा ! एत्तनेरि एत्तनरसुवरु एत्त होदरै गुहेश्वरा।

वचन ५—भाव में एक लिंग बनाकर मन से एक प्रकार की भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। क्या कार्य काय के अधीन है। देखो, सब लोग ब्याज के लिये चिंतित हो रहे हैं। गुहेश्वर वृषभारूढ़ होने पर भी वृषभ की खोज करने-वाले कहाँ चले गए।

अर्थ ५—मनोमूर्ति ही लिंग है इस रूप में स्व को न समझकर जो द्वैत भाव से अन्य की कल्पना कर उसी को लिंग कहते हैं और किसी कामना से प्रेरित होकर उसकी आराधना करते तथा ऐसा करने को ही भक्ति समझते हैं उन सकाम भक्तों को लिंग का सामरस्य नहीं हो सकता।

६—होट्टेय मेले कट्टोगरद मोट्टेय कट्टिदरेनु ? हसिवु होहुदे ? अंगदमेले लिंगस्वायतवादरेनु ? इट्ट कल्लु मेळेय मेले सिकिद्डे, आ कल्लु लिंगवे ? आ मेळे भक्तने ? इट्टात गुरुवे ? इंतप्पवर कंडडे नानु नाचुवेनय्या ! गुहेश्वरा।

वचन ६—उदर पर मिष्टान्न की गठरी बाँधने से क्या बुभुक्षा शांत हो जायगी। अंग पर लिंग धारण करने से क्या प्रयोजन ? क्या टाँकी से निर्मित पत्थर लिंग है। क्या पाषाण संस्पृष्ट वह टाँकी भक्त है ? क्या उस टाँकी का पाषाणस्पर्श करानेवाला (शिल्पी) गुरु है ? गुहेश्वर, इन लोगों को देखकर मुझे लज्जा आती है।

अर्थ ६—शरीर पर लिंग धारण करने के पश्चात् अंगविकार एवं प्राण-विकार को नष्ट हो जाना चाहिए। जिस 'लिंग' के धारण करने पर भी अंग एवं प्राण के विकार नष्ट नहीं हुए तो वह 'लिंग' लिंग नहीं है और न तो उसको धारण करनेवाला भक्त ही है। ऐसे भक्त को जो उपदेश देता है वह गुरु भी नहीं है।

७—अस्तिगे चर्मवाधारवागि, प्राणक्के प्रसाद मुक्तियागि, प्राण-लिंगवल्लो प्राणलिंगवेंबुदु करकष्ट नोडा! प्राणलिंगवेंबुदु कर नाचिके नोडा! ओडेद मडकेगे वत्ति मरण मेत्तिदडे, अदु तरहरवहुदे गुहेश्वरा?

वचन ७—चर्म अस्थि के लिये आधार बन गयां, प्रसाद ही प्राण के लिये मुक्ति बन गया यह 'प्राणलिंग' नहीं है। देखो, 'प्राणलिंग' कष्टसाध्य है। देखो, 'पाणलिंग' कहना लज्जास्पद है। गुहेश्वर नष्ट (फूटे हुए) घट में बलात् मोम लगाने पर क्या वह ठीक हो जाएगा?

अर्थ ७—जिसका शरीर प्रसाद (शिवकाय) नहीं बना है जिसके प्राण के साथ लिंग का संबंध (सामरस्य) नहीं हुआ है वह जीवनार्थ प्रसाद का सेवन कर यदि अपने को मुक्त समझता है तो वह 'प्राणलिंग' संबंध की रीति से दूर हैं। उसका कार्य वैसा ही हास्यास्पद है जैसा फूटे घट में मोम लगाकर उसको सुदृढ़ बनानेवाले का प्रयत्न।

८—इष्टलिंगवनु प्राणलिंगवेंब कष्टवेल्लियदो? इष्टलिंग होदडे, प्राणलिंग होगदु नोडा इष्टलिंग प्राणलिंगवेंब भेदवनु गुहेश्वरा निम्न शरण बल्ल।

वचन ८—'इष्टलिंग' को 'प्राणलिंग' कहना कष्ट की बात है। देखो, 'इष्टलिंग' की प्रच्युति होने पर भी 'प्राणलिंग' नहीं जाता है। गुहेश्वर, 'इष्टलिंग, ही, 'प्राणलिंग' है इस रहस्य को तुम्हारा 'शरण' ही जानता है।

अर्थ ८—इस वचन का अभिप्राय यह है कि 'करस्थल' के लिंग' (इष्ट-लिंग) से मन का संबंध स्थापित कर प्राण का भी सामरस्य करके उससे प्राप्त आनंद का अनुभव करना 'प्राणलिंग' संबंध है। इसे न जानकर केवल वाणी मात्र से शरीर पर धारण किए हुए लिंग (इष्टलिंग) को जो 'प्राणलिंग'

यह क्या है। अनागत की यह पूजा कैसी गुहेश्वर, देह ही पीठ (आसन) एवं जीव ही प्राण है।

अर्थ ११—'लिंग' समझकर यदि कोई किसी की पूजा करता है तो लिंग ही अंग एवं प्राण ही लिंग बन जाना चाहिए। जिसने अंग एवं प्राण को लिंग बनाया है वास्तव में वही 'प्राणलिंगी' है।

१२—अरिदरिवु बरुदोरेवोयित्तु, कुरुह तोरिद्डेंतु नंबरु, नेर-हिल्लद घनव नेनेदु, गुरुशरणेंबुदल्लदे, मरहु बंदिहुदेंदु गुरु कुरुह कैयल्लि तोरिद, अरिय बल्लडे गुहेश्वर लिंगवु हृदयदल्लिहाने।

वचन १२—ज्ञातज्ञान मिट्टी में मिल गया सिद्धि दिखाने पर भी (लोग) विश्वास नहीं करते हैं। भेदरहित घनवस्तु का ध्यान कर गुरु की शरण में जाना चाहिए। 'विस्मरण प्राप्त हुआ है' ऐसा समझकर गुरु ने 'करस्थल' पर चिह्न दिखाया है। जान सके तो 'गुहेश्वरलिंग' हृदय कमल में ही है।

अर्थ १२—जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वरूपबोध के लिये दर्पण की सहायता लेता है, उसी प्रकार मनोमध्यगत 'महालिंग' (स्वस्वरूप) का साक्षात्कार करने के लिये श्रीगुरु ने 'करस्थल' में लिंग (इष्ट 'लिंग') दिया है। इसलिये यह (इष्टलिंग) स्वस्वरूप से अतिरिक्त नहीं है। अतः प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस रहस्य को जानता है वास्तव में उसके मन में ही शिव (लिंग) है। बाहर शिव (लिंग) नामक वस्तु नहीं है।

१३—संबंध असंबंधवेंदु हेसरिट्टुकोंडु नुडिविरि, संबंधवावुदु, असंबंधवावुदु, बल्लडे नीवु हेळिरे काय संबंध जीव संबंध प्राणसंबंध इंती त्रिविध संबंधवनरिद्डे आतने संबंधि काणा गुहेश्वरा।

वचन १३—(आपलोग) संबंध, असंबंध इत्यादि संज्ञाओं का व्यवहार करते हैं। संबंध असंबंध को जानते हैं तो बताइए। गुहेश्वर, कायसंबंध, जीवसंबंध एवं प्राणसंबंध इस त्रिविध संबंध को जो जानता है वही संबंधी है।

अर्थ १३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि काय में जीव का तिरोधान है और जीव में प्राण का तिरोधान। यही लिंगसंबंध है। काय, जीव तथा प्राण इन त्रिविध दोषों का निवारण कर जो 'लिंग' को प्राणमय समझता है वही प्राणलिंग-संबंधी है।

१४—भानु शशि कळेगुंदि, प्राणोपान व्यानोदान समानवेंब वायु-वनरियवो, आदि प्रणमवनरि दिहेनेंबवंगे बयलु, आकाशदोळगोंदु रसद् बावि मुन्नादवरेल्लवरोंदेनबेड गुहेश्वरलिंगवु ताने कंडेलवो ।

वचन १४—भानु तथा शशि कलाविहीन होकर प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान वायु को नहीं जानते 'हम आदि प्रणव को जानते हैं' ऐसा कहनेवालों को शून्य ही मिलेगा आकाश में रस का एक कूप है। सब पूर्वजों को एक ही प्रकार नहीं समझना चाहिए। (सर्वत्र) आप गुहेश्वर ही हैं ।

अर्थ १४—भानु=इड़ा। शशि=पिंगला। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मेरी इड़ा एवं पिंगला नाड़ी में चलनेवाले स्वर का और पंचप्राण (प्राण, अपान, ध्यान, समान, उदान) का नष्ट हो गया। फलस्वरूप 'प्राण ही लिंग बन गया' वही आदि प्रणव है। वह आत्मतत्त्व में परमामृत के रूप में विद्यमान रहता है। उसे आपलोग नहीं समझ सके। जो इस रहस्य को जानता है वही 'प्राणलिंगी' है।

१५—गुद्स्थानदल्लि आधारचक्र, पृथ्वि एंब महाभूत, चतुःकोणे, चवुदळ पद्म, अल्लिह अक्षर नाल्कु, व, श, ष, स, अदर वर्ण सुवर्ण, अदक्के अधिदेवते दाक्षायणि, लिंगस्थानदल्लि स्वादिष्ठानचक्र, अप्पुवेंब महाभूत, धनुर्गति, षड्दळपद्म अल्लिह अक्षरवारु ब, भ, म, य, र, ल, अदर वर्ण पच्चेय वर्ण अदक्के अधिदेवते ब्रह्मनु, नाभिस्थानदल्लि मणिपूरकवेंब चक्र, तेजवेंब महाभूत, त्रिकोणे, दशदळ पद्म, अल्लिह अक्षर हत्तु, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, अदर वर्ण कृष्णवर्ण, अदक्कधिदेवते विष्णु,हृदयस्थानदल्लि अनाहत चक्र, वायुवेंब महाभूत, षट्कोणे, द्वादशदळ पद्म, अल्लिह अक्षर हन्नेरडु, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, अदर वर्ण कुंकुम वर्ण, अदक्कधिदेवते महेश्वरनु, कंठस्थानदल्लि विशुद्धि चक्र, आकाशवेंब महाभूत, वर्तुळाकार, षोडश दळ पद्म अल्लिह अक्षर हदिनारु, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ,

अं, अः, अदर वर्ण श्वेत वर्ण, अदकधिदेवते सदाशिवनु, भ्रू मध्य-स्थानदल्लि आज्ञाचक्र, मनवेंब महाभूत, तमंधाकार, द्विदळ पद्म, अल्लिह अक्षरवेरडु, हं, क्षं, अदरवर्ण माणिक्य वर्ण, अदकधिदेवते श्रीगुरु उन्मनि ज्योति, ब्रह्मरंध्रदमेले, सहस्रदळ पद्म अल्लि अमृतविहुदु, अल्लि ओंकार स्वरूपवागि गुहेश्वर लिंगवु सदा सन्निहितनु।

वचन १५—गुदस्थान में 'मूलाधार' चक्र है। उसका महाभूत पृथ्वी है। उसका स्थान चतुष्कोण एवं उसका रूप चतुर्दल पद्म है। उसमें व, श, ष, स, चार अक्षर हैं। उसका वर्ण सुवर्ण एवं अधिदेवता दाक्षायणी है। लिंगस्थान में 'स्वाधिष्ठान' चक्र है, उसका महाभूत अप् है, उसका स्थान धनुर्गति तथा रूप षट्दल कमल है। उसमें ब, भ, म, य, र, ल, छह अक्षर हैं। उसका वर्ण नील और अधिदेवता ब्रह्म है। नाभिस्थान में 'मणिपूरक' चक्र है, उसका महाभूत तेज है। उसका स्थान त्रिकोण है तथा रूप दशदल पद्म है। उसमें ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ये दस अक्षर हैं। उसका वर्ण कृष्ण तथा अधिदेवता विष्णु है। हृदयस्थान में 'अनाहत' चक्र है, उसका महाभूत वायु है। स्थान षट्कोण तथा रूप द्वादश दल पद्म है। उसमें क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ये द्वादश अक्षर है। उसका वर्ण कुंकुम है और उसका अधिदेवता महेश्वर है। कंठस्थान में 'विशुद्धि' चक्र है। उसका महाभूत आकाश है। स्थान वर्तुलाकार तथा रूप षोडश दल पद्म है। उसमें अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं अः ये षोडश अक्षर हैं। वर्ण श्वेत और उसका अधिदेवता सदाशिव है। भ्रूमध्य स्थान में 'आज्ञा' चक्र है। उसका महाभूत मन, है। स्थान तमंधाकार है रूप द्विदल पद्म है। उसमें हं, क्षं, ये दो अक्षर हैं। उसका वर्ण माणिक्य तथा अधिदेवता श्रीगुरु है। उन्मनी ज्योति के ब्रह्मरंध्र के ऊपर सहस्रदल पद्म है। उसमें अमृत रहता है उस अमृत में 'गुहेश्वर-लिंग' ओंकार स्वरूप में सदा सन्निहित रहता है।

अर्थ १५—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक अनाहत, विशुद्धि एवं आज्ञा ये षट्चक्र हैं। उनके महाभूत पंचभूत एवं मन हैं। उनके स्थान क्रमशः चतुष्कोण, धनुर्गति, त्रिकोण षट्कोण, वर्तुलाकार तथा तमंधाकार हैं। इनके रूप क्रमशः चतुर्दल, षट्दल, दशदल, द्वादशदल, षोडशदल एवं द्विदल,

पद्म है। इनमें (५०) अक्षर हैं। इनके वर्ण क्रमशः पीत (सुवर्ण) हरित (नील) कृष्ण, कुंकुम श्वेत, एवं माणिक्यमय हैं। इनके अधिदेवता क्रमशः दाक्षायणी, ब्रह्म, विष्णु, महेश्वर, सदाशिव एवं गुरु हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन सबको जान लेना चाहिए। इनके पश्चात् उन्मनी ज्योति ब्रह्मरंध्र पर सहस्रदल कमल है। उसके अमृत बिंदु में 'लिंग' प्रणवरूप में सदा विराजमान रहता है। उसके साथ सामरस्य करना 'प्राणलिंगसंबंध' कहलाता है।

१६—आधार- स्वादिष्ठान, मनिपूरक, स्थानवनरियरु अष्टदळ कमलदल्लि सूक्ष्म नाळ वैदोडो, इन्नेननरिवरारो ? बेरे मत्ते अरियलुंटे हेळा ? सहस्रदळकमल ब्रह्मरंध्रदल्लिय गुरुवनरिदु ओळगे वेधिसि अल्लिप्प अमृत स्वरवरिदु हिरिदु कोंबुदरिदु गुहेश्वरा।

वचन १६—आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत आदि स्थानों को लोग नहीं जानते हैं। अष्टदल-कमल में सूक्ष्मनाड़ी की प्राप्ति हो जाने पर कोई क्या जानेगा ? गुहेश्वर, जिसने सहस्रदल पद्म पर विराजमान गुरुतत्व को जान लिया, पश्चात् उसे वेधकर तदंतर्वर्ती अमृतस्वर का जिसने ज्ञानपूर्वक ग्रहण भी कर लिया उसके लिये अब क्या शेष है।

अर्थ १६—इस वचन का भाव यह है कि षट् चक्रों और उनके वर्ण, दल, अक्षर तथा अधिदेवता इन सबको जान लेने के पश्चात् हृदय कमल की सूक्ष्म नाड़ी में प्रविष्ट हो, ब्रह्मरंध्र के सहस्रदल कमल का भेद करते हुए उस पद्मगत अमृत स्वर का ग्रहण करना ही 'प्राणलिंग' का संबंध है।

१७—आधार, लिंग, नाभि, हृदय, कंठ, मुखद मेले निंदुददेनो ? नित्य, निरंजन, निरुपाधिक, रेखेयागिर्दुददेनो ? विद्रुम, कुसुम, चक्षु परिमळदिंदत्तवे, गुहेश्वरनेंबुददेनो ?

वचन १७—आधार, लिंग, नाभि, हृदय, कंठ और मुख के ऊपर रहनेवाला वह क्या है। नित्य, निरंजन एवं निरुपाधिक रेखा के रूप में वह क्या है। विद्रुम, कुसुम, चक्षु और परिमल से आगे गुहेश्वर रूप वह क्या है।

अर्थ १७—तात्पर्य यह है कि षट्चक्र के ऊपर ब्रह्मरंध्र में नित्य निरंजन स्वरूप एवं जाज्वल्यमान प्रभा में जो देहप्राण एवं तत्संबंध का सामरस्य हो जाता है उसी को 'प्राणलिंग' संबंध कहते हैं।

१८—घटसर्पनंते अतिशयवु नाभि सरवर स्थानकवे दळवेंदु नव दळ कमल ऊर्ध्व मंडलद अमृत सेवनेयागि, शिवयोगियादेनेंबरु गुहेश्वर लिंगवु पवन वियोगा ।

वचन १८—घटसर्प के समान अतिशय (भयानक) है । नाभिसरोवर में वे ही आठ दल हैं । नवदल कमल के ऊर्ध्व मंडलवर्ती अमृत का सेवन कर जो अपने को 'शिवयोगी' समझता है वह मिथ्याभिमानी है क्योंकि गुहेश्वर पवन-वियोगी है ।

अर्थ १८—इस वचन का भाव यह है कि जो कुंडलिनी स्थान के भुजंग का हृदय सरोवर के अष्टदल कमल में प्रवेश करा देता है और सुषुम्ना नाड़ी में ऊर्ध्वमंडल का अमृत सेवन करता है, फलतः अपने को शिवयोग प्राप्त करनेवाला, समझता है उसकी बात मिथ्या है । परंतु जो प्राण को ही 'लिंग' समझता है वही 'प्राणलिंगी' है ।

१९—अर्कन अद्भुतदल्लि केट्टरु हलबरु तप्पुकरादरु हलबरु बिंदु बिंदुवने कूडि, लिंग लीयवागित्तु निंदनु गुहेश्वरनु एन्नोळगे भरितनागि ।

वचन १९—अर्क की अद्भुतता में कुछ लोग नष्ट हो गए । कुछ लोग दोषी बन गए । बिंदु बिंदु से मिलकर लिंग में 'लीन' हो गया । मुझमें गुहेश्वर व्याप्त हो गया ।

अर्थ १९—सूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण रूपी द्विविध शिवभक्ति के ग्रहण से सब लोग दिग्भ्रांत हो रहे हैं । उन दोनों को अंगीकृत करते हुए जिसका बिंदु अंग के बिंदुरूप में परिणत हो जाता है उसके सर्वांग में 'प्राणलिंग' व्याप्त हो जाता है ।

२०—उदक मूरुतियागि, उदयवायित्तु । पीठिकेयल्लि मूलस्थान स्थाप्यवायित्तु स्वदेह.शिवपुरदल्लि वायु पूजारियागि, परिमळ दिंडेय कट्टि पूजेय माडुत्तिर्दुदो । नवद्वार शिवालयदादिमध्यस्थानदल्लि गुहेश्वरनेंबुदल्लिये निंदित्तु ।

वचन २०—उदक ही मूर्ति बनकर उत्पन्न हुआ और अपने आसन पर मूल स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गया । स्वदेह (रूपी) शिवपुर में वायु अर्चिका

बनकर परिमल रूपी पुष्प से पूजा करती है। नवद्वार से युक्त शिवालय के आदि मध्य स्थान में ही गुहेश्वर का आवास है।

अर्थ २०—जिस स्थान से मूर्ति के रूप में मन का उदय हुआ उसी स्थान पर मूलस्वरूप वही (मन) प्रतिष्ठित हो गया। अर्थात् वह मन ही शिवस्वरूप बन गया। उस 'लिंग' के लिये मैंने शरीर को देवालय और प्राण को अर्चक बनाया। सद्वासना रूपी पुष्प से पूजा की। फलस्वरूप नवनाड़ी के आदि मध्य स्थान में निज निवासी बन गया और 'प्राणलिंग' का संबंध प्राप्त हो गया।

२१—कळसवुळ्ळ शिवालय ओंदक्के चवुकदवेरडु कंभ, मूरु भाव पूजकरारो ? अनुभाविगळिन्नारो ? पूजिसुवरिन्नारो ? इदर स्थानद नेलेयनारु बल्लरु गुहेश्वरा ?

वचन २१—कलशयुक्त एक शिवालय में दो चौकोर खंभे हैं। त्रितत्त्व भाव का पूजक कौन है। अब 'अनुभावी' कौन, और पूजक कौन। गुहेश्वर, इस स्थान का रहस्य कौन जानता है।

अर्थ २१—भाव यह है कि ज्ञानयुक्त पिंडरूपी शिवालय के शिव और शक्ति रूपी खंभे हैं। वहाँ त्रितत्त्व भाव रूपी पूजा होती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्राणलिंग की पूजा जिस किसी को साध्य नहीं है।

२२—काले कंबगळेन्न देहवे देगुलवायित्तय्या। एन्न नालिगेये गंटे, शिर सुवर्णद कळस इदेनय्या! स्वर लिंगक्के सिंहासनवागि इर्दुदु। गुहेश्वरा, निम्म प्राणलिंग प्रतिष्ठे पल्लट वागिर्देनय्या।

वचन २२—स्वामिन् मेरे पाद खंभे हैं और देह देवालय। मेरी जिह्वा घंटी बन गई एवं शिर सुवर्ण कलश। स्वमिन् यह क्या है मेरा स्वर 'लिंग' का सिंहासन बन गया। गुहेश्वर तुम्हारे 'प्राणलिंग' की प्रतिष्ठा से मैं परिवर्तित हो गया हूँ।

अर्थ २२—प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'प्राणलिंग' के साथ संबंध स्थापित कर लेने के फलस्वरूप मेरा शरीर उस 'लिंग' का मंदिर बन गया और उस शरीर के करणादि परिचारक। इसलिये उसके साथ मेरा सामरस्य हो गया।

२३—अचल सिंहासनवनिक्कि, निश्चल मंटपवु संचदोवरियोळगे रुचिगळेल्लवनु निलिसि, पंच रत्नद शिखर मिंचु कोंडिय कळस वचन

चित्रद पुष्पद रचनेयनवरंगदल्लि खेचरादिय गमन विचारपरनुंगि गुहेश्वर निंद निलवु सचराचरव मिंचित्तु ।

वचन २३—मैंने अचल सिंहासन पर निश्चल मंडप के रहस्यमय गर्भागार में समस्त रुचि रोक ली पंचरत्न के शिखर पर स्थित कांतिमय कलश में रहकर चित्रमय वचन रूपी पुष्प रचना से सुशोभित मंडप में खेचरादिकों के गमनागमन को विचार द्वारा विलीन कर दिया और वही विवेक बनकर चराचर से अतीत हो गया ।

अर्थ २३—प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने स्वस्थ पद्मासन द्वारा निश्चल कायरूपी मंडप में मनरूपी रहस्यमय गर्भागार की समस्त द्वैत भावना नष्ट कर दी फलस्वरूप पंचवर्णात्मक बिंदु में स्थित होकर उसके ज्ञान की प्रभा, वाग्ब्रह्म एवं विवेक के द्वारा जो गमनागमन हो रहा था उसका भी अवरोध कर लिया, इसलिये मेरा स्वरूप चराचर से अतीत हो गया ।

२४—भुवर्लोकद स्थावरक्के सत्यलोकद अग्गवणियल्लि मज्जनक्केरेदु, देवलोकद पुष्पदल्लि पूजेय माडिदडे, हत्तुलोकदाचार केट्टित्तु । मूरुलोकदरसुगळु मुग्धरादरु । गुहेश्वरलिंगवु स्थावरक्के स्थावरवादनु ।

वचन २४—सत्यलोक के जल से अभिषेकपूर्वक देवलोक के पुष्प से भूलोक के स्थावर की पूजा करने पर दसों लोक का आचार नष्ट हो गया । त्रिलोक के अधिपति मुग्ध हो गए । गुहेश्वर लिंग स्थावर के लिये स्थावर हो गया ।

अर्थ २४—प्रभुदेवजी कहते हैं कि मूलाधार और ब्रह्मरंध्र के अंतराल में ज्योतिलिंग की प्रतिष्ठा हो जाने पर मैंने ब्रह्मरंध्र के अमृत से उस लिंग का अभिषेक, और सहस्रदल कमल से उसकी पूजा की । फलस्वरूप दस नाड़ियाँ लुप्त हो गईं, अवस्थात्रय के अधिदेवता निःशब्द बन गए इसलिये वह सुज्ञान 'लिंग' स्थिर हो गया ।

२५—प्राणलिंगक्के कायवे सेज्जे, आकाश गंगेयल्लि मज्जन, हूविल्लद परिमळद पूजे, हृदय कमलदल्लि शिव शिव यंब शब्द, इदु अद्वैत काणा गुहेश्वरा ।

वचन २५—प्राणलिंग के लिये काय ही शय्या (मंदिर) है। गुहेश्वर मंदाकिनी का अभिषेक, पुष्परहित परिमल से पूजा और हृदय कमल में 'शिव, शिव' शब्दोच्चारण करना ही अद्वैत है।

अर्थ २५—प्रभुदेवजी कहते हैं कि प्राणलिंग के लिये मेरा शरीर शय्या (मंदिर) बन गया, ब्रह्मरंध्र विनिःसृत गंगोदक रूपी अमृत का अभिषेक हो गया और हृदयकमल में 'सोऽहम्, 'सोऽहम्' शब्द स्तोत्र बन गया। फलस्वरूप मैं अद्वैत हो गया।

२६—पृथ्वी, अप्पु, तेज, वायु, आकासवेंब पंचभौतिक, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, चतुष्टय करणादि गुणंगळु, सत्व, राज, तमदल्लि आत्मननेत्तलेंदरियरु। इदनरिद्डे, समते, सदाचार, आश्रम स्थानक सहस्रदळ कमलदल्लि गुहेश्वरनेंब लिंगवु।

वचन २६—पंचभूत पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश से बने। शरीरादि मन, बुद्धि, चित्त अहंकार चतुष्टय, करणादि एवं सत्त्व, रज तमोगुण सभी में (रहनेवाले) इन लोगों को आत्मा का पता नहीं है।

अर्थ २६—पंचभूत अंतःकरण चतुष्टय करण, सत्त्व रज एवं तमोगुण इत्यादि बाह्य अंतःकरण के द्वारा आत्मस्वरूप को कोई नहीं जान सकता। पर जो सर्वांग को समतारूपी सदाचार में स्थिर करता है वही उस ब्रह्मरंध्र के सहस्रदल कमल में 'प्राणलिंग' का साक्षात्कार कर सकता है।

२७—कक्षे, करस्थल, कंठ, उत्तुमांग, मुख, सेज्जे, अंग सोंकेंबवु षड्स्थलद दर्शनादिगळिगे बहिरंगदल्लि वेष लांछनवय्या। अंतरंगदल्लि नाल्कु स्थल ब्रह्मरंध्र, भ्रूमध्य, नासिकाग्र, चौकमध्य, इंती स्थानंगळनरियरागि, ब्रह्मरंध्रदल्लि लिंगस्वायत, भ्रूमध्यदल्लि जंगम स्वायत, नासिकाग्रदल्लि प्रसाद स्वायत, चवुकमध्यदल्लि अनुभाव स्वायत, अष्टदळ कमलदल्लि सर्वस्वायत, इदु कारण गुहेश्वरा निम्न शरणरु सदा सन्निहितरु।

वचन २७—कक्ष, करस्थल, कंठ, उत्तमांग, मुख, शय्या (करंडिका) एवं अंग स्पर्श इन बहिरंग षट्स्थलों में दर्शन आडंबर मात्र है। अंतरंग में

ही ब्रह्मरंध्र, भ्रूमध्य, नासिकाग्र एवं आधार ये चार स्थान हैं। इन स्थानों को (लोग) नहीं जानते ब्रह्मरंध्र में शिव (लिंग) भ्रूमध्य में 'जंगम' नासिकाग्र में 'प्रसाद' एवं आधार में 'अनुभाव' सन्निहित है। अष्टदल कमल में सब सन्निहित हैं। अतः गुहेश्वर, 'शरण' सदा सन्निहित है।

अर्थ २७—इस वचन का तात्पर्य यह है कि 'लिंग' धारण करने के लिये निर्दिष्ट, उपर्युक्त बाह्य षट् (कक्ष, करस्थल, कंठ आदि) स्थान केवल आडंबर मात्र है। वास्तविक स्थान क्रमशः ब्रह्मरंध्र, भ्रूमध्य, नासिकाग्र एवं आधार हैं। इन स्थानों में क्रमशः शिव (लिंग) ज्ञान, 'प्रसाद' एवं 'अनुभाव' रहते हैं। इन चारों दलों में जो प्रवेश करता है उसी को पूर्णत्व प्राप्त होता है।

२८—आधारदल्लि ब्रह्मस्वायतवाद। स्वादिष्ठानदल्लि विष्णु-स्वायतवाद। मणिपूरकदल्लि रुद्र स्वायतवाद। अनाहतदल्लि ईश्वर स्वायतवाद। विशुद्धियल्लि सदाशिवनु स्वायतवाद। आज्ञेयल्लि उपमातीत स्वायतवाद। इवरेल्लरु बयलले हुट्टि बयलले बेळेदु बयल लिंगवने धरिसिकोंडु, बयलने आराधिसि, बयलागि होदुद कंडे गुहेश्वरा।

वचन २८—आधार में ब्रह्म सन्निहित है। स्वाधिष्ठान में विष्णु सन्निहित है, मणिपूरक में रुद्र सन्निहित है। अनाहत में ईश्वर सन्निहित है विशुद्धि में सदाशिव सन्निहित है। आज्ञा में उपमातीत सन्निहित है। गुहेश्वर, ये सब लोग शून्य से उत्पन्न और शून्य से ही पोषित होते हैं। शून्य 'लिंग' के धारण एवं शून्य की आराधना से ये शून्य (निराविल) हो जाते हैं।

अर्थ २८—प्रभुदेवजी कहते हैं कि षट्चक्र स्थान में क्रमशः ब्रह्म, विष्णु रुद्र, ईश्वर, सदाशिव एवं उपमातीत नामक षट् सादाख्य नायक उपस्थित होकर 'प्राणलिंग' का धारण एवं विशुद्ध शिव की अर्चना करते हैं। फलस्वरूप वे लोग विशुद्ध रूप हो जाते हैं।

२९—आधारलिंग कुंडलि विडिदु, हृदय कमलदल्लि ब्रह्म, आ नाळदल्लि विष्णु, आ नाळदग्रदल्लि रुद्र, भ्रूमध्यदमेले ईश्वरनु, ब्रह्मरंध्रदोळगे सदाशिवनु, शिखाग्रदल्लि सर्वगतशिवनु आदियनादि इल्लदंदु गुहेश्वरलिंग निराळनु।

वचन २६—आधारलिंगस्थित कुंडलिनी से लेकर हृदयकमल तक ब्रह्म है। उस ब्रह्मनाड़ी में विष्णु है। उस नाड़ी के अग्र भाग में रुद्र, भ्रूमध्य पर ईश्वर है। ब्रह्मरंध्र में सदाशिव है। शिखाग्र में सर्वगत शिव है। आदि अनादि के अभाव में गुहेश्वरलिंग निराविल है।

अर्थ २६—आधार कुंडलिनी से लेकर हृदयकमल तक ब्रह्म उस हृदय-कमल की नाड़ी में विष्णु, उस नाड़ी के अग्रभाग में रुद्र, उसके ऊपर भ्रूमध्य पर ईश्वर, उसके ऊपर ब्रह्मरंध्र में सदाशिव, उस ब्रह्मरंध्र के (अत्यतिष्ठद्-दशांगुलम्) तुर्य में सर्वगत शिव है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन षट्स्थलों में षडंग योग का सामरस्य हो जाने पर पूर्व कक्ष एवं अपर कक्ष का लय हो जाता है। साथ ही प्राणलिंग का भी निराविल में लय हो जाता है।

३०—होत्तारे पूजिसलु, बेड कंड्या। बैगे पूजिसलु बेड कंड्या! इरुळुवनु हगलुवनु कळेदु पूजेयनु पूजिसलु बेकु कंड्या। इंतप्प पूजेय पूजिसुववर एनगे तोरय्या गुहेश्वरा।

वचन ३०—उषःकाल की पूजा न करो रात्रि की पूजा न करो। प्रातः सायं उपाधि के परित्यागपूर्वक पूजा करो। गुहेश्वर, उस उभयातीत पूजने वाले को मुझे दिखाओ।

अर्थ ३०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि प्रातःकाल एवं सायंकाल ये दोनों महाकाल की उपाधियाँ हैं। अतः प्रातः सायं की जानेवाली पूजा सोपाधिक कहलाएगी। इसलिये यह सोपाधिक पूजा नहीं करनी चाहिए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि निरुपाधिक पूजा करनेवाले विरले ही होते हैं।

३१—अंगदल्लि माडुव सुखवदु लिंगक्के भूषणवायित्तु। काडु-गिच्चिन कैयल्लि करडव कोयिसुवंते हिंदे मेदे इल्ल। मुन्दे हुल्लिल्ल। अंगलिंगवेंबन्नक्कर फलदायक लिंगैक्यवदु बेरे गुहेश्वरा।

वचन ३१—अंगसुख लिंग के लिये भूषण बन गया। दावाग्नि के द्वारा काष्ठ छेदन की भाँति न भूत में तृण की राशि है न भविष्य में। तृण ही गुहेश्वर जब तक अंग एवं लिंग इत्याकारक द्वैत भाव है तब तक वह फल-दायक है। शिवैक्य इससे अतिरिक्त है।

अर्थ ३१–प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिस प्रकार अरण्य में दावानल से बड़े बड़े

वृक्ष जल जाते हैं, उस अरण्य में न वृक्ष बचता है न तृण, उसी प्रकार सुज्ञान लिंग रूपी अग्नि में संपूर्ण शरीर रूपी अरण्य दग्ध हो गया। फलस्वरूप उस (शरीर) का भूत और भविष्य (जन्म-मरण) नष्ट हो गया। अतएव 'इस समय अंग है' इत्याकारक शंका भी नहीं रह गई। अर्थात् द्वैत भावना नष्ट हो गई।

३२—एन्न मनद् कोनेय मोनेय मेले, अंगविल्लद रूपन कंडु, मरुळा-देनव्वा! आतन कंडु बेरगादेनव्वा! एन्नंतरंगद आत्मनोळगे अनुमिष निजैक्य गुहेश्वरन कंडु।

वचन ३२—मेरे मन के अग्राग्र पर अंगरहित सुंदर रूपवान् को देख देखकर मैं पगली बन गई। मेरे अंतरंग की आत्मा में अनिमिष, निजैक्य वाले गुहेश्वर को देखकर मैं चकित रह गई।

अर्थ ३२—प्रभुदेवजी कहते हैं कि ज्ञान के सान्निध्य से मेरा मन निश्चल बन गया और ज्ञानदृष्टि ने उस निश्चल मन के अग्रभाग पर चैतन्यमय शिव का साक्षात्कार कर लिया फलस्वरूप उस शिव को देखनेवाली दृष्टि उसी पर निर्निमेष हो गई और अंतरंग में परिपूर्ण सुख व्याप्त हो गया। इसलिये मुझे 'प्राणलिंग' का संबंध प्राप्त हो गया।

३३—मनद सुखव कंगळिगे तन्दरे, कंगळ सुखव मनक्के तंदरे, नाचित्तु, मन नाचित्तु, स्थान पल्लटवाद बळिक व्रतक्के भंग गुहेश्वरा।

वचन ३३—(लोग) मन के सुख को नेत्र में नेत्र के सुख को मन में ले आते हैं। इसे देखकर मुझे लज्जा आती है। गुहेश्वर, स्थानपरिवर्तन से व्रत भंग हो जाता है।

अर्थ ३३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि बाह्याभ्यंतर में व्याप्त शिव (लिंग) का साक्षात्कार तत्परिपूर्ण दृष्टि (ज्ञान) के द्वारा कर लेना चाहिए साथ ही उसी में अनिमिष होकर परिपूर्ण सुख का भी अनुभव कर लेना चाहिए। पर इस रीति का परित्याग कर मन में गोचर ज्ञान को नेत्र के सामने उपस्थित कर पुनः उस ज्ञान को मन में ले जाना और उससे 'मैंने सुखानुभूति प्राप्त कर ली' ऐसा कहना द्वैतज्ञान है। अर्थात् बहिरंग में एक मूर्ति बनाकर और उसमें मनोगति गोचर ज्ञान रखकर उसी का निरीक्षण

करते करते अनिमिष हो जाना और पुनः उस अखंड ज्ञान को मन में ले आना द्वैतज्ञान कहलाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उपर्युक्त द्वैत क्रिया से परिवर्तित होकर शिव (लिंग) प्रादेशिकत्व (देशपरिच्छिन्नत्व) को प्राप्त करता है। अतएव व्रतभंग की बात कही।

३४—एनगोंदु लिंग, निनगोंदु लिंग, मनेगोंदु लिंगवायित्तु। होयित्तल्ला भक्ति जलव कूडि। उळि मुट्टिद लिंगव मन मुट्ट बल्लुदे गुहेश्वरा ?

वचन ३४—मेरे लिये एक शिव, तुम्हारे लिये एक शिव, घर के लिये एक शिव; ओह ! भक्ति मिट्टी में मिल गई। गुहेश्वर, क्या मन टाँकी से गढ़ लिंग का स्पर्श करेगा ?

अर्थ ३४—इस वचन का भाव यह है कि शिव (लिंग) वाक् मन से अगोचर एवं स्वयं मनोमूर्ति है। इस रहस्य को न जानकर द्वैत बुद्धि से बाह्य में स्वेच्छापूर्वक मूर्ति बनाकर 'यह इसका देव उसका देव एवं मेरा देव' जो व्यवहार करता है उसको प्राणलिंग की सिद्धि नहीं हो सकती।

३५—अरळिय मरद मेलोंदु हंसे गूडनिक्कित्त कंडे। आ गूडिनोळगोब्ब हेंगूसु उय्याले याडुत्तिर्दळु। उय्याले हरिदु, हेंगूसु नेलक्के बिद्दु सत्तडे, प्राणलिंगव काणबहुदु, काणा गुहेश्वरा।

वचन ३५—मैंने अश्वत्थ वृक्ष पर नीड़ (घोसले) का निर्माण किए हुए एक हंस को देखा। देखो, उस नीड़ में एक बालिका झूला झूल रही है। गुहेश्वर, जब झूला टूटने के पश्चात् बालिका गिर जाय और मर जाय तब 'प्राणलिंग' का साक्षात्कार हो सकता है।

अर्थ ३५—अश्वत्थवृक्ष=व्यक्त शब्द (वाग्जाल)। नीड़ पंचभूतात्मक शरीर। हंस=जीव। बालिका=माया। झूला=अंतःकरण चतुष्टय रूपी पटरा (काष्ठफलक) एवं दशवायु रूपी रस्सी।

जीव हंस ने वाग्जाल रूपी अश्वत्थ वृक्ष पर पंच भूतात्मक शरीर रूपी नीड़ (घर) का निर्माण किया। उस शरीर रूपी घर में माया नामक बालिका अंतःकरण चतुष्टय रूपी काष्ठफलक पर दश नाड़ी रूपी रज्जु के सहारे कर्म-वासनावश झूल रही है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब झूला टूट जाता

है अर्थात् अंतःकरण चतुष्टय एवं दशवायुओं की दुर्वासना नष्ट हो जाती है और भूलनेवाली माया का भी नाश हो जाता है तब वायु (मिथ्या) प्राण नष्ट हो जाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस स्थिति को प्राप्त कर लेने से मुझे 'प्राणलिंग' का संबंध प्राप्त हो गया।

३६—सृष्टिगे हुट्टिद शिले, कल्लुकुटिकंगे हुट्टिद मूरुति, मंत्रके लिंगवायित्तल्ला; ई मूवरिगे हुट्टिद मगन लिंगवेंदु केय्विडिव अच्च व्रतगेडिगळनेनेंबे गुहेश्वरा ?

वचन ३६—शिला सृष्टि में उत्पन्न होती है, मूर्ति शिल्पी द्वारा निर्मित। ओह, मंत्रों से लिंग बन गया। गुहेश्वर, इन तीनों से उत्पन्न शिशु को 'लिंग' समझकर धारण करनेवाले इन पक्के व्रतभ्रष्टों को मैं क्या कहूँ।

अर्थ ३६—इस वचन का भाव यह है कि शिव (लिंग) स्वयं मनोमूर्ति बनकर सर्वांग में व्याप्त है पर इस रहस्य को न जानकर द्वैत बुद्धि से जो अन्य मूर्ति का निर्माणपूर्वक उपाधि (षोडशोपचार) द्वारा उसकी पूजा करते हैं उनसे 'प्राणलिंग' का संबंध नहीं हो सकता।

३७—कल्लु देवरेंदु पूजिसुवरु। आगदु कारिणरो। अगडिगरादिरल्ला ! मुंदे हुट्टुव कूसिंगे इंदु मोलेय कोडुवंते गुहेश्वरा।

वचन ३७—(लोग) देव समझकर शिला की पूजा करते हैं। देखो, वह शिला (देव) नहीं हो सकती। ओह, (स्वयम्) मूढ़ बन गए। गुहेश्वर, (उनका कार्य) भविष्य में उत्पन्न होनेवाले शिशु को आज ही स्तन्यपान कराने के समान है।

अर्थ ३७—इस वचन का भाव यह है कि हृदयकमल में सदमल (निर्मल) 'प्राणलिंग' का आवास है उसी का साक्षात्कार कर लेना उचित है। पर इसका परित्यागपूर्वक मिथ्या भाव से 'यह ब्रह्म है' 'वह ब्रह्म है' इत्यादि वागद्वैत करते हुए जो अन्य लिंग की स्थापना एवं उसकी पूजा करते हैं और फलपद की आकांक्षा करते हैं वे सब मिथ्यार्थी कहलाएँगे।

३८—मूरु पुरद हेब्बागिलोळगोंदु कोडग कट्टिर्दुद कंडे। अदु कंडकंडवरनोडिसुत्तिर्दित्तु नोडा। आ पुरदरसु तन्न पायदळ सहित बंदरे ओंदे बारे मुरिदु, नुंगित्त कंडे। आ कोडगके ओडलुंटु, तले

इल्लु। कालुंटु हेज्जे इल्लु, कैयुंटु बेरळिल्ल। इदु चोद्य नोडा। तन्न करेद्वर मुन्नवे ता करेवुदु। आ कोडग तन्न बसिरल्लि बंद मद-गजद नेत्तियनेरि, गाळिय धूळिय कूडि, ओलाडुत्तिहुद कंडे वायद गगनद मेले तन्न कायव पुटनेगेदु तोरुत्तिहुद कंडे। ऐवरु कोडगूसु-गळ कर्णिगे कन्नडकव कट्टिहुद कंडे। हत्तु केरिगळोळगे सुळिव हरिय नेत्तिय मेट्टि, हुब्बेत्तिहुद कंडे आ कोडगद कैयोळगे माणिक्यव कोट्टरे, नोडुत्त नोडुत्त बेरगादुद कंडे। कोडलिल्लु कळेयलिल्लु। गुहे-श्वरन निलवु प्राणलिंग संबंधविल्लदवरिगे काणबारदु।

वचन ३८—मैंने त्रिपुर के महाद्वार पर बद्ध एक मर्कट देखा। वह जिसको देखता है उन सब को भगा देता है। देखो, जब वहाँ का राजा अपनी सेना समेत नगर में प्रविष्ट हुआ तो सभी को एक ही बार में काट कर उन्हें निगीर्ण करते हुए, उस मर्कट को मैंने देखा। यह अत्यंत आश्चर्य है कि उस (मर्कट) के उदर है शिर नहीं। पाद है पदचिह्न नहीं, हस्त है अंगुली नहीं। देखो, जो उसका आह्वान करता है वह (मर्कट) पहले स्वयम् उसी को बुलाता है। अपने (मर्कट) से उत्पन्न मत्तगज के मस्तक पर पुनः स्वयं आरूढ़ हो, वायु एवं धूलि से मिलकर क्रीडा करते हुए उसे (मर्कट को) मैंने देखा। वायुगगन पर उछलकर प्रकट होते हुए उसे मैंने देखा। दशमुखी (फण) सर्प को अपनी करंडी (टोकरी) में रखकर नचाते हुए उसको मैंने देखा। पाँच बालिकाओं के नेत्रों पर दर्पण (शीशा) पहनाए हुए उसको मैंने देखा। दस गलियों में संचरण करनेवाली वायु के शिर पर पदाघात करते हुए एवं भुकटी चढ़ाकर बैठे हुए उसको मैंने देखा। उस मर्कट के हाथ में मैंने माणिक्य दिया पर उसे देखते देखते वह चकित रह गया, इसे भी मैंने देखा। न दिया, न खोया। 'प्राणलिंग' विरहितों को गुहेश्वरस्वरूप की प्राप्ति नहीं होगी।

अर्थ ३८—त्रिपुर=स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर। महाद्वार=संसारमार्ग। मर्कट=मन। नगर का राजा=जीव। सेना=करण आदि। शरीर=अंतर्देह। शिर=ज्ञान। पाद=मन का संचरण। हस्त=संकल्प। अंगुली=लक्ष्यालक्ष्य। मत्तगज=अहंकार। वायु=प्राणवायु। धूलि=रजोगुण। वायु=मिथ्या। गगन=आत्मतत्त्व। दशमुखी सर्प=दशेंद्रियाँ। करंडी=संकल्प। पंचबालिका=

इच्छा, क्रिया, मंत्र आदि एवं परा नामक शक्ति। दर्पण=संसार। दसगली=दस नाड़ियाँ। माणिक्य=सुज्ञान। चकित होना=पराकाष्ठा को प्राप्त करना। न दिया न खोया=न लाभ किया न हानि।

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर में परस्पर वैषम्य है। पर उनके व्यवहार के लिये संसार का मार्ग एक ही है। इसी अभिप्राय से 'त्रिपुर महा द्वार' कहा। इस त्रिपुर के महाद्वार पर मन रूपी मर्कट भवरूपी पाश से बद्ध हो वह सभी का हास्य और अपमान करता रहता है। (मन की अधीनता से मनुष्य हास्यास्पद एवं अपमानित होता है)। तनुत्रय (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) को अपनाकर उनके भोगों के लिये स्वयं कर्ता बनकर (भोग करनेवाला) जीव रूपी राजा अंतःकरण आदि अपने सैन्य समेत उस त्रिपुर (शरीर) में रहता है पर उस मन रूपी मर्कट ने उन जीव, अंतःकरण आदि सभी को निगीर्ण कर लिया। अर्थात् उन सबको स्वाधीन कर लिया। आश्चर्य यह है कि उस कपि का अंतर्देह नामक शरीर तो है पर ज्ञान रूपी शिर नहीं उसके संचार रूपी पाद को हम देखते हैं पर उसके पद-चिह्न को नहीं देख पाते। जीव को पकड़ने के लिये उसके पास संकल्प रूपी हस्त है पर लक्ष्यालक्ष्य (योग्यायोग्य ज्ञान) रूपी अंगुली नहीं है। जो उसको बुलाता है पहले वही स्वयं उसी को बुलाता है अर्थात् जो उसका आह्वान करता है वह मन स्वयं आह्वानस्वरूप बन जाता है। इतना ही नहीं उसी से अहंकार रूपी मत्तगज उत्पन्न हुआ है। उस गज के मस्तक पर वही (मन) आरूढ़ (अहंकार से युक्त) हो जाता है और रजोगुण रूपी धूलि से युक्त वायु विकार से क्रीड़ा करता है। मिथ्याभूत आत्मतत्त्व को जाननेवाला मुझ से अतिरिक्त कोई नहीं है ऐसा कहकर सभी का परिहास करता है। वह मन दशेंद्रिय रूपी अत्युग्र विष सर्पिणी को अपनी संकल्प रूपी टोकरी में रखकर क्रीड़ा कर रहा है। इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, मंत्र-शक्ति, आदिशक्ति और पराशक्ति रूपी कन्याओं के ज्ञान रूपी नेत्रों के सामने संसार रूपी दर्पण दिखाकर सुविवेक को भुला देता है। दशनाड़ियों में संचार करनेवाली दशवायुओं के मस्तक पर अधिष्ठित होकर दिखाई पड़ता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उपर्युक्त स्वरूप वाले मन रूपी मर्कट के संकल्प रूपी हस्त में मैंने सुज्ञान रूपी रत्न लाकर रख दिया अर्थात् सुज्ञान-पूर्वक संकल्प कर दिया। फलस्वरूप पूर्वोक्त उसका दुःसंकल्प नष्ट हो गया और उसे सुसंकल्प की सिद्धि मिल गई। इस प्रकार सुसंकल्प की सिद्धि

प्राप्त होते ही उस मन ने अपने विकृत भावों का परित्याग कर लिया और वह उस (सुज्ञान) में तल्लीन होकर पराकाष्ठा तक पहुँच गया। इसलिये अन्य वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं रह गई (द्वैत भावना नष्ट हो गई)। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार जब मन सुज्ञान स्वरूप ही बन गया तब उसके लिये न कोई लाभ है न कोई हानि। अर्थात् सुज्ञान मन विकृत होकर अज्ञान से युक्त हो गया था अब स्वस्वरूप में आ जाने से कोई लाभ हानि नहीं रही। यह अवस्था 'प्राणलिंग' विरहितों को प्राप्त नहीं होती।

३६—कल्लु मनेय माडि, कल्लु देवर माडि, कल्लु कल्लु मेले केड़ेदरे, देवरेत्त होदरो ? लिंग प्रतिष्ठेय माड़िदवगे, नरक गुहेश्वरा।

वचन ३६—पत्थर का मंदिर एवं पत्थर का ही देव बनाकर पत्थर को पत्थर पर बैठाएँगे तो देव कहाँ गया ? गुहेश्वर लिंग की प्रतिष्ठा करनेवालों को रौरव नरक प्राप्त होता है।

अर्थ ३६—इस वचन का भाव यह है कि देह को देवालय एवं प्राण को ही शिव (शिव) समझकर उस शिव को मन रूपी सिंहासन पर जो प्रतिष्ठापित करता है और उसी की आराधना एवं वंदना करता है वही श्रेष्ठ है। इस रीति को छोड़कर जो अन्य देव की स्थापना एवं उसकी वंदना करता है वह द्वैतज्ञानी होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस द्वैत भाव से आचरण करनेवालों को 'प्राणलिंग' की प्राप्ति नहीं हो सकती।

४०—देहदोळगे देवालयविर्दु, मत्ते बेरे देवालयवेके ? एरडक्के हेळलिल्लय्या। गुहेश्वरा नीनु कल्लादरे नानेनप्पेनु ?

वचन ४०—देह में देवालय रहते हुए अन्य देवालय क्यों ? ऐसा द्वैत कहीं कथित नहीं है। गुहेश्वर, तुम पाषाण बनोगे तो मैं क्या कहूँ ?

अर्थ ४०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि देह रूपी देवालय में प्राण रूपी लिंग विराजमान है। वह स्वतः सिद्ध एवं स्वयंभू है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस स्वयंभू को अपने अंतरंग में ही खोजकर ग्रहण करना चाहिए। इस रीति को छोड़कर जो अन्य देव की खोज करता है वह द्वैती कहलाता है।

४१—ओडलु विडिदु पाषाणक्के हंगिगरादिरल्ला ! लिंगसंगिगळेल्ल महाघनवनरियदे, होदरो। हुसियने कोय्दु हुसियने पूजिसि गसणिगोळगादरु गुहेश्वरा।

वचन ४१—हाय, शरीर धारण कर (लोग) पाषाण के ऋणी हो गए। क्या समस्त शिव (लिंग) संगी महाघन (तत्त्व) को बिना जाने ही चले गए। गुहेश्वर, (लोग) मिथ्याफल को तोड़कर और मिथ्या की पूजा करके संकट में पड़ गए हैं।

अर्थ ४१—जिनके अंगाभिमान की आशा नष्ट नहीं हुई है और जिन्होंने मन में महाघन (लिंगैक्य) को नहीं समझा है वे लोग यदि शिव-पूजा करते हैं तो उनको कोई फल नहीं मिलेगा। उनका आचरण क्रिया मात्र कहलाएगा।

४२—आळुद्दिहदोंदु बावि, आकाशद मेले हुट्टित्तु नोडा! आ बाविय नीरनोंदु मृग बंदु कुडियित्तु। कुडिय बंद मृगवानीरोळगे मुळुगिदरे, उरिय बाणदलेच्चु तेगेदे नोडा! ओंदे बाणदल्लि गाय-विल्लदे, सत्त मृग मुंदण हेज्जेयनिक्कित्त कंडे। अंगैयोळगोंदु कंगळु मूडि संगदसुखवु दिटवायित्तु। लिंगप्राणवेंबुदर निर्णयवनिंदु कंडेनु गुहेश्वरा।

वचन ४२—देखो, एक पुरसा गहरा एक कूप है। उसकी उत्पत्ति आकाश से हुई है। एक मृग ने आकर उस कूप के जल का पान कर लिया। वह मृग जल सेवनार्थ आया था पर उस (कूप) में गिरकर डूब गया। मैंने अग्निबाण चलाकर उसको बाहर कर दिया। एक ही बाण से मृत उस मृग ने अपना पैर आगे बढ़ाया इसे मैंने देखा। हथेली में एक नेत्र उत्पन्न हुआ उस से संग सुख स्थिर (नित्य) हो गया। गुहेश्वर, 'लिंग' ही प्राण है इस तथ्य का निर्णय मैंने आज ही देखा।

अर्थ ४२—एक पुरसा गहरा कूप=विषयरस रूपी जल से परिपूर्ण शरीर। आकाश=आत्मतत्त्व। मृग=जीव पशु। जलपान करना=विषय का भोग करना। डूबना=विषयासक्त होना। अग्निबाण=ज्ञानाग्नि रूपी बाण। बाहर निकालना=विषयवासना से विमुख करना। मृत होना=जीवभाव का नाश। पैर=सदाचार। बढ़ाना=सत्पथ में चलना। हथेली में नेत्र का उदय= करस्थल में 'इष्टलिंग' की प्राप्ति।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि संसार के विषयरस रूपी जल के लिये शरीर कूप के समान है उसके संपूर्ण भाग में वही विषयरस भरा हुआ है। उस

शरीर की उत्पत्ति आत्मतत्व से हुई है। जीवरूपी मृग उस विषयरस से मोहित होकर उस शरीर में प्रविष्ट हुआ और विषय का भोग करते करते उसी में लिप्त हो गया (जन्म - मरण के अधीन बन गया)। प्रभुदेवजी कहते हैं कि डूबे हुए उस मृग को मैंने ज्ञानांजन-शलाका से विद्ध कर उसे कूप से बाहर कर दिया। अर्थात् ज्ञान के द्वारा जीवभाव को नष्ट कर दिया। फलस्वरूप उस ज्ञानांजनशलाका से उद्धृत जीव ने शिवभाव को प्राप्तकर सत्पथ में चलना प्रारंभ किया। इस पथ में चलते समय करस्थल में एक नेत्र की उत्पत्ति हुई। अर्थात् 'इष्टलिंग' की प्राप्ति हो गई (सदाचार संपन्न शिष्य को श्रीगुरु अनुग्रहपूर्वक करस्थल में 'इष्टलिंग' प्रदान करते हैं) ज्ञान-दृष्टि का विषय स्वरूप उस इष्टलिंग के साथ संबंध स्थापित हो गया। फल-स्वरूप मुझे प्राणलिंग की प्राप्ति हो गई।

४३—उदयमुखदल्लि पूजिस्स होद्रे हृदयद मुखदल्लि कत्तले-थायित्तु। हारि होयित्तु प्राणलिंग। हरिदु बिद्दित्तु सेज्जे। कट्टुव बिडुवसंबंधिगळ कष्टव नोडा गुहेश्वरा।

वचन ४३—उदय काल की पूजा करने पर हृदय में अंधकार व्याप्त हो गया। प्राणलिंग उड़ गया सेज (शय्या=पेटिका) टूट गई। गुहेश्वर, धारण करने एवं त्यागने वालों का कष्ट देखो।

अर्थ ४३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि शिव (लिंग) का समय न जानकर काल की उपाधि (प्रातः सायं) से जो शिवपूजा करता है उसके अंतरंग में अज्ञान ही व्याप्त रहता है। अंतरंग के अज्ञान से आवृत्त हो जाने से 'प्राणलिंग' का आच्छादन हो जाता है। फलस्वरूप शरीर रूपी शय्या नष्ट हो जाती है। इसलिये प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'लिंग' धारण कर उपाधि द्वारा पूजा करना अज्ञान एवं अक्रम है।

४४—सृष्टिय मेलणकणिय तंदु, अष्टतनुविन कैय्यल्लि कोडलु, अष्टतनुतप्पि सृष्टियमेले बिद्दरे केट्टेनल्ला, अनाचारियंदु मुट्टरु नोडा। मुट्टद भेदवनु खंडिसिद भाववनु, भावव्रतगेडिगळु। तावेत्त बल्लरु गुहेश्वरा।

वचन ४४—सृष्टि की शिला को अष्टतनु के हस्त में दे दिया, वह शिला यदि उस अष्टतनु से अलग होकर पृथ्वी पर गिर जाती है तो भ्रष्ट एवं अनाचारी कहकर लोग उसका स्पर्श नहीं करते। देखो गुहेश्वर, स्पर्श का रहस्य और खंडित भाव इन दोनों को व्रतभ्रष्ट लोग कैसे जान सकते हैं।

अर्थ ४४—इस वचन का भाव यह है कि जिसके अंग पर लिंग है यदि उसके अंग का विकार नष्ट नहीं होता तो वह लिंग से भिन्न ही है। इस अवस्था में यदि वे अन्यलिंग का धारण या स्थापन करते हैं और उसके गिर जाने से 'लिंग, गिर गया, खंडित हो गया ऐसा समझकर व्यथित चिंतित होते हैं तो उभय भ्रष्ट हैं। अर्थात् गुरुप्रदत्त 'इष्टलिंग' को स्वस्वरूप से अतिरिक्त समझकर जो उसकी पूजा करता है और उसके शरीर से अलग हो जाने पर प्राणोत्सर्ग कर देता है उसको कोई फल नहीं मिलता।

४५—इरुळिन मुखदोळगोंदु नवरत्न खंडित हारवडगित्तु। हगलिन मुखदोळगोंदु नवचित्र पत्रद वृक्षवडगित्तु रत्नद हारव वृक्षका हारव निक्किदडे गुहेश्वर लिंगदल्लि प्राणलिंगक्के सुखवायित्तु।

वचन ४५—रात्रि के मुख में एक नवरत्नखचित हार छिपा था और दिन के मुख में नवचित्र पत्र से सुशोभित एक वृक्ष छिपा था, इसे मैंने देखा। उस रत्नहार के वृक्ष को अर्पित कर देने से गुहेश्वरस्थित 'प्राणलिंग' को सुख प्राप्त हुआ।

अर्थ ४५—रात्रि=अज्ञान। नवरत्नखचितहार=नव लिंगप्रयुक्त ज्ञान। दिन=ज्ञान। वृक्ष=विवेक।

अज्ञान रूपी अंधकार से ज्ञानरत्न आवृत हो गया था उस ज्ञानरत्न में विवेक रूपी वृक्ष छिपा हुआ था। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस विवेक रूपी वृक्ष ने ज्ञानरत्न को आच्छादित कर लिया। फलस्वरूप 'प्राणलिंग', को सुख प्राप्त हुआ।

४६—हिडिव कैय्यमेले कत्तलेयय्या! नोडुव कंगळ मेले कत्तलेयय्या! नेनेव मनदमेले कत्तलेयय्या! कत्तलेयंबुदु इत्तलेयय्या गुहेश्वरनेंबुदु अत्तलेयय्या।

वचन ४६—स्वामिन् ग्रहण करनेवाले हस्त में अंधकार, देखनेवाले नेत्रों में अंधकार एवं ध्यान करनेवाले मन में अंधकार है। अंधकार नामक वस्तु इधर है गुहेश्वर उधर।

अर्थ ४६—इस वचन का भाव यह है कि जो सर्वांग को ही शिव न समझकर द्वैतभाव से अन्य 'लिंग' की पूजा, निरीक्षण, एवं ध्यान आदि क्रिया का आचरण करते हैं वे अज्ञ हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब तक इस द्वैतभावना का परित्याग नहीं होता तब तक गुहेश्वर के साथ सामरस्य नहीं हो सकता।

४७—अडवियलोंदु मनेयमाडि आश्रयविल्लदन्तायित्तु। नडु नीरज्योतिय वायुविन कैय्यल्लि कोट्टंतायित्तु गुहेश्वरा निम्मशरणर परविन लिंग मूरुलोकक्के।

वचन ४७—अरण्य में एक घर का निर्माण कर (जीव) निराश्रित हो गया जैसे जलमध्यगत ज्योति को वायु के हस्त में दे देना। गुहेश्वर, तुम्हारे 'शरण' का न्यासस्वरूप लिंग तीनों लोक में छा गया।

अर्थ ४७—अरण्य=भवारण्य। घर=शरीर। जल=मन। ज्योति=ज्ञान-ज्योति। वायु=प्राणवायु।

भवरूपी अरण्य में जीव ने अपनी इच्छा से शरीर रूपी एक घर का निर्माण किया (अपनी इच्छा से ही शरीर धारण कर लिया)। पर उस शरीर के गुणधर्म का नाश नहीं हो सका और शिवभाव की प्राप्ति भी नहीं हुई। फलस्वरूप शरीर रूपी वह घर दुराश्रय बन गया। मन रूपी जल में रहने-वाली ज्ञानज्योति प्राणवायु के विकार से बुझ गई (अज्ञानांधकार व्याप्त हो गया)। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसलिये उस मिथ्या पिंड में 'लिंग' अन्योन्याश्रय बन गया। अर्थात् जिसका शरीर 'शिवमय' नहीं होता उसमें द्वैत रह जाता है।

४८—कल्पित उदय, संकल्पित सुळुहु पवन भेदवनरियदे, प्राण-लिंगवेंबुदु अंगसंसारि, जंगमवेंबुदु लिंग संसारि। स्वयवल्ल परवल्ल निरवय गुहेश्वरनेंब नामक्के नाचरु नोडा।

वचन ४८—कल्पित उदय एवं संकल्पित संचार है। वायु के रहस्य को न जानकर 'प्राणलिंग' कहना अंगसंसार और 'जंगम' कहना 'लिंग' संसार है। देखो, न स्व है न पर, गुहेश्वर नाम से ये लोग लज्जित नहीं हो रहे हैं।

अर्थ ४८—कल्पित उदय=कर्मकल्पित भाव से उत्पन्न शरीर। संकल्पित

संचार=शरीर में संकल्प भाव से व्यवहार करनेवाला मन। वायु=प्राण-वायु।

कर्म कल्पित भाव से उत्पन्न शरीर में संकल्पित भाव से मन संचार करता है। जब तक उस मन के संकल्प का नाश नहीं होता तब तक 'प्राणलिंग' अंगसंसारी कहलाता है। अर्थात् शरीर स्थित्यर्थ उस प्राण का व्यवहार चलता रहता है। जब तक अज्ञान का नाश नहीं होता तब तक सुज्ञान प्राप्त करने की आशा करना 'लिंग' संसार' कहलाता है। ये दोनों न आत्मा हैं न श्रेष्ठमार्ग। इस अवस्था में यदि कोई अपने को 'शिव' ('शिवोऽहम्') कहता है तो वह अज्ञ है।

४६—इरुळिन संगवे हगलॆंदरियरु। हगलिन संगवे इरुळॆंदरियरु। वायक्के नडेवरु। वायक्के नुडिवरु। वायप्राणिगलुगुहेश्वरनॆंब अरिविन कुरुहु आरिगेयु अळवडदु।

वचन ४६—रात्रि का संग ही दिन है एवं दिन का संग ही रात्रि। लोग इसे नहीं समझ रहे हैं। आचरण हवा में बातें हवा में। ये सब हवा के प्राणी हैं। 'गुहेश्वर, इत्याकारक ज्ञान की प्राप्ति सभी को सुलभ नहीं।

अर्थ ४६—रात्रि=अज्ञान। दिन=ज्ञान। हवा=मिथ्या।

इस वचन का भाव यह है कि जिस प्रकार दिन के लिये रात्रि एवं रात्रि के लिये दिन कारण होता है उसी प्रकार ज्ञानोदय के लिये अज्ञान और अज्ञान के लिये ज्ञान कारक होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को न जानकर ज्ञानाज्ञान (द्वैतभाव) से जो आचरण करते हैं उनका 'प्राणलिंग' संबंध नहीं हो सकता। ऐसे लोगों का आचरण मिथ्या उनकी बात मिथ्या और वे भी मिथ्या हैं।

५०—योगदागॆबुदनारु बल्लरु? अदु मूगकंड कनसु। नडेव बट्टे मूरु, नडेयदे बट्टे ऒंदे। ऒंदनॊबत्त माडि नडिदिहवॆंबरु। ऒंबत्त-नॊंदु माडि नडेदिहवॆंबन्नक्कर मूरुमुखद कत्तले ऒंदु मुखवागि, काडुत्तिप्पुदु। प्राणलिंग संबंधवेल्लिपदो गुहेश्वरा।

वचन ५०—योग की रीति को कौन जानता है। वह मूक दृष्ट स्वप्न

है। जाने के मार्ग तीन हैं। एक ही मार्ग असाध्य है। जब तक एक को नौ बनाकर और नौ को एक बनाकर प्रयोग करने की भावना है तब तक तीन मुख का अंधकार एक मुख होकर पीड़ा देता है। गुहेश्वर, अब 'प्राणलिंग' कहाँ।

अर्थ ५०—जाने का मार्ग=इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना। एक ही मार्ग= पश्चिम द्वार। नौ बनाकर=नौ नाड़ी में प्रयोग करना। तीन मुख=ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय। अंधकार=अज्ञान।

प्रभुदेव जी कहते हैं कि जिस प्रकार मूक पुरुष स्वप्न देखने पर भी दूसरे से नहीं कह सकता उसी प्रकार जिसका शिवयोग संबंध हो गया है उससे दूसरों से कहते नहीं बनता। इड़ा पिंगला एवं सुषुम्ना इन तीन नाड़ियों में पवन योग होता है। इन तीन नाड़ियों द्वारा पश्चिम द्वार तक जाना असाध्य है। अतः उस (पश्चिम) द्वार में शिवयोग का प्रयोग करना चाहिए। पर इसका परित्याग कर नवनाड़ी में प्रयोग करनेवाले योग को ही शिवयोग समझकर जो उस (नव नाड़ी में प्रयोग करनेवाले योग) को सुषुम्ना में प्रयोग करने की चर्चा करते हैं वे भ्रांत हैं। इसी कारण उनके ज्ञातृ, ज्ञान एवं ज्ञेय इस त्रिविध रूपी मुख पर भिन्न योग रूपी अज्ञानांधकार व्याप्त हो जाता है और वह एक ही मुख होकर सदा उनको पीड़ा देता है। अतएव इस द्वैत योगियों को शिवयोग की प्राप्ति नहीं हो सकती।

५१—आसन बंधनरु सुम्मानिररु। भस्मव हूसि स्वरवहिडिवरु सायदिर्परे? कालकर्म प्रळयंगळागि? सायदिर्परे? नित्यवने मरेदु अनित्यवने हिडिदु, सत्तुहोदरु गुहेश्वरा।

वचन ५१—आसन बंध लोग मौन नहीं रहते। भस्म लेपन कर डींग मारते हैं। क्या वे मृत नहीं होते। कालकर्म का लय हो जाने पर क्या वे मृत नहीं होते। गुहेश्वर, नित्य के विस्मरण और अनित्य के ग्रहण से वे मृत हो गए।

अर्थ ५१—इस वचन का तात्पर्य यह है कि अंतरंग एवं बहिरंग में परिपूर्ण 'प्राणलिंग' व्याप्त है। पर इस संबंध को न जानकर पवन योग के द्वारा जो 'शिव (लिंग) का साक्षात्कार करने का दंभ भरता है। वह प्रलय के अधीन हो मृत हो जाता है।

५२—मनद कत्तलेयोळगण ज्योतिय कोनेय मोनेय मेले घनव-दहेनेंबवरनरिदि अनुमानक्के दूर तमतमगे अरिदिहवेंबवरिगे कनसिन लिंग गुहेश्वरा।

वचन ५२—'मन के अंधकार में रहनेवाली ज्योति के शिखाग्र पर घन वस्तु को हम जानते हैं' ऐसा कहनेवालों के अनुमान से (वह वस्तु) बहुत दूर है। गुहेश्वर, 'हम अपनी अपनी इच्छा (स्वेच्छा) के अनुसार जानते हैं' ऐसा कहनेवालों के लिये लिंग स्वप्नवत् है।

अर्थ ५२—मनोमूर्ति को ही शिव (लिंग) रूप में न जानकर जो लोग उस मन के ध्यान के द्वारा प्राप्त ज्ञान को शिव (लिंग) समझते हैं वे अज्ञ हैं। वही उनके मनका अंधकार है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन द्वैतियों के लिये 'प्राणलिंग' स्वप्न के समान है। अर्थात् द्वैतबुद्धि से शिवत्व का लाभ नहीं हो सकता।

५३—तलेयल्लिट्टुंबुद, ओलेयलट्टुंबरु। ओलयलुळ्ळुद होट्टेयलुंबैसक्कर होगे घनवायित्तु। इदकंडु हेसि बिट्टेनु गुहेश्वरा।

वचन ५३—शिर में पाक बनाकर सेवन करना छोड़ (लोग) चूल्हे में पाक बनाकर सेवन करते हैं। चूल्हे पर की वस्तु उदर में जाते जाते धुआँ अधिक हो जाता है। गुहेश्वर इसे देखकर मुझे घृणा हो गई और मैंने (उसका) परित्याग कर दिया।

अर्थ ५३—शिर=ज्ञान। चूल्हे=तनुत्रय=(स्थूल, सूक्ष्म, कारण)। धुआँ=अज्ञान।

इस वचन का तात्पर्य यह है कि सुज्ञान द्वारा प्राप्त सुख को अनुभव में ले आकर सामरस्य रूपी पाक बना लेना चाहिए और वहीं (अनुभव में) उसका सेवन कर सुखानुभूति प्राप्त कर लेनी चाहिए। पर इस रहस्य को न जानकर सुज्ञान से प्राप्त सुख का आस्वादन तनुत्रय (स्थूल, सूक्ष्म कारण) द्वारा करना द्वैतभाव है। इस द्वैतभाव के कारण अज्ञान व्याप्त हो जाता है। प्रभु-देवजी कहते हैं कि मैंने उस तनुत्रय के द्वारा सुख प्राप्त करना त्याग दिया। फलस्वरूप मुझे शिवयोग की प्राप्ति हुई।

५४—उत्तर पथद् मेले, मेघवर्ष करेयलु, आ देशदल्लि बरनायित्तु। आदेशद प्राणिगळेल्लुरु मृतवादरु। अवर सुट्टरुद्रभूमियल्लि ना निस्म-नरसुवे गुहेश्वरा।

वचन ५४—उत्तर पथ में मेघ की वर्षा हो जाने से उस देश में अकाल पड़ गया। वहाँ के समस्त जीव मृत हो गए। गुहेश्वर, उन सबको जलाकर मैं रुद्रभूमि में आपको खोज रहा हूँ।

अर्थ ५४—उत्तर पथ=उत्तर कक्ष का सत्पथ। मेघवर्षा=परम संतोषामृत की धारा। उसदेश=प्रारब्ध। अकाल=प्रारब्ध का नाश। रुद्रभूमि=ज्ञानयुक्त शरीर।

इस वचन का भाव यह है कि मोक्षमार्ग रूपी उत्तर कक्ष के सत्पथ में मुझे अनुभव वेध (प्राप्त) हो गया। श्रद्धा पर लिंग संबंध रूपी परम संतोषा-मृत की वर्षा हुई, फलस्वरूप उस देश में अकाल पड़ गया अर्थात् प्रारब्ध नष्ट हो गया। इसलिये वहाँ रहनेवाले जीव को शिवयोग की प्राप्ति हो गई और उस (जीव) का जीवभाव नष्ट हो गया। उस जीवभाव को मैंने ज्ञानग्नि में दग्ध कर दिया फलस्वरूप वह शरीर 'लिंगक्षेत्र' बन गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस लिंग क्षेत्र में मैंने 'शिवत्व' का साक्षात्कार कर लिया।

५५—रसद् बाविय तुडुकबारदु, कत्तरिवाणिय दांटिद्वंगल्लदे, परुष विदे, कब्बुनविदे, साधिस बल्लेनेबवंगे सिरिशैलदुदकव घरिसलु बारदु गुहेश्वरा निम्भशरणंगल्लदे।

बचन ५५ कर्तरी (वत्) जल को पार कर जानेवाले व्यक्ति के अतिरिक्त रसकूप में किसी का प्रवेश नहीं हो सकता। सिद्धि करनेवाले के पास पारस भी है, लौह भी है। गुहेश्वर, तुम्हारे 'शरण' के अतिरिक्त अन्य कोई श्रीशैल जल का ग्रहण नहीं कर सकता।

अर्थ ५५—कर्तरी (वत्) जल=संसार का विषय रसरूपी अति विषाक्त जल। रस=परमानंदरूपीरस। कूप=शिवयोगी का मन। पारस=ज्ञान। लौह=शरीर श्रीशैल=ब्रह्मरंध्र।

इस वचन का भाव यह है कि शिवयोगी के सर्वांग ने शिव (लिंग) के साथ सामरस्य कर लिया है, इसलिये उस (शिवयोगी) के मनरूपी कूप में

परमानंदरूपी जल भर गया है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस 'शिवयोग का लाभ उसी को होता है जो संसार के विषयरसरूपी विषाक्त जल का स्पर्श नहीं करता। क्योंकि इच्छापूर्वक जो उस का स्पर्श करते हैं उन सबका वह वध कर देता है। अर्थात् जो इच्छापूर्वक संसार-विषय का ग्रहण करता है वह उसी में लीन हो जाता है। अतः उसको शिवयोग का लाभ नहीं हो सकता।

जीव के पास ज्ञानरूपी पारस है शरीर रूपी लौह है पर विरले ही ज्ञान रूपी लौह का रूप परिवर्तित कर सकते हैं। ब्रह्मरंध्र स्थित परमामृत का सर्वांग में आवरण बनाकर 'शिवशरण' परम संतोष से रहता है। यह अवस्था अन्य लोगों को प्राप्त नहीं है।

५६—अग्निय सुडुवल्लि उदकव तोळिवल्लि, वायुवमेट्टि आकाशव-हिडिवल्लि योगद होलब नीवेत्तबल्लै ? कद्ळिय बनव निन्नल्लि नीनु तिळिदु नोडु। मद्मत्सर बेड, होद्कुळिगोळबेड, गुहेश्वरनेंब लिंग कल्पित वल्लु निल्लो ?

वचन ५६—अग्नि के दहन जल के प्रक्षालन एवं वायु के पदाघात-पूर्वक आकाश का ग्रहण करते हुए (आप लोग) योग की रीति कैसे जान लेते हैं। देखो कदली बन को स्व में जानो मद-मत्सर को दूर करो वृथा व्याकुल मत होओ। अहो, 'गुहेश्वरलिंग' कल्पित नहीं है।

अर्थ ५६—अग्नि=अग्नि के विकार से उत्पन्न नाना रूप। दहन=ज्ञानाग्नि से उन विकारों का दहन। जल=जलतत्त्व के विकार से उत्पन्न संसार रस। प्रक्षालन=परमानंद रूपी अमृत द्वारा प्रक्षालन। वायु का पदाघात=वायु-विकार से उत्पन्न प्राणधर्म का नाश। आकाश का ग्रहण=आत्मतत्त्व-ज्ञान का ग्रहण। कदली बन=शरीर।

इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो अग्नितत्त्व से उत्पन्न नाना प्रकार के रूपादिकों को ज्ञानाग्नि में दहन करता है, जल के विकार से उत्पन्न संसार-रस को परमानंदरूपी जल में धोता है, वायु विकार से उत्पन्न प्राणवायु का निरोध करता है और फलतः सुस्थिर हो आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है वही 'प्राणलिंग' संबंधी 'शिवयोग' को जानता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि

उपर्युक्त 'शिवयोग' को जानकर कायरूपी कदलीवन में प्रवेश करके बाह्या-भ्यंतर को जान लेना चाहिए। इस रहस्य को न जानकर मदमत्सर में जो मत्त रहते हैं उनको 'प्राणलिंग' कल्पित विदित होता है।

५७—हुट्टिद नेलेय तृष्णे बिडदवरिगे लिंगदनुभाववेको ? मातिन-मातिन महंत हिरियरु गुहेश्वरनेंब लिंग, सारायबहुमुखिगळिगे तोरदु तोरदु।

वचन ५७—जिनकी जन्मस्थान की आशा नहीं छूटी है उनको शिव (लिंग) का अनुभाव क्यों। वे केवल बात के बड़े और वृद्ध हैं। उन्मत्त एवं बहुमुखी को गुहेश्वर लिंग का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

अर्थ ५७—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिनकी कांचन, कामिनी आदि की आशा नहीं छूटी है उनको 'शिवानुभाव' की प्राप्ति नहीं होगी। यद्यपि वे लोग शास्त्रद्वारा अनुभव का अभ्यास और वागद्वैत करते हैं, तथापि निजानुभावी नहीं हो सकते। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन बहुमुखियों को 'प्राणलिंग' के संबंध की प्राप्ति नहीं हो सकती।

५८—कर्माधीनवेंब कर्मि, लिंगाधीनवेंब भक्त, देह प्रारब्धनेंब नद्वैति, ईत्रिविधवेन्नदवर नीनेंबे गुहेश्वरा।

वचन ५८—कर्माधीन कहनेवाला कर्मी हैं 'शिव' (लिंग) के अधीन कहनेवाला भक्त है और देह को प्रारब्ध कहनेवाला अद्वैती है। गुहेश्वर जो इन तीनों को नहीं कहते मैं समझूँगा कि वे आप (गुहेश्वर) ही हैं।

अर्थ ५८—जिसका प्राणलिंग के साथ सामरस्य नहीं हुआ है वह शारी-रिक एवं मानसिक विकारों से उत्पन्न दुःख का अनुभव करता है। उस भोग को कोई कर्माधीन कहता है, कोई शिवाधीन और कोई प्रारब्धजन्य पर जिसका प्राणलिंग संबंध होगा उसके लिये न कर्म है न प्रारब्ध। इस लिये 'शिवा-धीन है' इत्याकारक उपाधि भी नहीं है।

५९—उदकदलुत्पत्यवाद शतपत्रदन्ते संसार संगव होद्दिरबेकु। कायवे पीठ, मनवे लिंगवादरे कोरळल्लि नागवत्तिगेयको शरणरिगे ? गुहेश्वरा।

वचन ५६—उदक से उत्पन्न शतपत्र की भाँति संसार में रहने पर भी उससे असंस्पृष्ट होना चाहिए। गुहेश्वर, शरीर ही सिंहासन एवं मन ही शिव (लिंग) हो गया है। अन्य 'लिंग' की क्या आवश्यकता।

अर्थ ५६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिस शरण के साथ शिव का सामरस्य हुआ वह संसार का धारण करने पर भी उससे असंस्पृष्ट रहता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कमल जल से उत्पन्न होता है, उसी में रहता है फिर भी उससे असंबद्ध रहता है। इसलिये प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस शरण का मन ही 'लिंग' एवं शरीर ही सिंहासन हो गया है। फलस्वरूप उसकी द्वैतभावना नष्ट हो गई है।

६०—तम्म तम्म भावक्के उडियल्लि कट्टिकोंडरु। तम्म तम्म भावक्के कोरळल्लि कट्टिकोंडरु। नानेन्न भावक्के पूजिसलेंदु होदरे-कैतप्पि मनदल्लि सिलुकित्तेन्नलिंग। साधकनल्ल भेदकनल्ल गुहेश्वर-लुय्य ताने बल्लु।

वचन ६०—(सब लोगों ने) अपनी अपनी भावना से (शिव को) आँचल में बाँध लिया। अपनी अपनी भावना से कंठ में धारण कर लिया। मैं अपनी भावना से शिवपूजा करने गया पर वह हस्त से छूटकर मन में संलग्न हो गया। गुहेश्वर जानते हैं कि मैं न साधक हूँ न भेदक।

अर्थ ६०—सब लोग अपनी इच्छानुसार कंठ, करस्थल आदि स्थानों में 'लिंग' धारण कर पूजा करते हैं वैसे ही 'शिवयोगी' (मैं) ने मनसा शिवपूजा की, पर वह मन ही मन शिव (लिंग) हो गया। फलस्वरूप वह असाध्य साधक बन गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस प्रकार का योग करता है वही वास्तविक शिवयोगी है अन्य लोग केवल अभ्यासी कहलाएँगे।

६१—नानु भक्तनादडे, नीनुदेवनादडे, नोडुववे इब्बर समरसवनों-दुमाडि चंद्र सूर्यरिब्बर ताळव माडिआडुवे। जडेय मेलण गंगे नीनु केळा, तोडेय मेलण गौरि नीनु केळा। गुहेश्वरनेंब लिंगवु एन्न कैय्यल्लि सत्तडे रंडेगूळनुंवुदु निमगे लेसे ?

वचन ६१—यदि मैं भक्त बनूँगा और आप गुरु बनेंगे तो दोनों को

सामरस्यपूर्वक एक करके देखूँगा। भूमि और आकाश को एक करूँगा एवं सूर्य चंद्र दोनों को झाँझ बनाकर खेलूँगा। हे जटा पर रहनेवाली गंगा सुनो। हे उत्संग में रहनेवाली गौरी, सुनो मेरे 'करस्थल' में 'गुहेश्वरलिंग' की मृत्यु हो जाने पर क्या उन्हें राँड़ रहकर भोजन करना उचित है।

अर्थ ६१—भूमि=शरीर। आकाश=आत्मतत्त्व। चंद्र=इड़ा। सूर्य=पिंगला। गंगा=पराशक्ति। गौरी=आदिशक्ति।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिव (लिंग) और भक्त (मैं) दोनों जब एक हो गए (एकत्त्व का बोध हुआ) तब मैंने भूमि रूपी शरीर और आकाश रूपी आत्मतत्त्व को सामरस्यपूर्वक एक कर लिया। चंद्ररूपी इड़ा एवं सूर्य रूपी पिंगला नाड़ी की वायु के 'सोऽहम्' रूपी भिन्न शब्द का लय हो गया। फलस्वरूप वे दोनों (इड़ा-पिंगला) शिवोऽहम्' रूपी ध्वनि करने लगीं। इसलिये उस 'शिवयोगी' (मुझ) में शिव (लिंग) का आवास (लय) हो गया। फलस्वरूप ब्रह्मरंध्रस्थित पराशक्ति और आधारस्थित आदि शक्ति ने शिवशक्ति (चिच्छक्ति) के साथ सामरस्य कर लिया।

६२—नीरोळगण ज्योति मेरुव नुंगित्तु, दूरद धातु सारायदोळगडगित्तु। पुरदोळगैवर शिरवरिदु परिमळदोकुळियनाडित्त कंडे। सारिर्द ब्रह्मनोलग हरियित्तु, घोर रुद्रनदळ मुरियित्तु गुहेश्वरा।

वचन ६२—जलगत ज्योति ने मेरु को निगीर्ण कर लिया। वह दूर स्थित धातुसार ('महानुभाव') में छिप गई। नगर में पाँच (जनों) का शिरछेदनपूर्वक परिमल (रंग) की वसंत क्रीड़ा को मैंने देखा। गुहेश्वर, पुरोवर्ती ब्रह्म की सभा उड़ गई। घोर रुद्र की सेना नष्ट हो गई।

अर्थ ६२—जल=मन। ज्योति=ज्ञानज्योति। मेरु=अहंकार। दूरस्थल धातु=परमार्थ के लिये दूरस्थ षड्वर्णों का रूप। नगर=शिवयोगी का शरीर। पाँचों का शिर=पंचीकरणों का भिन्न ज्ञान। परिमल=स्वानुभाव। ब्रह्म की सभा=मायाप्रपंच। घोररुद्र की सेना=रुद्रतत्त्व संबंधी तमोगुण।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मेरे मनोमध्यगत ज्ञानज्योति ने अहंकार रूपी मेरुपर्वत को निगीर्ण कर लिया। अर्थात् मैं 'अहंब्रह्म' इत्याकारक अहंकार से युक्त हो गया था उसका मैंने परित्याग कर दिया फलस्वरूप

परमार्थ के लिये दूरस्थ (प्रतिबंधक) षड्वर्गों का रूप महानुभाव में विलीन हो गया। जब धातु का विलीनीकरण हुआ तब शिवयोगी के (मेरे) शरीररूपी नगर में विद्यमान पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश इन पंचभूतों के पंचीकरण से उत्पन्न द्वैतज्ञान नष्ट हो गया फलस्वरूप अब मैं निज स्वानुभाव रूपी परमानंद सागर में क्रीड़ा कर रहा हूँ। इसलिये मुझसे भिन्न रूप में दृश्यमान ब्रह्म की सृष्टि मिथ्या हो गई और नष्ट भी हो गई। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने से शरीरस्थित रुद्रतत्त्व संबंधी तमोगुण और उसके गुण - धर्म का भी नाश हो गया।

६३—प्राणलिंगवेंब शब्दके नाचित्तु मन, नाचित्तु प्राण, होद्रेकाय बिद्दित्तु। लिंग ओंदेसेयादरे मननाचित्तु गुहेश्वर नेनेयलिल्लद घनवु।

वचन ६३—'प्राणलिंग' शब्द से मेरा मन वारंवार लज्जित होता है। प्राण के वियोग से (उनके) शरीर का पतन (नाश) हो जाता है। 'लिंग' एक ओर रह जाता है। इससे मेरा मन लज्जित होता है। गुहेश्वर ध्यानरहित घन (वस्तु) है।

अर्थ ६३—प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिव (लिंग) के साथ जिसके प्राण का संबंध नहीं हुआ है यदि वह स्व को 'प्राणलिंगी' कहता है तो उसकी बात मिथ्या है। ऐसे व्यक्ति को देखकर मुझे लज्जा आती है। क्योंकि व्यक्तियों के प्राणवियोग के साथ शरीर का भी पतन (नाश) हो जाता है और 'लिंग' यहीं रह जाता है। अभिप्राय यह है कि जिसके साथ 'प्राणलिंग' का सामरस्य हो गया है उसके शरीर का नाश नहीं हो सकता। अतः वह शरण (मैं) कभी (इस रहस्य को) शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं करता। इसी अभिप्राय से गुहेश्वर ध्यानरहित घन (महान्) है।

६४—सर्वांग स्वायतवाद शरणंगे देहदहनवागलारदु। निक्षेप विरलारदु! संसार संगद कष्टव नोडा! अनाहतदल्लि निरूप स्वायत, गुहेश्वरा निम्मशरणर अन्तहवरितहवरेंदरे नायक नरक।

वचन ६४—'सर्वांग स्वायत्त शरण' के शरीर दाह नहीं होना चाहिए। निक्षेप भी नहीं होना चाहिए। देखो संसार-संगम का दुःख, देखो गुहेश्वर, 'अनाहत' में निरूप स्वायत्त है। तुम्हारे 'शरण' की निंदा करने से घोर नरक होता है।

अर्थ ६४—प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'शरण' का (मेरा) सर्वांग (शरीर) 'प्राणलिंग' बन गया है। इसलिये उस शरीर को जन्ममरण की बाधा नहीं है। शिव (लिंग) का आवास हो जाने के कारण वह (शरीर) निराकार बन गया है। अतः उसका नाश नहीं हो सकता और प्राण का भी परित्याग नहीं हो सकता। जो इस रहस्य को नहीं जानते वे 'प्राणलिंगी' नहीं हैं।

६५—हरिय बाय हालु, उरियकैय्य बेणों, गिरिय मेलण शिशु हरिदा डुत्तिदे। करयिंभो हालुगुडिय सुरपतिय गजवेरि मरळिहोहन कंडु करयिंभो। हरन मंतणिय शूलदल्लि शिरदलुंगुट उरिनेरवुत्ति दुंद नानेनेंबे गुहेश्वरा।

वचन ६५—हरीमुख का क्षीर एवं अग्निकरगत नवनीत जब पर्वत के शिखर पर स्थित शिशु को खिलाए गए तो वह (शिशु) इतस्ततः टहलने लगा। दूध पीने के लिये शिशु को बुलाओ सुरपति के मत्तगज पर आरूढ़ होकर आने जानेवाले उस शिशु को बुलाओ। गुहेश्वर, 'शिवमंथनी' के शूल पर चढ़कर अग्नि के साथ प्राप्त सामरस्य को मैं क्या कहूँ।

अर्थ ६५—हरि=प्राणवायु। मुख=विवेक। क्षीर=शिवामृत। अग्नि=कुंडलाग्नि। नवनीत=सच्चिदानंदमूर्ति (शिवतत्त्व)। पर्वत का शिखर=नासिकाग्र। शिशु=जीव। मत्तगज='सोऽहम्' भावरूपी गज।

शिवयोगी साधना द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट कराकर जब ब्रह्मरंध्र को प्राप्त करता है तब वह तत्रस्थित 'शिवयोग' रूपी अमृत को सुविवेक रूपी मुखद्वार में भर लेता है और शिवज्ञानस्वरूपी कुंडलाग्नि की प्रभा में विद्यमान उस 'शिवतत्त्व' को ग्रहण कर लेता है जो 'घृतकाठिण्यघनमूर्तिः सच्चिदानंदलक्षणम्' श्रुतिप्रमाण के अनुसार सकल क्रियासाधना से अवशिष्ट घृत के समान है। उसको ध्यान रूपी हस्त से ग्रहण कर लिया। उसके पश्चात् नासिकाग्र रूपी पर्वत में 'सोऽहम्' रूपी मत्तगज पर आरूढ़ हो इड़ा एवं पिंगला नामक द्वार में गमनागमन करनेवाले जीव शिशु को सुबोधपूर्वक (ब्रह्मरंध्रस्थित शिवयोग साधनामृत एवं सच्चिदानंद लक्षण से लक्षित शिवतत्त्वरूपी घृत का) सेवन कराया। फलस्वरूप उस जीव का भाव नष्ट हो गया। इसलिये वह (शरण) शिवतत्त्वविवेकी बन गया और उसने शिवमंथनी के शूल नामक मस्तक पर पदार्पणपूर्वक उस पर शिवतत्त्व के साथ अविरल सामरस्य कर लिया।

६६—होहबट्टेयोळगोंदु माये इर्दुद कंडे, ठाणान्तर हेळिच्चु, ठाणान्तर हेळिच्चु, अल्लल्लिगे अल्लल्लिगे, अल्लल्लिगे, गुहेश्वरनकरणंगळु कुतापिगळु।

वचन ६६—जाते समय मार्ग पर मैने एक माया देखी। उसने तत्र, तत्र स्थानातर बताया। गुहेश्वके करण कुतापी हैं।

अर्थ ६६—मार्ग=परशिवतत्त्व को प्राप्त करने के लिये जानेवाला (मोक्ष) मार्ग। माया=मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करनेवाला मिथ्याज्ञान। तत्रतत्रस्था-नांतर=स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर।

परशिव को प्राप्त करने के लिये जानेवाले मोक्षमार्ग में 'इदमहम्' रूपी विस्मरण को उत्पन्न करनेवाला मिथ्या ज्ञान मायास्वरूप में आया। उस माया से युक्त होने के कारण स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इस शरीरत्रय में ज्ञातृ, ज्ञान ज्ञेय इन तीन कारणो की उत्पत्ति हुई। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसलिये मैने उस अंगत्रय में 'लिंग'-त्रय का संबध कर लिया। अर्थात् स्थूल शरीर पर 'इष्टलिंग' सूक्ष्म शरीर में 'प्राणलिंग' एवं कारण शरीर में 'भावलिंग' का संबंध कर लिया। फलस्वरूप मेरा सर्वांग 'शिव (लिंग) बन गया और समस्त मायिक करण 'लिग' करण बन गए। इसलिये उन कारणों को कुतापी कहा।

६७—मंजर नेत्रदल्लि उभय चंदर कांबवरारो? कंडुद दशरवि करदल्लि पिडिदु, अग्निय मुखक्के सलिसुवरल्लदे, लिंगमुखक्के सलिसुवरारो? तदनन्तर प्राणलिंगक्के कोट्टु कोंब निरंतर साव-धानि गुहेश्वरा निम्म प्रसादि।

वचन ६७—मार्जार नेत्रों से चंद्रद्वय को कौन देखेगा। देखो, दृष्ट दश रवि को हस्त में ग्रहण कर अग्नि के मुख में अर्पित करते हैं, पर शिव (लिंग) मुख में अर्पित करनेवाला कौन है। गुहेश्वर, 'प्राणलिंग' को अर्पित कर तदनंतर सेवन करनेवाला तुम्हारा 'प्रसादी' निरंतर अवधानी है।

अर्थ ६७—मार्जारनेत्र=ज्ञानदृष्टि। चंद्रद्वय=आदिशक्ति, पराशक्ति। रवि=दश नाड़ियों में प्रवहमान सूर्यानिल। अग्नि=कुंडलाग्नि।

मार्जार जब अंधकार में वस्तु की प्राप्ति के लिये निर्निमेष हो जाता है तब उसकी दृष्टि की ज्योति फैल जाती है जिसके प्रकाश से वह (मार्जार) वस्तु का ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सुज्ञानी परशिवतत्त्व को जानने की इच्छा से जब अपनी ज्ञानदृष्टि को निर्निमेष कर लेता है तब अज्ञान रूपी अंधकार में उसकी ज्योति फैल जाती है इसलिये उसे अज्ञान रूपी अंधकार में रहने पर भी 'शिवतत्त्व' रूपी वस्तु का साक्षात्कार जाता है। इसीसे शिवदृष्टि का उपमान मार्जारदृष्टि है। उस ज्ञानदृष्टि से चंद्रद्वय अर्थात् आदिशक्ति और पराशक्ति को क्रमशः वृत्तिज्ञानमृतमय बिंदु निवृत्तिज्ञानामृतमय बिंदु के रूप में देख लेना चाहिए। पर कोई नहीं देखता। उस अखंड शक्तिद्वय (आदि-शक्ति पराशक्ति) को दशनाड़ियों में चलानेवाली सूर्यवायु (पिंगला) से मिलाकर उस सूर्यानिल सम्मिश्रण रूपी हस्त में लेकर समरस रूपी पाक बनाते हैं और उससे निस्यूत (निसृत) अमृत बिंदु को सब लोग कुंडलाग्नि के मुख में देते हैं पर उस सुख (अमृत) को 'प्राणलिंग' के लिये अर्पित करनेवाला कोई नहीं है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उपर्युक्त शिवयोगामृत को उस 'प्राण-लिंग' के लिये अर्पित कर जो उस (शिव) के साथ एकत्व रूप से परमानंद का आस्वादन करता है वही दिव्य 'शिवयोगी' है।

६८—उलिव उय्यलेय हरिदु बंदेरलु तागदे तूगुवदु भवसागर। मरळि बारदन्ते हंसेयमेले तुंबि कुळ्ळिर्दु स्वरगेय घोषवदेनो ? आत-निर्द सरहरियदे इद्दिनु देहिगळेल्ल अरिवरे गुहेश्वरन आहारमुखव।

वचन ६८—झूलनेवाला झूला टूट जाने पर अपुनरा वर्तन के रूप में न झुलाने पर भी भवसागर झूल रहा है यह क्या है हंस के ऊपर शब्दायमान (भ्रमर तुंबि) की ध्वनि। उसके आवासस्थान का विच्छेद हुए बिना क्या सब शरीरधारी गुहेश्वर का आहारमुख जानते हैं।

अर्थ ६८—झूला=इड़ा और पिंगला में 'सोऽहम्' का शब्द करते हुए क्रीड़ा करनेवाला जीवहंस। झूला टूटना='सोऽहम्' शब्द का लय। हंस= जीवहंस। तुंबि=भ्रमर; परिपूर्णत्व। ध्वनि=ब्रह्मनाद।

इड़ा और पिंगला नाड़ी में 'सोऽहम्' शब्दोच्चारणपूर्वक क्रीड़ा करनेवाले जीवहंस के ऊपर 'शिवोऽहम्' 'रूपीस्वानुभाव' का आच्छादन हुआ। अर्थात् 'सोऽहम्' कहनेवाला जीवहंस 'शिवोऽहम्' कहने लगा (शिव बन गया)।

इस प्रकार शिवानुभाव की अनुभूति के फलस्वरूप उस जीव हंस का समस्त वायुविकार नष्ट हो गया और 'शिवोऽहम्' इत्याकारक द्वैत शब्द का लय हुआ (परिपूर्णत्व की प्राप्ति हुई) । इसलिये वह जीव हंस अब भव की बाधा से संस्पृष्ट नहीं होता । प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार जब जीवहंस परिपूर्णत्व व्याप्त हुआ तब वह शब्द (शिवोऽहम्) ब्रह्मनाद (ध्वनि) बन गया अनंतर वह भी खंडित होकर अखंड महासुख बन गया, उस 'महालिंग' के लिये समर्पित हो गया । इसलिये कह रहे हैं कि इस रहस्य को कोई शरीरधारी नहीं जान सकता ।

६६—ऐदुबण्णद गिडविंगे ऐदेले, ऐदु हू ऐदुकायायित्तु, मरौदर ठाबिनल्लि ऐदु हूविन क्रमदल्लि हण्ण मेल वल्लडे गुहेश्वरलिंगवु ताने नोडा ।

वचन ६६—पंचवर्ण के वृक्ष में पंचपत्र, पंचपुष्प, एवं पंचफल होते हैं । और पांच स्थान में पाँच पुष्प के क्रम से जो फल का आस्वाद ले सकता है वह स्वयं 'गुहेश्वर लिंग' है ।

अर्थ ६६—पंचवर्ण का वृक्ष=पंचभूतात्मक शरीर । पंचपत्र=पंचकर्मेंद्रिय रूपी पत्र । पंचपुष्प=पंचविषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध) । पंचफल= पंचज्ञानेंद्रियाँ । पाँचस्थान=पंचज्ञानेंद्रियगत आचार आदि पाँच लिंगस्थल । अर्थात् नासिका में आचार लिंग, जिह्वा में गुरुलिंग, नेत्र में शिवलिंग, त्वक् में जंगमलिंग स्थल ।

पंचभूतात्मक शरीर रूपी वृक्ष में पंचकर्मेंद्रिय रूपी पत्र (पत्ता) पंच-विषयरूपी पुष्प एवं पंचज्ञानेंद्रियरूपी फल हुए हैं । नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वक् एवं श्रोत्र इन पाँच ज्ञानेंद्रियोंमें क्रमशः आचारलिंग, गुरुलिंग, शिवलिंग जंगमलिंग एवं प्रसादलिंग का आवास है उनके लिये जो पाँच विषयों के अर्पण पूर्वक तत्प्रसाद का सेवन करता है वही शिव है । अर्थात् क्रियाशक्ति युक्त 'आचारलिंग' के लिये श्रद्धाभक्तिद्वारा नासिका रूपी मुख में सुचित् नामक हस्त से चंदनादि नाना प्रकार के द्रव्य, का अर्पण ज्ञानशक्तियुक्त 'गुरुलिंग' के लिये जिह्वा रूपी मुख में सुबुद्धि नामक हस्त से मधुर आदि षड्रसादि पदार्थ का अर्पण इच्छाशक्तियुक्त 'शिवलिंग के लिये 'अवधान भक्ति' द्वारा नेत्ररूपी मुख में निरहंकार रूपी हस्त से श्वेत, पीत आदि वर्ण के पदार्थ का अर्पण आदिशक्तियुक्त 'जंगमलिंग' के लिये 'अनुभवभक्ति' द्वारा त्वक्रूपी मुख में

सुमन हस्त से मृदु, कठिन आदि पदार्थों का प्रयोग पराशक्तियुक्त 'प्रसादलिंग" के लिये 'आनंद' भक्ति के द्वारा कर्ण रूपी मुख में सुज्ञान हस्त से वीणा आदि नाद पदार्थ का अर्पण करता है और जो उससे प्राप्त प्रसाद का सेवन करता है वह स्वयं शिव है।

७०—हृदयद बाविय तडियल्लि ओंदुबाळे हुट्टित्तल्ला ? आ बाळेय हण्ण मेल बंद सर्पन परिय नोडा। बाळे बीगि सर्पनेय्दुवडे निराळउ काणा गुहेश्वरा।

वचन ७०—अहा, हृदय कूप के पास कदलीवृक्ष उत्पन्न हो गया। उसके फल के भक्षणार्थ उपस्थित सर्प की रीति देखो। गुहेश्वर, यदि कदली-वृक्ष परिपुष्ट होकर सर्प जाग्रत् हो जाए तो वही निराविल है।

अर्थ ७०—कदली=अष्टदल कमल। फल=योग रूपी फल। सर्प= सुप्त कुंडलिनी।

'अष्टपत्रमधो वक्त्रां कदली कुसुमोपमम्' इस श्रुति प्रमाण से हृदयकूप में अष्टदल कमल रूपी कदली है। उस कमल में योगामृत रूपी फल है। कुंडलिनी स्थानगत सुप्त भुजंग प्राणवायु के संमिश्रण द्वारा महानुभाव से उद्बुद्ध (जाग्रत्) होकर उस कदली (अष्टदल कमल) के समीप आया और उसके योगामृत रूपी फल का आस्वाद लिया। फलस्वरूप वहीं 'प्राण-लिंग' का संबंध हुआ और उससे परम संतोष की प्राप्ति हुई।

७१—नाभिमंडलदोळगे ईरैदु पद्म दळ स-मद-गजद मस्तक-दोळगे तोरुत्तदे अकार, उकार मकार, स्थानद त्रिकूट स्थानद समरसद सुखदल्लि बेळेद कंदमूलादिगळ होस रसद अमृतवनु ओसरिसि दणियुंड तृप्तियिंद सुखियादे गुहेश्वरा।

वचन ७१—नाभिमंडल में उत्पन्न पंचद्वय (दस) दल समद गज-मस्तक पर दिखाई देते हैं। गुहेश्वर 'अ' कार 'उ' कार, एवं 'म' कार नामक त्रिकूट के समरस सुख में बढ़नेवाले नूतन रस के अमृत का मैंने यथेष्ट पान किया और मैं सुखी बन गया।

अर्थ ७१—पंचद्वयदल=नाभिमंडलस्थित मणिपूरक चक्रके पद्माकार दस दल। गजमस्तक='शिवोऽहम्' रूपी अहंकार की तुर्यावस्था। कंदमूल= सहस्त्रदल कमल।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि नाभिस्थान में मणिपूरक चक्र है। उस चक्र में पद्माकार दस दल हैं। उस पद्म के नाल से उत्पन्न 'लिंगप्राणानिल' 'शिवोऽहम्' रूपी मत्तगज के तुर्यावस्था रूपी मस्तक पर प्रकट हुआ। उस तुर्यावस्था में 'अ' कार, उकार, मकार प्रणवाक्षर त्रय समरस बन गया और 'प्रणवब्रह्म' (ओम्) स्वरूप हो गया। उस प्रणवब्रह्म से उत्पन्न सहस्रदल कमल रूपी कदमूल में वर्तमान अमृतरस को वहाँ से निकालकर मैंने उसका सेवन किया। उसी से 'प्राणलिंग' की संतुष्टि हुई।

७२—तेगेदु वायुव नेण गगनदल्लि गंटिक्के त्रिजगदाधिपतिय कोणेयल्लि हसुविर्दुदु करुव कोंदु कंदलनोडेदु केलेय बल्लुवंगल्लदे हयनागदु नोडा! हयने बरडु, बरडे हयनु, आरु हिरियर लाय करु ओदेयितु एरडिल्लद निराळ गुहेश्वरा।

वचन ७२—वायु को निकालकर सूत्र से (मैंने) गगन में गाँठ देकर संबद्ध कर लिया। त्रिजगदाधिपति के कोष्ठ में एक सुरधेनु है। देखो, (उसके) वत्स (बछड़े) का वध कर जो दोहन पात्र का भी नाश करता है एवं दोहन-पूर्वक क्षीर पान करना जानता है उसीको क्षीर मिलता है। पयस्विनी (दुधार) बंध्या है और बंध्या ही पयस्विनी। हे द्वैतरहित गुहेश्वर, बडे बड़े पंडितों के मुख पर वत्स (बछड़े) ने लात मार दी।

अर्थ ७२—वायु=प्राणवायु। सूत्र=स्वानुभाव (विवेक) सूत्र। गगन= व्योमचक्र। त्रिजगदाधिपति का कोष्ठ=शिवतत्त्वस्थान ब्रह्मरंध्र। सुरधेनु=अमृत। वत्स=कुंडलाग्नि। दोहनपात्र=देहभाव। पयस्विनी=अमृतमय अंग। बंध्या= अन्य अप्राप्त।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि आधारचक्र से उत्पन्न अबोध प्राणवायु को मैंने विवेक रूपी सूत्र से व्योमचक्र में संबद्ध कर लिया फलस्वरूप ब्रह्मरंध्र में, जो त्रिलोकाधिपति 'शिवतत्त्व' का स्थान है, कामधेनुकल्प अमृत फलीभूत होकर स्रवित होने लगा। कुंडलाग्नि को उस अमृतपान करने की उत्कट

इच्छा हुई पर उसकी द्वैत तृप्ति को मैंने नष्ट कर दिया (वत्स का वध कर दिया) और देहभाव (देहोऽहम) रूपी दोहनपात्र फोड़ दिया (त्याग दिया)। इस क्रम से उस परमामृत को मैंने स्वानुभाव रूपी उपाय के द्वारा निकालकर उसका आस्वादन कर लिया फलस्वरूप शिवयोगी बन गया। इसलिये कहते हैं कि उपर्युक्त प्रकार से जो उस अमृत को कुंडलाग्नि में न देकर सेवन करता है वही 'दिव्य शिवयोगी' होता है। पूर्वोक्त अमृत को अंग मुख में आहुति देने से अमृत ही अंग बन जाता है वह अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं होता है। इसी अभिप्राय से पयस्विनी बंध्या बनने का दृष्टांत दिया गया। अंग ही परमामृतस्वरूप बन जाता है। वहाँ से निकालकर मैंने उस अमृत का सेवन कर लिया (तृप्ति पाई)। अतएव 'बंध्या के पयस्विनी बनने' की बात कही। जो इस रहस्य को नहीं जानते वे योगामृत सार की कुंडलाग्नि में आहुति देकर उस सुख से स्वयं वंचित हो गए। पर दिव्य राजयोगी इस रहस्य को जानता है।

७३—करियतलेय अरमनेय सुरधेनु हयनायित्तु। करदुंबातंगे, कै कालिल्ल करु नालूवेरळिन प्रमाणदल्लिहुदु। इद करदुंबातने देव गुहेश्वरा।

वचन ७३—गजमस्तक के प्रासाद पर स्थित सुरधेनु पयस्विनी बनी। दुहकर पान करनेवाले के करचरण नहीं हैं। वत्स (बछड़ा) चतुरंगुल-प्रमाण का है। गुहेश्वर, उसे (सुरधेनु) दुहकर पान करनेवाला ही देव है।

अर्थ ७३—गज='ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अहंकार। मस्तक=उस अहंकार का ज्ञान। प्रासाद=ब्रह्मरंध्र। सुरधेनु=अमृत बिंदु। पयस्विनी=द्रवित होना। कर=संकल्प। चरण=आधारचक्र में स्थिति। चतुरंगुलवत्स=चतुर्दलात्मक कमल।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अहंकार रूपी मत्त गज के ज्ञान रूपी मस्तक पर ब्रह्मरंध्र रूपी प्रासाद है, उसमें अमृत बिंदु रूपी कामधेनु है जो शिवयोगी के लिये क्षीर देती है। जो शिवयोग की साधना-द्वारा उस अमृत का सेवन करना चाहता है उसको चाहिए कि आधारचक्र में स्थित न होकर अर्थात् निराधार पथ में रहकर संकल्प रूपी हस्त के बिना उस अमृत को ग्रहण करे। जो चतुर्दलात्मक कुंडलिनी का मुख बाँधकर वह अमृत 'प्राणलिंग' को समर्पित करता है वही परम शिवयोगी है।

७४—गगन मंडलद सूक्ष्मनाळदल्लि सोऽहम्, सोऽहम्, अन्नुत्ति र्दित्तु ओंदु बिंदु, अमृतद वारिय दणिउंड तृप्तिइंद सुखियादे। गुहेश्वरा निम्मल्लिये एनगे निवासवायित्तु।

वचन ७४—गगनमंडल की सूक्ष्म नाड़ी में एक बिंदु 'शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' कह रहा था। अमृत जल के यथेच्छ पान द्वारा मैं सुखी हो गया। गुहेश्वर, आपही में मेरा निवास हो गया।

अर्थ ७४—गगनमंडल=ब्रह्मरंध्र। सूक्ष्म नाड़ी=सुषुम्ना नाड़ी। बिंदु= अमृत बिंदु।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि ब्रह्मरंध्र में जाने के लिये सुषुम्ना नाड़ी है वही शिवयोग का मार्ग है। उस मार्ग (सुषुम्ना) में 'शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' ध्वनि करनेवाला शिवयोगामृत का संग्रह है। जो उस शिवयोगामृत जल का पान करता है वही परशिवतत्त्व में विश्रांति पाता है।

७५—मोलेइल्लदाविंगे तलेये मोले मनदल्लि उणु कंड्या, मन-दल्लि उणु कंड्या! तासत्तु हालु कुडिय बल्लडे गुहेश्वरनेंब लिंगवु ताने कंड्या।

वचन ७५—देखो, स्तनरहित गाय के लिये शिर ही स्तन है। मन में भोजन करो, मन में ही भोजन करो। जो मृत होकर दूध पीना जानता है वह स्वयं गुहेश्वर लिंग है।

अर्थ ७५—स्तनरहित गाय=कार्यकारण से रहित अमृतबिंदु। शिर=सुज्ञान। मृत होना='अहम् ब्रह्म' इत्याकारक अहंकार का नाश होना।

कार्यकारण इन दोनों से रहित अमृत कामधेनु के समान है उसका सुज्ञान स्तन के समान है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने उस अमृत का यथेच्छ पान कर लिया। जो 'अहम्' भाव रूपी अहंकार को नष्ट कर मन में ही उस अमृत का पान करता है वह स्वयं गुहेश्वर है।

७६—अंबुधि उरियित्तु अवनिय मूलवनरियलु, कूडेरडरोळों-दतिळिदु, वायुव वैयुत्त तुंबि अमृतव कंडु प्राण नाथंगे अर्पितव माडि आ प्रसादर्हिद सुखियादेनय्या गुहेश्वरा।

के मुख में नहीं डाला। पर आधारस्थित 'चिल्लिंग' को देकर वह परम सुखी बन गया।

७८—स्वरद हुळ्ळिय कोंडु गिरिय तटाकक्के होगि हिरियरु ओगरव माडुत्तिपरु गिरिबेयदागि ओगरवागदु। अर्पित विल्लागि प्रसादविल्लु गुहेश्वरा।

वचन ७८—सुस्वर शुक को शिखरी के तट (शृंग) पर ले जाकर बड़े बड़े लोग पाक बनाते हैं। गुहेश्वर, शिखरी के पक्व हुए बिना पाक नहीं बन सकता है। अर्पित हुए बिना प्रसाद कैसा।

अर्थ ७८—सुस्वर शुक=आधारस्थित वायु। शिखरी = (पर्वत) ब्रह्मरंध्र।

आधारस्थान में आकुंचित रहनेवाली वायु को जगाकर बड़े बड़े लोग (हठयोगी) ब्रह्मरंध रूपी शिखरी (पर्वत) में ले जाते हैं और उस (ब्रह्मरंध्र) में रहनेवाले अमृत का पाक बनाने की बात कहते हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उपर्युक्त विधि पूर्वयोग कहलाती है। इससे ब्रह्मरंध्र रूपी पर्वत द्रवित नहीं होता और अमृत की प्राप्ति भी नहीं होती। ब्रह्मरंध्र में ग्राहकमुख नहीं है। अर्थात् उसको प्राप्त करने से 'प्रसाद' (शिवत्व) की प्राप्ति नहीं होती।

७९—चंद्र कान्तद गिरिगे, उदकद संच, सूर्यकान्तद गिरिगे अग्निय संच, परुष गिरिगे रसद संच, बेरसुव भेदविन्नेन्तो अप्पुवनु अग्नियनु पक्कके तंदु अट्टुंब भेदवनु गुहेश्वर बल्लु।

वचन ७९—चंद्रकांत गिरि में उदक का रहस्य है। सूर्यकांत गिरि में अग्नि का रहस्य है। पारस गिरि में रस का रहस्य है। अब मिलन का रहस्य क्या है। अप् एवं अग्नि को पाकयोग्य करके और उनका पाक बनाकर आस्वाद लेने का रहस्य गुहेश्वर जानता है।

अर्थ ७९—जिस प्रकार उदक की कला से युक्त शिला चंद्रकांत, अग्नि की कला से युक्त शिला सूर्यकांत एवं सिद्धरस (पारद) की कला से युक्त शिला पारस कहलाती है उसी प्रकार 'लिंग' की कला से युक्त 'शरण' का अंग शिव (लिंग) कहलाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने उस अंग रूपी

अप् का ज्ञानाग्नि से समरस पाक बना लिया फलस्वरूप मेरा सर्वांग प्रसादकाय बन गया और वह शिव (लिंग) को समर्पित हुआ।

८०—तनु होरगिरलु, प्रसाद ओळगिरलु एन्नय्य निम्म मनक्के मननाचरु। प्राणलिंगदल्लि प्रसादव कोंडडे व्रतक्के भंग गुहेश्वरा।

वचन ८०—स्वामिन्, तन बाहर और प्रसाद भीतर रहने पर भी लोग लज्जित नहीं हो रहे हैं। गुहेश्वर, 'प्राणलिंग' के निमित्त प्रसाद का सेवन करने से व्रत का भंग होगा।

अर्थ ८०—शरीर धारण कर सब लोग बाह्य व्यवहार करते हैं पर कहते हैं कि अंतरंग में हमने ज्ञानानंद प्राप्त कर लिया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस द्वैतज्ञान से सुखानुभव करनेवाले निर्लज्ज हैं। इसलिये जो सर्वांग में 'लिंग' का संबंध हो जाने पर भी उपाधि द्वारा प्राण के लिये शिवप्रसाद का सेवन करता है वह द्वैती है। अतः इस द्वैत बुद्धि से प्रसाद ग्रहण नहीं करना चाहिए।

८१—इष्टलिंगक्के रूपवनर्पिसि द्रव्यशुद्धियायित्तेन्दु, प्राणलिंगक्के आरोगणेयनिक्कुवाग निच्चक्के निच्च किल्बिषवेंदरियरु। इष्टलिंगद प्राणलिंगद आदि अंतवनारु अरियरु। इदुकारण गुहेश्वरा निम्म शरणरु हिंदुगाणदे मुंदुगेट्टरु।

वचन ८१—'इष्टलिंग' के लिये रूप का अर्पण करने से द्रव्य की शुद्धि हो जाती है—ऐसा कहकर 'प्राणलिंग' के लिये जो कुछ अर्पित किया जाता है वह नित्य प्रति किल्विष हो जाता है, इसे कोई नहीं जानता। 'इष्ट एवं प्राणलिंग के आदि-अंत को कौन जानता है। गुहेश्वर, तुम्हारे 'शरण' ने भूत को न देखकर भविष्य को भी नष्ट कर दिया।

अर्थ ८१—सर्वांग ही शिव (लिंग) से संबद्ध है। पर इस रहस्य को न समझकर जो द्वैत बुद्धि से 'इष्टलिंग' को रूप एवं 'प्राणलिंग' को रूपगत रुचि का अर्पण करता और कहता है कि मैं उस प्रसाद का सेवन करूँगा वह द्वैती है। 'इष्टलिंग' 'प्राणलिंग' के तृप्त होने की विधि कोई नहीं जानता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने सर्वांग को शिव के साथ समरस कर लिया।

फलस्वरूप उस शरीर के भूत और भविष्य का नाश कर डाला अर्थात् शरीर का जन्ममरण नष्ट हो गया। इसलिये मैं शिव सुखी हो गया।

८२—मद्दनंबिकोंडोडे रोग माणदिप्पुदे? सज्जनिकेयुळ्ळोडे, प्रसाद काय केडुवुदे, प्राण लिंगवादडे प्राण बेरप्पुदे? प्राणलिंग प्रसादवनु नीवु 'तिळिदु नोडिदरे नाद, बिंदु सूसद मुन्न आदिय प्रसादव भेदिसि कोंडरु, गुहेश्वरा निम्म शरणरु।

वचन ८२—विश्वासपूर्वक औषध का सेवन करने से क्या रोग का निवारण नहीं होता। सज्जनता रहने से क्या प्रसादकाय का नाश होगा। प्राण ही लिंग हो जाने से क्या अन्य प्राण (वायु) रहेगा। आप 'प्राणलिंग प्रसाद' को जानिए। गुहेश्वर, आपके 'शरण' ने नाद एवं बिंदु का लय (समरस) होने के पूर्व 'आदिप्रसाद' का ग्रहण किया।

अर्थ ८२—जिस प्रकार विश्वासपूर्वक औषध का सेवन करने से रोग का निवारण होता है उसी प्रकार सद्भक्ति एवं सदाचार से जो शरीर के पूर्वाश्रय को नष्ट कर 'लिंगवेदी' हो जाता है उसके शरीर को किसी प्रकार की बाधा नहीं है। क्योंकि वह (शरीर) प्रसादकाय हो जाता है। उस शरीर में प्राण ही शिव (लिंग) होता है अतः उसमें अन्य प्राणवायु नहीं रहती। प्रभुदेवजी कहते हैं कि नाद-बिंदु रूपी शिवशक्ति का समरस होने के पूर्व मैंने उस प्राणलिंग' रूपी प्रसाद का सेवन कर लिया।

८३—खण्डा खण्ड संयोगविल्लद अखडितन निलवु तन्नल्लि अल्लदे मत्तेल्लियू इल्ल। बयल हिरियरु बयलने अरसुवरु अल्लि तिळिवुंटे हेळा गुहेश्वरा।

वचन ८३—खंडाखंड के संयोग से रहित अखंडित का स्वरूप स्व में ही है अन्यत्र कहीं नहीं। आकाश के पंडित आकाश की खोज करते हैं। गुहेश्वर, बताओ क्या वहाँ ज्ञान है।

अर्थ ८३—इस वचन का भाव यह है कि 'शरण' का स्वरूप खंडित एवं अखंडित से अतीत और स्वतः सिद्ध है। इस रहस्य को न जानकर जो शून्य की कल्पना करता है और पुनः उसको साकार में ले आकर उसकी खोज करता है वह भ्रांत है। उसका ज्ञान मिथ्या है।

८४—अष्टांग योगदल्लि यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यानधारण समाधियेंदु एंटु योगउंटु। अल्लि अळिदु कूडुवदोंदु योग। ई एरडु योगदोळगे अळियदे कूडुव योगवरिदु काणा गुहेश्वरा।

वचन ८४—अष्टांगयोग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि ये आठ योग हैं। उनमें लयपूर्वक मिलन का एक योग है। गुहेश्वर, इन दो योगों में लय के बिना मिलन का योग श्रेष्ठ है।

अर्थ ८४—यह कहना कथन का प्रयास मात्र होता है कि अष्टांग-योगाभ्यास के द्वारा हम परब्रह्म का साक्षात्कार करेंगे। 'अहम्' इत्याकारक अहंकार के परित्यागपूर्वक जो अपने को शिव (शिवोऽहम्) समझता है उसका योग प्रयासरहित 'राजयोग' है। उपर्युक्त उस सगुण योग (अष्टांग-योग) से स्व के लय के साथ ही ब्रह्म में लय होता है। पर निर्गुण योग से सद्योमुक्ति होती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन दोनों (निर्गुण-सगुण) योगों में निर्गुण योग ही श्रेष्ठ है।

८५—नाभिमंडलद उदयवे उदय मध्य निराळद निलविन परिय-नोडा? पवन शूलद मेले परिणामवय्या ऊर्ध्वमुखदल्लि उदयवायित्त कंडे, मिंचुव तारकि इदेनो गुहेश्वरा।

वचन ८५—नाभिमंडल का उदय ही उदय है। मध्य निराविल-स्वरूप की रीति देखो। स्वामिन्, परिणाम पवनशूल पर है। गुहेश्वर, यह क्या है। मैंने ऊर्ध्वमुख से उत्पन्न होता हुआ प्रकाशमान नक्षत्र देखा।

अर्थ ८५—नाभिमंडल का उदय=आधार से उत्पन्न सत्प्रणव (विवेक) का मणिपूरक चक्र में जाकर स्वतः सिद्ध होना। मध्यनिराविल-स्वरूप की रीति=सुषुम्ना नाड़ी में ब्रह्मरंध्र को प्राप्त सत्प्रणव विवेक। परिणाम=व्योम-चक्रस्थ अमृतपान से प्राप्त सुख। पवनशूल=व्योमचक्र।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि आधार (चक्र) से उत्पन्न सत्प्रणव (विवेक) मणिपूरक चक्र में स्वतः सिद्ध हो गया। पश्चात् उसने सुषुम्ना नाड़ी से ब्रह्मरंध्र को प्राप्त कर लिया और व्योमचक्र में जाकर तत्रस्थ अमृत का सेवन

कर वह सुखी बन गया। अमृत सेवन से प्राप्त सुख से उर्ध्वमुख नामक निर्गुण योग के द्वारा उत्पन्न महाज्ञान प्रभा बन गया।

८६—स्वरवेंब कुदुरेगे विष्णुवेंब कडिवाण चंद्र सूर्यरेंब अंकणि ब्रह्मने हल्लण सुराळवेंबल्लि निराळवायित्तु गुहेश्वरनेंब राहुतंगे।

वचन ८६—स्वर नामक अश्व को विष्णु रूपी लगाम, सूर्यचंद्र नामक पादाधार (रकाब) ब्रह्म ही पल्ययन (जीन) है। गुहेश्वर नामक घुड़सवार का साकार निराविल हो गया।

अर्थ ८६—अश्व=सत्प्रणव। विष्णु=आदिशक्ति। सूर्यचंद्र=इड़ा, पिंगला। ब्रह्म=ब्रह्मनाड़ी।

सत्प्रणव रूपी वाहन आदिशक्ति द्वारा सचेत किया जाता है अर्थात् सत्प्रणव को आदिशक्ति द्वारा उद्‌बुद्ध किया जाता है। वह इड़ा एवं पिंगला के मार्ग का अवरोध करता है। वह ब्रह्मनाड़ी के ऊपर वास करता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस सगुण योग से महानुभाव रूपी प्राणलिंग मनोमूर्ति बन गया फलस्वरूप मेरे लिये वह निर्गुण योग हो गया और साकार (शरीर) निराकार (निराविल) बन गया।

८७—सासिरदेन्टनेय दळदल्लि खेचरि चल्लणगट्टि वासुकियफण मणियु प्रज्वलिसुवद कंडे असुररेल्ला तमतमगंजि ओसरिसि मुंदे नडेवल्लि नाशिक मनव मुसुकुवद कंडे ता सुखस्वरूपनाद सुखमुख प्रवेशदिंद गोसासिर नडेगेट्टवु गुहेश्वरा निम्मनेरेदनागि।

वचन ८७—अष्टोत्तर सहस्रवें दल पर खेचरी (कच्छ) बाँधकर वासुकी की फणमणि प्रज्वलित हो रही थी उसे मैंने देखा। समस्त असुरों के आपे से भय खाकर पलायन करते समय मन में नासिका के प्रवेश को मैंने देखा। (शरण) स्वयं सुखस्वरूप बन गया। सुखप्रवेश से गोसहस्र नष्ट हो गए। गुहेश्वर, मैं आप में मिल गया।

अर्थ ८७—खेचरी (कच्छ)=खेचरी मुद्रा। वासुकी=कुंडलिनी। फणमणि=ज्ञानामृत प्रभा। असुर=करण। नासिका=सद्वासना। गोसहस्र सहस्र नाड़ियों में संचरण करनेवाली वायु।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि कुंडलिनी स्थान से उत्पन्न सुप्तभुजंग खेचरी-मुद्रा में स्वस्थ होकर सहस्रदल कमल में ग्रस्तमुख हुआ और वहाँ ज्ञान-प्रभामृत का सेवन कर प्रकाशमान हो गया। फलस्वरूप असुर कर्मवाले समस्त करण (इंद्रियाँ) अपने विकारों को प्रकट करने में असमर्थ हो गए। उनके विकार व्यक्त होने के पूर्व नष्ट हो गए। इस प्रकार समस्त करणों का लय होते समय सद्वासना रूपी नासिका ने मन में प्रवेश किया। जब सद्वासना सर्वत्र व्याप्त हो गई तब सहस्र सूक्ष्म नाड़ियों में संचार करनेवाली प्राणवायु स्वयं शिवतत्त्व-स्वरूप हो गई और उस प्राप्त सुख प्रसन्नता से उसने अपनी प्रकृति का परित्याग कर दिया। फलस्वरूप मैंने निर्गमन प्राप्त किया।

८८—पंचीकृतवेंब पट्टणदोळगे ईरैदु केरि नाल्कैदु बीदियल्लि हाव कंडे। हिंडु गट्टि आडुव मदगजव कंडे, केसरिय कंडु मन बेदरित्तु नोडा, मूवररसिगे इप्पत्तैदु परिवार अंजलंजि बेळगायित्तु गुहेश्वरा।

वचन ८८—मैंने पंचीकृत नगर में पंचकद्वय (दस) गली एवं (उनके) पंचक चतुष्टय (२०) में एक सर्प देखा। समूह के रूप में क्रीड़ा करनेवाले मत्तगज देखे। केसरी को देखकर मन भयग्रस्त हो गया। गुहेश्वर, तीन राजाओं के पंचविंश परिवार के भय से शंकित होते ही सूर्योदय हो गया।

अर्थ ८८—पंचीकृत नगर = पंचभूतात्मक शरीर। पंचकद्वयगली = दशेंद्रियाँ। पंचकचतुष्टय मार्ग=दशवायु (प्राण, अपान, व्यान उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय) और दशेंद्रियाँ। सर्प=जीवभाव-भ्रांति। मत्तगज=अष्टमद (संस्थित, तृणीकृत, वर्तिनी, क्रोधिनी मोहिनी, अति-चारिणी, गंधचारिणी, वासिनी)। केसरी (सिंह)=सुज्ञान। तीन राजा= त्रितत्त्व। पंचविंश परिवार=पच्चीस तत्त्व (पंचभूत, पंचतन्मात्रा पंचकर्मेन्द्रिय, पंचज्ञानेन्द्रिय अंतकरण चतुष्टय और आत्मा)। सूर्योदय=सुज्ञानोदय।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि पंचीकृत से निर्मित देह रूपी नगर में दशनाड़ी रूपी दस गलियाँ हैं। उनमें दशेंद्रिय एवं दशवायु के (२०) मार्ग हैं। उन मार्गों में जीवभाव भ्रांति रूपी विषसर्प तन्मुख हो गया है (जीव दशेंद्रिय एवं दशवायु की ओर अग्रसर हुआ है) इसे मैंने देखा। उसमें अष्टमद रूपी मत्तगज क्रीडा कर रहे हैं उनको मैंने देखा। सुज्ञान का उदय हो जाने से अष्टमद एवं उन समस्त करणों की निवृत्ति हुई और मन के समस्त संशय

एवं दोष की भी निवृत्ति हो गई। जब मन का संशय नष्ट हुआ तब त्रितत्त्व भाव से उत्पन्न पच्चीस तत्त्व भी नष्ट हो गए इसलिये वे सब शिव (लिंग) तत्त्व में परिणत हुए। फलस्वरूप संपूर्ण शरीर में शरीर सुज्ञान का प्रकाश व्याप्त हुआ।

८६—अप्पुविन बाविगे तुप्पद घट सप्पगे सिहि एंबवेरडिल्लद रुचि, परुष मुट्टद होन्नु करसद बोजुगनु, बेरसदे बसुरायित्त कंडे, अहा अरिविनाप्यायन मरहिन सुखवो, इदनरियद कारण मूरुलोक-वळियित्तु गुहेश्वरा।

वचन ८६—जलकूप के निमित्त घृत का घट (है) स्वाद, अनास्वाद से रहित रुचि (है) पारस से अस्पृष्ट सुवर्ण (है) अनिमंत्रित विट के साथ संग के बिना गर्भ-धारण हुआ इसे मैंने देखा। अहा क्या यह ज्ञान-भोजन है या विस्मरण का सुख। गुहेश्वर, इसे न जानने के कारण ही तीनों लोक नष्ट हो गए।

अर्थ ८६—जलकूप=संसार-विषय के परित्यागपूर्वक परमामृत रूपी जल से भरा हुआ शिवशरीर। घृत का घट=शुद्ध चित्त। स्वाद-अनास्वाद से रहित रुचि=परमामृत का सेवन। पारस से अस्पृष्ट सुवर्ण=परवस्तु स्वरूप हो जाना अनादृत विट=परवस्तु।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि संसार विषय-रस से भरा हुआ शरीर अपने पूर्वाश्रय का त्याग कर सर्वांग लिंगमय बन गया। फलस्वरूप वही शरीर परमामृत रूपी जल से परिपूर्ण हो गया। उस अमृत का उपयोग करनेवाले शुद्ध चित्त रूपी घट में 'घृतकाठिन्यूवन्मूर्तिः सच्चिदानंद लक्षणम्' उक्ति के अनुसार उस सच्चिदानंद अमृत को भरकर अविरल शिव मुख से भोजन करने पर जो आस्वाद मिलता है उसका वर्णन नहीं हो सकता। अर्थात् उस अमृत सेवन के पश्चात् शब्द द्वारा कोई भी उसका वर्णन नहीं कर सकता। परमामृत सुख का अनुभव नहीं हो सकता अतएव वह पारस से अस्पृष्ट सुवर्ण है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि आह्वान के बिना मुझे परवस्तु भी प्राप्ति हुई और अभेदरूप से संग हो गया। फलस्वरूप मैं परमानंद से भर गया। इस प्रकार की ज्ञानतृप्ति की परवशता ही परम सुख है। इस सुख को न जानने के कारण तीनो लोक नष्ट हो गए।

६०—तप्पि नोडिदरे मनदल्लि अच्चोत्तिदंतिर्दित्तु। इप्पेडेय विचारिसि नोडिद्डे इल्लदन्तायित्तु। तेप्पद जलदपादाधातदंते कर्तृत्ववेल्लियदो गुहेश्वर।

वचन ६०—विस्मरण से देखने पर मन में छाप की भाँति (कुछ) हुआ (उसके) वासस्थान का विचार करने पर (उसका) अभाव हो हो गया। गुहेश्वर, (यह) जलफेन पर पादाघात करने की भाँति है। कर्तृत्व कहाँ है।

अर्थ ६०—ज्ञानोदय के पश्चात् शरण ने अपने शरीर के गुणादि प्रपंच को सामने रखकर देखा। वह प्रपंच उसके मन में संकल्प के रूप में अपनी छाप डाल गया। पर उस प्रपंच के मूल के विषय में विचार करने पर विदित हुआ कि वह (प्रपंच) मिथ्या है। उस मिथ्या स्वरूप को जानने का अभिलाष करने पर उसका पता वैसे ही नहीं लगा जैसे पादाघात करने से जलफेन का पता नहीं चलता। इसलिये प्रभुदेवजी कहते हैं कि उसमें सुज्ञान की भाँति कर्तृत्वभाव नहीं है।

६१—निराळवेंब कूसिंगे बेण्णेयनिक्कि हेसरिट्टु करेदवरारो, अकटकटा शब्दद लज्जय नोडा गुहेश्वरनरियद अनुभविगळेल्लर तरकट गाडित्तु।

वचन ६१—निराविल नामक शिशु को नवनीत देकर नामोच्चारणपूर्वक कौन बुलाता है। कष्ट, कष्ट देखो, नामोच्चारण लज्जाजनक है। गुहेश्वर को न जाननेवालों को शिवतत्त्व पीड़ा देता है।

अर्थ ६१—इस वचन का भाव यह है कि निराविल एवं अनिर्वाच्य परब्रह्म ज्ञानगम्य नहीं है। पर जो उसे ज्ञानगम्य बनाकर फिर शब्दों की रचना द्वारा हुआ वागद्वैत करते हैं उनका आच्छादन (विस्मरण उत्पन्न होने से) पीड़ा देता है। अतः प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस वस्तु को ज्ञानगम्य अथवा शब्दगम्य नहीं बनाना चाहिए।

६२—किञ्चिन कंडदन्ते होरेयल्लिपिंयय्या, बेंकिय बेळग कंडे इदुकारण निम्म कंडे परमज्ञानि गुहेश्वरा।

वचन ६२—स्वामिन्, भस्मगत अग्नि की भाँति आप आश्रय में हैं। परमज्ञानी गुहेश्वर, मैंने अग्नि का प्रकाश देखा अतएव आपको भी देखा।

अर्थ ६२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अग्नि भस्म में छिपी रहती है एवं अग्नि में प्रकाश छिपा रहता है उसी प्रकार तनुत्रय में 'महालिंग' छिपा रहता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो उस 'महालिंग' का साक्षात्कार करता है वही परमज्ञानी है।

६३—धातु मातु पल्लुटिसिद्डे गमनवेल्लियदो ? ध्यान मौनवेंबुदु तनुगुण संदेहवय्या सुज्ञान भरित, अनुपमसुखि गुहेश्वरा निम्म शरणनु।

वचन ६३—धातु (एवं) बातों का परिवर्तन हो जाने पर गमन (अनुभाव) कहाँ होगा। ध्यान, मौन शरीर का गुण है, वह (गुण) संदेहास्पद है। गुहेश्वर, तुम्हारा शरण सुज्ञानभरित एवं अनुपम सुखी है।

अर्थ ६३—जो स्वकीय रूप को नहीं जानता और द्वैत शब्द के द्वारा वागद्वैत करता है उसको 'अनुभाव' की प्राप्ति नहीं होती। अनिर्वाच्य कहकर जो ध्यान, मौन एवं संकल्प करता है वह 'अनुभव सुखी' नहीं है। क्योंकि वे सब शारीरिक गुण हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो उपर्युक्त दोनों रीतियों का परित्याग करता है वही परिपूर्ण ज्ञानी है।

६४—पृथ्वि, अप्पु, तेज, वायु आकाशद कोनेय मोनेय मेले इप्पत्तैदु ग्रामंगळु, चवुषष्ठि पट्टण छप्पन्न बीदिगळ दांटि छत्तीस पुरद रचनेय नोडबल्लेहेवेंबुदु त्रिकोणद्वारमंय्पद ऐवत्तेरडक्षरद शासनद लिपिय तिळियलोदि एंबत्तुनाल्कु लक्षद्वारदोळगे होक्कु होरडुव जीवन तिळिदु दक्षिण द्वारदिंदुत्तर द्वारक्के बंदु पश्चिमवायुव कोनेय मोनेय मेले बेळगुव ज्योतिय निम्मशरण बल्लनल्लदे लोकद ज्ञानिगळेत्त बल्लरु गुहेश्वरा।

वचन ६४—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु एवं आकाश के अंतिम शिखर पर पंचविंश ग्राम, चतुःषष्टि नगर और छप्पन मार्ग हैं। उनको पार कर जो

छत्तीस नगरों की रचना देखना चाहते हैं उनको चाहिए कि त्रिकोण द्वारस्थ मंडप के बावन (५२) अक्षर की शासन लिपि पढ़कर जानें एवं चौरासी लाख द्वारों में प्रवेश कर जानेवाले जीव को भी जानें। दक्षिण द्वार से उत्तर आकर पश्चिम वायु के अंतिम शिखर पर प्रकाशमान ज्योति को भी गुहेश्वर, द्वार में तुम्हारा शरण ही जानता है। लौकिक पंडित कैसे जानेंगे।

अर्थ ६४—पृथ्वी अप्...अंतिम शिखर पर=पंचभूतात्मक शरीर में वर्तमान अहंकार के ऊपर। पंचविंश ग्राम=पचीसतत्त्व—पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रा, पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय, अंतःकरण चतुष्टय, आत्मा। चतुःषष्ठि नगर=चौंसठ कारणों का समूह। छप्पन मार्ग=छप्पन सूक्ष्म नाड़ियाँ। छत्तीसतत्त्व=कर्तृसादाख्य, कर्मसादाख्य, मूर्तिसादाख्य, अमूर्तिसादाख्य, शिवसादाख्य, पंचसादाख्य, निवृत्तिकला प्रतिष्ठाकला, विद्याकला, शांति-कला, शांत्यतीतकला, पंचकला, एवं एक शिवतत्त्व (एकादश विद्यातत्त्व) पंच ज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय, पंचमहाभूत पंचतन्मात्रा, अंतःकरणचतुष्टय एवं आत्मतत्त्व ये पच्चीस अंगतत्त्व। त्रिकोणमंडप=मणिपूरक। बावन अक्षर=अ, आ इत्यादि ५२ बीजाक्षर देखिए। चौरासी लाख द्वार = चौरासी लाख जीवयोनि। उत्तर दक्षिण द्वार = पिंगला और इड़ा पश्चिमवायु=सुषुम्ना में चलनेवाली वायु।

पंचभूतात्मक पिंड के अहंकार के शिखर पर पंचविंश भूततत्त्व हैं। वहाँ चौसठ प्रकार के कारण एवं छप्पन सूक्ष्म नाड़ियाँ मार्ग के रूप में हैं। इनको पार कर छत्तीस तत्त्वों को जान लेना चाहिए। उनको जानने की प्रक्रिया अधोलिखित है। त्रिकोणमंडप रूपी मणिपूरक कर्णिका में 'नाभि-मध्ये दिवाकरः' श्रुति प्रमाण से, ज्ञानस्वरूप होकर प्रकाशमान षट्चक्र स्थान में वर्तमान बावन बीजाक्षरों को जान लेना चाहिए। पश्चात् चौरासी लक्ष जीवयोनियों में प्रविष्ट होकर निकलनेवाले जीव का स्वरूप समझ लेना चाहिए। इसके पश्चात् इड़ा और पिंगला नाड़ी में चलनेवाली वायु को रोक लेना चाहिए और प्राणवायु को पश्चिम (सुषुम्ना) नाड़ी में ले जाकर सहस्रदल कमल में परिपूर्ण अमृत का यथेष्ट सेवन करना चाहिए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार अमृत सेवन कर परम ज्योतिस्वरूप होने-वाला शरण ही श्रेष्ठ है। इस रहस्य को लौकिक लोग नहीं समझते।

६५—अग्निमुट्टलु तृणभस्मवादुदनेल्लरु बल्लरु। तृणदोळगे अग्नि-युटेंबुद तिळिदु नोडिरे। अग्नि जलव नुंगित्तु, जल अग्निय नुंगित्तु।

पृथ्वि एल्लव नुंगित्तु आकाशवनेय्दे नुंगित्तु । अरिदिहवेंब जडरु नीवु तिळिदु नोडिरे तिळय बल्लरे गुहेश्वरन निलवुताने ?

वचन ६५—सब लोग जानते हैं कि अग्नि का स्पर्श होने से तृण भस्म हो जाता है। तृण में ही अग्नि छिपी है इसे जानकर देखो। अग्नि ने जल निगला, जल ने अग्नि निगली, (अग्नि ने) समस्त पृथ्वी को निगला एवं आकाश को पाकर उसे भी निर्गीण कर लिया। हे सर्वज्ञंमन्य जड़ (लोगों) इसको जानकर, देखो। जो जानता है वह स्वयं गुहेश्वर ही है।

अर्थ ६५—अग्नि=ज्ञान । जल=मन। पृथ्वी=तनुत्रय। आकाश= आत्मतत्त्व।

लोग कहते हैं कि जिस प्रकार अग्नि का स्पर्श हो जाने से तृण भस्म हो जाता है उसी प्रकार अंग में लिंग का स्पर्श हो जाने से अंग ही 'लिंग' हो जाता है। पर यह मिथ्या है क्योंकि अग्नि का स्पर्श होने के पूर्व ही उस तृण में अग्नि छिपी रहती है जिसे वे लोग नहीं जानते। लिंग का स्पर्श होने के पूर्व अंग में निश्चित रूप से लिंग का आवास होता है, पर वह आच्छादित रहता है। अतः जब 'लिंग' स्पष्ट होता है तब 'लिंग' 'लिंग' ही होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब यह स्थिति प्राप्त होती है तब ज्ञान रूपी अग्नि मन रूपी जल का आच्छादन करती है। फलस्वरूप मन ही सुज्ञानरूप होता है। इसके पश्चात् स्वस्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति होती है वह पृथ्वी नामक तनुत्रय का और आत्मतत्त्व का आच्छादन करता है। जड़ बुद्धिवालों को इस रहस्य का ज्ञान नहीं हो सकता। जो जानता है वही शुद्ध 'शरण' एवं वही निजतत्त्व स्वरूप' है।

६६—वेद प्रमाणवल्ल शास्त्र प्रमाणवल्ल, शब्द प्रमाणवल्ल काणि भो ? लिंगके अंगसंगद मध्यदल्लिदु बेचिट्टु बळसिद गुहेश्वरा निम्मशरण।

वचन ६६—'लिंग' के लिये वेद प्रमाण नहीं है। शास्त्र भी प्रमाण नहीं है एवं शब्द भी प्रमाण नहीं है। गुहेश्वर, तुम्हारे 'शरण' ने अंग के संसर्ग में रहकर (लौकिक) व्यवहार किया।

अर्थ ६६—इस वचन का भाव यह है कि 'लिंग' के लिये वेद प्रामाण्य

या शास्त्र प्रामाण्य नहीं है। जिनके सर्वांग में 'लिंग' का संबंध हो जाता है उन्हीं के अंतरंग में वह निहित रहता है।

६७—अग्निमुट्टिदुओ, आकाशदल्लुदेयो, उदक मुट्टदुवो निराळ दल्लुदेयो ब्रह्मरंध्रदल्लुदेयो भ्रमिसदे नोडा। आवंगे असदल आवंगेयू अरिय बारदु, एनुमाये हेळा गुहेश्वरा।

वचन ६७—क्या अग्नि का स्पर्श हो गया, क्या (वह तत्त्व) आकाश में है। क्या उदक से स्पृष्ट है क्या निराविल में है। क्या ब्रह्मरंध्र में है, निर्भ्रांत होकर देखो। सभी के लिए असाध्य है कोई (वहाँ) नहीं जा सकता। बताओ गुहेश्वर, यह कैसी माया है।

अर्थ ६७—अग्नि=कुंडलाग्नि। आकाश=व्योमचक्र। उदक=मन। निराविल=शिवतत्त्व।

शिवानुभाव योग के द्वारा कुंडलाग्नि जगा देने से वह सुज्ञानाग्नि में परिणत होकर सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा व्योमचक्र पर आ पहुँचती है। उसमें लिंगानुभावत्व प्राप्त होता है फलस्वरूप मन उन्मनतत्त्व स्वरूप हो जाता है और लिंगात्मभाव की कला से युक्त होकर परम शिवतत्त्व में विश्रांति पाता है। जब मन परमशिवतत्त्व में विश्रांति पा लेता है तब वहीं स्थायी हो जाता है। अयः उस (निराविल ब्रह्मतत्त्व) को कोई नहीं जान सकता।

६८—ग्राम मध्यद मेलण मामर सोम सूर्यर नुंगित्तल्ला! अमर गणंगळ नेमद मंत्र ब्रह्मांड कोटिय मीरित्तल्ला, सुमन सुज्ञानदल्लाडुव महिमंगे निर्मलवायित्तु गुहेश्वरा।

वचन ६८—ग्राममध्यगत आम्र वृक्ष ने सोम-सूर्यों को निगला। अहा अमरगणों के नियम का मंत्र कोटि ब्रह्मांड से अतीत हो गया। गुहेश्वर, सुमन-सुज्ञान में क्रीड़ा करनेवाला महात्मा निश्चिंत हो गया।

अर्थ ६८—ग्राम=शरीर। आम्रवृक्ष=विवेक। सोम-सूर्य=इड़ा-पिंगला। अमरगण=मायिक व्यापार से मुक्त एवं नित्यपदप्राप्त समस्त करण।

शरीर में उत्पन्न विवेक रूपी आम्रवृक्ष ने अंतरंग में विस्तृत रूप से बढ़कर (व्याप्त होकर) सूर्यचंद्र रूपी इड़ा और पिंगला वायु की भिन्न वृत्ति को नष्ट कर दिया। उस सद्विवेक से परिपक्व अंतरंग के समस्त करण अपनी

पूर्व वृत्तियों का परित्याग कर शिवभाव प्राप्त किया। फलस्वरूप नित्यपद की प्राप्ति हुई और वे (करण) शिवध्यानपरायण हो गए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब समस्त करण सुज्ञान से युक्त हो गए तब उनकी ज्ञानप्रभा अनंत कोटि ब्रह्मांड से भी अतीत (परे) हो गई। इस प्रकार नित्यपदप्राप्त शिवयोगी का मन सुज्ञान में लीन हो गया और उसे परम आनंद मिला।

६६—पंचब्रह्म मूर्ति प्रणवमंत्ररूप, पंचमुख, दशभुज, फणिय मणिय मेले नोडुत्तिद्दाने। समते समाधि एंब समरसदोळगे चंद्र-कान्तद कोडदल्लि अमृतव तुंबि कोडनोडेयदे बेळगुत्तिदे गुहेश्वरा निम्मशरण।

वचन ६६—पंचब्रह्ममूर्ति प्रणव मंत्रस्वरूप है। उसके पंच मुख एवं दस भुज हैं (और) वह फणामणि के ऊपर देख रही है। गुहेश्वर, तुम्हारा शरण समता समाधि के सामरस्य से चंद्रकांत घट में अमृत भरकर उस घट का नाश किए बिना प्रकाशमान हो रहा है।

अर्थ ६६—पंचब्रह्ममूर्ति=पंचभूत का नाश होने के पश्चात् पंचब्रह्मसे युक्त शरीर। प्रणवमंत्र=प्रणव ही प्राणस्वरूप है। पंच मुख=पंच ज्ञानेंद्रियों रूपी मुख। दस भुज=दस वायु। फणामणि=सुप्तभुजंग की प्रभा। चंद्रकांत घट= शिवयोगी का शरीर।

पंचभूत से उत्पन्न शरीर ने अपने पूर्वरूप का परित्याग किया और वह पंचब्रह्म से युक्त हो गया। उस पिंडमें प्रणवमंत्र प्राणरूप में प्रतिष्ठित हुआ अर्थात् प्राण ही प्रणवस्वरूप बना। उसको श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, एवं घ्राण ये पाँच मुख और दस वायु (प्राण आदि) भुजके समान हुए। इस अवस्था की प्राप्ति के अनंतर 'शरण' कुंडलाग्नि के सुप्त भुजंग रूपी सुज्ञान की प्रभा को देखने में एकाग्र हो गया। उस एकाग्रता से उसको समरस समाधि की प्राप्ति हुई। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार स्वस्वरूप को देखनेवाले उस शिवयोगी का शरीर ही चंद्रकांत घट बना और उस शरीरमें स्थित सुख रस अमृत बना। इस प्रकार के अमृत रस से भरे हुए चंद्रकांत घट रूपी शरीर का नाश नहीं होता। वह महाप्रकाश में प्रकाशमान रहता है।

१००—कंगळ बेलग कल्पिस बारदु, कर्णद नादव वर्णिस बारदु, जिह्वेय रुचिगे प्रति इल्लवेंदुदु, मतिगे महाघनवय्य सुषुम्न नाळद

सुयिधानव प्रमाणिसबारदु, अणुरेणु तृण काष्ठदोळगे भरित मनोहर निंद् निराल गुहेश्वरा।

वचन १००—नेत्र के प्रकाश की कल्पना नहीं कर सकते, श्रोत्रनाद का वर्णन नहीं कर सकते, जिह्वा की अनुपम रुचि है। महाघन सुषुम्ना नाड़ी की शांति की कोई उपमान नहीं है। गुहेश्वर, मनोहर एवं निराविल का स्वरूप अणुरेणु-तृण-काष्ठ में भरा है।

अर्थ १००—नेत्र=सुज्ञान। नाद=प्रणव। जिह्वा की रुचि=शिवार्पित सुख। महाघन=महाशिवतत्त्व।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मुझे जो सुज्ञान प्राप्त हुआ है मैं उसकी कल्पना नहीं कर सकता। मेरे अनाहत रूपी कर्ण में जो नाद हो रहा है उसका वर्णन शब्द द्वारा नहीं हो सकता और वह शब्दपथ में नहीं लाया जा सकता। शिवार्पित भावसे प्राप्त सुख की रुचि की कोई उपमा नहीं है। अनुभाव से युक्त महाघन प्रकाश को निर्गुण योग की उपमा नहीं दे सकते। इस स्थिति को प्राप्त शरण चराचर में व्याप्त हो गया। अर्थात् जो इस अवस्था को प्राप्त करता है वह साक्षात् शिव होता है।

१०१—स्थूल सूक्ष्मदोळगे बेळगुव महा बेळगागि होळेव ज्ञान ज्योतिदुळगळनेल्लव मीरि नेळल नुंगिद् बिसिलिनोळगे चंद्रमनुदय। जलधि वळयद् बेळस हेळलारळवल्लु, आळु आळन नुंगि ईरेळु भुवनव दान्टि गुहेश्वर निंद् निलवु होरगु ओळगने नुंगित्तु।

वचन १०१—स्थूल-सूक्ष्म में प्रकाशमान महाप्रकाश स्वरूप होकर देदीप्यमान ज्ञानज्योति के दलों से आगे छाया को निगीर्ण किए हुए सूर्यातप में चंद्र का उदय है। जलधिवलय के विषय में कुछ कहते नहीं बनता। गुहेश्वर का स्वरूप समस्त व्यक्ति को निगीर्ण कर चतुर्दश भुवन से अतीत हो बाह्याभ्यंतर में व्याप्त हो गया।

अर्थ १०१—स्थूल=शरीर। सूक्ष्म=सूक्ष्म शरीर। महाप्रकाश=ज्ञान-ज्योति का प्रकाश। छाया=विस्मरण। सूर्यातप=ज्ञानप्रकाश। चंद्र=अमृत। जलधि=परमामृत।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि शरण के (मेरे) बाह्याभ्यंतर में ज्ञान की ज्योति व्याप्त हो गई। सुज्ञानज्योति षट्चक्रों के समस्त दलों पर व्याप्त होकर

सर्वातीत हो गई। उसने विस्मरण रूपी छाया निगीर्ण कर ली और उससे अमृत रूपी सुधाकर की उत्पत्ति हुई। इस सुधाकर से प्राप्त आनद की उपमा मैं किसी वस्तु से नहीं दे सकता। इस अवस्था को प्राप्त 'शरण' (मै) समस्त ब्रह्माड से अतीत एवं बाह्यातर में व्याप्त हो जाता है।

१०२—प्राणलिंग परापरवेंदरिदु, अणुरेणु तृण काष्ठदोळगे कूडि परिपूर्ण सदाशिवनेंदरिदु, इन्तुक्षणवेदि अंतरंगव वेदिसल्के अगणित अक्षेश्वर तानेंदरिदु प्रणवप्रभेयमेलण परंज्योति तानेंदरिद कारण गुहेश्वरा निम्मशरणनु उपमातीत।

वचन १०२—जो प्राणलिंग के परापर, अणुरेणु तृणकाष्ठ में व्याप्त परिपूर्ण सदाशिव के रूप में समझता है (ऐसा) वह क्षणवेदी है अतरंग में प्रवेश कर स्व को अगणित अक्षेश्वर एवं प्रणवप्रभा के ऊपर परज्योतिस्वरूप समझता है अतएव गुहेश्वर, तुम्हारा शरण उपमातीत है।

अर्थ १०२—जा बहिरंतरंग में व्याप्त 'प्राणलिंग' को 'सचराचर में परिपूर्ण है' ऐसा समझता है वह क्षणवेदी है। वह एक क्षण में अक्षय गणेश्वर हो जाता है। इस प्रकार का शरण प्रणवब्रह्म के ऊपर 'असत्तिष्ठद्-शागुलम्' उपमतीत है।

१०३—नारिहरियित्तु, बिल्लुमुरियित्तु अंबेन माडुवदु। एलेले नोडिरण्ण? होत्तुहोयित्तु, नेमनीरडिसित्तु एनुकारण हेळा गुहेश्वरा।

वचन १०३—मौर्वी कट गई, धनुष टूट गया। तो बाण क्या करे। अरे देखो भाई, समय बीत गया, नियम तृषित हो गया। गुहेश्वर, बताओ ऐसा क्यों।

अर्थ १०३—मौर्वी=शिवभाव। धनुष=मन। बाण=ज्ञान।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मेरी शिवभाव (शिवोऽहम्) रूपी मौर्वी कटी और मन रूपी धनुष भी टूटा तो ज्ञान रूपी बाण क्या कर सकेगा अर्थात् संकल्प-विकल्पात्मक मन का जब लय हुआ तब ज्ञान के लिये कोई विषय नहीं रह गया। इस प्रकार मैं निर्विषय हो गया और इस निर्विकार अवस्था से समय व्यतीत हो रहा है। अतएव मेरा नियम भी विशेष रूप में चल रहा है।

१०४—आकाशव कप्पे नुंगिदरे आगळे हत्तित्तु राहु नोडिदरे

अपूर्व वतिशय। अंधक हाववहिडिद्। इदु कारण लोकक्के अरुहदे नानरिदेनु गुहेश्वरा।

वचन १०४—दर्दुर (मेंढक) ने आकाश निगला तो उसी समय राहु ने चढ़ाई की देखो, यह अपूर्व एवं अतिशय है। अंधे ने सर्प को पकड़ लिया। इसलिये गुहेश्वर, इसे लोक से न कहकर मैंने स्वयं समझ लिया।

अर्थ १०४—आकाश=आत्मा (आत्मा आकाशमयं तावत्)। दर्दुर= ब्रह्मरंध्रस्थित शांतिबिंदु। राहु=परमामृतबिंदु। अंधा=जीव। सर्प= कुंडलिनी।

ब्रह्मरंध्रस्थित शांति नामक बिंदु ने आत्मतत्त्व से मिलकर परमामृत स्वरूप होने के कारण कुंडलिनी स्थानगत सुप्तभुजंग के महाप्रकाश द्वारा सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर लिया और तत्रस्थ अमृत का सेवन किया। अमृतसेवन-काल में उस योग को अभेददृष्टि से देखकर उस कुंडलिनी (सर्प) को सुप्रभा रूपी हस्त में लेकर मैंने उससे अविरल संग (सामरस्य) कर लिया। पर इस रहस्य को मैंने किसी से नहीं कहा।

१०५—नीरसुट्ट किच्चिन बूदिय मर्मव बल्लरे नीवु हेळिरे ? बयल सुट्ट किच्चिन बूदिय कंडरे नीवु हेळिरे। वायुविंद स्थानव गुहेश्वर निंद निलव कंडडे नीवुहेळिरे।

वचन १०५—अरे भाई, जल को जलाकर अवशिष्ट भस्म का रहस्य यदि जानते हो तो बताओ। अंतरिक्ष को जलाकर अवशिष्ट भस्म का रहस्य यदि जानते हो तो बताओ। वायु के स्थान एवं गुहेश्वर के स्वरूप को जानते हो तो बताओ।

अर्थ १०५—जल=मन। अग्नि=ज्ञानाग्नि। भस्म=चिद्भस्म। अंतरिक्ष= मिथ्यात्व। वायु का स्थान = परब्रह्म मूलज्ञानाग्नि से मनरूपी जल का दहन करने पर जो शेष रह जाता है वही चिद्भस्म है और महाज्ञानाग्नि के द्वारा मिथ्या का दहन करने पश्चात् जो शेष रहता है वह भस्म शिवतत्त्व का महदैश्वर्य कहलाता है। यही जगच्चैतन्य है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उसी को परब्रह्म समझना चाहिए।

१०६—ओंदु बारदु, होंदियू होंददु, निंदु निल्लद परिय नोडा।

बिंदु नादव नुंगित्तु। मत्तोंदधिक उंटे ? नवखण्ड पृथ्वियनोळकोंड अगम्य सन्मतद सुखविरलु गुहेश्वरन बेरे अरसलुंटे ?

वचन १०६—एक भी नहीं आया, प्राप्त होने पर भी अप्राप्ति की भाँति है, रहने पर भी न रहने की भाँति है। देखो, बिंदु ने नाद को निगीर्ण कर लिया इससे अधिक (श्रेष्ठ क्या) का अन्य कोई (पदार्थ) होगा ? नवखंड पृथ्वी को स्वाधीन किए हुए अगम्य गुहेश्वर का श्रेष्ठ सुख रहते हुए क्या (सुख को) अन्यत्र खोजना चाहिए।

अर्थ १०६—प्रभुदेवजी कहते हैं कि परमज्ञानी स्वयं परब्रह्मस्वरूप है। इसका बोध होने के पश्चात् पुनः उससे मिलन की आशा नहीं रहती। उस ज्ञानी के सर्वांग में वह (परब्रह्म) व्याप्त रहता है अतः उससे मिलन नहीं हो सकता। ज्ञानी के सर्वांग में परिपूर्ण होने के कारण वह (परब्रह्म) निराश्रित है। अनाश्रित उस चिद्बिंदु में निःशब्दत्व प्राप्त होता है। ज्ञानी अपने को अखंड परिपूर्ण स्वरूप समझता है उसके लिये अन्य परब्रह्म की खोज करने की आवश्यकता नहीं।

१०७—नेनहु नेनेव मनदल्लिल्ल। तनुविनाशे मुन्निल्ल। मन मनवनोळकोंड घन घनवनेनेंबे ! तन्नल्लि तानेयायित्तु। नेनेयलिल्लद निद निराल अनागत वादुद कंडु नानु बेरगादे। अन्तु इंतु एनलिल्ल चिंते इल्लद महाघनव गुहेश्वर लिंगव बेरे अरसलिल्ल।

वचन १०७—ध्यान करनेवाले मन में ध्यान नहीं है। शरीर की आशा पहले ही छूट गई। मन को अधिगत किए हुए घन को मैं क्या कहूँ। स्वयं स्वरूप हो गया। ध्यानरहित निराविल अनागत हो गया इसे देख मैं चकित रह गया। चितारहित महाघन का वर्णन मैं नहीं कर सका। अन्यत्र गुहेश्वर की खोज नहीं की।

अर्थ १०७—जब मन ही शिव (लिंग) हुआ तब उसका ध्यान नष्ट हो गया। शिवस्वरूपी मन के लिये शरीर ही सिंहासन बन गया इसलिये उस शरीर के प्रति मेरी आशा छूट गई। इस प्रकार उन्मना तत्त्व ने जब स्वस्वरूप को प्राप्त कर लिया तब वह महाघन तत्त्वस्वरूप बन गया अतः शब्द द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो स्वयं इस अवस्था को प्राप्त करता है उसके मन और शरीर का गमन नष्ट हो जाता है और वह स्वयं शिव हो जाता है। अतः उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

१०८—आयतवायित्तु अनुभाव, स्वाय तवायितु सिवज्ञान समाधान वायित्तु सदाचार, इंती त्रिविधवु एकार्थवागि, अरिविन हृदय करदेरेदु अनंत लोका लोकद असंख्यात महागणंगळेल्लुरू, लिंग भावदल्लि भरितरागि, गगन सिद्धान्त दिंद, उपदेशक्के बंदु भक्ति राज्यवने होक्कु निजलिंग सुक्षेत्रवने कंडु, अमृत सरोवर दोळगण विवेक वृक्ष पल्लविसलु विरक्ति एंब पुष्प विकसित वागलु परमानंदद मठदोळगे परिणाम पश्चिम ज्योतिय बेळगिनल्लि, परूषद सिंहासनवनिक्कि, प्राणलिंग मूर्तगोंडिरलु, दक्षिणव दांटि उत्तराब्धि यल्लि निंदु अखंड परिपूर्ण पूजेय माडुववरिगे नमो नमो एंबे गुहेश्वरा ।

वचन १०८—'आयत'[1] हुआ अनुभाव, 'स्वायत'[2] हुआ शिवज्ञान एवं आचार की शांति हुई। इस त्रिविध के एकार्थ होने से ज्ञान का मानस-नेत्र खुल गया। अनंत लोकालोक के असंख्य महागण शिवभाव से भरित हो गगनसिंद्धांत से उपदेशार्थ उपस्थित हुए, भक्ति-साम्राज्य में प्रवेश करते ही अपने लिये सुक्षेत्र देखकर अमृत सरोवर स्थित विवेक वृक्ष पल्लवित हो गया। (उसमें) विरक्ति (रूपी) कुसुम प्रफुल्ल होने पर परमानंद मठ के भीतर पश्चिम ज्योति के प्रकाश में पारसमणि का सिंहासन रखकर (मैंने) 'प्राणलिंग' की स्थापना की। दक्षिण (दिशा) पार कर उत्तराब्धि में निवास करते हुए अखंड परिपूर्ण पूजा करनेवालों को गुहेश्वर, मैं नमस्कार करूँगा।

अर्थ १०८—आयत=व्याप्त। स्वायत=स्वायत्त। अनंत लोकालोक के महागण = शिवज्ञानी के करण। गगनसिद्धांत=आत्मतत्त्व। पारसमणि का सिंहासन=ब्रह्मरंध्र।

अंतरंग में अनुभव की प्राप्ति होने से सुज्ञान सन्निहित हुआ। फलस्वरूप समस्त सत्क्रियाओं ने निर्वृति (आनंद) प्राप्त की। इस प्रकार इन तीनों के सामरस्य से सुज्ञान महाप्रकाशवान हो गया। इस महाप्रकाश सुज्ञानवाले 'शरण' के करणों ने अनंत लोकों का अवलोकन किया और असंख्य शिवगण के रूप में परिणत होकर वे शिव (लिंग) भाव से भरित एवं परिपूर्ण हो गए। तत्पश्चात् मैंने आत्मतत्त्व विद्या में सन्नद्ध हो भक्ति - साम्राज्य की संपदा प्राप्त की। उस सद्भक्ति के ज्ञान से शिवसुक्षेत्र (प्राणलिंगस्थल)

---

(१) इष्टलिंग दीक्षा, (२) प्राणलिंग दीक्षा।

को देखकर मैं शिवानंद से भर गया। फलस्वरूप शिवानंद रूपी अमृत-सरोवर में वर्तमान सद्‌हृदय कमल विकसित हुआ और विवेक रूपी वृक्ष पल्लवित जिससे विरक्ति रूपी सुगंध सर्वत्र फैल गई। इस प्रकार विरक्ति से परिपूर्णत्व को प्राप्त पिंड की सुषुम्ना नाडी में मैं परमराज योगी बन गया। उस (राजयोग) से प्राप्त आनंदप्रकाश में मैंने ब्रह्मरंध्र रूपी स्पर्शमणि के सिंहासन पर 'स्वयं ज्योतिर्लिंग' की स्थापना की। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो पूर्वयोग के परित्यागपूर्वक उत्तरयोग के द्वारा निजत्व को प्राप्त करता है और अखंड परिपूर्ण पूजा भी करता है वही दिव्य शिवयोगी है।

१०६—स्वस्थान स्वस्थिरद सुमन मटपदोळगे, नित्य निरंजन प्रभेय बेळगु—शिवयोगदनुभव एकार्थवागि, गुहेश्वरा, निम्म शरणननुपम सुखियागिदनु।

वचन १०६—स्वस्थान एवं सुस्थिर मंडप में नित्य निरंजन प्रभा के प्रकाश एवं शिवयोग के अनुभाव (दोनों) का एकार्थ होने से गुहेश्वर, तुम्हारा शरण अनुपम सुखी हो गया।

अर्थ १०६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि स्वस्थ पद्मासन में बैठकर जिसने एकाग्रचित्त रूपी मंडप में नित्य ज्ञानप्रकाश के साथ सामरस्य कर लिया वह अनुपम सुखी है।

√११०—आधारदल्लि अनुभव स्वायत, स्वधिष्ठानदल्लि, मृडनु-स्वायत, मणिपूरक दल्लि रुद्रनु स्वायत, अनाहतदल्लि ईश्वरनु स्वायत, विशुद्धियल्लि सदाशिवनु स्वायत आज्ञाचक्रदल्लि शान्तातीतनु स्वायत गुहेश्वर लिंगवु व्योम व्योमवकूडिदंते।

वचन ११०—आधार में अभव सन्निहित है, स्वाधिष्ठान में मृड सन्निहित है, मणिपूरक में रुद्र सन्निहित है, अनाहत में ईश्वर सन्निहित है, विशुद्धि में सदाशिव सन्निहित है, आज्ञाचक्र में शांतातीत सन्निहित है। गुहेश्वर व्योम के व्योम में मिलने के सदृश है।

अर्थ ११०—प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'मेरे षट्चक्रस्थान में षट्सादाख्य तत्त्वों की प्राप्ति हो जाने से संपूर्ण शरीर ने परिपूर्णत्व प्राप्त कर लिया। फलस्वरूप मेरा 'महालिंग' के साथ समरस हो गया।

१११—अदु मंदर गिरिय कोडु ब्रह्मन शिखिय बेडित्त वीव वरदा-नियनेनेंबेनु। आडुत्ताडुत्त अनलनरिदु एरडोंदाद परियनोडा। नोडुत्त नोडुत्त अनलनल्लिये अरतु कूडिद महा घनव नेनेंबे गुहेश्वरा।

वचन १११—वह मेरुगिरि का शृंग, ब्रह्म की शिखा एवं काम्य वस्तु का प्रदान करनेवाला वरदानी है उसे मैं क्या कहूँ। क्रीड़ा करते करते अनल को जानकर दोनों समरस (अद्वैत) हो गए, उस महाघन को मैं क्या कहूँ।

अर्थ १११—मेरुगिरि का शृंग=ब्रह्मरंध्र को प्राप्त (शरण)। ब्रह्म की शिखा = निजत्व को प्राप्त शिवयोगी। अनल=शिवोऽहम् भाव।

आधारस्थान से उत्पन्न प्रणव ने ज्ञानचिदहंकार के लिये पर्वत सदृश त्रिकूट के मध्य प्रवेश किया। वहाँ से आनंद-क्रीड़ा करते करते ब्रह्मरंध्र की शृंग रूपी सुषुम्ना के तुर्य (ब्रह्मरंध्र) में पहुँचकर वह निज तत्त्वस्वरूप हो गया। यही शिवयोग है। इस अवस्था को जो प्राप्त करता है वही दिव्य शिवयोगी है। ज्ञानोपदेश के लिये इस शिवयोगी से जो प्रार्थना करते हैं उन सबको वर के रूप में वह अपना स्वरूप ही प्रदान करता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उपर्युक्त प्रकार के शिवयोग की प्राप्ति मुझे इस प्रकार हुई—मैंने अनायास ही कुंडलाग्नि के प्रकाश को पश्चिम द्वार में 'शिवोऽहम्' शब्द से युक्त कर लिया। ज्ञान एवं ज्ञेय को रोककर समरस कर लिया और उसी का निरीक्षण किया। फलस्वरूप वह मुझमें ही लीन हो गया और अद्वैत रह गया। इस प्रकार द्वैत नष्ट होने के पश्चात् मैं स्वस्वरूप का ही निरीक्षण करता था पर निरीक्षण करते करते अब मुझमें उसका भी लय हो गया है।

११२—धरेय मेलुळ्ळ आरु हिरिय रेल्लरनु नेरहि परियाय परीक्षेय नोरेदु बरणव नोडि, सरोवरद पुष्पदोळगे भरित परिमळ तुंबि परम-ज्ञान ज्योति, परब्रह्मवनु मीरि पुरुषरत्नदोळडगि, गुहेश्वर निंद निलवु मेरु गगनव नुंगित्तु।

वचन ११२—पृथ्वी में रहनेवाले समस्त पंडितों को मिलाकर विविध परीक्षापूर्वक वर्ण को देख सरोवर के पुष्प में भरित परिमल भरकर परमज्ञान ज्योति परब्रह्म को पार कर पुरुषरत्न में छिपे हुए गुहेश्वर स्वरूप ने मेरु और गगन को निगीर्ण कर लिया।

अर्थ ११२—सरोवर=महाज्ञानियों से प्राप्त सुख। परिमल=सद्वासना।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने अपने अंतरंग में व्याप्त परम ज्ञानानुभाव को विश्व में रहनेवाले समस्त महानुभावियों से मथित (परीक्षित) करा लिया। उन महाज्ञानियों के संग से मेरे अंतरंग में सुख-रस का संचय हुआ और सरोवर बना। उस सरोवर में महान अनुभाव की सद्वासना व्याप्त हो गई। उस परिपूर्ण वासना से युक्त महाज्ञान 'यह ब्रह्म है' इत्याकारक ज्ञान से अतीत हो गया अर्थात् द्वैत नष्ट हो गया और 'शरण' (मुझ) में अंतर्धान हो गया। फलस्वरूप उसमें आत्मतत्त्व से अहंकार का मिलन हो जाने के कारण जो 'अहं परमात्मा' इत्याकारक बोध होता है उसका भी लय हो गया। तात्पर्य यह कि स्वस्वरूप स्व में विलीन हो गया। स्वस्वरूपज्ञान की प्राप्ति हुई।

११३—ताळमरद्मेलोंदु बावि इद्दित्तल्ला। आ बाविय तडिय हुल्लु-नोंदु मोल बंदु मेयित्तल्ला। काय सहित जीवव बाणसव माडलरियरु गुहेश्वरा निम्माणे।

वचन ११३—ताल वृक्ष पर एक कूप है। एक शशक ने आकर उस कूप के तीरस्थित तृण को चर लिया। गुहेश्वर, तुम्हारी शपथ (लोग) काय-सहित जीव का पाक बनाना नहीं जानते।

अर्थ ११३—तालवृक्ष=शरीर रूपी वृक्ष। रूप=विषयकूप। तृण=संसार। शशक=जीव। पाक बनाना = मूलाहंकारसहित जीव को ज्ञानग्नि में दग्ध करना।

वृक्ष रूपी शरीर में कूप के समान है संसार-रस से परिपूर्ण विषय। उस कूप के तीर पर संसार (प्रपंच) रूपी तृण उत्पन्न हुआ तृणभक्षी जीव उस तृण को देखकर मोहित हुआ और उसने आकर उसका भक्षण कर लिया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि विषयासक्त उस जीव को मैंने उस विषय से विमुख कर लिया और मूलाहंकारसहित उस जीव को ज्ञानाग्नि से दग्ध कर दिया फल-स्वरूप मुझे शिवत्व की प्राप्ति हो गई। जो यह रहस्य नहीं जानते वे अज्ञ हैं।

११४—एळु ताळद मेले केळुव सुनाद, स्थूल सूक्ष्म कैलासद रभसद गंगेवाळुक समोरुद्रर तिंथिणि गगन गंभीरद शिवस्तुतिय नोडलोडने पिंडब्रह्माण्ड वायित्तु अखंडित निराळ गुहेश्वरा।

वचन ११४—सप्तताल पर सुनाई पड़ता है सुनाद। स्थूल सूक्ष्म कैलास

के रभस में गंगा-वालुक के समान रुद्र-गण की गगन गंभीर शिवस्तुति होते ही हे अखंडित निराविल गुहेश्वर, पिंड ब्रह्मांड हो गया।

अर्थ ११४—सप्तताल=सप्तग्रंथि। सुनाद=ब्रह्मरंध्र को प्राप्त सत्प्रणव की ध्वनि। स्थूल सूक्ष्म=स्थूल सूक्ष्म शरीर। कैलास=सत्प्रणव से व्याप्त शरीर। गंगा-वालुक समान रुद्रगण=शिवयोगी के करण। गगन गंभीर शिवस्तुति= 'शिवोऽहम्' स्तुति। पिंड का ब्रह्मांड होना = शिवयोगी के शरीर में समस्त ब्रह्मांड छिपना (शिवतत्त्व स्वरूप हो जाना)।

जो स्वस्थ पद्मासन में बैठकर शिवानुभाव योग के द्वारा कुंडलाग्नि को जगाकर पूर्वयोग का निर्बंध करता है, पश्चिम योग में सुषुम्ना नाड़ी की सप्तग्रंथियों का बंधन खोलकर ब्रह्मरंध्र प्राप्त करता है और उसमें सत्प्रणव-घोषपूर्वक स्थूल सूक्ष्म शरीर से आलिंगन करता है उसका शरीर ही कैलास हो जाता है। इस प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर पर प्रणव-घोष का आच्छादन होने पर उस योगी के शरीर में वर्तमान समस्त करण, तलस्थ 'प्राण-लिंग' के सेवक (रुद्रगण) हो जाते हैं। इस अवस्था में शिवयोगी साक्षात् शिवतत्त्वस्वरूप होकर अभेद रूप से स्वयं अपनी स्तुति (शिवोऽहम्, शिवोऽहम्) करने लगता है। उसके शरीर में समस्त प्रपंच का लय हो जाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने इस स्थिति को प्राप्त कर निज वस्तु के साथ सामरस्य कर लिया।

११५—वाम भागदोळगोंदु शिशु हुट्टित्त कंडेनु, जोजो एंदु जोगुळवाडित्त कंडेनु, जोगुळवाडिद शिशु अल्लिये लयवायित्तु गुहेश्वरनेंब शब्दवल्लिये लयवायित्तु।

वचन ११५—मैंने वाम भाग में उत्पन्न शिशु को देखा। 'जो जो' शब्द से उसे लोरी गाते हुए देखा। गानेवाले शिशु ने उसी में लय प्राप्त कर लिया 'गुहेश्वर' शब्द का भी उसी में लय हो गया।

अर्थ ११५—वाम भाग=चिच्छक्ति। शिशु='चिल्लिंग'। 'जो जो' शब्द=शिवोऽहम् 'शिवोऽहम्'। शिशु का लय=शिवोऽहम् रूपी अहंकार का लय।

वाम भाग रूपी चिच्छक्ति के सद्वासना रूपी सिंहासन पर 'चिल्लिंग' का उदय हुआ। उसका प्रकाश सर्वांग में व्याप्त होकर स्वयं अपने को 'शिवोऽहम्'

कहने लगा । इसके पश्चात् वह 'शिवोऽहम्' रूपी अहंकार भी नष्ट हो गया । प्रभुदेवजी कहते हैं कि फलस्वरूप मैं उसी में शब्दमुग्ध हो गया (उस स्थिति में शब्द की निवृत्ति हो गई) ।

११६—ब्रह्म विष्णुव नुंगि, विष्णु ब्रह्मन नुंगि, ब्रह्माण्डदोळगडगि, शतपत्र दळगळ मीरि, चित्रगुप्तर कैय पत्रव निलिसित्तु गुहेश्वर नेंब लिंगैक्यवु ।

वचन ११६—ब्रह्म ने विष्णु को निगीर्ण कर लिया और विष्णु ने ब्रह्म को । गुहेश्वर नामक शिवैक्य (समरसी) ने ब्रह्मांड में अंतर्धान हो शतपत्र दलों को पारकर चित्रगुप्तों का करपत्र रोक लिया ।

अर्थ ११६—ब्रह्म=चिद्ब्रह्म । विष्णु=विष्णुतत्त्व - संबंधी सूक्ष्म शरीर । शतपत्र दल=ब्रह्मरंध्र का दल । चित्रगुप्त का करपत्र=संचित प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्म की लिपि ।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मुझ में जब शिवज्ञान का उदय हुआ तब चिद्ब्रह्म ने विष्णुतत्त्व-संबंधी अंतर्देह का आच्छादन कर लिया उसी चिद्ब्रह्म रूपी अंतर्देह ने उस चिद्ब्रह्म को अपने में छिपा लिया । इस स्थिति को प्राप्त उस शरण (मुझ) में समस्त ब्रह्मांड का लय हुआ । फलस्वरूप उस (मैं) ने ब्रह्मरंध्र के शतपत्र को पार कर लिया । इस प्रकार मैंने स्वयं स्वस्वरूप को प्राप्त कर संचित प्रारब्ध और क्रियणाम कर्मलेख को नष्ट कर दिया और मैं ही स्वयं परमआनंदस्वरूप बन गया ।

११७—ईरैदु तलेय नरिदु, धारेवट्टल निक्कि, धारुणिय मेले तंदिरिसिद्वरो ? सोमसूर्यर हिडिदेळेतंदु वारिधिय तडेयल्लि ओले-गळद्वरारो ? आरिल्लद ऊरिनोळगे हेम्मारि होक्कुद कंडे, आरय्य होगि नानिल्ल गुहेश्वरा ।

वचन ११७—पंचकद्वय शिर को जान लिया । शोधिका से शोधकर पृथ्वी पर उन्हें किसने ला रखा । सोम-सूर्य को बलपूर्वक ग्रहण कर वारिधि के तीर पर किसने पत्र नष्ट कर लिया । मैंने ग्रामरहित ग्राम में महामारी का प्रवेश देखा । गुहेश्वर, मैं उसे खोजने गया पर 'मेरा' अंत हो गया ।

अर्थ ११७—पंचकद्वय शिर=दशेंद्रियाँ । शोधिका=विवेक । सोम=शक्ति । सूर्य=शिव । पृथ्वी=शरीर । वारिधि=संसार-सागर । पत्र=प्रारब्ध ।

ग्रामरहित ग्राम=देहभाव से शून्य देह। महामारी='अहं' ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अहंकार रूपी माया। मेरा अंत='अहं शिवः' शब्द का अंत।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने दशेंद्रियों का रहस्य नष्ट कर महानुभाव विवेक रूपी शोधिका (चलनी) में उनका शोध कर लिया उस विवेक रूपी चलनी में असारत्व का परित्याग कर शिवसार का ग्रहण कर लिया। उस शिवसार को मैंने एक ग्राहकत्व से अपने सर्वांग पर धारण कर लिया। तत्पश्चात् शिवशक्ति के एक ग्राहकत्व से प्राणधर्म का नाश किया और देह रूपी शक्ति (प्रारब्ध) लिपि को अनुभव रूपी समुद्र-तीर पर छोड़ दिया (प्रारब्ध नष्ट हो गया)। फलस्वरूप समस्त दोष से निवृत्त होने के कारण शरीर रूपी ग्राम निर्देह बन गया। उस निर्देह में माया मूलाहंकार स्वरूप धारण कर वास कर रही थी (शिवोऽहम् रूप अहंकार का आवास था) उसको मैंने नष्ट कर लिया अतएव मैं स्वस्वरूप में आ गया। इसी अभिप्राय से 'खोजने जाकर मेरा अंत हो गया।' कहा।

११८—अनादि भ्रूमध्यदल्लि ऐदु कुदुरेय कट्टिद कंभ मुरियित्तु। पंटाने बिट्टोडिदवु। हदिनारु प्रजे बोब्बिडुत्तिर्दरु। शतपत्र कमल-कर्णिका कुहर मध्यदल्लि गुहेश्वर लिंगवु शब्दमुग्ध नागिर्दनु।

वचन ११८—अनादि भ्रूमध्य पाँच अश्वों को बाँधनेवाला स्तंभ टूट गया। अष्ट मत्त गजों ने पलायन किया। षोडश प्रजा हाहाकार कर रही थी। शतपत्र कमल कर्णिका कुहर मध्यस्थ 'गुहेश्वरलिंग' शब्दमुग्ध हो गया।

अर्थ ११८—अनादि भ्रूमध्य=महाज्ञान - दृष्टि (ज्ञातृज्ञान ज्ञेय की त्रिपुटी)। पाँच अश्व=पंचप्राण। स्तंभ=भव रूपी स्तंभ। अष्ट मत्तगज=अष्ट मद (संस्थित, तृणीकृत, वर्तिनी क्रोधिनी, मोहिनी, अतिचारिणी, गंधचारिणी, वासिनी)। षोडश प्रजा=ऊर्ध्वचक्रस्थ षोडशमुखी अमृतबिंदु।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय इन तीनों का कूटस्थान अनादि भ्रूमध्य कहलाता है उसी को महाज्ञान - दृष्टि कहते हैं। उस अनादि भ्रूमध्य स्थान में पंचप्राण वायु का निर्बंध करना चाहिए। पश्चात् उस त्रिकूट भाव स्तंभ एवं निर्गुण समाधि का भंग करके निर्भाव बना लेना चाहिए। योगी जब निर्भाव हो जाता है तब अष्ट मदों का नाश हो जाता है। इस प्रकार जब मेरे अष्ट मदों का नाश हुआ तब ऊर्ध्वचक्र में षोडशमुखी अमृतबिंदु में एक (समरस) होकर प्रणवमोक्ष से चित्त पर बहने लगा। फलस्वरूप मेरा सर्वांग

अमृत-वर्षा से आप्लुत हुआ। उस अमृत का सेवन कर 'महालिंग' सहस्त्र-दल कमल कर्णिका के सिंहासन पर शब्दमुग्ध हो गया। इसलिये शरण (मैं) शिवैक्यवान् है।

११६—उदक दोळगे किच्चु हुट्टे, सुडुवुद कंडे। गगनद मेले मामरन कंडे। पक्क विल्लद हक्कि बयल नुंगित्त कंडे गुहेश्वरा।

वचन ११६—मैंने उदक में उत्पन्न होकर जलानेवाली अग्नि देखी। गगन पर आम्रवृक्ष देखा, गुहेश्वर, अंतरिक्ष को निगलनेवाला पक्षरहित पक्षी देखा।

अर्थ ११६—उदक=मन। अग्नि=ज्ञान। जलाना=अंतरंग एवं बहिरंग का नाश करना। गगन=आत्मतत्त्व। आम्रवृक्ष=विवेक। पक्षरहित पक्षी=अंतरंग, बहिरंग से रहित जीव (परमहंस)।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब मेरे मन में ज्ञानाग्नि का उदय हुआ तब उसने मेरे अंतरंग और बहिरंग का दहन कर दिया (बाह्याभ्यंतर ज्ञान व्याप्त हुआ। इस प्रकार जब शारिरिक गुण नष्ट हो गए और ज्ञान व्याप्त हो गया तब आत्म नामक तत्व में विवेक रूपी वृक्ष उत्पन्न होकर विकसित हुआ। जिसमें अंतरंग और बहिरंग रूपी पंख रहते हैं उसका नाम जीव हंस है। जिसमें ये दोनों नहीं रहते वह परमहंस होता है। मेरे अंतरंग और बहिरंग रूपी पंखों का लय हो गया। इसलिये मैं परमहंस बनकर निराविल तत्त्व (स्वरूप) हो गया।

१२०—मृगद संचद तलेयल्लि जगद बयल नालगे, अघहरन दृष्टियल्लि बोब्बेयब्बर विदेनो? गगनद वायुव बेंबळिविडिदु अग्नि अप्पिन कळेयल्लि मेदिनियडगित्तु नोडा? मनद बगेयनवग्रहिसि जगद बण्णव नुंगि गुहेश्वरनेंब लिंगदल्लि निराळवायित्तु।

वचन १२०—मृग के रहस्यमय मस्तक में जग-गगन की रसना (है)। अघहर की दृष्टि में कोलाहल का यह संभ्रम क्या है। देखो, गगन एवं वायु का अनुसरण कर अग्नि और जल की कला में पृथ्वी लीन हो गई। मन की रीति को ग्रस्त कर जगरूप का निगीर्ण कर लिया। गुहेश्वर में (मैं मिलकर) निराविल हो गया।

अर्थ १२०—मृग=जीव। रहस्यमय मस्तक=सुज्ञान। रसना=परमांमृत।

अघहर की दृष्टि=सुज्ञान चक्षु। कोलाहल='शिवोऽहम्' रूपी ध्वनि। गगन=आत्मतत्त्व। वायु=प्राणतत्त्व। अग्निजल=अग्नि और जलतत्त्व से बना हुआ। पृथ्वी=स्थूल शरीर।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जीव रूपी मृग के सुज्ञान रूपी रहस्यमय मस्तक में समस्त संसार को गर्भस्थ किए हुए परमामृत रूपी जिह्वा है। मैंने उस परमामृत बिंदु का सुज्ञान चक्षु से निरीक्षण किया। वह 'शिवोऽहम्' शब्द कर रहा था। उस 'शिवोऽहम्' रूपी अहंकार ने अपने सहित आत्मतत्त्व एवं प्राणतत्त्व का समरस कर शिवयोग की प्राप्ति की। फलस्वरूप अग्नि एवं जलतत्त्व से निर्मित स्थूल शरीर रूपी पृथ्वी का लय हुआ। इस प्रकार अंगभाव नष्ट हुआ। जब इस प्रकार अंगभाव नष्ट हुआ तब मन के नाना विकार नष्ट हुए और समस्त प्रपंच का भी मुझमें लय हो गया। अतएव मैं शिवसमरसी हूँ।

१२१—सुळिदु सुत्तुव मनद व्यवहरणेवुळ्ळन्नक्कर अरियेनरियेनेरेशिव पथव, गुहेश्वर लिंगद निजवनरिद बळिक। अरियनरिये लोकद बळलेय।

वचन १२१—जब तक घूम घूमकर चक्कर काटनेवाले मन का व्यापार है तब तक श्रेष्ठ शिवपथ नहीं समझ सकते, नहीं समझ सकते। गुहेश्वर के निजत्व को जान लेने के पश्चात् लोकव्यापार को नहीं जानते, नहीं जानते।

अर्थ १२१—जब तक सांसारिक व्यापार में मन व्याकुल रहता है तब तक शिवज्ञान प्राप्ति के लिये समय नहीं मिलता। पर जब उस मन की व्याकुलताएँ नष्ट हो गईं और वह शिव में लीन हो गया तब समस्त लौकिक भावनाएँ नष्ट हो गईं। अर्थात् मैंने संसार को अलग ब्रह्म या ब्रह्म से अलग संसार को नहीं देखा।

१२२—मनद कालित्तलु, तनुविन कालत्तलु, अनुभावदनुव नेनेवुत्त नेनेवुत्त गमन गेट्टित्तु। लिंगमुखदल्लाद सूचनेय सुखव कंडु गमनगेट्टित्तु। अनु वायित्तनुवायित्तु। अल्लिये तल्लीन वायित्तु। गुहेश्वरनेंब लिंगैक्यंगे।

वचन १२२—मन का पाद इधर, काय का पाद उधर। अनुभव की रीति का ध्यान करते करते गमन (लक्ष्य) नष्ट हुआ। लिंगमुख से प्राप्त

सूचना-सुख को देखकर गमन नष्ट हुआ। गुहेश्वर नामक शिवैक्य (शरण) के लिये उसी में स्थान मिला और (उसी में) वह तल्लीन हुआ।

अर्थ १२२—मन में जब अनुभव का विवेक (महापद) वेद्य हुआ तब शरीर का गमन (लक्ष्य) नष्ट हो गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार जब शरीर की वासना नष्ट होकर शिवभावना व्याप्त हो गई तब समस्त अविवेक निवृत्ति हुई और मुझे स्वस्वरूप का साक्षात्कार हुआ।

१२३—परिमळ विर्दु गमनागमनविल्लविदेनो। बयलु सिडिल होय्दोडे हिंदे हेणन सुडुवरिल्ल गुहेश्वरा।

वचन १२३—यह क्या है परिमल के रहते हुए गमनागमन नहीं है। गुहेश्वर, अंतरिक्ष में बिजली गिरने पर शवदाह करनेवाला कोई नहीं है।

अर्थ १२३—प्रभुदेवजी कहते हैं कि महानुभावरूपी वासना जब मेरे अंतरंग एवं बहिरंग में व्याप्त हुई तब संसार के गमनागमन दोनों नष्ट हुए। अतः निर्देह बन गए हैं उस निर्देह (मुक्त) में महाज्ञानाग्नि का प्रकाश हो जाने से भूत-भविष्य नष्ट हो गए। फलस्वरूप मैं निराकार बन गया।

१२४—बेरिल्लद गिडविंगे परिमळविल्लद पुष्प हुट्टि, रूहिल्लद अनलन अवग्रहिसित्तु नोडा। वृक्षविल्लद दळदल्लि ओंदु पक्षि हुट्टित्तु नोडा। अत्तलित्तलु काणदे नेत्तिय नयनदल्लि नोडित्तल्ला नित्यानंद परिपूर्णद निलविन अमृत बिंदुविन रसव दणियुंडु-पश्चिमदल्लि गुहेश्वर लिंगव स्वीकरिसित्तल्ला।

वचन १२४—मूलरहित वृक्ष में परिमलरहित पुष्प उत्पन्न हुआ। देखो, (उसमें) रूपरहित अग्नि व्याप्त हो गई। देखो, वृक्षविहीन पत्र में एक हंस का जन्म हुआ। ओह, उसने इधर उधर न दिखाई पड़ने पर शिर के नेत्रों से देख लिया। देखो परिपूर्ण नित्यानंद के अमृतबिंदु के रस का यथेष्ट सेवन कर, पश्चिम में गुहेश्वर से मिला।

अर्थ १२४—मूलरहित वृक्ष=मूलाहंकार से उत्पन्न चिबिंदु। पुष्प=हृदय कमल। अग्नि=ज्ञानाग्नि। पक्षी=सत्प्रणव (परमहंस)। वृक्षविहीन पत्र=देहभाव रूपी वृक्ष नष्ट होने के पश्चात् का द्विदल (आज्ञाचक्र) शिर का नेत्र=महाज्ञानाक्षि।

शरीर रूपी वृक्ष के लिये मूलाहंकार जीवस्वरूप (मूल) है। पर चित्-पिंड की उत्पत्ति मूलाहंकार से रहित हुई है। उस चित्पिंड रूपी मूलरहित वृक्ष में उससे अभिन्न हृदयकमल रूपी पुष्प का उदय हुआ। पश्चात् ज्ञानाग्नि ने उस हृदयकमल का आलिंगन कर लिया। (हृदयकमल में ज्ञान व्याप्त हो गया)। अंतरंग में ज्ञानप्रकाश जब व्याप्त हुआ तब देहभाव की निवृत्ति हुई और द्विदल में वर्तमान सत्प्रणव स्वयं परमहंस के रूप में प्रकट हुआ। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार सत्प्रणव जब परमहंस हुआ तब मैंने समझ लिया कि यही मेरा स्वरूप है। यह दूसरा कुछ नहीं, मेरा ही स्वरूप है। अनंतर ब्रह्मरंध्र में महाज्ञानाब्धि को खोलकर देख लिया और नित्यानंद परिपूर्ण परमामृत का यथेष्ट सेवन कर पश्चिम द्वार में 'महालिंग' के साथ सामरस्य कर लिया।

१२५—नेनवु सत्तित्तु, भ्रान्तु बेंदित्तु, अरिवु मरेयित्तु, कुरुहु-गेट्टित्तु, गतियनरसलुंटे। मतियनरसलुंटे ? अंगवेल्ला नष्टवागि लिंगलीन वायित्तु। कंगळंगद कळेय बेळगिन भंगहिंगित्तु गुहेश्वरा।

वचन १२५—ध्यान की मृत्यु हुई। भ्रांति जल गई, ज्ञान भूल गया। आकार (चिह्न) नष्ट हो गया। क्या अब गति की खोज करेंगे। क्या मति की खोज करेंगे। समस्त अंग नष्ट होकर शिव (लिंग) में लीन हो गया। गुहेश्वर, नेत्र के अंग की कला का भंग (नष्ट) हो गया।

अर्थ १२५—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब मन को घन वस्तु का साक्षात्कार हुआ और वह (मन) उस घन में मिल गया तब उसकी इच्छा, भ्रांति आदि ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गई। फलस्वरूप वह स्व को भी भूल गया। इसके पश्चात् 'त्वम्' 'अहम्' एवं यह इह हैं 'यह पर' इत्याकारक विवेक नहीं रह गया और शिव (लिंग) से अंग का सामरस्य हो जाने से 'शिव' इत्याकारक-स्वरूप (चिह्न) भी नहीं रह गया। स्वयं महाज्ञानस्वरूप हो जाने के कारण समस्त संसार मुझसे अतिरिक्त नहीं दिखाई पड़ता।

१२६—बेक्कुनुंगिद कोळि सत्तु कूगित्त कंडे, कोगिले बंदु रवियनुंगित्त कंडे सेज्जे वेंदु शिवदार उळियित्तु प्राणलिंगवेंब शब्द व्रतगेडियायित्तु। नीरमेलण हेज्जेय नारु बल्लवरिल्ल गुहेश्वरनेंब शब्दवल्लियूइल्ल इल्लियूइल्ल।

वचन १२६—मार्जार द्वारा निगला हुआ कुक्कुट मृत होकर बोलने लगा, इसे मैंने देखा। कोकिला ने आकर रवि को निगला, इसे मैंने देखा। शय्या गल गई, शिवसूत्र रह गया। 'प्राणलिंग' नामक शब्द व्रतभ्रष्ट हो गया। जल पर पदचिह्न जाननेवाला कोई नहीं है। 'गुहेश्वर' नामक शब्द यहाँ भी नहीं है, वहाँ भी नहीं।

अर्थ १२६—मार्जार=परिपूर्ण ज्ञान। कुक्कुट=वृत्तिज्ञान। कोकिला=क्रियाशक्ति। रवि=महाज्ञानप्रकाश। शय्या=मन। शिवसूत्र=अनुभाव। जल=मन। पदचिह्न=सत्पथ का रहस्य।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिस प्रकार मार्जार दिवा एवं रात्रि में पदार्थ देखता है उसी प्रकार परिपूर्ण ज्ञान सर्वदा प्रकाशमान रहता है। उस महाज्ञान रूपी मार्जार ने जब वृत्तिज्ञान रूपी कुक्कुट का भक्षण किया अर्थात् उसके अंतरंग में व्याप्त होने से वृत्तिज्ञान नष्ट हुआ तब परिपूर्णत्व की प्राप्ति हुई। उसके अनंतर क्रियाशक्ति रूपी कोकिला ने उस महाज्ञान रूपी सूर्य का भक्षण कर लिया। फलस्वरूप मन रूपी शय्या नष्ट हो गई और महानुभाव रूपी शिवसूत्र रह गया अर्थात् मन में अनुभाव व्याप्त हो गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसको पूर्वोक्त स्थिति की प्राप्ति होती है उसमें 'प्राणलिंग' इत्याकारक द्वैतज्ञान भी नहीं रहता। इस प्रकार मन का लय होने के पश्चात् मोक्ष का रहस्य कोई नहीं जान सकता।

१२७—अरुहिन कुरुहिदेनो, ओळगे अनुमिष नंदिनाथनिरलु पूजिसुव भक्तनारो? पूजेगोंब देवरारो? मुन्दु हिंदु, हिंदु मुंदादरे गुहेश्वरा नीनु नानु, नानु नीनादोडे।

वचन १२७—अंतरंग में अनिमिष नंदिनाथ के रहते हुए ज्ञान का यह चिह्न क्या है। गुहेश्वर, पूर्व के पश्चिम होने पर और पश्चिम के पूर्व होने पर एवं आपके मैं और मेरे आप होने पर पूजा करवानेवाला देव कौन है।

अर्थ १२७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसने स्वयं अपने में निजत्व प्राप्त कर लिया है उस ज्ञानवान् शरण का कोई रूप नहीं और उस रूप को जाननेवाला ज्ञान भी नहीं। इस प्रकार रूप (चिह्न) रहित एवं अंतर्मुख में अनिमिष होकर बाह्याभ्यंतर में स्वयं परब्रह्मस्वरूप हो जाने के कारण देव एवं भक्त इत्याकारक द्वैत भावना नहीं रह जाती। अतएव पूर्वावस्था में जो देव है वह भक्त हो जाता है और भक्त ही शिव हो जाता है।

१२८—माराय घाय तागि नोंदेनेंदरियेनय्या । इदेनेंदरियनय्या । काय पल्लुटवायित्तु गुहेश्वर लिंग स्वायतवागि ।

वचन १२८—महान आघात होने के कारण मैंने पीड़ा का अनुभव नहीं किया और 'यह क्या है' इसका अनुभव मैं नहीं कर सका । गुहेश्वर के स्वायत्त हो जाने के कारण कायापलट हो गया ।

अर्थ १२८—इस वचन का तात्पर्य यह है कि अंतरंग एवं बहिरंग में जब परशिवतत्त्व व्याप्त हो जाता है तब 'शरण' नष्ट होकर केवल शिव ही रह जाता है । अर्थात् साधक शिवतत्त्वस्वरूप हो जाता है । इस अवस्था में उस 'शरण' में मैं हूँ, 'मै नहीं हूँ' और 'सुखी या दुःखी हूँ' इत्याकारक ज्ञान नहीं रहता है ।

१२६—पिंडमुक्तन, पदमुक्तन, रूपमुक्तन तिळिदु नोडा, पिंडवे कुंडलि शक्ति पद्वे आ हंसन चरित्र, बिंदु अनाहतवेंदरिदु गुहेश्वर लिंगव कूडिदेनु ।

वचन १२६—पिंडमुक्त, पदमुक्त एवं रूपमुक्त को जानकर देखो । पिंड ही कुंडलिनीशक्ति, पद ही उस हंस का चरित्र है । बिंदु को अनाहत समझकर मैं गुहेश्वर में मिल गया ।

अर्थ १२६—इस वचन का अभिप्राय यह है कि जब 'शरण' (मैं) 'महालिंग' से मिला और अपने में उस 'महालिंग' का आवास हुआ अर्थात् मैं महाशिवतत्त्व बन गया तब मुझ में 'शरण' शिव इत्याकारक द्वैतभाव नहीं रहा । इसलिये पिंड रूपी आधारशक्ति पद रूपी हंस का चरित्र एवं रूप नामक अनाहत बंधन भी मुक्त हो गया । प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन त्रिविध की मुक्ति हो जाने से 'शरण' स्वयं स्वस्वरूप को प्राप्त हो गया ।

१३०—अंगविल्लागि, अन्यसंगविल्लय्या, अन्यसंग विल्लागि मत्तोंद विवरिसलिल्लय्या, मत्तोंद विवरिसलिल्लागि निस्संग वायित्तय्या । गुहेश्वरा निम्म नाम एंतुटय्या ।

वचन १३०—अंगरहित होने से अन्य के साथ संग नहीं है, अन्य का संग न रहने के कारण अन्य का वर्णन नहीं कर सका । अन्य का विवरण न देने के कारण निःसंग हो गया । गुहेश्वर, आपका कितना विचित्र नाम है ।

अर्थ १३०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिस शरण के सर्वांग का शिव से ऐक्य हो जाता है उसका अंग नहीं रहता अर्थात् वह महाशिवतत्त्व-स्वरूप हो जाता है। उसके अंग न रहने के कारण किसी से उसका मिलन नहीं होता। मिलन न होने के कारण उसके द्वारा अन्य का वर्णन नहीं हो सकता। वर्णन के अभाव के कारण वह निःशब्द बन जाता है।

१३१—नेने नेनेयेन्दडे एन नेनेवेनय्या, एन्न कायवे कैलासवायित्तय्या। मनवे लिंगवायित्तु, तनुवे सेज्जेयायित्तु। नेनेवडे देवनुंटे? नोडुवडे भक्तनुंटे गुहेश्वर लिंग लीयवायित्तु।

वचन १३१—'ध्यान करो, ध्यान करो' कहने से मैं किसका ध्यान करूँ। मेरा शरीर ही कैलास हो गया, मन ही शिव (लिंग), अंग ही शय्या (करंडिका) हो गया, क्या (अब) ध्यान करने के लिये देव है, (उसको) देखने के लिये भक्त है। गुहेश्वरलिंग का लय हो गया।

अर्थ १३१—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिस 'शरण' के अंग में लिंग का एवं मन में ज्ञान का लय हुआ और जो स्वयं महाज्ञानमूर्ति हो गया उस शरण के लिये ध्यान करने की वस्तु (द्वैत) नहीं है क्योंकि वह स्वयं नित्य-निरंजनस्वरूप है अतएव उसका शरीर ही सिंहासन, मन ही लिंग और ज्ञान ही कैलास है। इसलिये 'देव-भक्त' इत्याकारक द्वैतभाव भी नहीं रह जाता।

१३२—आनु नीनेंबुदु तानु इल्ला। तानरिद् बळिकेनु इल्ला। इल्लि इल्ला, इल्लद इल्लवे एल्लिद बर्पुदो? अनुवनरितु, तनुव मरेदु भावरहित गुहेश्वरा।

वचन १३२—त्वम् अहम् (तुम और मैं) इत्याकारक वस्तु नहीं है। स्वस्वरूप को जान लेने के पश्चात् कुछ नहीं है। यह भी नहीं। न रहनेवाला 'नहीं है', कहाँ से आएगा। गुहेश्वर, स्वरूप को जानकर शरीर को भूलकर मैं भावरहित हो गया।

अर्थ १३२—इस बचन का तात्पर्य यह है कि जो स्वयं लिंग हो गया उसमें त्वम् अहम्, 'तुम, मैं' इत्याकर उभय भाव नहीं हैं। सर्वत्र स्वयं प्रकाशवान् होने के कारण 'कुछ भी नहीं है' ऐसा कहने का अवसर ही नहीं

है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्वस्वरूप को जान लेने के पश्चात् पुनः मुझे उस ज्ञान को जानने का अवसर ही नहीं मिला।

१३३—गिडुविन मेलण तुंबि, कूडे विकसित वायित्तु तुंबि नोडा। आतुम तुंबि, तुंबि परमातुम तुंबि नोडा। गुहेश्वर लिंगक्केरगि निब्बेरगायित्तु तुंबि नोडा।

वचन १३३—तुंबि (भ्रमर, परिपूर्णत्व) के वृक्ष पर बैठ जाने के साथ ही साथ (वह) विकसित हुआ। देखो आत्मा में एवं परमात्मा में तुंबि है। गुहेश्वर से मिलकर (मैं) चकित रह गया।

अर्थ १३३—तुंबि=भ्रमर, परिपूर्णता। वृक्ष=शरीर।

इस वचन का भाव यह है कि शरीर रूपी वृक्ष पर 'लिंग' रूपी भ्रमर की उपस्थिति से सर्वांग में परिपूर्णता व्याप्त हो जाती है। परिपूर्णता आत्मा एवं परमात्मा में मिलकर अखंड परिपूर्णता हो जाती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मेरे इस परिपूर्ण ज्ञान ने 'महालिंग' का आच्छादन कर परमकाष्ठा प्राप्त की।

१३४—अंतरंग सन्निहित, बहिरंग निश्चिन्तवो अय्या? तनु तन्न सुख, मन परम सुख, अदुकारण काय मायवो, गुहेश्वर निराळवो अय्या।

वचन १३४—स्वामिन्, अंतरंग के सानिध्य से बहिरंग निश्चित हो गया। शरीर स्व सुख है, मन परम सुख। इसलिये क्या काया माया है। गुहेश्वर निराविल है।

अर्थ १३४—अंतरंग में 'प्राणलिंग' की प्राप्ति और परिपूर्णत्व के व्याप्त होने के पश्चात् बाह्य क्रियावर्तन नष्ट होकर निश्चितता प्राप्त हो जाती है। इसलिये अपना शरीर ही स्वतंत्र सुख, मन ही परम सुख हो जाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस स्थिति तक पहुँचता है उसका शरीर ही निर-वयव एवं निराविल हो जाता है।

१३५—अंगद मेले लिंगवरितु लिंगदमेले अंगवरितु, भाव तुंबि, परिणामवरितु नामविल्लद देवंगे नेमवेल्लियदु गुहेश्वरा।

वचन १३५—शरीर में शिव, शिव में शरीर के लयपूर्वक परिपूर्ण भाव से परिणाम (सुख) के नष्ट होने के पश्चात् गुहेश्वर, नामरहित उस देव के लिये नियम कहाँ।

अर्थ १३५—इस वचन का भाव यह है कि सर्वांग में शिव (लिंग) का संबंध हो जाने से शरीर ही शिव और शिव ही शरीर हो जाता है और भाव परिपूर्ण हो जाता है । प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस परिपूर्ण भावावस्था के कारण उस शिव (लिंग) से प्राप्त सुख की अनुभूति नहीं होती । अर्थात् उस अवस्था में परम सुख की अनुभूति भी नहीं हो सकती । इसलिये उस अवस्था में कोई नियम आदि का निर्बंध नहीं है ।

१३६—आदियनादियोंदादंदु चंद्र सूर्यरोंदादुंदु, धरेयाकाश ओंदा दंदु, गुहेश्वर लिंग निराळ ।

वचन १३६—जिस समय आदि आधार एक हो जाते हैं, चंद्र-सूर्य मिल जाते हैं और पृथ्वी-आकाश का सामरस्य हो जाता है उस समय गुहेश्वर निराविल और निर्लिप्त है ।

अर्थ १३६—आदि=शिव (लिंग) । अनादि=(शिष्य शरण) । चंद्र=शक्ति । सूर्य=शिव । पृथ्वी=देहतत्त्व । आकाश=आत्मतत्त्व ।

'लिंग' धारण करने के पूर्व शिष्य में ज्ञानोदय होता है अतः उस (शिष्य) को अनादि कहा । ज्ञानोदय के पश्चात् 'लिंग' का धारण होता है अतः उसको आदि कहा । प्रभुदेवजी कहते हैं कि ज्ञानोदय के पश्चात् लिंग धारण होने से दोनों का सामरस्य होता है और एक ही वस्तु रह जाती है । ऐसी अवस्था में चंद्र-सूर्य रूपी शिव-शक्ति एवं पृथ्वी-आकाश रूपी आत्म-तत्त्व-देह दोनों मिलकर एक हो जाते हैं । अतः इस अवस्था को प्राप्त 'शरण' निराविल तत्त्व होता है ।

---

(५) शरणस्थल

इन्तु प्राणलिंगिस्थलदल्लि अनुभावमुखदिंदाचरिसि ऐक्यवाद प्राणलिंगि मुंदे ज्ञानमुखदिंदाचरिसि बेरिसुव भेदवेंतिर्दुदेंदोडे मुंदे शरणस्थल वादुदु।

'प्राणलिंगी' स्थल में 'अनुभाव' भक्ति द्वारा आचरण कर साधक ने सामरस्य प्राप्त किया। इस स्थल में यह रहस्य उद्घाटित किया गया है कि 'ज्ञान-भक्ति' द्वारा आचरण कर साधक किस प्रकार सामरस्य प्राप्त करता है।

१—विरहद लुत्पत्यवाद परमापद बेळुवे हत्तितल्ला। स्वरूपनिरूप वेंदरियरू। हेसरिट्टु करेव कष्टव नोडा गुहेश्वरा।

वचन १—ओह, विरह से उत्पन्न परमाया के यौतुक की प्राप्ति हुई। 'स्वरूप ही निरूप है' ऐसा ये नहीं समझ रहे हैं। गुहेश्वर, नामकरणपूर्वक पुकारने का कष्ट देखो।

अर्थ १—इस वचन का तात्पर्य यह है कि विरह के विकार से उत्पन्न प्राणी (जीव) ने मिथ्यापिंड धारण कर उसी को लक्ष्य बना लिया और जाति, वर्ण, आश्रम, नाम एवं गोत्र में बद्ध होकर वह उसी में पागल और नष्ट हो गया।

२—हिंदणदरियददु, मुंदणदेनु बल्लदो। उदयमुखदल्लि हुट्टिद प्राणिगळु अस्तमानकळिदवल्ला। अंदंदिन घटजीविगळु बंद बट्टे-गेहोदवल्ला गुहेश्वर लिंगवु आरिग् इल्लवय्या।

वचन २—जो भूत को नहीं जानता है वह भविष्य क्या जानेगा। ओह, सृष्टि के साथ उत्पन्न प्राणी प्रलयकाल में नष्ट हो गए। ओह, सृष्टि के साथ आए हुए घटजीव जिस मार्ग से आए थे उसी से लौट गए। गुहेश्वरलिंग किसी को प्राप्त नहीं हुआ।

अर्थ २—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिनको अपने पूर्व के आश्रम एवं स्थिति का परिज्ञान नहीं है उनको भविष्य के शिवाचार-रहस्य का ज्ञान भी नहीं हो सकता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि वे उत्पन्न एवं मृत होकर चले

जाते हैं। वे शिव (लिग) का निजत्व नहीं जान सकते। और भवमार्गा-नुगामी हो जाते हैं।

३—नीर नडुवे ऑंदु गिड हुट्टित्तु। आ गिडद एलेय मेले बंदित्तोंदु कोडग। आ कोडगद कोंबिनल्लि मूडित्तद्भुत। आ अद्भुत-वळिदल्लदेशरणनाग बारदु गुहेश्वरा।

वचन ३—जलमध्य एक वृक्ष उत्पन्न हुआ। उस वृक्ष के पत्र के भक्षणार्थ एक मर्कट उपस्थित हुआ। उस मर्कट के शृंग पर एक अचरज का उदय हुआ। गुहेश्वर, उस अचरज का नाश किए बिना 'शरण' नहीं हो सकता।

अर्थ ३—जल-बुद्बुद (माया रूपी जल) से शरीर रूपी वृक्ष का उदय हुआ। उस शरीर के प्रपंच रूपी पत्ते के भक्षणार्थ मन रूपी मर्कट उपस्थित हुआ। उस मर्कट के अहंकार रूपी शृंग पर दुरभिमान रूपी अचरज का आविर्भाव हुआ। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब तक उस दुरभिमान का नाश नहीं होता तब तक कोई भी 'शरण' नहीं हो सकता।

४—नेमस्तनरिवु प्रपंचदल्लि होयित्तु। भक्तनरिवु समाधानदल्लि होयित्तु। जंगमदरिवु बेडिदल्लि होयित्तु। इन्तु क्रियागमदोळगे आवंगु अंग विल्ल गुहेश्वरा निम्मशरणरपूर्व।

वचन ४—नियमस्थ का ज्ञान प्रपंच में चला गया। भक्त का ज्ञान समाधान में चला गया। 'जंगम' का ज्ञान याचना करने में चला गया। इस प्रकार क्रियाचरण से किसी को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। गुहेश्वर, आपका 'शरण' अपूर्व है।

अर्थ ४—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो व्रत एवं नियमों का आचरण करते हैं उनको वे व्रत-नियम ही श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं किंतु शिव (लिंग) नहीं। 'जंगम' का आदर सत्कार करनेवाले भक्त के मन में सदा उसी के सत्कार की भावना रहती है, शिव की भावना नहीं। 'जंगम' का ज्ञान उपाधि द्वारा याचना करने पर नष्ट हो गया। इस प्रकार किसी में ज्ञान का उदय नहीं हुआ। अतएव वे 'शरण' नहीं हैं। सचमुच 'शरण' अपूर्व है।

५—हसिदडे उणबहुदे नसगुन्नि तुरुचेयनु अवसरकिलद धोरेगे—अर्थविद्दल्लि फलवेनु। साणेय मेले श्रीगंधव तेयुवरल्लदे इट्टिगेय

मेले तेयबहुदे। रंभेय नुडि शुंभंगे श्रृंगारवे, ज्ञानिय कूड, ज्ञानि-मातानुडुवनल्लदे अज्ञानिगळ कूडे ज्ञानिमातनाडुवने। सरोवरदोळगोंदु कोगिले सरगैयुत्तिर्दडे, कोंबिन मेलोंदु कागे करॅन्नदे। अन्तायित्तु। भरदल्लि बरड करदिहनेंदु कंदलि कोंडु हिंडे, कन्दलोडेदु कैमुरिदंता यित्तु काणा गुहेश्वरा।

वचन ५—क्षुधा होने पर क्या कपिकच्छु (केवाच) के फल का सेवन कर सकते हैं। समय पर सहायता न देनेवाले राजा के पास धन रहने से क्या प्रयोजन। श्रीगंध (चंदन) को कड़े पत्थर पर ही पीसा जाता है, क्या ईंटे पर पीसा जायगा। रंभा की वाणी में अरसिक का क्या आकर्षण होगा। ज्ञानी ज्ञानी के साथ ही बातचीत करते हैं, क्या अज्ञानी के साथ बात करेंगे। सरोवर में कोकिला के मधुर स्वर करने पर क्या शाखास्थ काक 'का, का' शब्द नहीं करेगा। ऐसा ही हुआ। गुहेश्वर, संभ्रम में बाँझ गाय दुहने जाकर पात्र एवं हाथ टूटने की सी स्थिति हुई।

अर्थ ५—इस वचन का अभिप्राय यह है कि ज्ञानी के साथ ही महाज्ञानी वार्तालाप करता है, मूर्खों के साथ कदापि नहीं। मूर्ख यदि उसकी निंदा भी करता है तो वह उस पर ध्यान नहीं देता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उन अज्ञानियों को कोई उपदेश करता है तो उसकी स्थिति उसी प्रकार की है जिस प्रकार कोई संभ्रम से बाँझ गाय दुहने जाय और पात्र एवं हाथ तोड़-कर लौटे।

६—कंगळ मुंदण कत्तले इदेनो। मनदमुंदण मरवे इदेनो? ओळ-गण रणरंग होरगण श्रृंगार बळकेगे बंद बट्टे इदेनो गुहेश्वरा।

वचन ६—नेत्र के सामने यह अंधकार क्या है, मन के सामने विस्मरण क्या है। आंतरिक रणरंग बाह्य का श्रृंगार है। गुहेश्वर, व्यवहार में आया हुआ यह मार्ग क्या है।

अर्थ ६—आंतरिक रणरंग=अंतरंग में व्याप्त अज्ञान। बाह्य का श्रृंगार= बाह्य व्यवहार। व्यवहार में आया हुआ मार्ग = प्रपंचमार्ग।

इस वचन का अर्थ यह है कि जब तक देखनेवाले के नेत्र के सामने अज्ञान है तब तक मन का विस्मरण नहीं छूटता। इसलिये अंतरंग का अज्ञान ही अपने पर विजय प्राप्त करनेवाला रणरंग है। इस रहस्य को

न जानकर जो बहिरंग में विश्वास करता है वह संसारमार्ग में पुनः आ ही जाता है।

७—उच्चेय जवुगिन बच्चलतंपिनल्लि निच्च ककेनिच्च होरळ्व हंदियन्ते, शिवनिच्छेयनरियदे, मातनाडुवर मेच्चुवने गुहेश्वरा।

वचन ७—मूत्र के ऊसर में स्नानागार के जल में प्रतिदिन लोट पोट होनेवाले शूकर सदृश जीव शिवस्वरूप को न जानकर वाग्विलास करते हैं। क्या ऐसे लोगों पर गुहेश्वर की कृपा होगी।

अर्थ ७—इस वचन का भाव यह है कि जो शिवस्वरूप जानता है उसकी बातें शिव के लिये प्रियकर हैं। जो नहीं जानता उसकी बातें कदापि योग्य नहीं हैं।

८—ओंद्र मोरेयनोंदु मूसिनोडि, मत्तोच्चि होत्तिगे कच्चियाडि होद्न्तायित्तु। नोडिद्रे, कलियुगदोळगण मेळापवा। गुरुवेंबातशिष्यनंतवनरिय, शिष्यनेंबात गुरुविनन्तवनरिय, भक्तनेंबातजंगमदन्तवनरिय, जंगमवेंबात भक्तनन्तवनरिय, गुरु, गुरुबिनल्लि समविल्ल, शिष्य, शिष्यनल्लि समविल्ल, भक्त भक्तगे समविल्ल, जंगम जंगमदोळगे समविल्ल। इदु कारण कलियुग दोळगे उपदेशव माडुव काळुगुरिकेय मक्कळिगेनेंबेनय्या गुहेश्वरा।

वचन ८—ओह, एक का मुख दूसरे के द्वारा सूँघने पर (स्पर्शजन्य) विकृति हो जाने से कलह करने की सी स्थिति है। देखो कलियुग के व्यवहार को। प्रख्यापनरत गुरु शिष्य का अंतरंग नहीं जानता। शिष्य प्रख्यापनरत गुरु का अंतरंग नहीं जानता। प्रख्यापनरत भक्त 'जंगम' का अंतरंग नहीं जानता। प्रख्यापनरत 'जंगम' भक्त का अंतरंग नहीं जानता। गुरु गुरु में समता नहीं, शिष्य शिष्य में एवं भक्त भक्त में समता नहीं। इसलिये गुहेश्वर, कलियुग में उपदेश देनेवाले कालाधीन पुत्रों को मैं क्या कहूँ।

अर्थ ८—इस वचन का तात्पर्य यह है कि संसार से घृणा कर भवपाश का छेदन करने की उत्कट इच्छा से जो गुरु की शरण में आता है उस शिष्य के अंतरंग को जानकर जो गुरु उपदेश देता है उसका उपदेश सफल और उस शिष्य का संस्कार भी सफल हो जाता है। इस रहस्य को न जानकर जो

उद्देश्यपूर्वक अज्ञानियों के लिये उपदेश देता है या दीक्षा द्वारा 'लिंग' धारण करता है उसका गुरुत्व नष्ट होता है उस शिष्य का भवपाश छेदन भी नहीं होता और शिवाचार की हानि भी होती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसलिये अज्ञान-दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

९—अंबरदोळगोंदु, अडवि हुट्टित्तु। आ अडवि योळगोब्ब व्याधनिद्दाने, आ व्याधन कैयल्लि सिक्कित्तोंदु मृगवु आ मृगव कोंदल्लद व्याध सायनु। अरिवु बरिदुंटे गुहेश्वरा।

वचन ९—अंबर में एक अरण्य की उत्पत्ति हुई। उस अरण्य में एक व्याध है। उसके हाथ में एक मृग आकर फँस गया। उस मृग का वध किये बिना व्याध नहीं मरता है। गुहेश्वर, क्या ज्ञान निःशुल्क मिलता है।

अर्थ ९—अंबर=आत्मतत्त्व। अरण्य=भवारण्य। व्याध = काम। मृग=जीव।

आत्मतत्त्व के विस्मरण में भवारण्य की उत्पत्ति हुई। उस अरण्य में काम रूपी व्याध आया। उसने जीव रूपी मृग को अपने अधीन कर लिया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस जीवभाव का नाश किए बिना काम का विनाश नहीं होता। इसलिये जीवभाव का नाश हुए बिना कोई ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता।

१०—ओळगे नोडिहनेंदडे ओळगे नोडलिल्ल। होरगे नोडिहनेंदोडे होरगे नोडलिल्ल। ज्ञानवेंतुटो ? बलेय बीसि कोल्लुवन मनेयल्लि सत्तडे एनुकारण अळुविरो गुहेश्वरा।

वचन १०—भीतर देखना चाहकर भी मैंने भीतर नहीं देखा, बाहर देखना चाहकर भी बाहर नहीं देखा। ज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी। गुहेश्वर, जाल बिछाकर वध करनेवाले के घर में कोई मृत होगा तो ये रोते क्यों हैं।

अर्थ १०—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिनके अंतरंग में ज्ञान का प्रकाश और बहिरंग में उसके अनुसार क्रिया का आचरण भी नहीं है वे यदि 'मुझे शिव की कृपा नहीं है' ऐसा कहकर दुःख प्रकट करते हैं तो वे ठग हैं। उनके दुःख का उसी प्रकार अनादर होता है जिस प्रकार नित्य वध करनेवाले के घर से शव को देखकर दुःख प्रदर्शन करनेवाले वधिक का। भाव

यह है कि जिसमें ज्ञान एवं क्रिया का समन्वय नहीं है उस पर ईश्वर की कृपा नहीं होगी।

११—सत्यविल्लदवरोडने सहस्रकोम्मे नुडियलागदु। लक्षक्कोम्मे नुडियलागदु कोटिगोम्मे नुडियलागदु नुडियलवरोडने मारिहोरलि गुहेश्वरा निम्म शरणरल्लदवरोडने बायिदेरेयलागदु।

वचन ११—सत्यविरहितों के साथ सहस्र बार में एक बार भी नहीं बोलना चाहिए। लक्ष बार में भी एक बार नहीं बोलना चाहिए और कोटि बार में भी एक बार नहीं बोलना चाहिए। ऐसों के साथ यदि कोई बात करता है तो उसके घर में महामारी का प्रवेश हो जाय। गुहेश्वर, आपके 'शरण' के अतिरिक्त अन्य लोगों के साथ नहीं बोलना चाहिए।

अर्थ ११—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसके अंतरंग और बहिरंग में सुज्ञान व्याप्त है उसके साथ संभाषण करने पर सुख प्राप्त होता है। इसके विपरीत अज्ञानियों के साथ संभाषण करने पर अपनी शांति एवं सुख नष्ट हो जाता है। इसलिये लौकिक और अज्ञानी के साथ बात नहीं करनी चाहिए।

१२—अग्निय ओडलोळगोब्ब आकाशवर्णद सूळे, आसूळेगे मुव्वरु मक्कळु नोडा, आमक्कळ कै बायल्लि मूरुलोक मरुळागि अच्चुग बडुत्तिदरेनु चोद्यवो ? करिय बण्णद मुसुक नुगिदु बेरस बल्ल शरणंगल्लदे, परतत्ववेंबुदु साध्यवागदु गुहेश्वरा।

वचन १२—अग्नि के उदर में आकाश वर्ण की एक वेश्या (है)। देखो उस वेश्या के तीन पुत्र हैं। उन पुत्रों के हस्त एवं मुख में तीनों लोक पागल होकर दिग्भ्रांत हो गए हैं। यह कैसा अचरज है। गुहेश्वर, कृष्ण वर्ण का घूँघट फेंककर जो सामरस्य करना जानता है उसी 'शरण' को परतत्त्व साध्य होगा, अन्य को नहीं।

अर्थ १२—अग्नि=अग्नि के अंश से निर्मित शरीर। आकाश वर्ण की वेश्या=तमोगुण वाली माया। तीन पुत्र=विश्व, तैजस, प्राज्ञ (जीव)। कृष्ण वर्ण का घूँघट= अज्ञान।

अग्नितत्त्व से उत्पन्न शरीर में तमोगुण वाली माया (अज्ञान) का वास है उस माया (अज्ञान) के वशवर्ती होकर उत्पन्न हुआ है जीवत्रय

(विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ)। इन तीनों की अधीनता से तीनों लोक दिग्भ्रांत हो गए हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस तमो वर्ण वाले अज्ञानंधकार के भेदपूर्वक परतत्त्व के सान्निध्य में जाता है वही शरण है। अन्य लोग 'शरण' पद के योग्य नहीं हैं।

१३—सर्प संसारियोडनाडि कट्टुवडेयित्तु, मनद तमंध बिडदु। मनदकपट बिडदु। सटेयोडने दिटवाडि बयलु बडिवडेयित्तु। कायद संगद जीववुळ्ळन्नक्कर एंदू भव हिंगदु गुहेश्वरा।

वचन १३—सर्प ने संसारी के साथ क्रीड़ा कर सीमोल्लंघन किया। मन का अंधकार छूटता नहीं। मन का कपट दूर नहीं होता। सत्य के साथ मिथ्या का संग हो जाने से गगन रिक्त हो गया गुहेश्वर, जब तक काय का (काम संबंधी) जीव है तब तक भव का नाश कभी नहीं हो सकता।

अर्थ १३—इस वचन का भाव यह है कि जीव ने सांसारिक शरीर का संग कर लिया और उसकी माया (अभिमान) से वह (जीव) आच्छादित हुआ। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस अज्ञान के कारण जीव को निज स्वरूप जानने का अवसर ही नहीं मिलता।

१४—वेद बेधिसलरियदे केट्टवु, शास्त्र साधिसलरियेदे केट्टवु पुराण पूरैसलरियदे केट्टवु, हिरियरु तम्म तावरियदे केट्टरु, तम्मबुद्धि तम्मने तिंदित्तु निम्मनेत्त बल्लरु गुहेश्वरा।

वचन १४—विदित न होने से वेद नष्ट हो गए। सिद्धि न करने से शास्त्र नष्ट हो गए। पूर्णत्व को न पाने से पुराण नष्ट हो गए। अपनी बुद्धि से ही साधक नष्ट हो गए। उनकी बुद्धि ने उन्हीं का भक्षण कर लिया। गुहेश्वर, वे आपको कैसे जानेंगे।

अर्थ १४—प्रभुदेवजी कहते हैं कि वेद, शास्त्र एवं पुराण ये तर्कत्रय स्व में ही विचार-मंथन करते हैं पर शिवतत्त्वस्वरूप को नहीं जानते। जिन्होंने स्वस्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है वे पंडित 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अहंकार से नष्ट हो गए। वे अपनी बुद्धि के कारण ही स्वस्वरूप का अनुभव (शिवत्व का बोध) न कर सके।

१५—करगिसि नोडिरे अरण करियगट्टियनु। आकरियगट्टियोळ-गोंदुरत्नविप्पुदु। आरत्नद परीक्षेय बल्लेनेंबवर कण्णु गेडिसित्त नोडा।

अदुहिरियरेल्लरु मरुळागि होदरु। करियगट्टिय बिळदुमाडिमुखद मुद्रे-यनोडेय बल्लवरिगल्लदे गुहेश्वरन निलवनरिय बारदु नोडिरण्ण।

वचन १५—हे भाई, काले पिंड को गलाकर देखो। उसमें एक रत्न है। उसने 'हम रत्नपरीक्षा जानते हैं' ऐसा कहनेवालों की दृष्टि भंग कर दी। देखो, बड़े बडे पंडित पागल होकर चले गए। उस काले पिंड को श्वेत बनाकर मुखमुद्रा का भंग करना न जाननेवालों को गुहेश्वर का स्वरूप विदित नहीं होता।

अर्थ १५—काला पिंड=अज्ञान रूपी काले रंग से आवृत चित्त। रत्न=ज्ञान।

अज्ञान रूपी कालिख से चित्त रूपी पिंड आवृत है। वह पिंड (चित्त) सुविवेक रूपी अग्नि के द्वारा गलाने से निर्मल होता है। फलस्वरूप ज्ञानरत्न का साक्षात्कार होता है। 'उस ज्ञानरत्न को हम जानते हैं' ऐसा कहनेवाले ज्ञानी अहंकार में चूर रहते हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो उस काले पिंड को श्वेत (सुज्ञान से युक्त) करने के पश्चात् उस श्वेतत्व रूपी ज्ञान का भी निवारण करता है वही निज तत्त्व की सिद्धि पाता है।

१६—नदिय जल कूपजल, तटाकजलवेंदु हिरिदु किरिदादुद नरियरू, बेरेमत्तोंदु भाषे, व्रतनेमंगळ हिडिद शील संबंधिगळु जात्यांध करू निम्मनेत्त बल्लरु गुहेश्वरा।

वचन १६—नदी के जल, कूप के जल एवं तड़ाग के जल की विषमता और समता को (लोग) नहीं जान रहे हैं। अन्य भाषा, व्रत-नियम के पालक और जात्यंध गुहेश्वर, आपको कैसे जानेंगे।

अर्थ १६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो शिव-संबंधी नहीं है एवं निजतत्त्ववेत्ता भी नहीं है वे व्रत-नियम, शील आदि को ही प्राण (प्रधान) समझते हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि केवल कर्म को माननेवाले अज्ञानी हैं।

१७—हाळूरोळगोंदु मनेय माडि, बदुकिहनेंदरे, काळोगर बंदु कडियित्तु नोडा, केरिकेरियोळगेल्ला हरिदाडुत्तिर्दवु मारिय तोरेद मदगजंगळु। चित्रगुप्तर कैय पत्रव तिळिवु नोडिदरे हाळूरु हाळाविल गुहेश्वरा।

वचन १७—देखो, उजड़े ग्राम में गृह बनाकर जीवन बिताने की आशा से उसमें रहते समय (रहनेवाले को) एक काले सर्प ने काट लिया। महामारी के छोड़े मत्तगज गली गली घूम रहे हैं। देखो, गुहेश्वर, चित्रगुप्तों का बहीखाता जान लेने से उजड़ा ग्राम ही नष्ट हो गया।

अर्थ १७—उजड़ा=मिथ्या। ग्राम=पंचमहाभूत। गृह=मिथ्या पंचमहाभूत से निर्मित शरीर। सर्प=संसार। महामारी=माया। मत्तगज=अष्टमद। गली गली=अंतःकरण। चित्रगुप्तों का बहीखाता=प्रारब्ध।

मिथ्या पंचमहाभूतों से निर्मित शरीर में जीवित रहने की आशा से जीव ने प्रवेश किया पर संसार रूपी काले सर्प ने आकर उसे काट लिया। अर्थात् शरीर के संग से जीव स्वस्वरूप भूल गया और संसार में लिप्त हो गया। अंतःकरण रूपी मार्ग में मिथ्या माया से उत्पन्न अष्टमद रूपी मत्तगज घूमने लगे। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस अवस्था में यदि कोई विधिकल्पित कर्मलेख (प्रारब्ध) का नाश करता है तो उसका देहधर्म नष्ट हो जाता है।

१८—बल्लतनवनेरिसिकोंडु अल्लदाटवनाडिदरे, बल्लतनक्के भंगवायित्तु व्यसनदिच्छेगे हरिदाडुवरेल्लरु बल्लरे हेळिरे। समस्त मेळापद गोष्टिय भंडरेल्लरु बल्लरे हेळिरे। काम क्रोध, मोह मद, मत्सरदिच्छेगे हरिववरु हंदियोडनाडिद कंदियन्तादरु। इन्नु बल्लरे गुहेश्वरा माया मुखरु निम्मनु।

वचन १८—ज्ञान की प्राप्ति कर स्वेच्छापूर्वक अयोग्य व्यवहार करने से ज्ञान नष्ट हो गया। हे व्यसनेच्छा के लिये दौड़नेवाले जानते हो तो बताओ। हे समस्त भट्टगोष्ठी करनेवाले भंडो, जानते हो तो बताओ। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर की इच्छा से दौड़ धूप करनेवाले शूकरों के साथ खेलनेवाले बछड़ों की भाँति हो गए। गुहेश्वर, मायोन्मुखी क्या अब आपको जानेंगे।

अर्थ १८—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिनको सहज ज्ञान की प्राप्ति नहीं है वे यदि अभ्यासपूर्वक अद्वैत सीखकर भट्टगोष्ठी करते हैं अर्थात् स्वेच्छापूर्वक वाग्वाद करते हैं तो उनकी स्थिति उसी प्रकार है जिस प्रकार शूकर के संग रहनेवाले बछड़े की। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे लोगों का 'शिवसंबंध' (सामरस्य) नहीं हो सकता।

१६—नाएमरेय नाचिके ओंदु नूलमरेयल्लुडगित्तु। बल्लेनेंब अरु-हिरियरेल्लु अल्लिये मरुळादरु। नूलमरि हत्तिय बेलेय होंदहोदरे अदु अत्तले होदित्तु गुहेश्वरा।

वचन १६—लोक की लज्जा एक सूत में छिपी है उसको जानने का दंभ भरनेवाले अर्ध पंडित उसी से मोहित हो गए। गुहेश्वर, सूत बेचकर कपास मात्र का मूल्य चाहने पर वह उधर ही चला गया।

अर्थ १६—लोक का अभिमान (लज्जा) एक वस्त्र में छिपा है। जो उस वस्त्र के परित्यागपूर्वक कहता है कि मैं दिगंबर हो गया अर्थात् मैंने सर्वसंग परित्याग कर लिया वह 'सर्वसंग परित्याग' रूपी अहंकार से युक्त है। इस अहंकार के कारण सब लोग पागल हो गए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस अंधकार रूपी द्रव्य से शिव ज्ञान रूपी वस्तु क्रय कर सकता है वही शुद्ध 'शरण' है।

२०—धरेय मेलोंदु अरिदप्प रत्न हुट्टिरयि अदनरसलरस होमित्तय्या नडु नीरोळगे मुळुगि आळवरिदु, नोडि कंडिहनेंदरे काणबारदु। धारेवट्टल कळदुकोंडु नीर शोधिसि नोडिंदरे, दूरदल्लिकाण बरुत्तिहुदु नोडा। सारके होगि हिडिदुकोंडिहनेंब धीररेल्लर मतिय बगेय नुंगित्तु गुहेश्वरा।

वचन २०—पृथ्वी पर रत्न उत्पन्न हुआ। उसकी खोज करने में खोज ही जल में डूब गई। जल की गहराई में डूबकर देखने से भी वह नहीं दिखाई देती। छलनी में जल को छानने पर (वह) दूर दिखाई पड़ती है। गुहेश्वर, समीप जाकर ग्रहण करने का दंभ भरनेवाले वीरों की बुद्धि को उसने निगल लिया।

अर्थ २०—पृथ्वी=शरीर। रत्न=ज्ञान। जल=मन। छलनी=सुविचार।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि शरीर रूपी पृथ्वी पर ज्ञान रूपी रत्न उत्पन्न हुआ। मैंने जब तक उस रत्न को खोज कर ग्रहण करने की इच्छा की तब यक वह (ज्ञान) मन रूपी जल के व्याकुलता रूपी प्रवाह में समा गया। जल (मन) में प्रवेश कर खोजने का प्रयत्न करने से मन ही प्रतीक बनकर प्रकट हुआ। पर मैंने सुविचार रूपी छलनी से छानकर अज्ञान रूपी खोट निकाल कर सुज्ञान ग्रहण करने का प्रयत्न किया। पर वह (ज्ञान) दूर (मुझ से भिन्न)

दिखाई दिया। जो इस ज्ञान का ग्रहण करने की इच्छा करता है उसकी बुद्धि में वह प्रतिबिंबित होता है। अर्थात् द्वैत रह जाता है।

२१—उपचारद गुरुविंगे, उपचारद शिष्यनु। उपचारद लिंगवु, उपचारद जंगमवु, उपचारद प्रसादव कोंड गुरुविंगे भवद्लेंकनागि अंधकन कैय अंधक हिडिद्न्ते इवरिब्बरु होलबु गेट्टरु काणा गुहेश्वरा।

वचन २१—औपचारिक गुरु को औपचारिक शिष्य है। औपचारिक लिंग, औपचारिक 'जंगम' एवं औपचारिक प्रसाद का सेवन करनेवाला शिष्य और देनेवाला गुरु दोनों भवकिंकर हैं। गुहेश्वर, अंधे द्वारा अंधे को ले चलने की भांति दोनों पथभ्रष्ट हो गए।

अर्थ २१—अज्ञानी गुरु से उपदेश प्राप्त कर उसके द्वारा प्रदत्त 'लिंग' की पूजा करना 'जंगम' की आराधना एवं प्रसाद का सेवन ये तीनों औपचारिक कहलाएँगे। अज्ञानी शिष्य के गुरु द्वारा उपदेश प्राप्त करने पर भी कोई फल नहीं। इनका मार्ग वैसा ही है जैसा 'अन्धेनैव नीयमानायथान्धाः', अर्थात् अंधे के द्वारा अंधे को मार्ग में ले चलना।

२२—लिंग जंगमद संबंध समव माडिहेलेंबरु। गुरुमुन्नवो, शिष्य मुन्नवो? आवुदु मुन्नवेंदरियरु नोडा, इदुकारण आवसंबंधवनरियरु गुहेश्वरा।

वचन २२—(लोग) 'लिंग' एवं 'जंगम' के संबंध को समान करने की बात करते हैं। गुरु प्रथम है या शिष्य? ये नहीं जानते कि कौन प्रथम है। गुहेश्वर, इसीलिये वे कोई संबंध नहीं जानते।

अर्थ २२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसके अंग में 'लिंग' का संबंध हुआ है और जिस साधक के अंतरंग का 'जंगम' (ज्ञान) से भी संबंध हुआ है अर्थात् जो इन दोनों को समरस करने की विधि जानता है वही ज्ञानी है। जो नहीं जानता वह अज्ञानी है।

२३—कामव सुट्टु होमवनुरुहि त्रिपुर संहारद कीलनरियबल्लरे, योगि याद्डेनु भोगियाद्डेनु, शैवनाद्डेनु, सन्यासियाद्डेनु,

अशनव तोरेदाता व्यसनव मरेदात गुहेश्वर लिंगदल्लि अवरु हिरियरेंबेनु।

वचन २३—जो काम का दहन कर होम के दहनपूर्वक त्रिपुर-संहार का रहस्य जानता है वह भोगी हो, योगी हो, शैव हो या संन्यासी हो (कोई हानि नहीं)। गुहेश्वर, जिसने अशन का त्याग किया है एवं जो व्यसनों को भी भूल गया है उसी को मैं बड़ा कहूँगा।

अर्थ २३—काम=इच्छा। होम=जठराग्नि। त्रिपुर=स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर।

जो समस्त विषयों को चाहनेवाली कामना का दहन कर जठराग्नि की तृषा को ज्ञानाग्नि से जला देता है और स्थूल सूक्ष्म एवं कारण इस शरीरत्रय के रहस्य को जानकर उसका भी नाश करता है वही दिव्यशिवयोगी है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उपर्युक्त विधि को जो जानता है वह योगी हो या भोगी हो अथवा शैव हो, जो भी हो, उसी को ज्ञानी कहते हैं।

२४—नानु घन तानु घनवेंब हिरियरुंटे जगदोळगे? हिरियर हिरियतनदिंदेनायित्तु, हिरिदु किरिदेंब शब्दवडगिदरे आतने शरण गुहेश्वरा।

वचन २४—मैं बड़ा हूँ, हम बड़े हैं कहनेवाले क्या बड़े हैं। क्या वे जानते हैं कि संसार में अपने को बड़ा कहनेवालों की दशा क्या होती है। गुहेश्वर, जिसमें 'बड़ा' 'छोटा' शब्द लय हो गए हैं वही शरण है।

अर्थ २४—इस वचन का भाव यह है कि जिसमें ज्ञान का उदय हुआ है और साथ ही यह स्थूल है यह सूक्ष्म है, इत्याकारक विपरीत भाव का भी लय हो गया है वही शिवयोगी है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे उभयातीत व्यक्ति को ही ज्ञानी कहना चाहिए। इससे विपरीत व्यक्ति अज्ञानी है।

२५—नामनेमंगळागिर्प हिरियरु आदिय कुळवनरियरागि, इदेनय्या? सूक्ष्मद गंटल गाणविदेनय्या नेळल रूहिंगे बयलु सरवे। अपाय रहित गुहेश्वरा।

वचन २५—स्वामिन् यह क्या है, जो नाम के नियमी हैं, उन पंडितंमन्य वृद्धों को आदिकुल का ज्ञान नहीं है। यह क्या है, सूक्ष्म रूपी बंसी। छायारूप को अंतरिक्ष रूपी बाण। गुहेश्वर अपायरहित है।

अर्थ २५—नाम का नियमी=स्व को ज्ञानी कहनेवाला (मिथ्या-भिमानी)। आदिकुल=स्वस्वरूप। सूक्ष्म=निजतत्त्व। बंसी=मन, बुद्धि से अगोचर। छायारूप=मिथ्या शरीर। अंतरिक्ष रूपी बाण=मिथ्या ज्ञान। प्रभुदेवजी कहते हैं कि अपने को बड़ा एवं पंडित प्रख्यापित करनेवाले स्वस्वरूप को न जानकर वृथा नष्ट हो रहे हैं। निजतत्त्व अत्यंत सूक्ष्म है उस वस्तु को जो बुद्धिगम्य करना चाहता है उसको वह पचता नहीं अर्थात् वह बुद्धिगम्य नहीं है।

जो मिथ्या शरीर धारण कर व्यवहार करते हैं उनका ज्ञान मिथ्या है, वह खंडित होता है। अतः वह ज्ञान सुखदायक नहीं है। शिवज्ञानी इस प्रकार के ज्ञान से दूर रहता है।

२६—जीवतामसद् मायद् बलेय भ्रान्तिगे सोलुव शरीर संसार संगव भेदिसि नोडुवरे दूर। चिंतेयन्ने गेलिदु सुळिदडे, गुहेश्वरनेंदरिद् शरण सारायनु।

वचन २६—तामस जीव के मायापाश की भ्रांति से विजित होनेवाला शरीर (है)। संसार-संग के विच्छेदपूर्वक देखने पर (वस्तु) दूर है। जो चिंता को जीत कर संचार करता है और स्व को गुहेश्वर समझता है वही 'शरण' श्रेष्ठ है।

अर्थ २६—इस वचन का भाव यह है कि जो जीवभाव-भ्रांति से परा-जित होनेवाले (मायिक) शरीर में रहने पर भी संसार-संग का परित्याग कर परब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहता है उसको वह वस्तु दूर (भिन्न) दिखाई देती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो उस जीवभाव-भ्रांति को जीत लेता है और अन्य चिंताओं से असंस्पृष्ट रहता है वही 'शरण' है।

२७—हुट्टि केट्टित्तु भाग, हुट्टदे केट्टित्तु भाग। मुट्टि केट्टित्तु भाग, मुट्टदे केट्टित्तु भाग। इदेनो इदेन्तो ? अरिय बारदु। इदेनो इदेन्तो एंब कत्तले कारणा। इदेनो इदेन्तो एंब एरडु मातिन नडुवे उरिहत्तित्तु मूरुलोक गुहेश्वरा।

वचन २७—एक भाग उत्पन्न होकर नष्ट हुआ, एक भाग उत्पन्न हुए बिना नष्ट हुआ। एक भाग स्पर्श कर नष्ट हुआ, एक भाग स्पर्श के बिना नष्ट हुआ। यह क्या है, कैसा है, कोई नहीं जान सकता। यह क्या है, कैसा है, यही अंधकार है। गुहेश्वर, इन दोनों के कारण तीनों लोक में आग लगी है।

अर्थ २७—उत्पन्न होने पर भी कुछ लोग शिवज्ञान को प्राप्त न करने से नष्ट हो गए। कुछ लोग शिवज्ञान को प्राप्त कर उत्पन्न होने पर अनुत्पन्न की भाँति संसार से रहित हो गए। कुछ लोग 'लिंग' का स्पर्श (धारण) कर उसके स्वरूप को जान गए और उसी में विलीन हो गए। कुछ लोग स्पर्श पर भी उसका स्वरूप न जानकर नष्ट हो गए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो लोग 'यह क्या है और कैसा है' इत्यादि संशय करते हैं वे अज्ञ हैं। अपने अज्ञान से ही वे तापत्रयाग्नि द्वारा अभिभूत हो जाते हैं इसलिये वे 'यह क्या है यह कैसा है' इत्याकारक संदेह रूपी अंधकार में घूमते रहते हैं।

२८—बिरुगाळि बीसि मरमुरिदन्ते, सुळुह सुळियदे तंगाळि परिमळदोडगूडि सुळिवन्ते, सुळियबेकु। सुळिदडे नेट्टने जंगमवागि सुळियबेकु। सुळिदडे नेट्टने भक्तनागि सुळिय बेकु। सुळिदु जंगमवागलरियद, निंदु भक्तनागलरियद, उभय भ्रष्टरनेनेंबे गुहेश्वरा।

वचन २८—प्रचंड मारुत से वृक्ष टूटने की भाँति (हो गया)। गमन-रहित एवं परिमल से युक्त शीतल वायु की भाँति संचार करना चाहिए। संचार करना चाहे तो सहज 'जंगम' के रूप में संचार करना चाहिए। संचार करना चाहे तो सहज भक्त होकर संचार करना चाहिए। गुहेश्वर, संचार करने पर भी जो 'जंगम' एवं भक्त होने की रीति को नहीं जानते वे दोनों भ्रष्ट हैं।

अर्थ २८—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो संसार के समस्त विकारों को दूर कर सर्वशांत भाव से संचार करता है वही जंगम है। जो भय एवं भृत्याचार से सहज क्रियाचरण करता है वही भक्त है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस मार्ग का अनुसरण नहीं करता वह न 'जंगम' है न भक्त। ये दोनों उभयभ्रष्ट हैं अर्थात् न इह में सुख पाते हैं न परत्र में।

२९—कारमेघवेद्दु, धारावर्ति सुरिवाग, धारुणि यल्लवू मुळुगित्तु नोडा? कारिरुळ कण्णोळगे सूर्यरनेकरु मूडि दारिय होलबेंबुदु केट्टित्तु नोडा। माराय घायदल्लि सायकोंदल्लदे, सूर्यरनेकरु मडियरु गुहेश्वरा।

वचन २९—देखो, नीलमेघ के उमड़कर धाराप्रवाह वर्षा करने से सारी पृथ्वी डूब गई। घोर अंधकार के नेत्रों में अनंत सूर्यों का उदय हो जाने

से मार्ग की रीति नष्ट हो गई। गुहेश्वर, महान आघात से वध किए बिना अनंत सूर्यों की मृत्यु नहीं होगी।

अर्थ २६—नीलमेघ=अभ्रछाया रूपी संसार। वर्षा=संसार-सार रूपी वर्षा। पृथ्वी=पिंड (शरीर) घोर अंधकार का नेत्र=अज्ञान दृष्टि। अनंत सूर्य=अज्ञान दृष्टि में प्रतिबिंबित विपरीत ज्ञान।

अभ्रछाया तुल्य (अनित्य) संसार में संसार-सार रूपी वर्षा होने से शरीर रूपी पृथ्वी डूब जाती है। इसलिये अज्ञान दृष्टि के द्वारा देखकर जानने का प्रयत्न करने पर 'प्रतिसूर्यन्यायवत्' उस अज्ञान दृष्टि में शिवभाव छूटकर विपरीत भाव (अज्ञान) ही प्रकट होगा। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसलिये ऐसे अज्ञानियों को शिवपथ का मार्गोपदेश नहीं करना चाहिए। वे उस तत्त्व को नहीं समझ सकेंगे। सुज्ञान रूपी शस्त्र के द्वारा उस (अज्ञान) का नाश किए बिना शिवज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी।

३०—तानु मिंदु कालतोळेद् बळिक लिंगक्के मज्जनक्केरेवरु। तानु लिंगवो, लिंग लिंगवो? बल्लरे नीवु हेळिरे? लिंग संबंधव नरियदे केट्टरु गुहेश्वरा।

वचन ३०—स्वयं स्नान कर पादप्रक्षालन के पश्चात् 'लिंग' का अभिषेक करते हैं। जानते हो तो बताओ क्या तुम 'शिव' हो या शिव (लिंग) ही शिव है। गुहेश्वर, शिव-संबंध को न जानकर वे नष्ट हो गए।

अर्थ ३०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो स्व की स्वयं ज्योति एवं स्वयं प्रकाश के रूप में नहीं जानता है अज्ञानवश अवगाहन के द्वारा अंगो-पांगों का प्रक्षालन करने से अपने को शुद्ध समझकर शिव-पूजा करता है वह अज्ञ है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि अपने को शिव (लिंग) समझकर शिव-पूजा करनी चाहिए।

३१—कार्यवनरियरु, कोरतेयनरियरु, वायक्के बळलुवरु, तावुज्ञानि गळेंदु तायिइल्लद मगन तलेविडियलरियदे देवरादेवेंदडे नाचिदेनु गुहेश्वरा।

वचन ३१—कार्य को नहीं जानते और न्यूनता को भी नहीं जानते। मिथ्या के लिये पीड़ित होते हैं। गुहेश्वर, जो अपने को ज्ञानी कहकर भी

मातृहीन शिशु का मस्तक ग्रहण करना नहीं जानते और 'हम देव' हैं ऐसा कहते हैं उन्हें देखकर मैं लज्जित हूँ।

अर्थ ३१—मातृहीन शिशु=अजात (स्वयंभू)। मस्तक=सुज्ञान (स्वयं ज्योति)।

जिसको शिवज्ञान की प्राप्ति नहीं है अज्ञानवश यदि वह अपने को ज्ञानी कहता है तो वागद्वैती है। किंतु जो मातृहीन शिशु अर्थात् स्वयंभू के परम प्रकाश को प्राप्त करता है वही निजत्व को पाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रीति को न जानकर केवल शब्द के द्वारा निजत्व सिद्धि का जो दंभ भरता है उससे पर वस्तु दूर है अर्थात् शिवत्व का लाभ नहीं हो सकता।

३२—नडेवरिगोंदु बट्टे, मनेयोडेयरिंगोंदु बट्टे, नडेयदु, नडेयदु, हो, नडेगेट्टु निंदित्तल्ला, गमनागमनद नुडिय बेडगिन कील मडगिदात बल्लु गुहेश्वरा।

वचन ३२—संचार करनेवालों के लिये एक मार्ग, गृह में रहनेवालों के लिये अन्य मार्ग होगा तो ऐसा नहीं चलेगा, नहीं चलेगा। ओह आचार नष्ट हो गया। गुहेश्वर, गमनागमन के वचनसौष्ठव का मर्म जो निगूढ़ रखता है वही जानता है।

अर्थ ३२—इस वचन का भाव यह है कि संचार करनेवाले 'जंगम' के लिये एक मार्ग और घर में रहनेवाले भक्त के लिये अन्य मार्ग होगा तो व्यतिक्रम हो जायगा। अर्थात् 'जंगम' ज्ञानस्वरूप है और भक्त कर्म का प्रतीक है इन दोनों (ज्ञान और कर्म) का समन्वय न होगा तो किसी फल की प्राप्ति न होगी। प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिवज्ञानी दोनों (ज्ञान एवं भक्ति) का समन्वय कर आचरण करता है।

३३—एनंदरियरु एंतेंदरियरु, अरिवनरिदिहवेंबरु, मरवमरेदिहेवेंबरु, बंदनरिदिहनेंदरे, मुखमूरायित्तु मूरुमुखव एकग्राहकवमाडिदल्लदे शरणनल्लु गुहेश्वरा।

वचन ३३—लोग नहीं जानते हैं कि यह क्या है, यह भी नहीं जानते कि यह कैसा है पर कहते हैं कि 'हम विस्मरण को भूल गए और ज्ञान को जान गए'। ऐसे लोगों के तीन मुख हो गए। गुहेश्वर इन तीनों मुखों को एक ग्राहक किए बिना कोई 'शरण' नहीं होता।

अर्थ ३३—निज ज्ञान की प्राप्ति के अनंतर यदि उसका भान होता है तो वही ज्ञान का ज्ञान है। उस ज्ञान के द्वारा 'मैंने द्वैत का परित्याग किया' इस प्रकार का भान होता है तो वही विस्मरण का विस्मरण है। 'मैंने निजत्व को प्राप्त कर लिया' इस ज्ञान में ज्ञातृ, ज्ञान एवं ज्ञेय नामक त्रैविध्य अर्थात् द्वैत रहता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस (ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय) के त्रैविध्य को जो एक ग्राही बनाता है वही 'शिवशरण' है।

३४—परिपरिय अवलोहव परुष मुट्टलु, होन्नु परिवर्तनक्के बंदु सल्लुत्तिह्वु नोडा। परुषव माडुव पुरुषरेल्लरू परुष मुट्टिद होन्नि-नन्तिर्द्दरु नोडा, परुष तानागलु परुष हरिब्रह्मरिगळवल्लु। सुररु किन्नररेल्लरू निम्मवरदल्लि सिलुकिद्दरु। परुषदन्तिर्द्दरु नम्म गुहेश्वरन शरणरु।

वचन ३४—नाना प्रकार का कुत्सित लौह पारस के स्पर्श से सुवर्ण में परिवर्तित होकर बहुमूल्य होता है। देखो स्वयं पारस है और पारस का निर्माण करनेवाले भी हैं, पर वे स्पर्शमणि से स्पृष्ट सुवर्ण की भाँति हो गए हैं। स्वयं पारस होना हरि ब्रह्मादि को भी साध्य नहीं। गुहेश्वर, सुर एवं किन्नर आदि तुम्हारे वरदान के अधीन हैं (पर) तुम्हारा 'शरण' स्पर्शमणि है।

अर्थ ३४—इस वचन का भाव यह है कि जिस प्रकार स्पर्शमणि से स्पर्श होते ही अनेक प्रकार का लौह सुवर्ण में परिवर्तित हो बहुमूल्य हो जाता है पर वह स्पर्शमणि नहीं हो सकता उसी प्रकार जो श्रीगुरु का अनुग्रह प्राप्त करता है वह शिव (लिंग) के दर्शन एवं स्पर्श कर सकता है। पर इससे वह (श्रीगुरु का कृपापात्र) कृतार्थ होता है मोक्ष की भी प्राप्ति होती है पर वह शिव (लिंग) नहीं हो सकता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसीलिये 'लिंग' धारी 'शरण' स्वयं 'शिव' (लिंग) हो गया। स्वयं शिव होनेवाले रहस्य को हरि ब्रह्मादि भी नहीं जानते हैं।

३५—मामरदोळगोंदु मायदमंजु कविदरे, हू, मिडि, फलंगळु उदरविन्नेंतो ? मंजिन रसवनुंडु, फलनिमिर्दु बेळेदरे, आफलव नानु मुट्टेनुकाणा गुहेश्वरा।

वचन ३५—आम्र वृक्ष पर कुहरा व्याप्त होने पर भी कलियाँ पुष्प, फल

आदि नहीं गिर (नष्ट हो) रहे हैं अब क्या होगा । देखो, गुहेश्वर, यदि फल कुहरे के रस से परिपुष्ट हुआ तो मैं उसका स्पर्श नहीं करूँगा ।

अर्थ ३५—आम्र वृक्ष=विवेक । कुहरा=अज्ञान । कलियाँ पुष्प, फल= चतुर्विध फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) ।

विवेक रूपी वृक्ष पर अज्ञान रूपी हिम व्याप्त हो गया है । इस ज्ञाना-ज्ञान से युक्त ज्ञान से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी पुष्प फलादि की वृद्धि होती है । प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस चतुर्विध फलप्राप्ति से अनंत भव की प्राप्ति होती है और उससे दुःख होता है । इस रहस्य को जानकर मैंने स्वस्वरूप का साक्षात्कार कर लिया फलस्वरूप वे फल एवं (शिव, विष्णु, ब्रह्म के) पद आदि नष्ट हो गए ।

३६—संसार संगव भेदिसि नोडुवरे, दूरवे, कपट कन्नडवे रविय तप्पिसि सुळिव गुहेश्वरनेंदरिद शरण संसारिये ?

वचन ३६—संसार के संग का भेद कर देखने से कपट दर्पण पृथक् नहीं है । जो रवि से भी अगोचर होकर स्व को संचार करनेवाला गुहेश्वर, समझता है क्या वह 'शरण' संसारी है ।

अर्थ ३६—कपट-दर्पण=माया । रवि से अगोचर=स्वयं प्रकाशवान् ।

इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो संसार-संग को जानता है उसको संसार से कोई बाधा नहीं (निष्काम कर्म करते रहने पर कोई बंधन नहीं है) । प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो संसार से घृणा कर उस घृणा का परित्याग करता है और स्वयं शिव सुखी होकर भिन्न प्रकाश से रहित (स्वयं प्रकाश) होता है वही 'शिव शरण' है ।

३७—तन्न तानरिदिहनेंबवन मुन्न नुंगित्तु माये, निन्नोळगे अरिवु भिन्नवागिरुत्तिरलु, मुन्नवे नीनु मायस्थ नोडा । भिन्न विल्लद अज्ञा-नव, भिन्नव माड बल्लडे तन्नल्लि अरिवु निजवप्पुदु गुहेश्वरा ।

वचन ३७—माया ने पहले ही उसको निगला जो स्व को जानने का दंभ भरता है । देखिए, आप को यदि ज्ञान अपने से भिन्न प्रतीत होता है तो आप पहले ही मायासक्त हैं । गुहेश्वर, जो भेदरहित अज्ञान का भेद करना जानता है उसी में सत्य ज्ञान रहता है ।

अर्थ ३७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'मैं कौन हूँ' इसे जानने को इच्छा

करने से स्वस्वरूप ज्ञान पर विस्मरण छा जाता है। इसलिये ऐसा व्यक्ति ज्ञान से दूर है। पर इस रहस्य को जानकर जो उस ज्ञान को सुज्ञान से अलग करता है वही 'शिव शरण' है।

३८—सुखव बल्लात सुखियल्ला, दुःखव बल्लात दुःखियल्ल। सुख-दुःख वेरडनू बल्लात ज्ञानियल्ल। हुट्टद मुन्न सत्तवर कुरूह बल्लडे, बल्ल गुहेश्वरा।

वचन ३८—जो सुख का ज्ञानी है वह सुखी नहीं, जो दुःख का ज्ञानी है वह दुःखी नहीं, जो सुख-दुःख दोनों का ज्ञानी है वह भी ज्ञानी नहीं। गुहेश्वर, जो जन्म लेने के पूर्व मृत होनेवालों का रहस्य जानता है वही ज्ञानी है।

अर्थ ३८—इस वचन का भाव यह है कि जो सुख और दुःख को भिन्न दृष्टि से देखता है अर्थात् जिसको यह सुख है यह दुःख है इत्याकारक द्वैत ज्ञान है, वह शिव सुखी नहीं। वह द्वैत सुखी है। श्रीगुरु के करकमल से उत्पन्न होने के पूर्व जिसमें ज्ञान का उदय होता है और उस ज्ञान से 'अहम्' इत्याकारक मूलाहंकार का जो नाश कर देता है वही 'शरण' है।

३९—दर्पणदोळगण रूहिंगे, आदर्पणवे उत्पत्ति, स्थिति, लयवल्लदे, मर्त्यलोकदोळगण प्रकृतियल्लिल्लवेकय्या। आलोकदोळगे उत्पत्ति, स्थिति लयविदेनय्या कर्मबद्धरु। ओंदर परि ओंदक्किल्ल। कंडरे दृष्टवह श्रीगुरु हस्तदोळगण सद्भक्तंगे अल्लिये उत्पत्ति, स्थिति, लय इदेंथ कर्मद परिये। मत्ताव परियू अल्ल लिंगद परिय माडिद गुहेश्वरा।

वचन ३९—स्वामिन् दर्पणगत रूप (प्रतिबिंब) के लिए दर्पण ही उत्पत्ति, स्थिति, लय है, (वह प्रतिबिंब) मर्त्यलोक की प्रकृति में क्यों नहीं है। उस लोक में क्या यह उत्पत्ति, स्थिति एवं लय है, देखो कर्मबद्धों में से किसी एक की (बद्धता की) रीति दूसरे की (बद्धता की रीति) नहीं है। प्रत्यक्ष वर्तमान श्रीगुरु के हस्त से उत्पन्न सद्भक्त की सृष्टि, स्थिति एवं लय उसी (श्रीगुरु के करकमल) में है। कर्म की कैसी (विचित्र) रीति है। यह और कोई रीति नहीं है गुहेश्वर ने 'लिंग' की रीति बनाई है।

अर्थ ३९—इस वचन का भाव यह है कि जिस प्रकार दर्पणगत प्रतिबिंब

उसी से उत्पन्न होकर उसी में रहता है और उसी में लय होता है उसी प्रकार श्रीगुरु से उत्पन्न 'शरण' का लय उसी गुरु में होता है। परंतु सांसारिक जीव की भाँति वह मृत नहीं होता है।

४०—सुत्ति सुत्ति बंदडिल्लु, लक्षगंगेय मिंदडिल्ल। तुट्टतुदिय मेरु गिरिय मेट्टि कूगिदडिल्लु। नित्यनेमदिंद तनुवमुट्टि कोंडडिल्लु। निच्चक्के निच्च नेनेव मनव अंदंदिगे अत्तलित्त हरिव मनव, चित्तदल्लि निलिस बल्लडे बच्च बरिय बळगु गुहेश्वर लिंगवु।

वचन ४०—घूमघूम कर लौट आने (तीर्थ यात्रा करने) से (शिवत्व की) प्राप्ति नहीं होती है, लाखों गंगा में स्नान करने से भी नहीं होती है। मेरु गिरि के शिखराग्र में जाकर चिल्लाने से भी नहीं। नित्य नियम के द्वारा शरीर क्षीण करने से भी नहीं। किंतु नित्यप्रति ध्यान करनेवाले एवं अनुक्षण भ्रमण करनेवाले मन को जो चित्त में स्थिर करता है वही स्वयं प्रकाश गुहेश्वर होता है।

अर्थ ४०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि अनेक तीर्थों में जाकर नाना नदियों में अवगाहन कर जप, तप एवं पूजा आदि करने से अगोचर परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। परंतु जिसके मन की व्याकुलताएँ नष्ट हो गई हैं और जिसको स्वस्वरूप-ज्ञान की प्राप्ति हो गई है वही शिव साक्षात्कार करता है, और वही 'शिव शरण' है।

४१—मनद मरवे तनुविनल्लिरलु, अदेन्तो अरिवु? एरडु बेट्टक्के ओंदे तलेयोड्डि धरिसिद बळिक, तलेकालगिक्किद बळ्ळियेंतु हरिवुदो? गुहेश्वरा निम्म शरणरु बारद भवदल्लि बंद कारण सुखिगळादरय्या?

वचन ४१—मन का विस्मरण शरीर में रहते हुए ज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी। दो पर्वतों को एक ही शिर से धारण करने पर शिर पर रखी हुई इँडुरी (कुंडली) कैसे टूटेगी। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' अपुनर्भव में आने से सुखी हो गया।

अर्थ ४१—दो पर्वत=अहंकार, ममकार। एक शिर=स्वस्वरूप ज्ञान। इँडुरी=भवपाश।

मन में अज्ञान की प्राप्ति के कारण वह (अज्ञान) शरीर में व्याप्त होता है। जिसको स्वस्वरूप का साक्षात्कार हुआ है उसकी भवबाधा तब तक नहीं छूटेगी जब तक उसके मन में 'मैंने स्वस्वरूप को देखा और यह मेरा ज्ञान है' इत्याकारक अहंकार और ममकार का नाश नहीं होगा। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस निर्णय को जानकर व्यवहार करता है वह पुनः भव में नहीं आता, प्रत्युत अभव होकर रहता है।

४२—लोक ओंदनेंद्रे, तानोंद्नेन बेड, मत्तारेननेंद्डेयू तन्नंद्रेदेरेन बेड, भैत्रके बेंगुडनिक्किद्न्तिरबेकु हिरियरु गुहेश्वरा।

वचन ४२—यदि लोक कुछ कहता है तो तुम भी कुछ मत कहना। कोई कुछ कहता है तो (निंदा करने पर) यह मत कहना कि वह मेरी निंदा करता है। गुहेश्वर, बड़ों को 'भैल में बेंगुड़'* रखने के समान रहना चाहिए।

अर्थ ४२—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसको शिवज्ञान की प्राप्ति हो गई है वह लौकिक पुरुष स्तुति या निंदा करने पर भी उससे विरक्त हो महागांभीर्य में रहता है। जो ऐसा है वही 'शरण' है।

४३—नाचिमाडुवदु माडुवदल्लु, नाचदे माडुवदु माडुवदल्लु, हेसि माडुवदु माडुवदल्ला हेसदेमाडुवदु, माडुवदल्लु, अलसि माडुवदु माडुवदल्लु, अलसदे माडुवदु माडुवदल्लु, नाचदे, हेसदे अलसदे माडिद्डे माडुवदु गुहेश्वरा।

वचन ४३—लज्जा से करना, करना नहीं है, निर्लज्जता से करना, करना नहीं है, घृणा से करना करना नहीं है अघृणा से करना करना नहीं है। आलस्य से करना करना नहीं है निरालस्य से करना करना नहीं। गुहेश्वर, लज्जित, घृणित तथा आलस्यरहित होकर करना ही करना है।

अर्थ ४३—इस वचन का भाव यह है कि जो लज्जा से संसार का संग करता है उसकी लज्जा नहीं छूटती, लज्जारहित हो करने पर वैराग्य नहीं छूटता। घृणापूर्वक संसार का संग करने पर मन से जुगुप्सा नहीं हटती, अघृणा से संग करने पर भी उस भाव की निवृत्ति नहीं होती। आलस्य से संसार का संग करने पर जाड्य की निवृत्ति नहीं होती, निरालस्य से करने पर अहंकार नहीं छूटता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि सुज्ञान का उदय हो जाने से

* यहाँ प्रयुक्त दो शब्दों के अर्थ का ठीक ठीक पता नहीं चलता।

संसार का मिथ्यात्व अपने आप नष्ट हो जाता है। इसी को तत्त्वयुक्ति कहते हैं।

४४—बंदुदनेल्लव नुंगि, बारदुदनेल्लव हिंगि, आरिगिल्लदवस्थे एनगायित्तु आ अवस्थे अरितु नीनु नानेंदरिदे गुहेश्वरा।

वचन ४४—मैंने जो प्राप्त थे उन सबको निगीर्ण कर लिया जो अप्राप्त थे उन सबको नष्ट कर दिया, (अतः) मुझे अन्य किसी के लिए अप्राप्य अवस्था प्राप्त हो गई। गुहेश्वर, उस अवस्था का भी नाश हो गया और मैंने आपको 'मैं' (मैं ही गुहेश्वर) समझ लिया।

अर्थ ४४—प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने शिवज्ञान रूपी सत्पथ के लिये जो पदार्थ योग्य थे उन सबका ग्रहण कर लिया, जो उस सत्पथ के लिये अयोग्य थे उन सबका परित्याग कर दिया। फलस्वरूप मेरे मनमें यह द्वैत भावना हुई कि मैंने उन दोनों (योग्यायोग्य) का परित्याग कर दिया। इस द्वैत बुद्धि के कारण किसी को प्राप्त न होनेवाली अवस्था मुझे प्राप्त हो गई। परंतु मैंने उस द्वैत का भी नाश कर दिया। इसलिये कहता हूँ कि जो उस द्वैतज्ञान का नाश करता है और 'संपूर्ण अंग (शरीर) ही मैं हूँ' ऐसा समझता है वही निज 'शरण' है।

४५—अंग जीविगळेल्ल अशनक्के नेरेदु, लिंगवार्तेय नुडिवरय्या कायजीविगळेल्ल कळवळिसि नुडिवरय्या? मनबंद परियल्लि नुडिववरिगे, गुहेश्वरनेंब लिंग निमगेल्लियदो?

वचन ४५—स्वामिन् समस्त अंगजीवी अशनार्थ उपस्थित होकर शिव-वार्ता करते हैं। सब कायजीवी व्याकुल होकर बातें करते हैं। हे मनचाहे बात करनेवालो, गुहेश्वर नामक 'लिंग' तुमको कैसे मिलेगा।

अर्थ ४५—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो अन्नपानादि के व्यसन में मग्न है वह मिथ्या ज्ञान की कल्पना कर स्वेच्छापूर्वक भाषण करता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे स्वेच्छाचारियों को शिवज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

४६—आदियनारियरु अनादिय नरियरु ओंदरोळगिप्प एरडनरियरु एरडरोळगिप्प मूरर कीलवनरियरु। मूरर संदु आरादुद-

नरियरु। आरेंदु नुडिवगारुमातु तानल्लु। गुहेश्वरन निलवनरिद्डे ओंदु इल्लु अरिय दिर्द्दरे बहुमुखवय्या।

वचन ४६—न आदि को जानते हैं न अनादि को, एक में दो विद्यमान हैं इस रहस्य को कोई नहीं जानता। दो में तीन हैं इस रहस्य को नहीं जानते, उन तीनों से छह होते हैं इसे नहीं जानते। छह में (परतत्त्व) है ऐसी शुष्क बात नहीं कहनी चाहिए। गुहेश्वर स्वरूप को जानने से 'एक' भी नहीं है। न जानने से बहुमुख है।

अर्थ ४६—आदि = सकल। अनादि=निष्कल। एक=परब्रह्म। दो=शिव और शक्ति। तीन=इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, मंत्रशक्ति। छह=इच्छा, ज्ञान, क्रिया, आदिशक्ति पराशक्ति एवं चिच्छक्ति।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि आदि सकल है और अनादि निष्कल। 'एक-मेवाऽद्वितीयं' परब्रह्म से शिव और शक्ति का उदय होता है इसे समझ लेना चाहिए। इन शिवशक्ति में इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और मंत्रशक्ति ये तीन शक्तियाँ हैं इन तीनों को जानना अपूर्व है। इन तीनों के तनुमात्र एवं प्राण-मात्र का विभाग करने पर षट्शक्ति अर्थात् इच्छा, ज्ञान, क्रिया, आदिशक्ति, पराशक्ति एवं चिच्छक्ति हो जाती हैं। इन शक्तियों को 'परब्रह्म हैं' ऐसा कहना मिथ्या है। इसलिये इस रहस्य को जानकर जो निज शिवतत्त्व की प्राप्ति करता है उसकी कोई उपमा नहीं। परंतु उस वस्तु की सिद्धि के बिना जो केवल समझने का प्रयत्न करता है उसके लिये अनेक प्रकार (द्वैत) हैं।

४७—सुखविल्लु सूळेगे पथविल्लु शीलक्के माडलागदु नेमव, नोडला-गदुशीलव, सत्यवेंबुदे सुशील गुहेश्वर लिंगवनरिय बल्लवंगे।

वचन ४७—वेश्या को सुख नहीं है, शील (आचरण) का पथ नहीं है। नियम नहीं करना चाहिए, शील को नहीं देखना चाहिए। जो गुहेश्वर को जानता है उसके लिए सत्य ही सुशील है।

अर्थ ४७—इस वचन का भाव यह है कि जिस प्रकार वेश्या धन का लोभ करती है, पुरुष से प्रेम नहीं करती उसी प्रकार आचार से प्रेम करनेवाले (केवल कर्म-प्रधान माननेवाले) शिव में लोलुपता नहीं रहती।

४८—आकार निराकारवेंबेरडु स्वरूपंगळु ओंदु, आह्वान ओंदु

विसर्जन ओंदु, व्याकुळ ओंदु, निराकुळ उभय कुळ रहित गुहेश्वरा निम्म शरण निश्चितनु ?

वचन ४८—आकार निराकार दोनों का स्वरूप एक ही है। आह्वान एक है, विसर्जन एक, व्याकुलता एक है। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' निराकुल, उभयकुल से रहित निश्चित है।

अर्थ ४८—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसको शिवत्व का लाभ हुआ है उसमें यह भाव नही रहना चाहिए कि मैंने साकार का विसर्जन कर निराकार की प्राप्ति की। क्योंकि परब्रह्म साकार एव निराकार दोनों है। अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है। इसलिये अंतरंग में ज्ञान और बहिरंग में अज्ञान नहीं रहना चाहिए। सुज्ञानी को बाह्याभ्यंतर में सुज्ञान से युक्त होना चाहिए।

४९—तुंबिद तोरेय हायूदेवेंदु हरिगोलनेरुव अण्णगळु नीवु केळिरे ? तोरेयोळगण नेगळु हरिगोल नुंगिदडे गतियिल्ल। एच्चत्तु नडिसिरे नडुदोरेयल्लि हुट्टु हाकिदडे हरिगोलु मुळुगदे परिदवरु सत्तरु इदरोळ होरगनरिदातनल्लदे गुहेश्वर लिंगदल्लि अच्चशरणनल्ल।

वचन ४९—हे, महासागर पार करने की इच्छा से नौका पर चढ़नेवाले भाइयों सुनो, जल-मध्यगत तिमिंगिल के नौका को निगीर्ण कर लेने पर कोई गति नहीं है। जरा सावधानी से नौका चलाइए। मध्य प्रवाह में डाँड़ चलाने पर नौका तो बची पर पार करनेवाले (नौकारोही) मृत हो गए। गुहेश्वर, इसके बाह्याभ्यतर को जाने बिना 'शरण' नहीं हो सकता।

अर्थ ४९—महासागर=संसार। नौका=शरीर। तिमिंगिल=काल (मृत्यु)। डाँड़=सुज्ञान। नौकारोही=समस्त करण। मृत होना=करणों की निवृत्ति।

संसार रूपी महासागर में तैरने और उसका पार करने के लिये शरीर रूपी नौका ही साधन है। इसी साधन के द्वारा पार करने की इच्छा से समस्त करण उस (शरीर रूपी नौका) में प्रवृष्ट हुए हैं। उस संसार रूपी जल में क्रीड़ा करनेवाला काल रूपी नक्र उस नौका को निगीर्ण कर लेता है अतः अत्यंत सावधानी से नौका चलानी चाहिए। नौका चलाने का रहस्य जानकर संसार रूपी सागर में जो सुज्ञान रूपी डाँड़ से उसे चलाता है अर्थात् भव की निवृत्ति करता है उसकी शरीर रूपी नौका नहीं डूबती (शरीर का

नाश नहीं होता) और नौकारोही (समस्त करण) मृत हो जाते हैं (अपने स्वभाव का परित्याग कर शिवकरण बन जाते हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस मर्म को जानकर जो स्वस्वरूप की प्राप्ति करता है वही 'शरण' है। वही सुज्ञानी है।

५०—बल्लुनित बल्लरल्लदे अरियदुदनेंतु वल्लरय्या। अरिवु सामान्यवे? अरियदुदनारिगू अरियबारदु गुहेश्वरनेंब लिंगवनरियदडेरडु, अरिदोडोंदे।

वचन ५०—ज्ञानगम्य को जान सकते हैं अगम्य को कैसे जानेंगे। क्या ज्ञान सामान्य है। अगम्य को किसी से नहीं कहना चाहिए। 'गुहेश्वर' इत्याकारक ज्ञान रहेगा तो दो (द्वैत) है, नहीं जानेगा तो एक (अद्वैत) है।

अर्थ ५०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो वस्तु बुद्धिगम्य है वह छोटी है। बुद्धि को प्रमाण माननेवालों का मनचाही बात करना निष्प्रयोजन है। वे वाङ्मनोऽतीत वस्तु के द्रष्टा नहीं हैं। स्वयं उस वस्तु का साक्षात्कार करने के पश्चात् 'मुझसे अतिरिक्त वस्तु नहीं है' इत्याकारक बोध जिसको नहीं होता है और जिसको उस ज्ञान का विस्मरण हो जाता है वह द्वंद्वग्रस्त होता है। जो उस (स्वस्वरूप) को नहीं भूलता वही ज्ञानी है।

५१—अरिदेवरिदेवेंबिरि अरिद परियंतु हेळिरे। अरिदवरु अरिदेवेंबरे? घनवनरिदवरु अरियदन्तिर्परु गुहेश्वरा?

वचन ५१—'हम जानते हैं जानते हैं' कहते हैं, बताइए जानी हुई रीति कैसी है। क्या ज्ञानी 'हम जानते हैं' ऐसा कहते हैं। गुहेश्वर, अगम्य घन वस्तु का ज्ञाता अनजाने की भाँति रहता है।

अर्थ ५१—जिसको निज वस्तु का साक्षात्कार हुआ है वह यदि 'मैंने वह वस्तु देखी' 'मैं जानता हूँ' इत्याकारक प्रतीक बनाकर बात करता है तो उस वस्तु को जानने का उसका ज्ञान अपने से भिन्न है, अतः वह द्वैती कहलाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्वस्वरूप को जान लेने के पश्चात् उसको जो नहीं भूलता वही ज्ञानी है।

५२—अल्पज्ञानि प्रकृतिस्वाभाव, मध्यम ज्ञानि वेषधारि, अतीत ज्ञानि आरूढनारू अरिय बारदय्या? ज्ञानवनरियदात अज्ञानि नामनष्ट ई चतुर्विधदोळगे आवंगवु इल्ला गुहेश्वरा निम्मशरण?

वचन ५२—अल्पज्ञानी प्रकृत स्वभाव का है। मध्यम ज्ञानी वेशधारी है। अतीत ज्ञानी 'आरूढ़' को कोई नहीं जान सकता। ज्ञान को न जाननेवाला अज्ञानी और नामरहित है। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' इस चतुर्विध में से कोई नहीं है।

अर्थ ५२—अल्पज्ञानी=ज्ञानाज्ञान वाला। मध्यम ज्ञानी=ज्ञान से व्यवहार करनेवाला। अतीत ज्ञानी=अत्यंत श्रद्धावान्। अज्ञानी=ज्ञान को जानने पर भी अनजान की तरह रहनेवाला।

अल्पज्ञान में ज्ञान एवं अज्ञान दोनों रहते हैं। अतः उस ज्ञानवाला प्रकृत स्वभाव का कहलाता है। मध्यम ज्ञानी ज्ञानभाव को लेकर व्यवहार करता है। अतः वह मध्यम ज्ञानी कहलाता है। अत्यंत श्रद्धालु होने के कारण अतीत ज्ञानी आरूढ़ है। जो ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् अनजाने की भाँति मस्त रहता है वह शून्य ज्ञानी है। वही अज्ञानी है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो उपर्युक्त खंडित ज्ञान का परित्यागपूर्वक अखंडित ज्ञानी होता है वही 'शुद्ध शरण' है।

५३—कंगळ नोट लिंगक्के बार, अंग जीविगळ कूडे नुडिवने शरणनु ? नडे नुडि मुग्ध गुहेश्वरा निम्म शरणनु।

वचन ५३—नेत्र का ईक्षण 'लिंग' के लिये भार है। क्या अंगजीवी के साथ 'शरण' बात करेगा। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' वचन, क्रिया से मुग्ध (मोहित) है।

अर्थ ५३—नेत्र का ईक्षण=ज्ञान दृष्टि में 'यह शिव' है इत्याकारक बोध होना। अंगजीवी=शारीरिक विकार से बद्ध जीव।

इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसको सुज्ञान की प्राप्ति हुई है, उसकी ज्ञानदृष्टि में यदि 'यह शिव (लिंग) है' इस प्रकार का बोध होता है तो वह उस शिव (लिंग) के लिये भारस्वरूप है। क्योंकि वह द्वैतदृष्टि है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसने भारस्वरूप (द्वैत) ज्ञान का परित्याग कर दिया है ऐसा 'शरण' उनसे सुज्ञानगोष्ठी नहीं करता, जो अंग विकार के संबंधी हैं।

५४—दूरद तुदिगोंबनारय्या ? गेलुवरु मीरलिल्ला, निराळद निलवनु मीरिकोंब घनवनु, बेरे तोरलिल्ला तोरिकोंबडे तन्न हिडिय लिल्लय्या ओदेयाविन हालनारय्या करेववरु ? मूरुलोकदोळगे तानिल्लगुहेश्वरा ?

वचन ५४—स्वामिन् दूर शिखर-शृंग को कौन विजित करता है। विजयाकांक्षी (उससे) अतीत नहीं हो सकता। निराविल स्वरूप से अतीत होकर प्रतीत होनेवाला घन विभक्त रूप में गृहीत नहीं हुआ। दिखाई पड़ने पर (मैं) स्व को ग्रहण नहीं कर सका। लात मारनेवाली गाय का दूध कौन दुह सकता है। गुहेश्वर, तीनों लोक में नहीं।

अर्थ ५४—दूर शिखर-शृंग=किसी प्रकार के ज्ञान से अप्राप्त परब्रह्म। विजयाकांक्षी=परब्रह्म का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करनेवाला।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि परब्रह्म किसी प्रकार के ज्ञान से अप्राप्य है। उसको मैंने जान लिया पर उसको अपने अतिरिक्त रूप में नहीं देखा। उसका साक्षात्कार करने के पश्चात् उसमें मेरा स्वरूपबोध नहीं हुआ अर्थात् द्वैत नष्ट हो गया। इसलिये जो उस परब्रह्म को जानकर ग्रहण करना चाहता है उसकी गति वैसी ही है जैसे कोई लात मारनेवाली गाय को दुह कर क्षीर पान से सुखी होना चाहता है।

५५—नच्चु मच्चिगे पूजिसि निश्चय वेंदेनलिल्ला, तानु लिंगवो? प्राणलिंगवो? आवुदुलिंग बल्लवरु नीवु हेळिरे। अंगदलिल अंगियल्ल, संगदल्लि व्यसनियल्ल, लिंगविल्लद संग, गुहेश्वरा निम्म शरण।

वचन ५५—अत्यंत प्रेमवश मैंने पूजा की पर उसी को सत्य नहीं समझा। क्या आप जानते हैं तो बताइए कि आप 'लिंग' हैं या 'प्राण'-'लिंग' है। अंग में न अंगी है न संग में व्यसनी। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' लिंगरहित संग है।

अर्थ ५५—इस वचन का अर्थ यह है कि अंग पर रहनेवाले लिंग को मनसा पूजकर उसी से कृपा प्राप्त करने की कामना करना द्वैत होता है। क्योंकि 'मैं लिंग की पूजा करूँगा' ऐसा कहनेवाला उस लिंग से अन्य होता है। इसलिए यदि स्व को जान लेता है तो वह स्वयं लिंग ही है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को जान लेने के कारण मैं शरीर धारण करने पर भी अंगसंगी नहीं हूँ।

५६—एन्नल्लि नानु दृष्टवेंबन्नकर निम्मल्लि नीवु मेच्चुविरे? संदेहदिंद सवेयित्तु लोकवु। कन्नडियुंड प्रतिबिंब, कण्बिण उंड नीर, कुप्पस उंड अरिषिणदंते गुहेश्वरा निम्म शरणरु।

वचन ५६—मैं अपने में इष्ट हूँ कहे बिना क्या आप अपने पर कृपा करेंगे। समस्त संसार संदेह से क्षीण हो गया। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' दर्पण द्वारा निगीर्ण प्रतिबिंब, (तप्त) लौहभुक्त जल एवं आतपभुक्त हरिद्रा है।

अर्थ ५६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसको स्वस्वरूप का साक्षात्कार हो गया है उसको यदि उस ज्ञान का बोध होता है तो वह स्व से भिन्न है। इस ज्ञान से संचय का नाश नहीं होता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिस प्रकार दर्पण गत प्रतिबिंब दर्पण से भिन्न नहीं होता उसी प्रकार 'लिंग' और 'शरण' में भेद नहीं है। जिस प्रकार तप्त लौहभुक्त जल एवं आतपभुक्त हरिद्रा की कोटि का कोई दूसरा उदाहरण नहीं दिया जा सकता उसी प्रकार शिव (लिंग) तादात्म्यापन्न ज्ञान भी अनुपमेय है।

५७—उगुळ नुंगि हसिव कळेदु, तेवर मलगि निद्रेगैय्दु, नोडि-नोडि सुखंबडेदेनय्या। गुहेश्वरा निम्म विरहदल्लि कंगळेक रूवागि-द्देनय्या।

वचन ५७—स्वामिन् मुखस्राव पीकर मैंने क्षुधा का शमन किया, ऊँचाई पर सोया और निरीक्षण करते करते मैं सुखी बन गया। गुहेश्वर, मैं तुम्हारे विरह में नेत्रसमरसी बन गया।

अर्थ ५७—मुखस्राव=स्वस्वरूप ज्ञान का आनंद। ऊँचाई=शिवभाव (आधारस्थान)।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने स्वस्वरूप ज्ञानानंद को अलग करने की अर्थात् उस सुख को शब्द द्वारा व्यक्त करने की रीति निगीर्ण कर ली और उसके प्रति होनेवाली श्रद्धा एवं तृष्णा का निवारण कर लिया। पश्चात् आधारस्तंभ के सदृश शिवभाव रूपी ऊँचाई पर सो कर अर्थात् उसी का विश्वासपूर्वक स्वयं परामर्श किया, फलस्वरूप अदृष्ट भी दृष्ट हो गया। जब शिव (लिंग) के प्रति लोलुपता नष्ट हो गई तब मैंने स्व में विश्राम कर लिया और परमकाष्ठा पाई।

५८—लोक विरहित शरण, शरण विरहित लोक, इदिनाल्कु लोक भुवनवु ओब्बशरणन कुक्षियोळगे अरिवु मरवु होल्लद घनवु गुहेश्वरा निम्म शरणनु।

वचन ५८—'शरण' लोक विरहित और लोक 'शरण' विरहित है। चतुर्दश लोक-भुवन 'शरण' के उदर में हैं। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' ज्ञान एवं विस्मरण दोनों से रहित घन है।

अर्थ ५८—समस्त संसार मिथ्या है केवल 'शरण' सुज्ञानी है। इसलिए इन दोनों (शरण और लोक) में परस्पर साम्य नहीं है। ज्ञानी 'शरण' (मैं)ने अपने से भिन्न रूप में लोक के प्रतीत होने पर अपने ज्ञान की हानि समझ ली अतएव उसने उन चतुर्दश भुवनों को अपने में छिपा लिया। फलस्वरूप वह ज्ञानाज्ञान इन दोनों से रहित होकर संचार कर रहा है।

५९—इहलोक परलोक तानिद्दिल्लि, गगन मेरु मंदिर तानिद्दल्लि सकल भुवन तानिद्दल्लि, सत्य नित्य निरंजन, शिवतत्त्व तानिद्दल्लि। उत्तरोत्तर छत्रवळय तानिद्दल्लि। चंद्र सूर्य तारामंडल तानिद्दल्लि, अंतरमहदंतर तानिद्दल्लि, स्वतंत्र गुहेश्वर लिंग तानिद्दल्लि।

वचन ५९—इहलोक परलोक अपने में, गगन एवं मेरुमंदिर अपने में, समस्त भुवन अपने में, सत्य, नित्य एवं निरंजन शिवतत्त्व अपने में, उत्तरोत्तर छत्रवलय, चंद्र सूर्य एवं तारामंडल अपने में, अंतर महदंतर अपने में, हैं। स्वतंत्र गुहेश्वर अपने में है।

अर्थ ५९—इस वचन का तात्पर्य यह है कि अनंत ब्रह्मांड नाना प्रपंच एवं सचराचर से सब 'लिंग' में वर्तमान हैं। वह 'लिंग' ही महाज्ञान में प्रविष्ट है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उसी महाज्ञान को प्राप्त 'शरण' में 'लिंग', समस्त ब्रह्मांड एवं चराचर छिप गए हैं।

६०—कोंकण द्वीपदल्लि ओंदु कपिहुट्टित्तु, तपवमाडुव सप्तऋषिगळ नुंगित्तु, नवनाथ सिद्धर तोत्तळ दुळिदित्तु, अरुहिरियर तलेय मेट्टि अरेयित्तु, कपिजन वैरि सर्पन हेळिगेयल्लि निद्रेगैयित्तु, योगिगळ भोगिगळ कोल्लद कोलेय कोंदित्तु, कामन अरिय मेट्टि कूगित्तु, कोळिय हंजर नाशिक बेक्क नुंगित्तु, कोळियकंजद अरिव नम्म अरुहिरियर अनुभाविगळ मिक्क भाव सोक्क नुंडु कोक्कर वायित्तु। हिंदिद्द कोळिय कोक्करने कपियभावव अरियदिद्द कारण केदरिद चरण उडिगि

मरणवरियदेकरण देहत्व विल्लदे ईमर्मव नरिदातने लिंगैक्य ताने प्राण पुरुष, इदनरिदु नुंगिदात परम शिवयोगि। भंगवरियद जननद होलबरियद भावद जीववरियद इदु कारण गुहेश्वरा निम्म शरण लिंगस्वय शक्ति शरण ताने।

वचन ६०—कोंकण द्वीप में मर्कट उत्पन्न हो गया। उसने तप करनेवाले सप्तर्षियों का निगरण किया। नवनाथ सिद्धों को चूर चूर कर दिया। अर्ध पंडितों को शिर पर पादाघातपूर्वक पीस दिया। वह कपिज के विरोधी सर्प की करंडिका (टोकरी) में सोया। भोगियों और योगियों का बिना मरनेवाला वध कर दिया। कामारि पर पादाघात कर पुकारा। ताम्रचूड़ (कुक्कुट) के पंजर को (एवं) नासिक के मार्जार को उसने निगला। कुक्कुटार्कज ज्ञान को जाननेवाले हमारे अर्ध पंडितों और अनुभावियों के अवशिष्ट भाव और अहंकार का भक्षण कर वक्र हो गया। पीछे रहनेवाले कुक्कुट एवं वक्र मर्कट भाव को न जानने के कारण विस्तृत चरण का लय हो गया। मरण को न जानकर करण एवं देहत्व से जो रहित होकर इस रहस्य को जानता है उसे ही लिंगैक्य प्राप्त है। वह स्वयं प्राणपुरुष (है) इसे जानकर निगीर्ण करनेवाला शिवयोगी (है)। (वह शिवयोगी) भंग को न जाननेवाला, जनन-दुःख को न जाननेवाला, भावजीव को न जाननेवाला (है), इस लिये गुहेश्वर, तुम्हारा शरण स्वयं 'लिंग' एवं स्वयं शक्ति है।

अर्थ ६०—कोंकण द्वीप = तमोगुण संबंधी कारण शरीर। मर्कट=मन। कपिज=मन का जन्मस्थान (प्राणवायु)। सर्प=कुंडलिनी सर्प। करंडिका= आधारचक्र। कामारि=योगी। ताम्रचूड़=सत्प्रणव। पंजर=चिद्बिंदु। नासिक का मार्जार=वासना (श्रद्धा)। विस्तृत चरण = नानाप्रकार के दुश्चरित्र।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि कारण शरीर तमोगुण से उत्पन्न है। उसी के विस्मरण से मुझ में 'मैं' (अहम्) इत्याकारक संदेह की उत्पत्ति हुई। फलस्वरूप 'संशयात्मकं मनः' उक्ति के अनुसार मन (संकल्प) का आविर्भाव हुआ। इसी मन रूपी मर्कट ने सप्तर्षि आदि समस्त तपस्वियों को 'तप' रूपी पाश से निबद्ध कर उन सबको संकल्पबद्ध कर दिया। अर्थात् उसने तपस्वियों को स्वाधीन कर लिया। उन सब सिद्धों को जो शरीरसिद्धि का दंभ भरते हैं 'देहोऽहम्' इस अहंकार से युक्त कराकर वह (मन रूपी मर्कट) मर्दन

करता है। उस (मन रूपी मर्कट) ने जो शिवस्वरूप को जानकर मुक्त होने का उत्कट अभिलाष करते हैं उन ज्ञानियों के ज्ञान को भंग कर उन सबको द्वैतज्ञान के द्वारा प्रपंच में गिरा दिया। जन्मस्थान की प्राणवायु के भूषण कुंडलिनी सर्प की टोकरी (आधारचक्र) में वह सोया। (आधारचक्र में विस्मरण को प्राप्त कर रहने लगा)। उसने पवन की साधना के द्वारा योगी होने की इच्छा करनेवालों के मन में व्याकुलता उत्पन्न की। मन ने अपने को योगी प्रख्यापित करनेवालों के कामादि विषयों में स्वयं स्थित होकर शब्दाडंबर के द्वारा उन योगियों से वागद्वैत कराया। उस मर्कट ने सत्प्रणव को जाननेवालों को निगल लिया। यह सत्प्रणव कुक्कुट के समान है। अर्थात् जिस प्रकार प्रातःकाल में कुक्कुट स्वयं उठकर अपनी ध्वनि के द्वारा सभी को जगाकर सूर्योदय का ज्ञान कराता है उसी प्रकार सत्प्रणव मूल ज्ञान से उठकर 'शरण' को ज्ञान उत्पन्न कराकर 'सोऽहं सोऽहम्' ध्वनि करता है। उस सत्प्रणव के लिये पंजर है चिद्बिंदु। उस (सत्प्रणव) को और उस चिद्बिंदु को जानने का साहस करनेवालों के वासना (श्रद्धा) रूपी नासिक के मार्जार का उसने निगरण कर लिया और केवल वही स्वतः प्रकट हुआ। जो सत्प्रणव ज्ञान के द्वारा ब्रह्मवादी अनुभावी एवं सुज्ञानी हैं उनके भाव में द्वैत दिखाकर उनके द्वैतज्ञान से प्राप्त सुख को वह मन स्वयं ग्रहण करता है और स्वयं विपरीत भाव को प्राप्त कर द्वैतज्ञानियों में विस्मरण उत्पन्न कर पीड़ा देता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब तक इस मन के विपरीत भाव का लय नहीं होता तब तक निर्विकार भाव का उदय भी नहीं होता। इसलिये मैंने उस सत्प्रणवाहंकार-भाव, विपरीत भाव एवं विपरीत मनाभाव इन तीनों का निवारण कर दिया। फलस्वरूप विस्तृत 'चरण' (आचरण) रूपी नाना प्रकार के दुश्चरित्र नष्ट हो गए और मरण पर विजय मिली। इसीलिये समस्त करणों की निवृत्ति हुई। इस मर्म को जो जानता है उसे ही 'लिंगैक्य' प्राप्त है, वही चैतन्यात्मा है, वही दिव्य शिवयोगी है, वही लज्जाभिमान रहित एवं जन्म-मरणरहित है, वही भावरहित है, वही जीवन्मुक्त है, वही पराशक्तिस्वरूप एवं परशिवतत्त्वस्वरूप है।

६१—तन्ननरिद् अरिवेंतुंटु तन्नमरद मरवेंतुंटु, अरिदवरु मरदवरु निम्म प्रतिबिंबेयंतिप्परु काणा गुहेश्वरा।

वचन ६१—स्व का जान चुका हुआ ज्ञान कैसा है। स्व को भूला हुआ विस्मरण कैसा है। गुहेश्वर, जाननेवाले एवं भूलनेवाले तुम्हारी प्रतिकृति के समान हैं।

अर्थ ६१—इस वचन का भाव यह है कि जो स्व को जानकर अपने पूर्वाश्रय से परित्यागपूर्वक पुनः उसको भी भूल जाता है और अपने में रत रहता है वही शरण है तथा वही परब्रह्म में प्रतिबिंबित होता है।

६२—मायामलिन मनदिंद अगलदे कायद दंदुगकळेयिंदगलदे अरिवु बरिदे बप्पुदे ? निजवु बरिदे साध्यवप्पुदे मरुळे ? गुहेश्वर लिंगवनरिय बल्लडे निन्ननी तिळिदुनोडा।

वचन ६२—माया की मलिनता से अलग हुए बिना, काय के क्लेश की कला को अलग किए बिना हे पागल, क्या ज्ञान निःशुल्क मिलेगा। क्या निजत्व निःशुल्क ही साध्य होगा। देखो, गुहेश्वरलिंग को जानना चाहो तो अपने को जानो।

अर्थ ६२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसके मन में माया, मल एवं शरीर में जीव-कलाएँ व्याप्त हैं उसको सुज्ञान की प्राप्ति एवं निजत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो स्वयं अपने को जानता है उसको निजत्व की प्राप्ति अपने आप हो जाती है।

६३—ज्ञान चक्र परतत्व, परमार्थ, परमज्ञान, परापर, वाङ्मानकगोचर शब्द गंभीर उपमातीत, उन्नत परशिव ज्ञानज्योति, सुज्ञानद प्रभेय बेळगिनोळगे सुळिदाडुव परमानंदद महामहिमंगे शिवज्ञानवे शृंगार, महाबेळगे विभूति, पंचब्रह्मवे दर्शन, गगन स्थानवे कंथे-आकशवे ठोपर, अजांड ब्रह्मण्डवे कर्णकुंडल, आदि आधारवे कक्ष पाळ, अनाहतवे वञ्याण, अद्वैतवे योगवट्टिगे, अगम्यवे योग वावुगे, अचळितवे खर्पर, अप्रमाणवे लाकुळ, अविचारवे सुळहु अकुपितवे भिक्षे, कोंडुदे गमन, निंदुदे निवास, निश्चित वेंबाश्रम दल्लि निराकुळ-वेंब सिंहासनवन्निक्कि, गगन गंभीर भावियोळगे अगोचरद अग्गवय-णिय तंदु महाघन प्राणलिंगक्के मंगळद बेळगिनल्लि मज्जनक्केरेदु बिंद्राकाशवे कंथे, महदाकाशवे अक्षते परापरवे पत्रिपुष्प, निर्मळवे लिंग। चंने महाप्रकाशवे माले,—नित्य निरंजनवे धूपारति, सकल भुवनादि भुवनंगळे सुयिधान आचारवे अर्पित, महत्ववे शीताळ अखंडितवे

अडिके, एकोभाववे एले, शुद्धशिवाचारवे सुयिधानद सुएण, विवेक विचारदिंद वीळ्यबनवधरिसुवदु, महालिंगद परिणामवे प्रसाद, सम्यज्ञानवे संतोष सहज निराभारिगळमेळदिंद, निस्सीमद निभ्रान्तिन सुसंग दल्लि निरास पदवे अनुकूल, निश्शब्दवे अनुभाव, अनुपमद निश्शून्यवे विश्राम, निराकारवे गमन, निरंतर पाताळ, ऊर्ध्वपवन संयोग त्रिभुवन गिरियंब पर्वतवनेरि, कायवेंब कदळिय होक्कु सुळि-दाडुव महामहिमंगे इहलोकवेनु परलोकवेनु। अल्लिदंत्त अगम्य निराळ परमज्ञानद सिद्धि, महालिंगद बेळगु गुहेश्वरा निम्म निजवनरिद महामहिमंगे नमोनमो एनुतिर्देनु।

वचन ६३—ज्ञानचक्र, परतत्त्व, परमार्थ, परमज्ञान, परापर, वाङ्मन के अगोचर, शब्दगंभीर, उपमातीत, उन्नत परशिवज्ञानज्योति, सुज्ञान प्रभा के प्रकाश में संचार करनेवाले परमानंद के महामहिम के लिये शिवज्ञान ही शृंगार है, महाप्रकाश ही विभूति, पंचब्रह्म ही दर्शन, गगनस्थान ही कंथा, आकाश तोपर है अजांड ब्रह्मांड ही कर्णकुंडल, आदि एवं आधार ही कल एवं फाल (भाल) है, अनाहत ही करधनी है अद्वैत ही योग वट्ट (आधारी) है। अगम्य ही योग पादुका, अचलित ही खर्पर, अप्रमाण ही लाकुल (योग-दंड=आधारी), अविचार ही संचार है। अकुपित ही भिक्षा, ग्रहण करना ही गमन है जहाँ स्थित रहता है वही निवास है। निश्चित नामक आश्रम में निराकुल नामक सिंहासन रखकर, गगन-गंभीर कूप से अगाचर रूपी जल लाकर महाप्रकाश (महामहिम ने महालिंग का) अभिषेक किया। बिंद्वा-काश ही कंथा, महदाकाश ही अक्षत, परापर ही पत्र-पुष्प निर्मलता ही लिंगार्चना है। महाप्रकाश ही माला, नित्यनिरंजन ही धूप-आरती, सकल भुवन आदि भुवन ही 'सुयिधान' (शांति), आचार ही भोजन महत्त्व ही शीतल जल, अखंडित ही पूगीफल, 'एको भाव' ही नागवल्ली (तांबूल) शुद्ध शिवाचार ही सुयिधान रूपी चूना है। इस प्रकार विवेक-विचार से तांबूल का ग्रहण करना चाहिए। 'महालिंग' का परिणाम ही प्रसाद, सम्यक् ज्ञान ही संतोष (और), सहज निराभारियों के संग से निःसीम निर्भ्रांति में निरासपद ही अनुकूलता, निःशब्द ही अनुभाव, अनुपम निःशून्य ही विश्राम, निराकार ही गमन है। निरंतर ऊर्ध्व पवन के संयोग से त्रिभुवन गिरि नामक पर्वत का आरोहण कर काय रूपी कदली में प्रवेशपूर्वक संचार करनेवाले

महामहिम के लिये क्या इहलोक और क्या परलोक उस (महामहिम) से भी आगे हो जानेवाले उस शरण को हे गुहेश्वर, मैं नमस्कार करता हूँ जो अगम्य, निराविल परमज्ञान का सिद्धिस्वरूप, तथा 'महालिंग' का प्रकाश है।

अर्थ ६३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसमें ज्ञान का उदय होता है जिसका सर्वांग लिंग में लीन होता है उसमें महाज्ञानप्रकाश व्याप्त हो जाता है। फलस्वरूप वह स्वयं ज्ञानप्रकाश होकर निराविल रूपी निराश्रय में निज स्वरूप को प्राप्त करता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस परम शांत महान् 'शरण' का स्वलीलाचरित्र उस प्रकार होता है जिस प्रकार इस वचन में वर्णित है।

६४—ऊरद चेळिन परद बेनेयल्लि मूरुलोकवेल्ल नरळिच्चु। हुट्ट-दगिडद बट्टेलेय तंदु मुट्टदे पूसलु मावुदु गुहेश्वरा।

वचन ६४—अस्तित्व से रहित वृश्चिक के न चढ़नेवाले विष से तीनों लोक पीड़ित हो रहे हैं। गुहेश्वर, अजन्य वृक्ष के पूर्ण पत्र लाकर बिना स्पर्श किए (पीस कर) लेपन करने से वेदना का निवारण होता है।

अर्थ ६४—अस्तित्व से रहित=मिथ्या। वृश्चिक=माया। न चढ़नेवाला विष=जन्म-मरण। अजन्य वृक्षपत्र=अजात शिवज्ञान, शिवक्रिया। स्पर्श के बिना=शरीरगुण के बिना।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मिथ्या रूपी माया अत्यंत आसक्तिपूर्वक संसार में व्याप्त हो गई। उस मिथ्या भूत संसार के जन्म-मरण रूपी विष से समस्त प्राणी पीड़ित हो गए हैं। संसार के इस विष (विषय) में जनन विरहित शिवज्ञान सत्क्रिया रूपी पूर्ण पर्ण (औषध) का शरीर के गुण से स्पर्श के बिना लेपन करने पर विष निवृत्त होता है (संसार नष्ट होता है)।

६५—निम्मल्लि नीवु तिळिदुनोडिरे अन्यविल्ल काणिरण्णा। अरिवु निम्मल्लिये तद्गतवागिदे। अन्य भाववनेनेयदे तन्नोळगे ताने एच्चर विरबल्लरे तन्नल्लिए तन्मय गुहेश्वर लिंगवु।

वचन ६५—आप लोग अपने में ही जानकर देखिए (वह परवस्तु) अन्य नहीं है। आप में ही ज्ञान अंतर्लीन है। अन्य भाव का स्मरण किए बिना जागरूक रह सके तो गुहेश्वर अपने में ही है।

अर्थ ६५—प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्वयं अपने में विवेक द्वारा देखने पर विदित होता है कि परब्रह्म अपने में ही है इस रहस्य को जानकर जो उस परब्रह्म को स्व से अतिरिक्त नहीं समझकर स्वस्थ रहता है और उसको नहीं भूलता वही 'शिवशरण' है।

६६—जगदगलदल्लि हब्बिद बलेयु जगक्के तेगेयदुनोडा, बगेयदु अमेगोळदु। तन्नइरिविन परि इन्तुटागि जगद प्राणिगळु डलिदुलिदु मरळिमत्तल्लिये बीळलु बलिय नेणु बग्गुरिय कैयल्लिरलु बलियनेण करिणय कळचि शरणनु शरणेनुत्त निंदु ओडलुपाधियनरियदे बेळगिनल्लि निंदु बेडिदवरिगे अणिमाडि गुणंगळनित्तु मनोमध्यदल्लि निलिसि नेनेयुत्तिद्दु सुखियाद प्राणनाथनु काय शून्य लिंगक्के प्राणशून्य शरण गुहेश्वर लिंगदल्लि बेरसि बेरिल्ल।

वचन ६६—देखो, जग भर में व्याप्त जाल जग के द्वारा नहीं हटाया जाता। वह किसी का विचार नहीं करता एवं नष्ट नहीं होता, यही उसकी रीति है। संसार के प्राणी क्रीड़ा करते-करते पुनः उसी में बद्ध हो गए, हस्त में भाग्यसूत्र रहने से। 'शरण' ने शरण्य, शरण्य कहकर जालपाश को खोल दिया। (वह) देह की उपाधि को न जानकर प्रकाश में स्थित हुआ और (उसने) आयोजन कर याचकों को गुण प्रदान किया। मनोमध्य में स्थित होकर ध्यान करते हुए जो सुखी हो गया वह प्राणनाथ कायशून्य 'लिंग' के लिये प्राणशून्य 'शरण' बन गया और गुहेश्वर में मिलकर पृथक् नहीं हुआ।

अर्थ ६६—चतुर्दश भुवन में आच्छादित मायापाश का तब तक नाश नहीं होता जब तक वे भुवन हैं। वह किसी की चिंता नहीं करता और स्वयं भ्रमित या नष्ट नहीं होता। फलस्वरूप समस्त संसार उस पाश में बद्ध होकर क्रीड़ा करता है और अंत में उसी मायाजाल में बद्ध हो जाता है। 'शरण' (मैं)ने उस मायाजाल को खोल कर शरण्य, शरण्य, कहते हुए शरीर की उपाधि का परित्याग किया और महाप्रकाश में स्थित होकर जो अणिमादि गुणों को चाहते हैं उन्हें इन्हें दिया। वह मनस्थल में महाज्ञान से मिलकर ध्यानपूर्वक सुखी हो गया। पश्चात् प्राणशून्य होकर कायशून्य 'लिंग' के

साथ उसने समरस कर लिया और वह अभेद रूप में रह गया (परिपूर्ण हो गया)।

६७—इल्लवेय मेलोंदु उंटेवं पतिभाव, अल्लि इल्लि पन्नदे ताने निंदुदु नोडा, तन्नल्लिय प्रकृतिय ताने हिंगिसलु अल्लिये सुज्ञान उदुयिसित्तु। यल्लायडेयल्लियू निंद निजपदव गुहेश्वरा निम्मशरणबल्लु।

वचन ६७—देखो, अभाव के ऊपर अस्ति नामक पतिभाव (है)। वह यहाँ, वहाँ न होकर सर्वत्र व्याप्त है। स्वगत प्रकृति को स्वयं नष्ट करने से वहीं सुज्ञान का उदय होता है। सर्वत्र व्याप्त निज पद को गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' ही जानता है।

अर्थ ६७—अभाव = माया। अस्ति नामक पतिभाव=ज्ञानोदय के पश्चात् परब्रह्मभाव।

इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो मिथ्या रूपी माया का निवारण करता है और जिसमें ज्ञानोदयपूर्वक परब्रह्मभाव स्थिर होता है वह इधर-उधर न होकर उसी 'शरण' में व्याप्त होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस लिये अपनी प्रकृति के स्व में विलीन हो जाने तथा स्वस्वरूप के व्याप्त हो जाने पर संपूर्णत्व को प्राप्त करने का रहस्य 'सुज्ञानी शरण' ही जानता है।

६८—ओडलल्लि हुट्टित्तु भ्रमेइंद बेळेयित्तु, ओडने हुट्टित्तु तन्न नरियद कारण नोडा। इदोंदु सोजिगव कंडुया। कूडेभरित बेंदरियलु अंगदल्लळवट्टित्तु गुहेश्वरा।

वचन ६८—देखो, उदर में उत्पन्न हुई, और भ्रम से बढ़ गई यह एक अचरज है कि स्व को न जानने के कारण (मेरे) साथ ही उत्पन्न हुई। देखो गुहेश्वर, सामरस्य से भरित समझ लेने से अंग में व्याप्त हो गई।

अर्थ ६८—प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने जब मिथ्या नामक शरीर धारण किया तब उस शरीर में माया का उदय हुआ। जब 'अहम्,' इत्याकारक बोध हुआ उसी के साथ उसका भी उदय हुआ। अर्थात् 'अहम्' इत्याकारक ज्ञान ही माया है। 'यह माया ही मैं हूँ' इस प्रकार न समझने के कारण मैं अज्ञान में पड़ गया। अर्थात् 'मैं ही यह माया हूँ' इस प्रकार न समझने से उस माया को नहीं समझ सका। यही आश्चर्य की बात है। इस माया का

निवारण करने से ज्ञान का उदय हुआ। फलस्वरूप 'मैं समस्त संसार में व्याप्त हूँ' ऐसा समझा और उस परिपूर्ण परब्रह्म को सर्वांग में व्याप्त कर 'शुद्धशरण' हो गया।

६९—भवि विरहितंगे भक्तिय मडुवरु नीवुकेळिरण्णा भवबाधेयोळगे निल्लदु अभवंगे भक्तिय माडुव परि इंतु। तानभवनादल्लदे सहज भक्तिय माडबारदु गुहेश्वरा।

वचन ६९—हे भवविरहित के लिये भक्ति करनेवाले भाइयो सुनो, (वह) भवबाधा में नहीं रहता। गुहेश्वर, अभव की भक्ति करने की रीति यही है कि स्वयं अभव हुए बिना कोई सहज भक्ति नहीं कर सकता।

अर्थ ६९—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो स्वयं भवबाधा में पड़ गया है और यदि वह अभव की भक्ति करना चाहता है तो उसके लिये यह योग्य नहीं होती क्योंकि भव और अभव का संबंध नहीं हो सकता। इस लिये प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्वयं निर्भव होकर 'लिंग' की भक्ति करनी चाहिए 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' 'नारुद्रो रुद्रमर्चयेत्'।

७०—भविय कळेदेनेंब मरुळु जनंगळु नीवुकेळिरे। भवियल्लवे निम्मतनु मन गुणादिगळु? भवियल्लवे निम्म प्राण गुणादिगळु? इवरेल्लरुभविगळ हिडिदु भवभारिगळादरु। नानु भविय पूजिसि भवंनास्ति यादेनु गुहेश्वरा।

वचन ७०—हे 'भवि' को त्यागने का दंभ भरनेवाले पागल मानव सुनो, क्या तुम्हारे शरीर गुण 'भवि' नहीं हैं। क्या तुम्हारे प्राण गुणभवि नहीं है। गुहेश्वर, ये सब 'भवियों' का ग्रहण कर भवभार बन गए, मैं भवि को पूजकर 'भवंनास्ति' हो गया हूँ।

अर्थ ७०—इस वचन का भाव यह है कि जो अंतःकरण के विकार रूपी 'भवि' का नाश नहीं करता और केवल बाह्य 'भवि' के परित्याग से ही कहता है कि मैंने 'भवि' का परित्याग किया तो वह अज्ञ है। उससे भव का नाश नहीं होता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो सर्वांग में 'लिंग' के संबंधपूर्वक 'मैं भक्त हूँ' इस द्वैतज्ञान का परित्याग करता है और सद्भक्ति के द्वारा 'लिंग' होकर शिव-पूजा करता है वही 'लिंगैक्य' है।

७१—भवि बीजवृक्षद फलदोळगे भक्ति बीजवृक्ष पल्लविसित्तु। आ भक्ति बीजवृक्षद फलदोळगे शरण बीजवृक्ष पल्लविसित्तु। आ शरण बीजवृक्षद फलदोळगे कुलनाशकनाद शरणगे ओंदे बसुरल्लि बंधु बळगक्के, तन्नकुलक्के ताने मारियाद शरण भवि भक्त, भविबीज वृक्षद तंपुनेळलनु बिट्टु, कुळितल्लिये बळिय बयलाद शरण, नाद, बिंदु बीज नष्ट हाळागि हारिहोदल्लि इन्नेन हेळलुंटु? गुहेश्वरनेंब लिंगवनरिदु भविगे भवियादातंगे इन्नेनु फलवुंटय्या?

वचन ७१—'भवि' बीजवृक्ष के फल में भक्तिबीजवृक्ष पल्लवित हुआ। उस भक्तिबीजवृक्ष के फल में 'शरण' बीजवृक्ष पाल्लवित हुआ। 'शरण' बीजवृक्ष के फल में कुलनाशक 'शरण' का उदय हुआ। वह एक ही उदर से आए हुए बंधु-बांधव तथा अपने कुल के लिये स्वयं काल बन गया, 'भवि'-भक्त, भविबीजवृक्ष की शीतल छाया का परित्याग कर जहाँ जाकर बैठा उसी स्थान में लीन हो गया। उस 'शरण' के नाद-बिंदु नष्ट हो जाने से अब क्या कहना है। गुहेश्वर नामक 'लिंग' को जानकर भवि के लिये भवि बने हुए 'शरण' को किस फल की आशा है।

अर्थ ७१—प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'भविजन्म' भविष्य में आनेवाले 'भक्तिजन्म' के लिये कारण है। इसलिये मुझ में उस भविष्य का अविवेक नष्ट हुआ और भक्तिविवेक की उत्पत्ति हुई। उस भक्ति की उत्पत्ति से सदाचार सद्वर्तन की प्राप्ति हुई, उसको मैंने शिवार्पण किया। फलतः सुज्ञान-स्वरूप 'शरणत्व' की प्राप्ति हुई। उस 'शरण' के सर्वांग में 'लिंग' संबंध कर देने से वह जन्म-मरण-विर्जित हो गया। जिसने जन्म-मरण को जीत लिया उस 'शरण' ने अपने हृदयकुहरस्थित समस्त करणों का नाश किया और वह स्वयं शुद्ध रूप में रह गया। इसलिये वह 'शरण' न पूजा करनेवाला भक्त है और न पूजा कर लेनेवाला भक्त। इन दोनों के परित्यागपूर्वक स्वस्थ होकर वह निराकार समाधि में स्थित हो गया। अतएव वह नाद, बिंदु एवं कला इन तीनों से रहित हो निज पद में नियत हो गया।

७२—डुट्टिद कूसिंगे पट्टव कट्टि बिभूतिय पूसि लिंगवतोरि जो, जो, एंदु जोगुळव हाडिदळु मायादेविय अक्क। जो, एंब सर हरिदु तोट्टिलु बिद्दित्तु कूसु सत्तित्तु गुहेश्वरनुळिदनु।

वचन ७२—माया देवी की बड़ी भगिनी (ज्ञानशक्ति) ने उत्पन्न शिशु के पट्टाभिषेकपूर्वक विभूति का लेपन करके एवं 'लिंग' के दर्शन कराकर जो, जो शब्द से लोरी गाई, लोरी रूपी रस्सी के कट जाने से झूला गिर पड़ा और शिशु मर गया, गुहेश्वर बच गया।

अर्थ ७२–लोरी='शिवोऽहम्' की ध्वनि। शिशु=शरण। झूला=शरीर।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि समस्त कर्मों का परित्याग कर बचे हुए शिष्य रूपी शिशु को ज्ञानशक्ति रूपी माँ ने ज्ञान रूपी भस्म का पट्टाभिषेक किया और अपनी स्वयं ज्योति को 'लिंग' बनाकर उस शिशु (शिष्य) को उसके दर्शन कराए और 'शिवोऽहम् 'शिवोऽहम्, का बोध कराया। पश्चात् वह 'शिवोऽहम्' रूपी भिन्न शब्द नष्ट हो गया और शरीर रूपी झूला भी टूट गया (शरीर का लय हो गया)। फलस्वरूप 'शरण' 'लिंग' में लीन हो गया अतः केवल परब्रह्म शेष रह गया।

७३—अरुविनल्लि उदयिसि, मरवुनष्टवागिह शरणन परियनरलुटे? गतिय हेळलुंटे ? शिशुकंड कनसिनन्तिप्परु गुहेश्वरा निम्म शरणरु।

वचन ७३—ज्ञान से उत्पन्न एवं विस्मरण को नष्ट किए हुए 'शरण' की रीति की खोज कर सकते हैं। क्या गति को बता सकते हैं। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' शिशु दृष्ट स्वप्न की भाँति है।

अर्थ ७३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसमें ज्ञान का उदय और अज्ञान का नाश हुआ है उसका स्वरूप उसी प्रकार का है जिस प्रकार का शिशु दृष्ट स्वप्न का। अर्थात् शिशु स्वप्न को देखने पर भी किसी से कह नहीं सकता, उसी प्रकार को 'शरण' का स्वरूप है।

७४—गुरुशिष्य संबंधक्के अंगव धरिसुवरय्या। निम्म बंधनक्कि अळुवरय्या। आनुकंडु मरुगि अकट कटा एंदेनल्ला। कूगिल्ल बोब्बे इल्ला होदहोलब नरियरु गुहेश्वरा बाळुदलेय हिडिदेनु।

वचन ७४—स्वामिन्, गुरु-शिष्य-संबंध के लिये 'लिंग' धारण करते हैं। (पर) आपको बंधन में डाल कर रोते हैं। इसे देखकर मैंने दयार्द्रता से 'हाय, हाय' कहा। मैं उस मार्ग से चला गया जिसमें न ध्वनि है न शब्द। इसे कोई जानता नहीं। गुहेश्वर, मैंने जीवित शिर का ग्रहण किया।

अर्थ ७४—इस वचन का भाव यह है कि जिस शिष्य में ज्ञान का उदय नहीं हुआ और उस ज्ञान के उदित न होने से 'कोऽहम्' भाव का लय नहीं हुआ। जिस गुरु में परिपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति और 'शिवोऽहम्' भाव का उदय नहीं है वह यदि अज्ञान मूलक शिवदीक्षा करवाता एवं करता है तो गुरु और शिष्य दोनों शिव को बंधन में डालते हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस निर्णय को जानकर मैंने उसकी निवृत्ति की और शब्दजाल को नष्ट कर निःशब्दविद होकर सद्भाव रूपी हस्त से 'लिंग' धारण कर लिया।

७५—कायदल्लि कळवळ एडेगोंडबळिक अरिविनल्लिमरवे ताने निंदिप्पुदु नोडा। कायद कळवळ वायुवेंदरियलल्लदे गुहेश्वरन निलवु ताने नोडा।

वचन ७५—देखो, काय में व्याकुलता उत्पन्न होने पर ज्ञान में विस्मरण अपने आप व्याप्त हो जाता है। काय की व्याकुलता को वायु समझनेवाला स्वयं गुहेश्वर है।

अर्थ ७५—इस वचन का भाव यह है कि काय में विकार (भ्रांति) का आवास हो जाने से सुज्ञान ही अज्ञान हो जाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस शरीर को ही मिथ्या समझने से वही सुज्ञान परब्रह्म हो जाता है।

७६—बिसिलेंब गुरुविंगे नेळलेंब शिष्य। निराळ लिंगक्के बयले सेज्जे। वायुवे शिवदार, बेळगे सिंहासन, अत्तलित्त चित्तव हरियलीयदे मज्जनक्केरेदु सुखियादे गुहेश्वरा।

वचन ७६—आतप नामक गुरु के छाया नामक शिष्य है। निराविल 'लिंग' के लिये अंतरिक्ष ही शरण, वायु ही शिवसूत्र, प्रकाश ही सिंहासन है। गुहेश्वर, चित्त को इधर-उधर जाने न देकर अभिषेक कर मैं सुखी हो गया।

अर्थ ७६— आतप=सुज्ञानप्रकाश। छाया=सुशांति। अंतरिक्ष (शून्य)=पूर्ण। शिवसूत्र=स्वानुभाव।

सुज्ञानप्रकाश रूपी गुरु के सुशांति नामक शिष्य है। इन दोनों का भेद इस प्रकार है—सद्भाव छाया के समान है सुज्ञान उस सद्भाव का कर्ता है अतः वह आतप के समान है। इस प्रकार गुरु-शिष्य-संबंध हुआ। सुज्ञान

रूपी गुरु ने सद्भाव रूपी शिष्य को अविकार रूपी 'लिंग' के संबंधपूर्वक निर्लेपांग रूपी शय्या पर रखकर उसे (लिंग को) स्वानुभाव रूपी शिवसूत्र से धारण कराया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस 'लिंग' के लिये महाप्रकाश ही सिंहासन बन गया। पश्चात् जब शांति में चित्त का लय हुआ तब वही शिवार्चना (लिंगार्चना) हो गई।

७७—करणादि गुणंगळळिदु नवचक्रंगळु भिन्नवाद बळिक इन्नेनु इन्नेनु ? पुण्यविल्ला पापविल्ल स्वर्गविल्ल नरकविल्ल इन्नेनु इन्नेनु गुहेश्वरनेंब लिंग वेधिसि सुखियाद बळिक इन्नेनु इन्नेनु ?

वचन ७७—करणादि गुणों का नाश तथा नव चक्रों का भेद होने के पश्चात् अब क्या है। पुण्य नहीं पाप भी नहीं, अब क्या है। स्वर्ग नहीं नरक भी नहीं, अब क्या है। 'गुहेश्वरलिंग' में लीन हो सुखी होने के पश्चात् अब क्या है।

अर्थ ७७—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिस शरण के अंतःकरण का विकार नष्ट हो गए, जिसके समस्त प्रपंच का भी लय हो गया और जिसकी नव नाड़ियाँ एक मुख होकर महाज्ञानप्रकाश को प्राप्त हो गई हैं उसको पुण्य, पाप और स्वर्ग, नरक इस चतुर्विध काल का ज्ञान नहीं रहता इसीलिये वह चरम सुखी है।

७८—पृथ्वियनतिगळेद स्थावरंगळिल्लु। उदकवनतिगळेद तीर्थ-यात्रेगळिल्लु। अग्नियनतिगळेद होम समाधिगळिल्लु ? वायुवनतिगळेद नेम नित्यगळिल्ल। आकाशव नतिगळेद ध्यान मौन गळिल्ल ? गुहे-श्वरनेंदरिद्वंगे इन्नावंगवू इल्ला।

वचन ७८—पृथ्वी से अतिरिक्त स्थावर नहीं है। उदक से अतिरिक्त तीर्थयात्रा नहीं है। अग्नि से अतिरिक्त होम समाधि नहीं है। वायु से अति-रिक्त नित्यनियम नहीं है। आकाश से अतिरिक्त ध्यान-मौन नहीं है। (स्व को) गुहेश्वर समझनेवालों के लिये इनमें से कोई (अंग) नहीं है।

अर्थ ७८—अंग पर लिंग 'स्वायत्त' हो जाने के पश्चात् उसकी अवहेलना कर स्थावर लिंग की वंदना नहीं करनी चाहिए। जिसमें शिव-संबंध हुआ उसके अंग में परमानंद रूपी रस का संग्रह होता है, इसलिये उस परमानंद

अर्थ ८०—इस वचन का भाव यह है कि जिसमें सुज्ञान के प्रकाश का उदय हुआ है और जिसने निजत्व प्राप्त कर लिया है उसमें अपने पूर्व के कर्मत्रय का एवं शरीर के गुण-धर्म-कर्म का लय हो गया है।

८१—पृथ्वियलोद्गिद् घटवु पृथ्वियल्लडगिद्रे आ पृथ्विय चरित्रवे चरित्र नोडा ? अप्पुविनलोद्गिद् घटवु अप्पुविनलडगिद्रे आ अप्पुविन चरित्रवे चरित्र नोडा ? अग्नियलोद्गिद् घटवु अग्नियलडगिद्रे आ अग्निय चरित्रवे चरित्र नोडा ? वायुविनलोद्-गिद् घटवु वायुविनलडगिद्रे आवायुविन चरित्रवे चरित्र नोडा ? आकाशदलोद्गिद् घटवु आकाशदल्लडगिद्रे आ आकाशद् चरित्रवे चरित्रनोडा ? गुहेश्वरनेंब लिंगदलोद्गिद् घटवु लिंगदल्लडगिद्रे आ लिंगद् चरित्रवे चरित्र नोडा।

वचन ८१—देखो, पृथ्वी से उत्पन्न घट का लय यदि पृथ्वी में ही होता है तो उसका चरित्र पृथ्वी का ही चरित्र है ? देखो, जल से उत्पन्न घट का लय यदि जल में होता है तो उसका चरित्र जल का ही चरित्र है। अग्नि से उत्पन्न घट का लय यदि अग्नि में ही होता है तो उसका चरित्र अग्नि का ही चरित्र है। वायु से उत्पन्न घट का लय यदि वायु में होता है तो उसका चरित्र वायु का ही चरित्र है। आकाश से उत्पन्न घट का लय यदि आकाश में होता है तो उसका चरित्र आकाश का ही चरित्र है। देखो, गुहेश्वर लिंग से उत्पन्न घट का लय उसी में होगा तो उस का चरित्र लिंग का ही चरित्र है।

अर्थ ८१—पृथ्वीतत्त्व से बना हुआ शरीर यदि सुचित्त रूपी पृथ्वी में लीन होता है तो उसका चरित्र सुचित्त का ही चरित्र होता है। जलतत्त्व से उत्पन्न संसार रस का लय यदि सुबुद्धि रूपी शिवानंद जल में होता है तो उसका चरित्र सुबुद्धि का ही चरित्र होता है। अग्नि से उत्पन्न स्वरूप ज्ञानाग्नि से यदि दग्ध हो जाता है तो उसका चरित्र ज्ञानाग्नि का ही चरित्र होता है। वायु से उत्पन्न पंचप्राण वायु यदि लिंगप्राण में लीन होती हैं तो उनकी चेष्टाएँ लिंगप्राण की चेष्टाएँ हो जाती हैं। आकाशतत्त्व से निर्मित लज्जा-भिमान शब्दाडंबर यदि बिंद्वाकाश में विलीन होते हैं तो वह सब बिंद्वाकाश का चरित्र ही होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसी प्रकार 'लिंग' धारण

करने के पश्चात् वह शरीर लिंगमय होता है। जिसका शरीर लिंग (शिव) शरीर होता है उस शरण का स्वरूप उसी 'लिंग' में लय होता है अतः उसका चरित्र 'लिंग' का ही चरित्र होता है।

८२—सकल भुवनादि भुवनंगळिगे तंदे, सकल देवादि देवर्कळिगे तंदे भव भवदल्लि नीनेन्न तंदे। गुहेश्वरलिंग निराळदल्लि नीनेन्न तंदे।

वचन ८२—स्वामिन् आप मुझको भुवनादिभुवन में ले आए, सकल देवादिदेवों में ले आए भव भवांतर में ले आए गुहेश्वर लिंग में ले आए।

अर्थ ८२—प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिवज्ञानोदय के पश्चात् विदित हुआ कि मैं शिवाज्ञा से ही समस्त जगत् देव-दानव, मानव, चराचरादि चौरासी लक्ष जीवराशियों में आकर अंत में निज शिवतत्त्व में स्थित हो गया। इसलिये अब मैं सुखी हूँ।

८३—बट्टेगोंडु होगुत्तोन्दु कोट्टु होदरेम्मवरु। एल्लियदु लिंग? एल्लियदु जंगम, एल्लियदु प्रसाद? एल्लियदु पादोदकवय्या? अल्लदवरोडनाडि, एल्लरु मुंदुगेट्टरय्या? आनुनिम्मनंबि बयलादे गुहेश्वरा।

वचन ८३—मार्ग में चलते समय हमारे पूर्वज एक (वस्तु) देकर चले गए। कहाँ का 'लिंग', कहाँ का 'जंगम' कहाँ का प्रसाद एवं कहाँ का पादोदक। अयोग्यों के संग से सब लोग पथभ्रष्ट हो गए। गुहेश्वर, मैं आपमें विश्वास रखकर निराकार हो गया।

अर्थ ८३—शिवज्ञानोदय से रहित शिष्य को शिवज्ञान से रहित गुरु उद्देश्यपूर्वक 'लिंग' देकर चला गया। पर वह शिष्य गुरु, 'लिंग' 'जंगम' प्रसाद एवं पादोदक को न जानकर नष्ट हो रहा था। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने उस रीति का खंडन किया और श्रीगुरु से अनुग्रह प्राप्त कर लिया फलस्वरूप उस लिंग में मन का लय हुआ, उस गुरु में काय का लय हुआ अतः मैं निराकार हो गया।

८४—आदिय शरणन मदुवेय माडलु युग जुगदवरेल्लु निब्बण होदरू होदनिब्बाणिगरु मरुळरु। मदुवणिगन सुद्दियनरियबारदु। इंदरवळियदु हसे मुन्न उडुगदु। तंदबंदवरेल्लु मिदुंडु होदरु।

इदरंतव नरियदे जगवेल्लु बरिदायित्तु। गुहेश्वरनेंब शब्दवनोळकोंड महान्त बयलु।

वचन ८४—आदि 'शरण' का विवाह करने के लिये युग-युग के समस्त गण बरात लेकर गए। गए हुए बराती नहीं लौटे। वर का समाचार ही नहीं मिला। मंडप का नाश नहीं हुआ। विवाह के चौक का नाश नहीं होता। सामग्री का संग्रह करनेवाले अवगाहनपूर्वक यथेष्ट खा पी कर चले गए। इसके अंत को न जान कर समस्त जगत् रिक्त हो गया। 'गुहेश्वर' इस शब्द को गर्भस्थ करनेवाला महंत निराकार है।

अर्थ ८४—आदि शरण=सुज्ञानोदय 'शरण'। वर का समाचार नहीं मिला='महालिंग' के साथ सामरस्य के पश्चात् उसका ज्ञान नहीं हुआ। विवाहमंडप=आकाश। विवाहचौक=भूमि। सामग्री का संग्रह करनेवाले= प्रारब्ध भोगनेवाले।

जिसमें सुज्ञान का उदय हुआ है वही आदि 'शरण' है। उस आदि शरण रूपी पत्नी और 'महालिंग' रूपी पति के सामरस्य रूपी विवाह के समय युगयुगांत उत्पन्न समस्त प्राणी अपने बंधुवर्ग के रूप में सहज संगी हो गए। इस प्रकार 'शरण' रूपी पत्नी और 'महालिंग' रूपी पति का सामरस्य रूपी विवाह हो जाने के पश्चात् कोई उस 'महालिंग' का वर्णन नहीं कर सकता। आकाश रूपी विवाहमंडप एवं पृथ्वी रूपी चौक का लय होने के पहले समस्त विश्व ने संसारसागर में अवगाहन किया और प्रारब्ध कर्म का भी भोग किया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने इस रीति का परित्याग किया। अब मैं निर्विकल्प समाधि में हूँ। अतः इस रीति को जो जानता है वही महंत 'शरण' है।

८५—मरदोळगण किच्चु मरन सुट्टन्तादेनय्या। बयल गाळिय परिमळ नासिकवनप्पिदन्तादेनय्या। करुविन बोंबेयनुरियकोंडंतादेनय्या गुहेश्वरनेंब लिंगव पूजिसि भवगेट्टेनय्या।

वचन ८५—स्वामिन् मैं वृक्षगत अग्नि द्वारा वृक्ष के दहन की भाँति हो गया। रूपरहित वायुगत सुगंध द्वारा नासिका का स्पर्श करने की भाँति हो गया। धातु की पुतली में आग लगने की भाँति हो गया। स्वामिन् गुहेश्वर नामक 'लिंग' को पूज कर मैं भवरहित हो गया।

अर्थ ८५—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार काष्ठ के अंतगत

रहनेवाली अग्नि बहिर्गत होकर वृक्ष का दहन करती है उसी प्रकार शरण के अंतरंग की ज्ञानाग्नि शरीर का दहन करती है। जिस प्रकार निराकार वायु एवं सुगंध दोनों मिलकर नासिका का स्पर्श करते हैं और जिस प्रकार धातु की पुतली में अग्नि लग जाने से वह गलकर वर्तमान स्थिति के परित्याग-पूर्वक अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त कर लेती है उसी प्रकार सुज्ञान 'लिंग' का ग्रहण कर पूजनेवाला 'शरण' उसी के साथ सामरस्य करके भवरहित होता है।

८६—ऐवर संगदिंद बंदे नोडय्या ? ऐवर संगदिंद निंदेनोडय्या ? ऐवरु तम्म तम्म बट्टेयल्लि होदरु ? नानोब्बनिस्संगियागि उळिदेनल्ला ? गुहेश्वरनेंब नित्य निरंजन रूहिल्लद घनव कंडेनय्या ?

वचन ८६—स्वामिन् मैं पाँचों के संग से आया। देखो, पाँचों के संग से मैं वर्तमान था। (वे) पाँचों अपने अपने मार्ग पर चले गए। अहा, मैं अकेला निःसंग होकर रह गया। स्वामिन् मैंने गुहेश्वर नामक नित्य निरंजन एवं रूपरहित घन को देखा।

अर्थ ८६—पाँच=पंचमहाभूत। पाँच=पंचज्ञानेंद्रियाँ। घन=चिद्घन तत्त्व।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि पंचभूतों के संयोग से मेरी उत्पत्ति हुई थी और पंचेंद्रिय के द्वारा अपेक्षित व्यवहार करता था। परंतु उस समय मुझ में ज्ञान का उदय हुआ और मैं शिवानुभाव से संपन्न हो गया। इसलिये वे पंचभूत स्वयं नष्ट हो गए। फलस्वरूप उस पंचभूतात्मक शरीर का लय हुआ और सर्वांग लिंगमय हो गया। इसीलिए मैं निःसंगी होकर अकेला रह गया (महा घन की प्राप्ति हुई)।

८७—सटे दिटवादल्लि मुट्टियू मुट्टदे इरबेकु। अति रति मति गतिगे मंदवायित्तु एंटुहिट्टु पंचमठ उंडु धरेय मेले नरसुरादिगळेल्ल संभारव होत्तु बंदैदारे। हिट्टु नष्टमठ हाळु। ऊरिगुपटळ। घनपंच मठव सुट्टु गुहेश्वर बीदिगरुवाद।

वचन ८७—यदि मिथ्या सत्य होती है तो स्पर्श करने पर भी स्पर्श न करने की भाँति रहना चाहिए। अति रति, गति और मतिमंद हो गई। पाँच मठ में अष्ट पिष्ट का भोजन कर समस्त नरसुरादि संभार लेकर पृथ्वी पर आए हैं। पिष्ट नष्ट हुआ मठ खँडहर बन गया। ग्राम में पीड़ा हो गई। घन पंच मठों को जलाकर गुहेश्वर, अदृष्ट से रहित हो गया।

अर्थ ८७—अष्टपिष्ठ=अष्टमद। पंचमठ=पंचभूतग्राम। अतिरति=अतिरति सुख। गति=गोचर होना। नरसुरादि का संभार लेकर पृथ्वी पर आना=अष्ट-मद एवं पंचभूतग्राम-संयुक्त शरीर धारण कर नरसुरादि की भाँति व्यवहार करना।

मिथ्या नामक प्रपंच अपने को यदि अपने से भिन्न प्रतीत होता है तो उस मिथ्या प्रपंच का स्पर्श करने पर भी अस्पृष्ट की भाँति रहना चाहिए। उस मिथ्या में अतिरति सुखको प्राप्त करने से ज्ञान-मति मंद पड़ जाती है। (जीव ने) मतिमंद हो जाने से अष्टमद एवं पंचभूतग्राम से युक्त देह धारण कर नरसुरादि की भाँति व्यवहार किया प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को जानकर जो सुज्ञानी होता है उसके अष्टमद, पंचग्राम एवं करणों की निवृति हो जाती है। फलस्वरूप सर्वांग महाज्ञानाग्नि में लय हो जाता है।

८८—मतियोळगोंदु दुर्मति हुट्टिद् बळिक मतिय मरवेयोळकोंडु भवक्के गुरियमाडि केडहितु नोडा ? अखंडितव तंदु मतियोळगे वेधिसलु गतिगेट्टु निंदित्तु गुहेश्वरा।

वचन ८८—मति में एक दुर्मति का प्रादुर्भाव होने से विस्मरण ने उस मति के निगरणपूर्वक (उसे) भवोन्मुख कर दिया, देखो। गुहेश्वर, अखं-डित को ले आकर मति में विद्ध कर देने से वह गति भ्रष्ट हुई।

अर्थ ८८—इस वचन का तात्पर्य यह है कि अपनी बुद्धि पर अज्ञान का आच्छादन होने से मानव भवभाजन होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो उस अज्ञान का निवारण कर अपनी बुद्धि का परिपूर्ण ज्ञान से बेध करता है वह निर्गमन होकर निज पद में स्थित होता है।

८९—तले इल्लद अट्टे जगव नुंगित्तु, अट्टे इल्लद तले आकाशव नुंगित्तु। अट्टे बेरे तले बेरादरे मन संचलिसुत्तिद्दित्तु अट्टेयनु बयल नुंगिदोडे आनुनुंगिदेनु गुहेश्वरनिल्लदन्ते।

वचन ८९—शिररहित कबंध ने संसार को निगला। कबंधरहित शिर ने आकाश निगला। यदि शिर अलग एवं कबंध अलग होता है तो मन शांत होता है। आकाश ने कबंध एवं शिर को निगला तो मैंने गुहेश्वर के नाम को भी निगल लिया।

अर्थ ८९—शिर=ज्ञान। कबंध=अज्ञान। आकाश=आत्मतत्त्व।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि अज्ञान ने समस्त संसार का निगरण किया। उस

अज्ञान को दूर कर शिवज्ञान ने आत्मतत्त्व रूपी आकाश को निगला। मन को अज्ञान से अलग करने से वह निश्चल होता है। ज्ञानाज्ञान इन दोनों की निवृत्ति करके मैंने निज शिवतत्त्वस्वरूप को जान लिया फलस्वरूप वह ज्ञान मुझमें ही लीन हो गया।

६०—अहंकारवने मरेदु, देहगुणंगळने जरिदु, इह परवे तानें-दरिद कारण सोऽहं भाव स्थिरवायित्तु। सहज उदयद निलविंगे महाघनलिंगद बेळगु स्थायक वाद कारण गुहेश्वरा निम्म शरण नुपमातीत।

वचन ६०—अहंकार को भूल कर देह गुणों के तिरस्कारपूर्वक 'मैं ही इह एवं पर हूँ' ऐसा समझने के कारण 'सोऽहम्' भाव स्थिर हुआ। सहजो-दय स्थानीय 'महाघनलिंग' के प्रकाश के स्थायी होने से गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' उपमातीत हो गया।

अर्थ ६०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जब अहंकार एवं देहगुणों की निवृत्ति हो जाती है और इह पर का भी लय हो जाता है तब स्वस्वरूप का साक्षात्कार होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस स्वस्वरूप के साक्षात्कार के पश्चात् मेरा 'शिवोऽहम्' भाव स्थिर हुआ और सहज भाव में स्वस्थ हो मैंने महाघनतत्त्व के साथ सामरस्य कर लिया।

६१—काय भिन्नवायित्तेन्दु मुट्टिसुवरु लिंगवनु। मुट्टलागदु लिंगवनु। मुट्टिदात मुंदे होद। मुन्न मुट्टिदवरेल्ल उपजीवि गळादरु। इन्नु मुट्टदवरिगे गतियुंटे गुहेश्वरा।

वचन ६१—शरीर नाश के भय से (लोग) 'लिंग' धारण करते हैं। 'लिंग' का स्पर्श नहीं करना चाहिए। स्पर्श करनेवाले पहले ही चले गए। स्पर्श करनेवाले उपजीवी हो गए। गुहेश्वर, अतएव स्पर्श करनेवालों की क्या गति होगी।

अर्थ ६१—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो मृत होकर पाप में चले जाने की आशंका से 'लिंग' धारण कर उसकी पूजा करते हैं वे सब मृत होकर रुद्रलोक चले जाते हैं और वहाँ चतुर्विध फलपद को प्राप्त कर उपजीवी बन जाते हैं। इसलिये प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो उपाधि से शिव-पूजा नहीं करता और सहज शिवज्ञानी होता है वही शिव शरण है।

६२—बित्तद बेळेयद राशिय कंडल्लि सुखियागिनिंदवरारो ? इद हेळलु बारदु। केळलु बारददु। गुहेश्वरा ? निम्शरणानु लक्षणवळियदे राशियनळिदनु।

वचन ६२—स्वामिन् बिना वपन किए एवं बिना बढ़ाए (अन्न की) राशि को देखकर सुखी होकर रहनेवाला कौन है। इसको कोई न कह सकता है न सुन सकता। गुहेश्वर, तुम्हारे शरण ने अपने लक्षण का परित्याग किए बिना ही राशि को नष्ट कर डाला।

अर्थ ६२—प्रभुदेवजी कहते हैं कि ज्ञान एवं अज्ञान इन दोनों से रहित सुखराशि को कोई नहीं जान सकता। जो उस आनंदराशि को जानता है, शब्द के द्वारा उसका वर्णन नहीं कर सकता। (क्योंकि उस सुख का ज्ञान नहीं है)। इसलिये महाज्ञानी शिवशरण ने अभेद दृष्टि से महाघन वस्तु को देखकर अपने स्वरूप को जान लिया और परमानंद को प्राप्त कर लिया।

६३—अंतरंगदल्लि भवियनोळकोंडु बहिरंगदल्लि भक्तियनोळ कोंडु आत्मसंगदल्लि प्रसादवनोळकोंडु इर्प भक्तरकाणेनय्या। नानु इन्तप्प लिंगैक्यर काणेनय्या अन्तरगदल्लि सुळिदाडुव तनुगुणादिगळ मनगुणादिगळ कळदल्लि शरणरहरे ? तनु, मन, धनकोट्टल्लि भक्तरहरे। उंबवरकंडु कैयनीडिद्रे प्रसादिगळहरे ? अंतरंग बहिरंग आत्मसंग-ईत्रिविध भेदेव गुहेश्वरा निम्मशरण बल्लु।

वचन ६३—स्वामिन्, अंतरंग में 'भवि' का, बहिरंग में भक्ति का एवं आत्मसंग में 'प्रसाद' का तिरोधान करके रहनेवाले भक्तों को मैंने नहीं देखा। मैंने ऐसे 'शिवैक्य' को नहीं देखा। अंतरंग में व्यापार करनेवाले शरीर और मन के गुणों को त्यागने से क्या 'शरण' हो सकते हैं। क्या तन, मन एवं धन इन तीनों को दे देने से भक्त हो सकते हैं। क्या भोजन करनेवालों को देखकर हाथ फैलाने से 'प्रसादी' हो सकते हैं। बहिरंग, अंतरंग एवं आत्मसंग इस त्रयी के रहस्य को गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' ही जानता है।

अर्थ ६३—भवि=निजतत्त्व।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसका अंतरंग शिवतत्त्व से भरा है और बहिरंग में 'दग्धपट न्याय' की भाँति भक्ति-क्रियाएँ चल रही हैं वहीं शरण है। जिसके

बहिरंग और अंतरंग दोनों एक ही परमतत्त्व के साथ मिलकर प्रसन्न परिणामी हो गए हैं वहीं भक्त एवं 'ऐक्य' है। उपर्युक्त तीनों गुणों को जो एक ही भाव से देखता है वही 'शरण' है। इस रहस्य को जो नहीं जानता और अंतरंग में 'भवि' को रखकर बहिरंग में फलदायक भक्ति का आचरण करता है एवं निश्चयात्मिका बुद्धि के बिना स्वच्छंद रूप से प्रसाद लेकर (यथेष्ट भोजन कर) संचार करता है वह न भक्त है, न प्रसादी और न 'शरण' ही।

६४—लोकद नच्चु मच्चु बिट्टु निश्चितवायित्तु, एनुहत्तित्तेंद रियेनय्या। एनु हत्तित्तेंदरियेनय्या। गुहेश्वरनेंब ग्रहवळकोंडित्तागि नानेनेंबुदरियेनय्या।

वचन ६४—स्वामिन् संसार के प्रेम एवं व्यामोह छूट गए और निश्चिंतता आ गई। अब मैं यह नहीं जानता कि मुझमें किसका स्पर्श हुआ। गुहेश्वर रूपी ग्रह लग जाने से मुझमें किसी का ज्ञान नहीं रह गया। अब मैं इतना भी नहीं जानता कि 'मैं हूँ'।

अर्थ ६४—इस वचन का तात्पर्य यह है कि श्रीगुरु की कृपा से जब शिष्य के अंतरंग में ज्ञानोदय होता है और उस अंग के ऊपर शिव (लिंग) का स्पर्श (दीक्षा) होता है तब शिवानंद की प्राप्ति होती है। उसके संपूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाने से वैसी ही स्थिति होती है जैसी किसी ग्रह के स्पर्श से अर्थात् जिस प्रकार ग्रह का स्पर्श होने से अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं रह जाता, उसी प्रकार उसे बाह्य वस्तु का ज्ञान नहीं रहता। अतः उस समय 'किसी प्रकार की उक्ति का वह आस्पद नहीं रह जाता।

६५—धरेय मेलण जनितक्के, उरगने आधार पान नख कंकण मुख, मुव्वत्तोंदु शिरव नुंगित्तु नोडा। उत्तर पथद कोडगूस ईशान्यद ओडलोळगे अडगि साकारद संगव नुंगिद भाषेयनरियद मुगुदे, भाषेयनरियद मुगदे, अरिवनोळगण मरवु, मरविनोळगण अरिवु, गुहेश्वरनेंब लिंगवु त्रिकाल पूजेयनुंगित्तु।

वचन ६५—पृथ्वी से उत्पन्न सृष्टि का आधार पान (करनेवाला) उरग ही है। देखो, न, ख कं-कण मुख ने इकतीस शिर निगले। उत्तरापथ की बाला जो ईशान के उदर में छिप कर साकार संग को निगीर्ण किए हुई भाषा

को न जाननेवाली मुग्धा (है)। ज्ञानगत विस्मरण, विस्मरणगत ज्ञान, गुहेश्वरलिंग ने त्रिकाल पूजा निगरण कर ली।

अर्थ ६५—पृथ्वी=शरीर। उत्पन्न सृष्टि=उस शरीर से उत्पन्न सृष्टि। उरग=कुंडलिनी, सर्प। न=नष्ट। ख=इंद्रियाँ। कं=जल। कण=संसारजल-बिंदु। इकतीस शिर=प्रपंच के पचीस तत्त्व एवं उसकी अधिष्ठात्री ६ शक्तियाँ। उत्तरापथ=मोक्षमार्ग। बाला=ज्ञानशक्ति। ईशान=ईशानतत्त्व (परमात्मा)।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि शरीर रूपी पृथ्वी से उत्पन्न प्रकृति के मिथ्यात्व को नष्ट कर उसी को मूलशक्ति के रूप में परिणत करके उस शक्ति के दृढ़चित्त के द्वारा कुंडलिनी को जगा देना चाहिए। उससे पश्चिम नाड़ी को भेद कर मस्तक के अमृतबिंदु का स्राव होता है। उस अमृत को कुंडलिनी पान करती है। उससे न-ख अर्थात् इंद्रियों (के शब्द) का लय होता है। फलस्वरूप कं-कण अर्थात् संसारजलबिंदु जो पंचविंश तत्त्वात्मक है और उन तत्त्व की अधि-ष्ठात्री षट्शक्तियाँ इन सब इकतीस तत्त्वों को अमृतपान ने निगीर्ण कर लिया अर्थात् अमृतसेवन से इन सबका लय हो जाता है। अतः उत्तरापथ रूपी मोक्षमार्ग के लिये ज्ञान शक्ति (बाला) अनुकूल होती है। वह ज्ञानशक्ति स्वयं ईशानतत्त्व रूपी परमात्मा में विश्राम करती है। वह अपने में साकार संग को छिपाकर निःशब्द हो जाती है। ऐसा हो जाने से ज्ञान अपने स्वरूप को जानना भूल जाता है और वह विस्मरणगत निज ज्ञान कालकल्पना द्वारा की जानेवाली शिवार्चना का नाश करता है।

६६—ऊरक्कि ऊरेण्णे उरणु मारिकांवे तायें? बारिकम्मारन कलेगायि एंबंते काड हू कैय लिंगव पूजिसिदवन भक्तेनंबरु अल्लु। तानुलिंग तन्न मनवे पुष्प पूजेय पूजिसिदातने सद्भक्त गुहेश्वरा।

वचन ६६—ग्राम का तंडुल, ग्राम का ही तैल है मारिका माँ, भोग करो। लौहकार के बार बार आघात की भाँति वन्य पुष्प से करस्थल 'लिंग' की पूजा करनेवालों को भक्त कहते हैं, यह नहीं हो सकता। स्व को शिव (लिंग) समझकर मन रूपी पुष्प से जो पूजा करता है गुहेश्वर, वही सद्भक्त है।

अर्थ ६६—इस वचन का भाव यह है कि जो द्वैत भाव को भूलकर अपने को शिव समझता है और मन रूपी पुष्प से उसकी पूजा करता है वही सद्भक्त है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस मर्म को न जानकर जो अन्योन्य बुद्धि के द्वारा शिवपूजा करते हैं वे सब अज्ञानी हैं।

६७—वायद् पिंडिगे, मायद् देवरिगे वायके कायव बळलिसदे पूजिसिरो ? कट्टु गुंटके बंद् देवर पूजिसलु सूजिय पोणिसि दारव मरेद्डे होलिगे बिच्चितु गुहेश्वरा ।

वचन ६७—व्याजपिंड के लिये, व्याजदेव के लिये एवं व्याज के लिये काय को कष्ट मत दीजिए। नियम के लिये आए हुए देव की पूजा मत कीजिए। गुहेश्वर, पूजा करना चाहे तो सूई में सूत्र डालकर सूत्र को भी भूलना चाहिए, उससे सिलाई खुल जाती है।

अर्थ ६७—इस वचन का भाव यह है कि जिसको स्वस्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ अर्थात् जो स्व को शिव नहीं समझता और मिथ्या भाव से मिथ्या 'लिंग' की मिथ्या से पूजा करता है उसको आयास के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। उससे निजत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो अनुभव रूपी सूचिका में मन रूपी सूत्र डाल देता है उसकी मिथ्या रूपी सिलाई शिथिल होकर खुल जाती है।

६८—भित्तिमूरर मेले चित्रव बरेयित्तु। प्रथम भित्तिय चित्र चित्रदन्तिद्दित्तु। एडरने भित्तिय चित्र होगुत बरुत्तिद्दित्तु। मूरने भित्तिय चित्र होयित्तु मरुळि बारदु। गुहेश्वरा निम्मशरण त्रिविधदिंदत्तले।

वचन ६८—तीन भित्तियों के ऊपर चित्र लिखे गए हैं। प्रथम भित्ति का चित्र, चित्र की भाँति है। द्वितीय भित्ति का चित्र आता जाता है। तृतीय भित्ति का चित्र चला गया, पुनः नहीं आएगा। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' त्रिविधातीत है

अर्थ ६८—तीन भित्ति=तनुत्रय (स्थूल, सूक्ष्म, कारण)। चित्र=इष्टलिंग, प्राणलिंग, भावलिंग।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मेरे स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर में क्रमशः इष्टलिंग, प्राणलिंग एवं भावलिंग स्थापित हुए। इस शरीरत्रय में प्रथम स्थूल काय के ऊपर श्रीगुरु ने दीक्षा के द्वारा 'इष्टलिंग' धारण किया। वह 'लिंग' के रूप में स्थूल शरीर के ऊपर ही रह गया। उस लिंगभाव के सन्निहित होने से द्वितीय भित्ति अर्थात् सूक्ष्म शरीर में स्वानुभाव (विवेक) की प्राप्ति हुई। फलस्वरूप (मैं) सत्पथ में आचरण करने लगा। तृतीय (कारण

शरीर) में स्वानुभाव (विवेक) ने निजत्व को प्राप्त कर तृप्ति पा ली और निष्पत्ति को प्राप्त किया। इसी अभिप्राय से 'चला गया' कहा। इस प्रकार अंगत्रय में 'लिंग' त्रय का संबंध हो जाने से 'शरण' (मेरा) का पुनर्जन्म नष्ट हुआ और अंगत्रय भाव का भी लय हो गया।

९९—अंगद् मेले लिंगसंबंधवाद् बळिक प्राणद् मेले ज्ञाननिर्धरवायित्तु नोडा ? ओळ होरगेंब उभयवु एकार्थवायित्तु गुहेश्वरा निम्म नेरेद्नागि।

वचन ९९—देखो, अंग पर 'लिंग' का संबंध होने से प्राण में ज्ञान स्थायी हो गया। गुहेश्वर, बाह्याभ्यंतर दोनों एकार्थ हो गए और मैं आप में मिल गया।

अर्थ ९९—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब मेरे शरीर से 'इष्टलिंग' का संबंध हुआ तब मुझमें यह भाव उत्पन्न हुआ कि अंग ही 'महालिंग' है। फलस्वरूप मेरा बाह्याभ्यंतर उभय भाव नष्ट हो गया और मैंने परवस्तु के साथ सामरस्य कर लिया।

१००—मुंदे मुन्नूर अरवत्तु साविर युग होदुदु। हिंदे मुन्नूर अरवत्तु साविर युग होयित्तु। इन्नु कोयिदाने पुष्पंगळनु, उन्नतवेंब गणेश्वर करडिगे तुंबदुनोडा। इन्नुकोय्दाने पुष्पंगळनु आकुलगिरिगे मेरु घनवेंदरियरु, गुहेश्वरा निम्ममहिमेय हरिब्रह्मादिगळरियरू।

वचन १००—भविष्य में त्रिशतोत्तरषट् (३६०) सहस्र युग चलेंगे। भूत में त्रिशतोत्तरषट् सहस्र युग चले गए। 'उन्नत' नामक गणेश्वर और भी पुष्प का संचय कर रहा है पर उसकी करंडिका पूर्ण नहीं हो रही है। देखो, और भी वेग से (वह) पुष्प का संचय कर रहा है। कुलपर्वत को ही मेरु से श्रेष्ठ नहीं समझ रहे हैं। गुहेश्वर, आप की महिमा हरिब्रह्मादि भी नहीं जानते।

अर्थ १००—इस वचन का भाव यह है कि 'शरण' को अपने हृदय कमल रूपी पुष्प को मन रूपी हस्त से तोड़ कर 'चिप्पिंड' रूपी करंड में भरने में जितना समय लगता है उतने समय में अनंत लोकों की सृष्टि स्थिति एवं लय हो जाती है। अतः उस शरण के लिये वह लोक योग्य नहीं है। वह (शरण) घन से भी घन है इसलिये हरिब्रह्मादि भी उसकी महिमा नहीं जान सकते।

१०१—महामेरुविन मरेयल्लिर्दु, भूतद नेळलनाचरिसुव कर्मिनीवु, केळा! अदुआमहालिंगक्के मज्जनवेंदेनो, परिमल लिंगक्के पत्रे, पुष्पंगळेंदेनो, जगज्योति लिंगक्के धूप, दीपार्ति येंदेनो! अमृत लिंगक्के आरोहणवेंदेनो गुहेश्वरनेंब लिंग दंतव बल्लवरारो।

वचन १०१—हे, महामेरु की छाया में रहनेवाले भूत की छाया का आचरण करनेवाले कर्मी सुनो। क्या तुमने उसे 'महालिंग' के लिये अभिषेक समझ लिया। क्या परिमल शिव (लिंग) के लिये पत्रपुष्प समझ लिया, क्या जग ज्योति शिव (लिंग) के लिये धूप, दीप, आरती समझ लिया। क्या अमृत शिव (लिंग) के लिये आरोहण समझ लिया। गुहेश्वरलिंग के अंत को कौन जानता है।

अर्थ १०१—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो मेरुगिरि में उदयास्त को प्राप्त करनेवाले सूर्य की संख्या लेकर त्रिकाल पूजा करना चाहता है। वह अज्ञ है क्योंकि सद्वासना 'लिंग' पत्रपुष्प की पूजा से प्राप्त नहीं होगा, ज्योतिर्लिंग धूप, दीप एवं आरती से गोचर नहीं होगा और वह नित्य तृप्त है अतः अन्न के द्वारा तृप्त नहीं होगा। सद्वासनालिंग, ज्योतिर्मयलिंग एवं नित्य तृप्त 'लिंग' की प्राप्ति निज 'शरण' को ही होती है अन्य किसी को नहीं।

१०२—हूव कोय्य होद्रे हू दोरेकोळ्ळवु, अग्गवणिगे तुबुवरे अग्गवणि तुंबदु। पूजिस होद्रे पूजे सेवेगोळ्ळदु। इदेनु सोजिगवे अय्या अरिदु मरेदवनल्लु बेरगु हिडिववनळ। गुहेश्वरनेंब बुद्धि इंतुटु।

वचन १०२—स्वामिन्, यह क्या अचरज है पुष्प लेने जाने पर वे प्राप्त नहीं होते। जल लेने जाने पर जल भरता नहीं। पूजा करने के लिये जाने पर सेवा अर्पित नहीं होती। जानकर नहीं भूला, चकित नहीं हुआ 'गुहेश्वर', इत्याकारक बुद्धि ऐसी ही है।

अर्थ १०२—इस वचन का भाव यह है कि जिसके सर्वांगों में 'लिंग' का संबंध हुआ है वह 'शरण' लिंगभाव से भरित होता है। इसलिये उसकी समस्त इंद्रियों के द्वारा होनेवाली क्रियाएँ शिव (लिंग) मय हो जाती हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस 'शरण' के द्वारा आचारित अष्टविधार्चना षोडशोपचार आदि शिवमय हैं इसलिये वह अन्य क्रियाएँ नहीं जानता।

१०३—शरण लिंगार्चनेय माडलेंदु पुष्पक्के करव नीडिदरे आ पुष्प नोडे नोडलु करदोळगे अडगित्तल्ला ? अदु ओगरद गोब्बरवनुणदु, कामदगणरियदु, निद्रेय कप्पोत्तदु। अदु अरुण चंदिरद धरेयल्लि बेरेयदु। लिंगवे वेदियागि बेळेद पुष्पवनु गुहेश्वर निम्मशरणलिंगक्के पूजय माडिदनु।

वचन १०३—अहा शिवार्चना करने की कामना से शरण ने पुष्प का हस्त से स्पर्श कर लिया तो देखते ही देखते हस्त में ही पुष्प का लय हो गया। वह (पुष्प) अन्नोदक के सत्त्व का सेवन नहीं करता। काम नेत्र को नहीं जानता, उसमें निद्रा की कपिलता नहीं लगती। सूर्य-चंद्रों की भूमि से उसका मिलन नहीं होता। शिववेदी होकर वृद्धि को प्राप्त उस पुष्प से गुहेश्वर, तुम्हारे 'शरण' ने शिवपूजा की।

अर्थ १०३—शिवार्चना=प्राणलिंग की पूजा। हस्त=सुज्ञान। पुष्प= सद्वासना। काम=काम, क्रोध आदि अरिषड्वर्ग। निद्रा=अज्ञान। कपिलता= अंधकार।

शिवज्ञानसंपन्न 'शरण' (मैं) ने अपने प्राणलिंग की पूजा करने की इच्छा से जब सुज्ञान रूपी हस्त में सद्वासना रूपी पुष्प को लिया तो उसी समय सुज्ञान में पुष्प (सद्वासना) का लय हो गया। वह पुष्प परिपूर्ण रूपी वासना (सुगंध) से युक्त है। अतः अन्नोदक के रस (तत्त्व) से बढ़ता नहीं। उसमें काम, क्रोध आदि अरिषड्वर्ग का संसर्ग नहीं है, जो अज्ञान रूपी अंधकार में जाता नहीं और सूर्य एवं चंद्रमा की प्रभा से साध्य नहीं होता। सुज्ञान में प्रसन्न परिणाम रूपी जल का ग्रहण कर शिव (लिंग) प्रकाश में विकसित उस पुष्प से 'शरण' (मैं) ने निरंतर शिवपूजा की।

१०४—गगनवे गुंडिगे, आकाशवे अग्गवणि, चंद्र सूर्य रिब्बरु पुष्प, ब्रह्म धूप, विष्णु दीप, रुद्रनोगर, सुयिधान नोडा। गुहेश्वर लिंगक्के पूजे नोडा।

वचन १०४—गगन ही घट एवं आकाश ही निर्मल जल है। चंद्र-सूर्य दोनों पुष्प हैं, ब्रह्म धूप, विष्णु दीप एवं रुद्र ओदन और शांति है, देखो। यही गुहेश्वर की पूजा है।

अर्थ १०४—घट =आत्माकाश। निर्मल जल=चिदाकाश रूपी परमा-

मृत। चंद्र=शांति। सूर्य=दांति। ब्रह्म=रजोगुण-संबंधी ब्रह्मतत्त्व। विष्णु=सत्त्वगुण-संबंधी विष्णुतत्त्व। रुद्र=तमोगुण-संबंधी रुद्रतत्त्व।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'शरण' (मैं) ने सुज्ञान शिवार्चना इस प्रकार की—आत्माकाश रूपी घट में चिदाकाश रूपी निर्मल परमामृत भरकर महाज्ञान रूपी 'लिंग' का अभिषेक किया। शांति एवं दांति रूपी पुष्प से पूजन कर रजोगुण-संबंधी ब्रह्मतत्त्व को ज्ञानाग्नि में जला कर धूप बना दिया रजोगुण-संबंधी विष्णुतत्त्व में सुज्ञानाग्नि लगाकर दीप एवं आरती की। तमोगुण-संबंधी रुद्रतत्त्व को सुज्ञानाग्नि से पाक बनाकर परमानंद रूपी नैवेद्य समर्पित किया।

१०५—सरोवरद कमलदल्लि तानिप्पनु, कैदावरेय पुष्पद नेमवेंतु। छ मुट्टदे कोयुवनेमवेंतु! मुट्टदे कोख मुट्टद परिमल गुहेश्वरा निम्म शरणरु?

वचन १०५—स्वयं सरोवर कमल में रहते हुए रक्तकमल का नियम क्यों। स्पर्श किए बिना पुष्प तोड़ने का नियम कैसा। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' स्पर्श के बिना तोड़नेवाला एवं अस्पृष्ट परिमल है।

अर्थ १०५—सरोवर=मन। कमल=हृत्कमल।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो मन रूपी सरोवर में हृत्कमल तोड़ कर 'प्राणलिंग' की पूजा करने की कामना करता है वह अज्ञ है। उस कमल को तोड़नेवाला यदि अपने को शिव समझता है (मैं ही शिव हूँ) और अभेद रूप से स्वयं अपनी पूजा करता है तो वही शुद्ध शरण है।

१०६—होरगने कोय्दु, होरगने पूजिसुववर कंडु नाचिदेनय्या ओळगोंदु अनिमिष लिंगव कंडु एन्न मनो पुष्पदल्लि पूजेय माडिदरे नाचिके मादु निस्संदेहियादेनु गुहेश्वरा?

वचन १०६—बाह्य को ही तोड़कर बाह्य की पूजा करनेवालों को देखकर मैं लज्जित हो गया। अभ्यंतर में एक अनिमिष लिंग देख मेरे मनोपुष्प से पूजा करने पर गुहेश्वर, मेरी लज्जा नष्ट हो गई और मैं निःसंदेही हो गया।

अर्थ १०६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिनका अज्ञान नष्ट नहीं हुआ वे यदि बाह्य सत्क्रियाओं से पूजा करते हैं तो वह क्रम ठीक नहीं है, उससे सामरस्य की प्राप्ति नहीं होती। जो अपने अंतरंग को परिशुद्ध बनाकर

मन रूपी पुष्प से 'प्राणलिंग' की पूजा करता है उसके उभय संग का नाश होता है। फलस्वरूप वह सामरस्य करने योग्य हो जाता है।

१०७—अरगिन देगुलदल्लि ओंदु उरिय लिंगव कंडे। मत्ते देवर पूजिसुवरारू इल्ल। उत्तर पथद दर्शनादिगळिगे सुत्तिद मायेएत्तलिक्के होयित्तु, मरनोळगण किच्चु मरन सुट्टुद कंडे गुहेश्वरनेंब लिंगवल्लिये निंदित्तु।

वचन १०७—मैंने लाक्षामंदिर में एक अग्नि 'लिंग' देखा। पर उस देव की पूजा करनेवाला कोई नहीं है। उत्तरापथ के दर्शियों में व्याप्त माया कहाँ चली गई। वृक्षगत अग्नि ने वृक्ष को जलाया इसे मैंने देखा। गुहेश्वर नामक लिंग वहीं रह गया।

अर्थ १०७—लाक्षामंदिर=पंचभूत पिंड। अग्निलिंग=सुज्ञानलिंग। पूजा करनेवाले देव, एवं भक्त इत्याकारक द्वैतभाव। उत्तरापथ=मोक्षमार्ग।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि एक जीव के मल (आणव आदि) से लाक्षा (मलत्रय) बना। उस मलत्रय के बंधन से पाँच भौतिक पिंड का निर्माण हुआ। उस पिंड में सुज्ञानलिंग का उदय हुआ। उस सुज्ञानाग्नि में मेरा समस्त शरीर दग्ध हुआ और देव एवं भक्त इत्याकारक द्वैतभाव की निवृत्ति हुई। फलस्वरूप उत्तरापथ रूपी मोक्षमार्ग का साक्षात्कार हुआ। इस मोक्ष-मार्ग का जो साक्षात्कार करता है वह मायातीत होता है। जिस प्रकार वृक्ष-गत अग्नि बहिर्गत होकर वृक्ष को जला देती है और अग्नि रह जाती है उसी प्रकार उक्त स्थिति को प्राप्त 'शरण' का शरीर दग्ध होता है और शिव (लिंग) रह जाता है।

१०८—मनमुट्टद मज्जन, तनुतागद बेहार, भावतागद पूजे, एवे तागद नोट, बायुतागद लिंगदठाव तोरा गुहेश्वरा।

वचन १०८—मन से अस्पृष्ट अभिषेक, शरीर से अस्पृष्ट व्यवहार, भाव से अस्पष्ट पूजा एवं पद्म से अस्पृष्ट अवलोकन तथा हे गुहेश्वर, वायु से अस्पृष्ट 'लिंग' के स्थान को दर्शाओ।

अर्थ १०८—मनोमूर्ति ही शिव है। इसे न जानकर जो मन के द्वारा अभिषेक करना चाहता है वह द्वैती कहलाता है। सर्वांग को 'शिव' न समझ-कर शिव में सूत्रधार के रूप में पूजा करना भी द्वैत है। भाव को ही शिव समझना चाहिए पर इसके परित्यागपूर्वक शिव की भावना करना भी द्वैत

है। प्राणवायु के पूर्वाश्रय का परित्याग करने से वही 'प्राणलिंग' हो जाती है। इस रहस्य को न जानकर प्राण ही लिंग हुआ ऐसा कहना भी विवेक-भिन्न है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो उपर्युक्त स्वरूप का साक्षात्कार करता है वही 'शिव' है।

१०९—ओंदे हू, ओंदे अग्गवणि, ओंदे ओगर, ओंदे प्रसाद, ओंदे मन, ओंदे लिंग, नंदादीविगे कुंदद बेळगु, स्वतंत्र पूजेयोंदे। अनाहतवेरडागि बहुमुखवागि केट्टु होद्रु गुहेश्वरा।

वचन १०९—एक ही पुष्प, एक ही जल, एक ही ओदन, एक ही प्रसाद, एक ही मन, एक ही नंदादीप, नित्यप्रकाश एवं स्वतंत्र पूजा एक ही है। गुहेश्वर, अनाहत दो होकर बहुमुख हो जाने के कारण सब लोग नष्ट हो गए।

अर्थ १०९—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसने शिव (लिंग) के साथ अविरल संबंध (सामरस्य) कर लिया है उस 'शरण' की पूजा इस प्रकार होती है—'एकमेव परं ब्रह्म' इत्याकारक परिपूर्ण वासना ही पुष्प है। उस परब्रह्म के साथ अपने सामरस्य से जो परमानंद प्राप्त होता है वही शुद्ध जल है। नित्य तृप्त उस 'लिंग' के लिये 'शरण' ही पदार्थ है। शिवानंद प्रसन्नता 'प्रसाद' है। अन्य स्मरण का परित्याग कर उन्मनी स्वरूप को प्राप्त मन भी एक ही है। उस पूजा के लिये 'सर्वांग ही लिंग' है इत्याकारक 'महालिंग' स्थल एक ही है। सुज्ञान रूपी प्रकाश भी एक ही है। इस प्रकार शिव में रहकर 'शरण' स्वतंत्र रूप से पूजा करता है। इस रहस्य को न जानकर द्वैतभाव से प्रतीक रूप में अन्य 'लिंग' बनाकर जो पूजा करता है वह वृथा नष्ट होता है।

११०—मनवे लिंगवाद बळिक नेनहुदिन्नारय्या? भाववे ऐक्यवाद बळिक, बयसुबदिन्नारनय्या भ्रमेयळियदु निजवु साध्य वाद बळिक अरिवुदिन्नारनय्या गुहेश्वरा।

वचन ११०—स्वामिन्, मन के शिव हो जाने के पश्चात् अब किसका ध्यान करना है। ध्यान का लय हो जाने के पश्चात् किसकी भावना (कामना) करनी है। गुहेश्वर, भ्रम का लय होकर निजत्व की सिद्धि—हो जाने के पश्चात् किसको जानना है।

अर्थ ११०—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब ध्यान करनेवाला मन ही 'शिव' हो जाता है तब वह अन्य किसी का ध्यान नहीं कर सकता। कामना करनेवाला भाव ही शिव हो जाने पर अन्य वस्तु की कामना नहीं कर सकता। भ्रम का नाश एवं निजत्व की प्राप्ति के अनंतर स्वलीला के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता।

१११—गगनद मेलोंदु सरोवर, आ जलदल्लि मुखवतोळेदु हूव कोय्वरेल्लरु देवरिगे मुखमज्जनवेंबुदनरिदु पूजिसि होडवंटडे ओम्मे नायक नरक तप्पदल्ला। देव लोकद प्रमथर लज्जयनेन हेळुवे गुहेश्वरा।

वचन १११—गगन के ऊपर सरोवर है। उसके जल में मुखमार्जनपूर्वक कुसुमावचय करनेवाले उन सब लोगों का जो देवों के मुखमार्जन को जानकर अर्चनापूर्वक बाहर चले जाते हैं, अहा एक बार भी नायक नरक से छुटकारा नहीं हो सकता। गुहेश्वर, देवलोक के प्रमथों की लज्जा को मैं क्या कहूँ।

अर्थ १११—प्रभुदेवजी कहते हैं कि बाह्याभ्यंतर में परिपूर्ण शिव व्याप्त है एवं सर्वांग परमामृतमय है। इसे न जानकर जो गगन रूपी ब्रह्मरंध्र में वर्तमान अमृत को रेचक रूपी हस्त में लेकर 'प्राणलिंग' के लिये अभिषेक करता है और तत्रस्थ शतपत्र की संतुष्टि कराकर (पूजकर) स्वयं उसका पादोदक स्वीकार करता है और अपने को सुखी समझता है वह खंडित (द्वैत) योगी है। ऐसे योगी रुद्रलोक के पद में बद्ध होकर नष्ट हो जाते हैं।

११२—मलिनदेहि मज्जनक्केरेवनल्लदे निर्मलदेहिगे मज्जन वेको? विषय उँटे लिंगनिष्पत्तियादशरणंगे? अगम्यअगोचर अप्रमाण गुहेश्वरा निम्मशरणनु।

वचन ११२—मलिनदेही अभिषेक करता है, निर्मलदेही अभिषेक क्यों करेगा। क्या शिव (लिंग) में निष्पन्न 'शरण' के लिये विषय है। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' अगम्य, अगोचर एवं अप्रमाण है।

अर्थ ११२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो मायामल से बद्ध अज्ञानी है वह 'लिंग' के लिये अभिषेक करता है। जिसने मलत्रय को दूर किया और जो निर्मल हो गया है, उस 'शरण' में 'लिंग' की निष्पत्ति हो जाती है अतः वह उपाधि के द्वारा अभिषेक नहीं करता। और उसके लिये अन्य विषय भी नहीं है। वही शरण अगम्य, अगोचर एवं अप्रमाण है।

११३—मज्जनक्लेरेवडे नीनु शुद्ध, निर्मल देहि। पूजेयमाडुवडे निनगे गगन कमल कुसुमद अखंडित पूजे। धूप, दीपारतिगळ बेळगुवडे नीनु स्वयंज्योति प्रकाशनु। अर्पितव माडुवडे नीनु नित्य तृप्तनु। अर्चनव माडुओडे नीनु मुट्टबारद घनवेद्यनु नित्यनेमंगळ माडुवडे निनगे अनंत नामंगळादवु गुहेश्वरा।

वचन ११३—अभिषेक करना चाहे तो आप शुद्ध एवं निर्मल देही है, पूजा करना चाहे तो आप (ही स्वयं) गगनकुसुम की अखंड पूजा है। धूप, दीप, आरती करना चाहे तो आप स्वयं ज्योतिप्रकाश है। तृप्त कराना चाहे तो आप नित्य तृप्त है। पूजा करना चाहे तो आप स्पर्श से दूर एवं घन-वेद्य है। गुहेश्वर, नित्य नियम करना चाहे तो आपके अनंत नाम हैं।

अर्थ ११३—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसके अंतरंग एवं बहिरंग में निर्लिप्त शिव (लिंग) व्याप्त है और जो स्वयं ज्योतिस्वरूप बन गया है उसको अष्टविधार्चना एवं षोडशोपचार स्पर्श नहीं कर सकते, वह नित्य तृप्त है।

११४—ओलुमेय कूटक्के हासिगेय हंगेके? बेटद मरुळिंगे लज्जे मुन्नुंटे? निम्मनरिद शरणंगे पूजेय हंबलदंदुगवेके? मिसुनिय चिन्नक्के ओरेगल्लु हंगेके? गुहेश्वर लिंगक्के कुरुहु मुन्नुंटे?

वचन ११४—प्रेम-मिलन के लिये शय्या का दाक्षिण्य क्यों। क्या, प्रेमपागल को लज्जा रहती है। आपको जो जान गया है उस 'शरण' को पूजा की चिंता एवं व्याकुलता क्यों। शुद्ध सुवर्ण को निकषग्राव का दाक्षिण्य क्यों। क्या गुहेश्वर का कोई प्रतीक है।

अर्थ ११४—इस वचन का भाव यह है कि 'शरण' के सती एवं 'लिंग' के पति हो जाने के पश्चात् जिसमें इन दोनों भावों का लय हो गया और जिसे शिवसामरस्य की प्राप्ति हो गई है उसको जो आनंद प्राप्त होता है उस आनंद की उपमा अन्य किसी प्रकार के आनंद से नहीं दी जा सकती। वह परमानंद है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस परमानंद को पाता है वही शिव है और वही शिव 'शरण' है। इसलिये उसके लिए षोडशोपचार, अष्ट-विधार्चना आदि व्यर्थ हैं।

११५—मुंडधारिय तलेमुंदे बप्पुद कंडे जटाधारियतले नडेदु-

होयित्त कंडे। खंड कपालिय खंडव कोयित्त कंडे। बाल ब्रह्मचारिय बारनेत्तित्त कंडे। भक्तरेल्लरू सत्तु नेलक्किक्कित्त कंडे। गुहेश्वरा नीसत्तु लिंगवायित्त कंडे।

वचन ११५—स्वामिन् मैंने मुंडधारी के शिर को आगे बढ़ते हुए देखा। जटाधारी के शिर को चलकर आगे बढ़ते हुए देखा। खंडकपाली के कटे हुए खंड को देखा। बालब्रह्मचारी के थप्पड़ को देखा। समस्त भक्त जो मृत हो धराशायी हो गए उन्हें भी मैंने देखा। गुहेश्वर, 'आप' मृत हो 'लिंग' बन गया इसे भी मैंने देखा।

अर्थ ११५—मुंड=अज्ञानप्रपंच। शिर=उस अज्ञानप्रपंच का धारण किया हुआ ज्ञान (ज्ञानाज्ञान से युक्त ज्ञान)। जटाधारी=सत्क्रिया से युक्त सुज्ञान। चलकर आगे बढ़ना=सदाचार में चलना। खंडकपाली=खंडित ज्ञान। बालब्रह्मचारी=पूर्वावस्था रूपी ब्रह्मचर्य। समस्त भक्त=षट् प्रकार की भक्ति—श्रद्धा, निष्ठा, सावधान, अनुभाव, आनंद एवं समरस। धराशायी होना=निष्पन्न होना।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि प्रपंच अज्ञान से युक्त है। उस प्रपंच को जो ज्ञान धारण करता है वह ज्ञानाज्ञान से युक्त होता है। वह भविष्य में आनेवाले भव का कारण होता है, मैंने इसका अनुभव किया। सत्क्रिया से युक्त सुज्ञान उस पथ में चलने से उन सत्क्रियाओं का लय हो गया। फलस्वरूप मेरी द्वैत-बुद्धि नष्ट हो गई। खंडित ज्ञान का लय हो जाने से पूर्वाचार रूपी ब्रह्म-चर्यादि नष्ट हो गए। स्वयं शिव होकर आचरण करनेवाली क्रियाएँ जब नष्ट हो गईं तब षड्विध की निष्पत्ति हुई। इसलिये मुझमें ही 'लिंग' रूपी सत्व का लय हो गया और केवल (शुद्ध) मैं ही रह गया।

११६—एन्नल्लि नानु निजवागि निंदु अरिदिहनेंद्रे अदु निम्म मतक्के ओप्पुवदे? एन्न नानु मरेदु निम्मनरिद्डे अदुनिम्मदोषवेंबे। एन्न नानिन्नोळु मरेद्रे कन्नडियोळगण प्रतिबिंबदंते भिन्नविल्लदे इद्देनु काणा गुहेश्वरा।

वचन ११६—स्वामिन्, अपने में स्वस्वरूप को देखकर यदि मैं उसे जानने का प्रयत्न करूँ तो क्या वह आपको संमत होगा। मैं (अहम्) को भूलकर यदि आपको जानूँ तो उस (जानने) को मैं आपका ही रूप समझूँगा।

देखो गुहेश्वर, यदि आपमें मैं (अहम्) को भूल जाऊँ तो दर्पणगत प्रतिबिंब की भाँति अभेद रूप में रह जाऊँगा।

अर्थ ११६—इस वचन का भाव यह है कि यदि कोई स्वस्वरूप को जानकर स्व को शिव समझता है तो उसका ज्ञान स्व से भिन्न है। क्योंकि स्व उस ज्ञान से अलग प्रतीत होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि यदि कोई मैं (अहम्) को भूलकर तुम कहता है तो उसी के ज्ञान को सत्य समझना चाहिए। अतः उसका स्वरूप दर्पण एवं उसके प्रतिबिंब की भाँति अभेद रूप में रहता है।

११७—भक्तंगे उत्पत्ति इल्ल, स्थिति इल्ल, स्थिति इल्लागि लयविल्ल। मुन्नेल्लिद बंदनल्लिगे होगि नित्यनागिप्प, गुहेश्वरा।

वचन ११७—जो भक्त है उसकी उत्पत्ति नहीं (एवं) स्थिति भी नहीं है। स्थिति न रहने से लय भी नहीं है। गुहेश्वर, वह जहाँ से आया था पुनः उसी में जाकर नित्य हो गया है।

अर्थ ११७—इस वचन का तात्पर्य यह है कि 'शरण' जब शिव स्वरूप में आया तब उसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय सब नष्ट हो गए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसीलिए वह जिस महाघन तत्त्व से उत्पन्न हुआ था उसी में जाकर उसने विश्रांति पा ली।

११८—तुंबि बंदरे परिमळ ओडित्त कंडे। एनुसोजिग हेळा। मनवंदरे बुद्धि ओडित्त कंडे। देव बंदोडे देगुल ओडित्त कंडे गुहेश्वरा।

वचन ११८—स्वामिन्, मैंने भ्रमर (तुंबि) के आगमन से भागते हुए परिमल को देखा? मन के आगमन से भागती हुई बुद्धि को देखा। देव के आगमन से भागते हुए देवालय को देखा। गुहेश्वर, बताओ यह अचरज क्या है।

अर्थ ११८—भ्रमर (तुंबि)=परिपूर्णत्व [कन्नड़ भाषा में 'तुंबि' शब्द के दो अर्थ होते हैं—भ्रमर और परिपूर्णत्व। इस प्रकार यह शब्द शिलष्ट है।] परिमल=स्वानुभाव।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मेरे अंतरंग में जब परिपूर्ण शिवतत्त्व व्याप्त हो गया तब मेरी स्वानुभाव रूपि खंडित वासना नष्ट हो गई। वासना का लय एवं परिपूर्णत्व व्याप्त होने के कारण मन ही 'शिव' बन गया।

फलस्वरूप 'निष्ठा से शिव को प्राप्त करूँगा' इत्याकारक द्वैतज्ञान का भी लय हो गया। इस प्रकार स्वयं शिवतत्त्व हो जाने के कारण देह का लय हो गया और मैं निराकार हो गया।

११९—रंग ओंदे कंभ ओंदे, देवरोंदे; देगुल ओंदे, गुहेश्वरा निम्म मन्नणेय शरणरें देवरेंबे।

वचन ११९—एक ही मंडप, एक ही स्तंभ, एक ही देव एवं देवालय भी एक ही है। गुहेश्वर, आप से अनुगृहीत 'शरणों' को ही मैं देव कहूँगा।

अर्थ ११९—मंडप='एकमेवपरब्रह्म' भाव से भरित अंतरंग। स्तंभ=एकोभाव। देव=परवस्तु। देवालय=चिदाकाश।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मन को शिव में एकाग्र किए हुए 'शरण' के लिये 'एकमेवपरब्रह्म' इस विशाल भाव से भरित अंतरंग ही मंडप है। उस मंडप के लिये एकोभाव रूपी एक ही खंभ है। उस मंडप में रहनेवाला परब्रह्म भी एक ही है। उस परवस्तु का आवासस्थान चिदाकाश रूपी एक ही देवालय है। इस अवस्था को जो प्राप्त करता है वही नित्य परिपूर्णतत्त्व वेदी होता है।

१२०—ऊरहोरगोंदु देगुल देगुलदोळगोब्ब गोरति नोडय्या ! गोरतिय कैयल्लि सूजि, सूजिय मनेयल्लि हदिनालकुलोक गोरतिय सूजिय हदिनालकु लोकव ओंदिरुवे नुगित्तु कंडे गुहेश्वरा।

वचन १२०—देखो स्वामिन्, ग्राम के बाहर एक देवालय है। उस देवालय में एक वैरागिणी रहती है। उस संन्यासिनी के हस्त में एक सूचिका है। सूचिका के अग्रभाग में चतुर्दश भुवन हैं। गुहेश्वर, संन्यासिनी, सूचिका एवं चतुर्दश भुवनों को एक पिपीलिका निगल गई, इसे मैंने देखा।

अर्थ १२०—ग्राम=स्थूल शरीर। देवालय=चित्पिंड। वैरागिणी=ज्ञान-शक्ति। सूचिका=मन। अग्रभाग=शिवानुभाव। पिपीलिका=महाज्ञान।

शरीर रूपी ग्राम के धर्मों से अतीत चित्पिंड (चिदाकाश) रूपी देवालय है। उस चिदाकाशरूपी देवालय में ज्ञानशक्ति नामक संन्यासिनी रहती है। उसने मनरूपी सूचिका (सूई) में शिवानुभावरूपी सूत्र डालकर उसको अपने हाथ में ग्रहण किया। शिवानुभावरूपी सूत्र से संबद्ध मन रूपी सूचिका के अग्रभाग में चतुर्दश भुवन छिप गए हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं शिवानुभाव से युक्त उस मन, ज्ञानशक्ति एवं चतुर्दश भुवन इन सबको महाज्ञानरूपी

पिपीलिका ने निगीर्ण कर लिया। अर्थात् मुझे महाज्ञान की प्राप्ति हुई फलस्वरूप शिवत्व का लाभ हुआ।

१२१—मनक्के मनोहरवादडे मनक्के भंगनोडा ? तनुविनल्लि सुखव धरिसिकोंड्डे आ तनुविंगे कोरते नोडा। अरिवनरिदु सुखवायितेंदड़े आ अरविंगे भंगनोडा गुहेश्वरा।

वचन १२१—देखो, मन को जो मनोहर हो जाता है वह मन के लिये भंग (हानि) है। देखो, देह में जो आनंद का धारण है-वह शरीर के लिये भंग है। गुहेश्वर, यदि ज्ञान को जानकर 'ज्ञान की प्राप्ति से आनंद की प्राप्ति हो गई' (ऐसा कोई) कहता है तो (वह) उस ज्ञान के लिये भंग है।

अर्थ १२१—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो स्व को मनोमूर्ति 'शिव' (लिंग) न समझकर उस मन से 'शिव' को जानने की कामना करता है वह द्वैती है। उसकी युक्ति द्वैतमूलक है। शिवानंद को शरीर द्वारा ग्रहण करने पर वह भी द्वैतानंद कहलाता है। आनंद को स्वयं जानकर पुनः शब्द द्वारा जब कोई उसे व्यक्त करता है तो वह उस ज्ञान की हानि कर लेता है।

१२२—नाएंबुदे नन्दियागि, मा एबुदे महत्तागि, शि एबुदे रुद्रनागि, वा एबुंदे हंसेयागि, या एंबुदे अरिवागि ओंकारवे गुरुवागि संबंधवे असंबंधवागि, असंबंधवे संबंधवागि एरडू ओंदेयागि गुहेश्वर लिंगदल्लि संबंधि।

वचन १२२—'न' कार ही नंदी, 'म' कार ही महत्, 'शि' कार ही रुद्र' 'वा' कार ही हंस, 'य' कार ही ज्ञान, 'ओं'कार ही गुरु बन जाने से संबंध ही असंबंध, असंबंध ही संबंध दोनों एक हो जाते हैं तो गुहेश्वर में वही संबंधी है।

अर्थ १२२—'नकारश्चित् इत्युकम्' उक्ति के अनुसार 'चित्' ही समस्त लोक के लिये आदि है। वही चित् प्रथम अंग में प्राप्त हुआ। इसलिये 'न' को नंदी कहा। 'नंदी' इत्याकारक नाम ग्रहण करने के फलस्वरूप उसका नाम 'न' हुआ। 'न' कार जब अंग में व्याप्त हो तब 'म' कारो बुद्धिरुच्यते' उक्ति के अनुसार मकार से संयुक्त सुबुद्धि ने कृत निश्चय 'महत्' में स्थान प्राप्त कर लिया। अर्थात् सुबुद्धि का लय हो जाने से महत् ही व्याप्त हो गया। 'शि' कारो रुद्ररूपश्च' उक्तिके अनुसार 'शि' कार ही शिव बनकर सर्वांग में व्याप्त हो गया। उसने भवपाश का विमोचन किया—'व' कारो

वायु रुच्यते' इस उक्ति के अनुसार प्राणवायु ही प्राणलिंग बनकर 'लिंग-प्राण' हो गई। पश्चात् उसने 'परमहंस' का नाम ग्रहण किया। यकारो ज्ञानमेवच' उक्ति के अनुसार यकार संयुक्त ज्ञान ही बाह्याभ्यंतर में व्याप्त हो गया। 'ओंकारः प्रभवा देवा, ओंकारः प्रभवाः सचराचरम्' के अनुसार समस्त लोक के लिये वह गुरु है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'शरण' (मैं) स्वयं ओंकारस्वरूप हो गया। इस प्रकार षडक्षर के सर्वांग में व्याप्त हो जाने पर उनसे भिन्न न होकर जो अभिन्न होता है और उभय नाम (गुरु-शिष्य) का भी परित्याग करता है वही शुद्ध शरण है।

१२३—जगद्गलद मंटपक्के, मुगिलगलद मेलुकट्टिनल्लि चिन्त्र विचिन्त्रव नोडुत्त, ध्यान विश्रान्तियल्लि दिट दिटवेंबुदोदुं दर्शनव नोडुत्त नोडुत्त गगन गंभीरदल्लि उदयवायित्त कंडे गुहेश्वरनेंब लिंग तानेयागि।

वचन १२३—स्वयं गुहेश्वर होकर मैंने जगद्विस्तार के मंडप में गगन-विस्तार का उत्तरीय बाँधकर उसमें चित्र विचित्र का निरीक्षण करते करते ध्यान विश्रांति में एक (ऐसी) सत्य वस्तु को देखा जो देखते ही देखते गगन से उत्पन्न हुई।

अर्थ १२३—जगद्विस्तार का मंडप=जगत् को अपने में छिपाए हुए चिदाकाश। उत्तरीय=महदाकाश। चित्रविचित्र=परब्रह्म। गगन=परमात्मतत्त्व।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि चिदाकाश ने समस्त जगत् को अपने में छिपा लिया है। वही चिदाकाश 'शरण का मेरा शरीर बन गया है। उस चिदाकाश के शरीर रूपी मंडप में मैंने महाकाश रूपी एक उत्तरीय बाँध लिया और उस मंडप में स्वस्थ पद्मासन पर बैठकर परब्रह्म रूपी वैचित्र्य को देखा। देखते देखते मैं शिवज्ञान परायण हो गया। उस शिवज्ञान के निरीक्षण से मैं स्वयं अद्वयस्वरूप हो गया और परमात्मतत्त्व से उत्पन्न होकर स्वतः सिद्ध हो गया।

१२४—हिंदण अनन्तवनु, मुंदण अनंतवनु ओंदे दिन ओळ कोंडित्तु नोडा। ओंदु दिनवनोळकोंडु मातनाडुव महन्तन कंडु बल्लवरारय्या? आघरु वेघरु अनंत हिरियरु लिंगदंतवनरियदे अंते होदरु काणा गुहेश्वरा।

वचन १२४—स्वामिन्, भूत के अनंत (युगों) को एवं भविष्य के अनंत (युगों) को एक ही दिन ने छिपा लिया। उस दिन का संवरण कर भाषण करनेवाले किसी को मैंने नहीं देखा। गुहेश्वर, आध, वेध एवं अनंत बड़े बड़े पंडित शिव की महिमा न जान कर व्यर्थ ही चले गए।

अर्थ १२४—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिस दिन (समय) 'शरण' को शिवज्ञान की प्राप्ति होती है उसी दिन (समय) भूत के अनंत युगों एवं भविष्य के अनंत युगों का संवरण हो जाता है। एक दिन के शिवज्ञान की प्राप्ति अपनी अनुदिन संख्या को भूलकर सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। अतः जो इस स्थिति को प्राप्त कर भाषण करता है वही 'शरण' कहलाता है। इस रहस्य को न जानकर छहो पंडित (षड्दर्शनवादी) अपने को ज्ञानी कहते हुए वृथा चले गए।

१२५—हुट्टुवरेल्लर हुट्टबेडवेंदेने? होंदुवरेल्लर होंद बेड़ेंदेने? प्रळयदल्लि अळियबेड़ेंदेने गुहेश्वरा! निम्मनरिदु नेरेद बळिक धरेय मेलिल्लुदवरनिरबेडेंदेने।

वचन १२५ स्वामिन्, क्या जन्म लेनेवालों का मैंने जन्म लेने के लिये प्रतिबंध किया, क्या प्राप्त होनेवालों का प्राप्त होने के लिये प्रतिबंध किया, प्रलय में लयगामियों का लय होने से क्या मैंने प्रतिबंध किया। गुहेश्वर, मैंने आप से सामरस्य को प्राप्त करने के पश्चात् क्या पृथ्वी पर रहनेवालों का उनके रहने के लिये प्रतिबंध किया।

अर्थ १२५—इस वचन का तात्पर्य यह है कि शिवज्ञान के द्वारा शिव के साथ जो सामरस्य कर लेता है और जो सर्वांग का शिवसंबंध करता है वह आरूढ़ज्ञानी है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस आरूढ़ज्ञानी को प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का अनुभव नहीं रहता वह सदा निश्चिंत रहता है।

१२६—आदियाधार उळळन्नकूकर उपचार, परडु ओंदादरे शिवाचार, आशिवाचार सय्वादरे ब्रह्माचार, गुहेश्वरनरिद्डे अनाचार।

वचन १२६—स्वामिन्, जब तक आदि (एवं) आधार है तब तक उपचार है। यदि दोनों एक होते हैं तो (वह) शिवाचार है। यदि शिवा-

चार स्वयं होता है तो वह ब्रह्माचार है। गुहेश्वर का ज्ञान होगा तो वह अनाचार है।

अर्थ १२६—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब तक शिव एवं भक्त इत्याकारक द्वैतभाव से व्यवहार चलता है तब तक वह व्यवहार उपचार कहलाता है। यदि उन दोनों (देव और भक्त) भावों का सामरस्य हो जाता है तब वह शिवाचार होता है। शिवाचार के अपने में विलीन होने से जो स्वयं प्रसन्न होता है वही ब्रह्म है और उसी की चर्या ब्रह्मचर्या है। स्वयं शिव होने के पश्चात् जिसमें उस ज्ञान का भी लय हो जाता है और जिसे किसी का भी ज्ञान नहीं रहता एवं जिसके समस्त आचार का लय हो जाता है वह अना-चारी कहलाता है।

१२७—किच्चिनोळगे हाकिद हुळ्ळियंतादेनय्या ? वेंदनुलिय संदिक्कि मत्तोंदु माडबारदय्या। गुहेश्वरा निम्न निलविन परि इन्तुटय्या।

वचन १२७—स्वामिन्, मैं अग्नि में डाले हुए तंतु की भाँति हो गया। दग्ध तंतु को अन्यों से मिलाकर पट का निर्माण नहीं कर सकते। गुहेश्वर, आपके स्वरूप की रीति ऐसी ही है।

अर्थ १२७—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिस 'शरण' का समस्त अंग ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गया है और जिसके समस्त शारीरिक गुण नष्ट हो गए हैं वह 'दग्धपटवत्' है।

१२८—सत्तकोळि एद्दु कूगित्त कंडे, मोत्तदमामरनुलियुत्त कंडे कत्तले बेळगायित्त कंडे होत्तारे यद्दु होलबुदप्पुद कंडे इदेनु हत्तित्तेंदु अरियेः गुहेश्वरा ?

वचन १२८—स्वामिन्, मैंने मृत कुक्कुट को उठकर ध्वनि करते हुए देखा, आम्रवृक्ष के समूह को ध्वनि करते हुए देखा। अंधकार को प्रकाशमान होते हुए मैंने देखा। उषःकाल में जागकर अविस्मृतत्व को देखा। गुहेश्वर मैं नहीं जान सका कि (मुझे) किसने स्पर्श कर लिया !

अर्थ १२८—मृत कुक्कुट=कुक्कुट के गुण-धर्म-कर्मवाला सत्प्राणव। ध्वनि=प्रातः (प्रथम) ध्वनि। आम्रवृक्ष का समूह=बावन बीजाक्षर। ध्वनि='शिवोऽहम्' शब्द। अंधकार=अज्ञान। प्रकाश=सुज्ञान। उषःकाल••• में अविस्मृत होना=स्वयं सर्वत्र व्याप्त होना (सर्वत्र स्वरूप देखना)।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिस प्रकार ताम्रचूड़ उषःकाल में स्वयं जागरित होकर अपनी ध्वनि के द्वारा संसार को जगा कर उसको सूर्योदय का बोध कराता है उसी प्रकार सुप्त सत्प्रणव भी स्वयं उद्बुद्ध होकर 'शिवोऽहम्' भाव का बोध कराता है। सत्प्रणव का उदय हो जाने से मेरे अंतरंग के समस्त बावन बीजाक्षर रूपी आम्रवृक्ष 'शिवोऽहम्', शिवोऽहम्' ध्वनि करने लगे। फलस्वरूप अज्ञान रूपी अंधकार का नाश हुआ और सुज्ञान रूपी प्रकाश सर्वत्र फैल गया। उस सुज्ञानप्रकाश का उदय हो जाने के कारण मुझे संसार में सर्वत्र अपने से अतिरिक्त वस्तु की प्रतीति नहीं हुई (द्वैतज्ञान का लय हो गया)। जब समस्त संसार में मेरे अतिरिक्त अन्य वस्तु का बोध मुझे नहीं हुआ तब इस ज्ञान का भी लय हो गया।

१२९—परतत्वदल्लि तग्दतवाद बळिक बेरे मत्तरिदिहनेंब भ्रान्तिपके ? अरिवु सय्वागि, मरहु नष्टवाद् बळिक तानारेंब विचारवेके ? गुहेश्वरन बेरसि भेदगेट्ट बळिक मत्तेसंगव माडिहनेंब तवकवेकय्या।

वचन १२९—परतत्व में तद्गत होने के पश्चात् पुनः उसको जानने की भ्रांति क्यों। ज्ञान के स्वायत्त होने पर अज्ञान का नाश होने के पश्चात् मैं कौन हूँ' (कोऽहम्) इत्याकारक विचार क्यों। स्वामिन्, गुहेश्वर से मिलने (सामरस्य) होने या द्वैतभाव नष्ट होने के पश्चात् पुनर्मिलन की आतुरता क्यों ?

अर्थ १२९—इस वचन का भाव यह है कि स्वस्वरूप को जान कर उस पर वस्तु के साथ सामरस्य करने के पश्चात् पुनः उसकी खोज करने की कामना करना अक्रम है। परिपूर्णत्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् पुनः स्व को जानने का अभिलाष करना अक्रम है। स्वयं परब्रह्म है इस मर्म को न जान कर पुनः उस परब्रह्म के साथ सामरस्य करने की व्यग्रता अक्रम है।

१३०—इंदु साव हेंडतिगे नाळे साव गंडनोडव्वा ? घळिगे घळिगेगे मगुवु हुट्टि कैगे बायिगे बंदित्तु नोडव्वा ? अरिवु कुरुहनु मरवे नुंगित्तु गुहेश्वर नुळिद नोडव्वा।

वचन १३०—अहा, देखो, आज मृत होनेवाली पत्नी का कल मृत होनेवाला पति है। क्षण भर में शिशु उत्पन्न होकर कर और जिह्वा (चुंबन) में आया। ज्ञान एवं प्रतीक को विस्मरण ने निगीर्ण कर लिया, केवल गुहेश्वर रह गया।

अर्थ १३०—आज मृत होनेवाली पत्नी=देह प्रकृति। कल मृत होनेवाला पति=प्राणधर्म। शिशु=सुज्ञान। कर में आना=इष्टलिंग के रूप में हस्त में आना। मुख में आना=शिवमंत्र बनकर जिह्वा में आना। प्रतीक=इष्टलिंग।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मेरी देहप्रकृति (धर्म) का लय हो जाने से प्राण धर्म रूपी पति का नाश हो गया। जब देहधर्म एवं प्राणधर्म का नाश हो गया तब ज्ञान रूपी शिशु का उदय हुआ। वही सुज्ञान रूपी शिशु 'इष्टलिंग' बनकर मेरे करस्थल में आया और शिवमंत्र बनकर मेरी जिह्वा पर स्थायी हो गया। तदनंतर उस सुज्ञान एवं करस्थल में प्रतीक के रूप में वर्तमान 'इष्टलिंग' दोनों को महाज्ञान ने संवरण कर लिया। उसके पश्चात् स्व में विश्रांति पाकर केवल निज वस्तु रह गई।

१३१—मरुळुंड मनुष्यन परियन्ते विवरवनरियबारदु नोड़ा! शिवज्ञान। अदनरिदिहेनेंदु नेनेय होदरे अदुमुंदुदोरदु। मरदिहनेंदु होदरे तेरहुगोडदु गुहेश्वरा? निम्मनेरेयरिह शरणरु निस्सीम सुखिगळु नोडा।

वचन १३१—स्वामिन्, विक्षिप्त मनुष्य की भाँति शिवज्ञान के विवरण को नहीं जान सकते। जानने की इच्छा से उसका ध्यान करने पर आगे दिखाई नहीं देता। भूलने के लिये भावना करने का आस्पद भी नहीं मिलता। गुहेश्वर, आपसे सामरस्य करने के रहस्य को जाननेवाला शरण निस्सीम है।

अर्थ १३१—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसके अंतरंग में शिवज्ञान का प्रकाश व्याप्त हुआ है उसकी स्थिति उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार किसी ग्रह से गृहीत मनुष्य स्व को नहीं जानता एवं दूसरों को भी नहीं समझता। अर्थात् शिवज्ञानी निस्सीम रहता है।

१३२—मणिल्लद हाळमेले कणिल्लदात मणिय कंड। कैयिल्लदात पवणिसिद कोरळिल्लदात कट्टिकोंड अंगविल्लद सिंगरके भंगबुटे गुहेश्वरा।

वचन १३२—स्वामिन्, मृत्तिका से रहित ऊषर में नेत्रहीन ने एक रत्न

देखा। करविहीन ने उसमें सूत्र डाला। कंठरहित ने उसे धारण कर लिया। गुहेश्वर, क्या अंगरहित शृंगार का नाश होता है।

अर्थ १३२—मृत्तिका=शरीर। ऊषर=निर्मलदेह। नेत्रहीन=अद्वैतदृष्टि। रत्न=महाज्ञान। करविहीन=द्वैतरूपी हस्त से शून्य। सूत्र=महानुभाव।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि शरीर धर्म रूपी मृत्तिका जब नष्ट हो गई और शरीर शुद्ध हो गया तब उस शरीर में वर्तमान महाज्ञान रूपी रत्न को मैंने द्वैत रूपी नेत्र के बिना देख लिया। अभेद रूपी हस्त से उस रत्न को लेकर उसमें महानुभाव रूपी सूत्र डाला। तत्पश्चात् अनाधार रूपी कंठ में उसे धारण कर लिया फलतः वही महाज्ञान मेरे लिए शृंगार बन गया।

१३३—कामिसदे नेनेदरे कल्पितविल्लद पुरुष बंदनेनगे नोडा। कल्पितविल्लदे नेरेदरे भाविसलिल्लद सुखदोरकित्तु नोडा? गुहेश्वरनेंब लिंगवनरिद बळिक नीनानेंबुदिल्ल नोडा।

वचन १३३—स्वामिन्, कामना के बिना ध्यान करने पर मुझे कल्पना-रहित पुरुष की प्राप्ति हुई। कल्पना से रहित होकर संग करने से भावनारहित आनंद की प्राप्ति हुई। देखो, गुहेश्वर को जानने के पश्चात् 'त्वं अहम्' भाव नहीं रह गया।

अर्थ १३३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो द्वैतविचार के द्वारा पर वस्तु की कामना न करके स्वस्वरूप को जान लेता है उसे कल्पनारहित संबंध की प्राप्ति हो जाती है। उस संबंध से निर्भाव रूपी सामरस्य के परमानंद का लाभ होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस सामरस्य का परमानंद प्राप्त करता है उसमें त्वं अहम् इस प्रकार का द्वैतभाव नहीं रहता।

१३४—नेलहुट्टदंदिन दवळार, दवळारदोळगोब्ब सूळे नोडय्या। तले इल्लदात निच्चके बप्प, करुळिल्लदात कुंटणियाद नोडय्या। कैकालिल्लदे अप्पलोडने, इदकंडु बेरगादे गुहेश्वरा।

वचन १३४—देखो, पृथ्वी की उत्पत्ति के पूर्व का एक धवलागार है। उसमें एक वारांगना रहती है। शिररहित पुरुष प्रतिदिन उसके पास आता है। देखो, पुरीतत् से रहित स्त्री कुट्टनी हो गई। गुहेश्वर कर-चरण के बिना ही संग करते देखकर मैं चकित रह गया।

अर्थ १३४—पृथ्वी=शरीर। धवलागार=महानुभाव से परिपूर्ण अंतरंग। वारांगना=चिच्छक्ति। शिररहित पुरुष=वृत्तिज्ञान से रहित (परमात्मा)।

पुरीतत् (हृदय के समीप की एक आँत) से रहित स्त्री=अंतरात्मा । कुट्टनी=कारण । कररहित=द्वैतरहित । चरण=गमन (जन्ममरण) ।

शरीर में 'यह शरीर है' इत्याकारक भाव की उत्पत्ति के पहले 'शरण' का अंतरंग महानुभाव से व्याप्त हो गया अतः उसके अंतरंग रूपी धवलागार में चिच्छक्ति का आवास हो गया । उसके मिलन के लिए वृत्तिज्ञान रूपी शिर-विहीन परमात्मा आया । इन दोनों का संग करानेवाली अंतःकरण से विहीन निर्देही अंतरात्मा है । प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस अवसर को प्राप्त शरण रूपी पत्नी ने अद्वैत रूपी हस्त से उस परमात्म रूपी पतिका पाणिग्रहण कर लिया । तत्त्वपश्चात् सामरस्य करने से वह अद्वय हो गया ।

१३५—परतत्वदोळगिरबल्लडे उणलागदु; उणदिरलागदु, एल्लरसंग-दल्लिरलागदु, मत्तोब्बनिरलागदु । तायिसत्त आरुदिंगळिगे ता हुट्टिद मूल गुहेश्वरा ।

वचन १३५—स्वामिन् , यदि परतत्त्व में रहने की इच्छा है तो भोग नहीं करना चाहिए और भोग किए बिना भी नहीं रहना चाहिए । सब (लोगों) के साथ नहीं रहना चाहिए और एकाकी भी नहीं रहना चाहिए गुहेश्वर, माँ की मृत्यु के अनंतर ही मैं मूलस्वरूप में उत्पन्न हुआ ।

अर्थ १३५—प्रभुदेव जी कहते हैं कि जो परशिवतत्त्ववेदी होता है उसे द्वैतानंद का ग्रहण नहीं करना चाहिए और परिणाम सुख का अनुभव किए बिना भी नहीं रहना चाहिए । उस सुज्ञानी को प्रपंच में नहीं रहना चाहिए अथवा वैराग्य से निःसंगी होकर अरण्य में नहीं जाना चाहिए । अर्थात् उभय का परित्याग कर निरुपाधिक सुख का अनुभव करना चाहिए । मैंने इस निर्णय को जान लिया फलस्वरूप मातृस्वरूपा चिच्छक्ति का लय हो गया । अतः मेरा स्वरूप मुझ में ही उत्पन्न हुआ ।

१३६—सुळियबल्लडे सुळिय लेसै, गमनविल्लदे सुळियबल्लडे निर्ग-मनियागि निल्लबल्लडे अदक्कदे परिणाम, अदक्कदे संतोष गुहेश्वर लिंगदल्लि अवरे जगदाराध्यरेंबेनु ।

वचन १३६—स्वामिन्, यदि गमन के रहस्य को जानता है तो गमन करना ही अच्छा है । निर्गमनी होकर संचरण एवं निर्गमनत्व से स्थित हो सके तो उसके लिए वही परिणाम है । गुहेश्वर, मैं उन्हीं को जगदाराध्य कहूँगा ।

अर्थ १३६—प्रभुदेवजी कहते हैं कि पहले ही शिव होकर संचरण न करके यदि शिवभाव से संचरण करता है तो उसका संचार ही श्रेष्ठ है। संचार के लिए आकर निर्गमनी नहीं होता यदि परिपूर्णतत्त्ववेदी होकर रह सकता है तो उसका निर्गमन ही श्रेष्ठ है। जो इस निर्णय को जानता है वही जगद्वंद्य है।

१३७—ता नडेदडे नडेगेट्ट नडेय नडेवुदय्या ! ता नुडिदडे नुडिगेट्ट नुडिय नुडिवुदय्या। रूहिल्लद संगवमाडबेकु। भावविल्लद भक्तिय माडबेकु। तानावनें दरियदंतिहुदु गुहेश्वरा।

वचन १३७—देखो, यदि गमन करता है तो उसका गमन गमनरहित है। यदि भाषण करता है तो वाक्यरहित भाषण है। स्वामिन् जो रूपरहित का संग एवं भावरहित भक्ति करता है, गुहेश्वर, वह स्व को भूलकर रहता है।

अर्थ १३७—इस वचन का भाव यह है कि जिसमें भक्त एवं शिव इत्याकारक भाव नष्ट हो गया है और जो शिवसामरस्य को प्राप्त कर लिया है वह यह नहीं जानता है कि मैं गमन करता हूँ या नहीं। वह भाषण करता है परंतु उसको उसका ज्ञान नहीं रहता। भक्ति का आचरण करता है पर उसको कर्तृत्वाभिमान नहीं है। क्योंकि उसकी समस्त क्रियाओं को उसमें व्याप्त शिव ही करता है। अतः 'शरण' परमकाष्ठा को प्राप्त कर मुग्ध रहता है।

१३८—कालिल्लद गमन, कैयिल्लदसोंकुः बायिल्लद रुचि, भाववे कर्पुरवागि परम देहिएंदु बेडुव परमन तोरय्या गुहेश्वरा।

वचन १३८—स्वामिन्, पाद के बिना गमन, हस्त के बिना स्पर्श, जिह्वा के बिना रुचि का ग्रहण करनेवाले एवं भाव को कपूँर बनाकर तथा 'परमदेही' शब्द से भिक्षा माँगनेवाले को मुझे दिखाओ।

अर्थ १३८—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसका सर्वांग शिवसामरस्य प्राप्त कर लिया है उसके भाषण के गमन, व्यवहार इत्यादि गुण अपने न होकर शिव के ही गुण बन जाते हैं।

१३९—कण्णे कट्टिगेयागि, कैये कर्पुवागि, किवियें सकल पुरातनर कारुण्यवेनुत मनदभित्तवनुंडु तनुपरिणामवनैदिह घनमहिमर तोरा गुहेश्वरा।

वचन १३९—गुहेश्वर, जिसके लिये नेत्र ही योगदंड एवं हस्त ही भिक्षापात्र हैं (जिसने) कर्ण को समस्त पुरातनों का कारुण्य कहकर मन की भिक्षा का भोजन करके शारीरिक परिणामत्व को प्राप्त किया है उस महा-महिम को दर्शाओ।

अर्थ १३९—नेत्र=नेत्रगत रूपग्रहण रूपी हस्त। योगदंड=सुज्ञान रूपी दंड। भिक्षापात्र=करस्थल में रहनेवाला इष्टलिंग। भिक्षा=महानुभावों का उपदेशामृत। भोजन=शिवरति।

इस वचन का भाव यह है कि जो नेत्रगत रूप ग्रहण रूपी हस्त में सुज्ञान रूपी योगदंड को लेकर सर्वाचार संपन्न इष्टलिंग को धारण करता है और कर्ण के द्वारा महानुभावों का उपदेश ग्रहणपूर्वक मन में शिवरति रूपी भिक्षा का भोजन कर आनंद प्राप्त करता है, वही शुद्ध शरण है।

१४०—कंगळ करुळ कोय्दवर, मनद तिरुळ हरिदवर, मातिन मोदल बल्लवर ननगोम्मे तोरा गुहेश्वरा।

वचन १४०—गुहेश्वर, जिसने नेत्रों की आँत काट दिया। जिसने मन का सत्व जला दिया तथा वचनों का मूल जान लिया उसको मुझे एक बार दिखाओ।

अर्थ १४०—प्रभुदेव जी कहते हैं कि जो अपने से भिन्न रूप में प्रतीत होनेवाले समस्त विषयों का नाश करके ज्ञान से परिपूर्ण हो गया, फलस्वरूप जिसके मन में उद्भूत संकल्प-विकल्प आदि संशय का लोप हो गया है तथा जो उस मन को ही शिव समझता है एवं जो वाग्व्यवहार से प्राप्त द्वैत सुख का परित्याग कर नाद, बिंदु एवं कला के रहस्य को नष्ट कर शब्दमुग्ध हो गया है वही शुद्ध 'शरण' है। उसके दर्शन करनेवाला कृतार्थ हो जाता है।

१४१—आदिपुर वेद पुर, हिमपुर, खंडित अखंडित शिवशिवा गगनव मन नुंगित्तु। आदिवेदव नुंगित्तु। वेद स्वयंभुव नुंगि कालकर्म हिंगित्तु गुहेश्वरा निम्मशरणंगे।

वचन १४१—आदिपुर, वेदपुर एवं हिमपुर खंडित हो गए। शिव शिव, वह अखंडित स्वरूप है। मन ने आकाश को निगला, आदि ने वेद को एवं वेद ने स्वयंभू को निगला। अतः गुहेश्वर, 'शरण' के काल एवं कर्म नष्ट हो गए।

अर्थ १४१—आदिपुर = चिद्बिंदुपिंड। वेदपुर = नाद रूपी पिंड। हिमपुर=शांतिकला रूपी पिंड। गगन = आत्मतत्त्व।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब मेरे चिद्बिंदु पिंड रूपी आदिपुर का नाद के पिंड रूपी हिमपुर का एवं शांतिस्वरूप कलापिंड रूपी हिमपुर का भेद हुआ अर्थात् बिंदु, नाद एवं कला रूपी पिंडत्रय का भेद हुआ तब उनमें शिवकला व्याप्त हो गई। फलस्वरूप मेरे मन ने आत्मतत्त्व रूपी आकाश का निगरण कर लिया। अर्थात् मन में आत्मतत्त्व का प्रवेश हो जाने से अंतरंग में परमात्मस्वरूपप्रकाश व्याप्त हो गया। इसलिए चिद्बिंदु में नाद का एवं नाद में कला का अंतर्धान हो गया और उस चिद्बिंदु का लय परमात्मतत्त्व में हुआ। इस प्रकार मेरे बिंदु, नाद एवं कला का अंतर्धान हो जाने के पश्चात् मैं कालकल्पित उपाधि से मुक्त हो गया। अर्थात् अब मुझे जन्म-मरण की बाधा नहीं है।

१४२—मनदोळगे घनवु बेद्यवाद बळिक पुण्यविल्ल, पापविल्ल। सुख विल्ल दुःखविल्ला कालकर्मविल्ला जननविल्ल मरणविल्ल गुहेश्वरा निम्मशरणनु घनमहिम नोडय्या।

वचन १४२—स्वामिन्, मन में परब्रह्म के साक्षात्कार के पश्चात् न पुण्य है न पाप, न सुख है न दुःख, न जन्म है न मरण। गुहेश्वर तुम्हारा 'शरण' घनमहिम है।

अर्थ १४२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिस 'शरण' के मन में परब्रह्म की प्राप्ति हो गई है और जिसका मन उसमें विलीन हो गया है उसको न पुण्य है न पाप, न सुख है न दुःख एवं न जन्म है न मृत्यु। अर्थात् उसमें कोई भौतिक गुण नहीं है।

१४३—बोनदोळगोंदु आने इद्दित्तु। बोन बेंदित्तु, आनेबदुकित्तु इदेनुसोजिगवय्या? देवसत्त देविकेट्टळु आनु बदुकिदेनु गुहेश्वरा।

वचन १४३—स्वामिन्, यह अचरज क्या है, पंजर में एक गज था। पंजर जल गया पर गज रह गया। गुहेश्वर, देव की मृत्यु हुई देवी नष्ट हो गई और मैं रह गया।

अर्थ १४३—पंजर = आत्मतत्त्व। गज = 'शिवोऽहम्' इत्याकारक अहंकार। देव = शिव। देवी = शक्ति।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि आत्मतत्त्व रूपी पंजर में 'शिवोऽहम्' इत्याकारक अहंकार रूपी गज की उत्पत्ति हुई थी। उसको मैंने महाज्ञान रूपी अग्नि का पुट देकर जला दिया। फलस्वरूप आत्मतत्त्व का नाश हुआ। और शुद्ध 'अहम्' रह गया। इसलिये शिव एवं शक्ति इत्याकारक द्वैतभाव की निवृत्ति हुई और अवशिष्ट मैं शिव बन गया।

१४४—परुषक्के बेले इल्ल प्राणक्के निर्माल्यविल्ल। रुचिगे एंजलविल्ल सुखक्के अरोचकविल्ल। गुहेश्वरा निम्मशरणंगे भवविल्ल बंधनविल्ला।

वचन १४४—स्वामिन्, पारस के लिये कोई मूल्य नहीं है। प्राण के लिये निर्माल्य नहीं, रुचि के लिये उच्छिष्ट नहीं, सुख की अरोचकता नहीं। गुहेश्वर, तुम्हारे शरण के लिये भवबंधन नहीं है।

अर्थ १४४—पारस=श्रीगुरुका उपदेश। प्राण='प्राणलिंग'। रुचि=शिवानंद। सुख=सर्वत्र स्वस्वरूप को देखना।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि श्रीगुरु ने अपने उपदेश (अनुग्रह) के द्वारा संसार से मेरा उद्धार किया है। उस उपदेश रूपी पारस के लिये संसार में कोई मूल्य नहीं है (वह अनर्घ्य है)। अर्थात् उस उपदेश रूपी पारस के विनिमय में वस्तु देकर कोई उसका मूल्य चुका नहीं सकता। मेरा प्राण शिव के लिये अर्पित होकर प्राण ही 'लिंग' हो गया है। अतः उसकी पूजा करना और उसके निर्माल्य का विसर्जन करना इत्यादि द्वैतभाव नष्ट हो गया। जब मुझमें शिवानंद की प्रसन्नता व्याप्त हो गई और जब स्वयं शिव बन गया तब मुझमें उच्छिष्ट आदि भावना नहीं रह गई। इस प्रकार जब मैंने शिवत्व का लाभ किया तब इस द्वैतभाव का लय हुआ कि मैं संसार को जानूँ और उससे घृणा करूँ। इसलिये इस रहस्य को जो जानता है उसके लिये भवबंधन की आशंका नहीं है।

१४५—अमृत सेवनेमाडि आप्यायन घनवायित्तु, परुषवेदिय साधिस होद्रे दारिद्र्य घनवायित्तु कंडे। मरुजीवणेय हरण मेद्दु मरण वायित्तु कंडे। इवेल्लवनु साधिसहोद्रे एनू इल्लदंतायित्तु। नानु निजव साधिसि बदुकिदेनु गुहेश्वरा।

वचन १४५—स्वामिन्, अमृत का सेवन करने से मुझमें आप्यायन की अधिकता हो गई। पारसवेदी की सिद्धि करने गया तो दरिद्रता का आधिक्य हुआ। मृतसंजीवनी फल के भक्षण से मृत्यु की प्राप्ति हुई इसे मैंने देखा। इन सबको साधने गया तो कुछ भी नहीं रह गया। गुहेश्वर, निजत्व को साधकर मैं जीवित रह गया।

अर्थ १४५—अमृत=शिवानंद। आप्यायन=नित्यतृप्ति। पारसवेदी=परब्रह्म। मृतसंजीवनी=स्वस्वरूपज्ञान।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिवानंद रूपी परमामृत का सेवन करने से मुझमें नित्यतृप्ति की प्राप्ति हुई। परब्रह्म रूपी पारस को साधने से मेरे तन, मन, एवं धन नष्ट हो गए।

जन्ममरण रूपी वृंतसे विविक्त नित्यपरिपूर्ण परमामृत रूपी परिपक्व फल के भक्षण से मैं स्व में विलीन हो गया। अर्थात् अहंकार का नाश हुआ। इन सबको साधने की इच्छा करने पर मेरे ज्ञातृ, ज्ञान एवं ज्ञेय आदि मिथ्यात्व का लय हो गया। इस प्रकार मैं निजानंद को प्राप्त कर सुखी हो गया।

१४६—ओंदु इल्लद बिंदुव, तंदे इल्लद कंदन, माते इल्लद जातन, गमन विल्लद गम्यन, मूवररियद मुग्धन ठाव तोरिसु गुहेश्वरा।

वचन १४६—एक से भी रहित बिंदु का, पिता से रहित पुत्र का, मातृ-विहीन शिशु का, गमनरहित गम्य का गुहेश्वर, ऐसे मोहित का स्थान दर्शाओ जिसे तीनों जन नहीं जानते।

अर्थ १४६—एक से रहित बिंदु=प्रपंचोत्पत्ति के पूर्व वाला चिद्बिंदु। पिता=शिव। माता=शक्ति। पुत्र='शरण'। तीनो जन=ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि चिद्बिंदु जब किसी प्रकार के प्रपंच से संबद्ध नहीं था तब वही 'शरण' देह के रूप में प्रकट हुआ। इसलिये 'शरण' शिवशक्ति के मथन से उत्पन्न न होकर स्वयंभू के रूप में उत्पन्न हुआ। अतः वह निर्गमनी है अर्थात् जन्म-जरा-मरण से मुक्त है। इस अवस्था में यदि गमन करता है तो उसमें गमन भाव नहीं रहता। इसलिये उस शरण को ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र आदि नहीं जान सकते। जो उसका साक्षात्कार करता है वह कृतार्थ हो जाता है।

१४७—पूर्व बीज ब्रह्मचर्यवे ? अरिवुता ब्रह्मचर्यवे ? ज्ञानाज्ञानोदय ता ब्रह्मचर्यवे ? गुहेश्वरा, निम्म शरणर परिणामवे ब्रह्मचर्य ।

वचन १४७—क्या पूर्व बीज ब्रह्मचर्य है, क्या ज्ञान ब्रह्मचर्य है, क्या ज्ञानाज्ञान का उदय ब्रह्मचर्य है, गुहेश्वर, आपके शरणों का परिणाम ही ब्रह्मचर्य है ।

अर्थ १४७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसने माता पिता के शुक्र एवं रज के संयोग से उत्पन्न शरीर का त्याग नहीं किया अर्थात् जिससे उस शरीर की आशा नहीं छूटी है वह यदि ब्रह्मचर्य आदि अनेक प्रकार के व्रत नियम का पालन करता है तो उसके लिये वे सब व्यर्थ हैं । वह ब्रह्मचर्य नहीं जिस प्रकार कोई घटपटादियों का द्वैत रूप से जानता है उसी प्रकार साधक यदि परब्रह्म को द्वैतरूप से अर्थात् स्व से भिन्न रूप में देखता है तो वह शुद्ध ज्ञान नहीं । यह सुज्ञान एवं यह अज्ञान इस प्रकार ज्ञानाज्ञान को जाननेवाला ज्ञान भी शुद्ध ज्ञान नहीं है । क्योंकि उसमें ज्ञानाज्ञान का संबंध रहता है । इसलिये स्वस्वरूप को स्वयं जानकर जो स्वयं शिव हो जाता है उसी का ब्रह्मचारी कहना चाहिए ।

१४८—नेळल हुळिहनेंदु बळलुत्तिदे जगवेल्ल, नेळलुसायबल्लुदे । लिंग प्राणिगळिगे समुद्रदाचेय तडेयल्लि कळ्ळन कंडु इल्लिंद मुनिदु बैदरे अवसाय बल्लने ? भावदल्लि होद्दिद होलिगेय भेदवनरियरु कामिसिदवरुंटे नम्म गुहेश्वर लिंगव ।

वचन १४८—स्वामिन् छाया को गाड़ने के अहंकार में समस्त संसार पीड़ित हो रहा है । क्या अंगजीवियों से छाया की मृत्यु हो सकती है । समुद्र के उस तीर पर रहनेवाले चोर को क्रुद्ध होकर इस तीर से गाली देने पर क्या उस चोर की मृत्यु हो जायगी । भाव में पड़ी हुई सिलाई का रहस्य न जाननेवाले क्या मेरे गुहेश्वर को कामना कर सकते हैं ।

अर्थ १४८—छाया=माया । समस्त संसार=योगी गण । अंगजीवी= मायाधीन पुरुष ।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि संसार में रहनेवाले समस्त योगी माया पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होकर पागल हो गए हैं । यदि उसे माया कहकर जीतना चाहते हैं तो वह और भी भयंकर रूप में प्रकट होती है किंतु

उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। उसका प्रयत्न वैसा ही हास्यास्पद होता है जैसा समुद्र के उस पार के चोर को इस पार से गाली देना। इसलिये जो परब्रह्म को स्व से अतिरिक्त समझकर उसका साक्षात्कार करना चाहता है उसको शिवत्व का लाभ नहीं हो सकता।

१४६—अज्ञानवेंब तोट्टिलोळगे ज्ञानवेंब शिशुव मलगिसि सकल बेद्शास्त्रगळेंब नेणकट्टि हिडिदुतूगि जोगुळवाडुत्तिद्दाळे भ्रान्तियेंब तायि, तोट्टिलु मुरिदु नेणुहरिदु जोगुळनिंदल्लदे गुहेश्वरनेंब लिंगव काणबारदु।

वचन १४६—अज्ञान नामक झूले पर सुज्ञान शिशु को सुलाकर वेद-शास्त्र रूपी रस्सी बाँध करके झुलाते हुए भ्रांति नामक माँ रस्सी को पकड़कर लोरी गा रही है। जब तक झूला एवं रस्सी टूटकर लोरी बंद नहीं होती तब तक गुहेश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

अर्थ १४६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि शरीर के प्रति जिनके अज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई है वे यदि अंतरंग में ज्ञान प्राप्त कर वेद-शास्त्र के बल से वागद्वैत करते हैं तो उनका अद्वैत मायाधीनता का विषय होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसके देह की भ्रांति नष्ट हो जाती है और जिसके भवपाशका निवारण हो जाता है उसी को शिवत्व का लाभ होता है। अन्यथा नहीं हो सकता।

१५०—मोटर मदुविगे भंडरु हरेय होयिदु, मूकोरतेयरु कळसव होत्तरल्ला। उघे, चांगु, भलायेंदु निब्बणनेरेदु हुदम्बुलके मुनिदरिदेनो अय्या? त्रिजगवेल्ला निब्बण होयित्तु गुहेश्वरनरियद हगरणवु।

वचन १५०—स्वामिन् पंगु के विवाह में भंड लोग एकत्र हुए। नकटी स्त्रियों ने कलश एवं आरती उठाई। भला, भला इत्यादि शब्द से जयघोष करते हुए बरात के लोग एकत्रित हुए पर भोजन करते समय क्रुद्ध हो चले गए। गुहेश्वर को न जानकर तीनों लोक बरात में चले गए।

अर्थ १५०—इस वचन का भाव यह है कि जो शिव को जानकर उसके साथ सामरस्य करना नहीं जानता वह अज्ञानी है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे लोगों का व्यवहार वैसा ही हास्यास्पद है जैसा भंडजनों का विवाह।

१५१—ज्योति कंडिरलु कत्तले कंड निधान कंडिरलु बड़तन कंड-प्रसाद कंडुकोंडोडे प्रलयकंड । गुहेश्वरन कंडु इदुभ्रान्ति कंडूया ।

१५१—स्वामिन्, ज्योति को देखने पर भी अज्ञान को देखा । निधान को देखने पर भी दारिद्र्य को देखा, प्रसाद का सेवन करने पर भी प्रलय को देखा । गुहेश्वर, वह सब भ्रांति है ।

अर्थ १५१—प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्वयं ज्योतिस्वरूप होते हुए भी जिसका अज्ञानांधकार नष्ट नहीं होता वह अज्ञानी है । जिसके सान्निध्य में निधान रहते हुए भी जो उसे न जानकर दरिद्रता से चिंतित रहता है वह मूर्ख है । प्रसाद का सेवन करने पर भी जो जन्ममरण पर विजय प्राप्त नहीं करता वह भ्रांत है । 'करस्थल' में 'इष्टलिंग' रहते हुए भी जिसका भवबंधन नष्ट नहीं होता वह अज्ञानी है ।

१५२—जलदोळगे हुट्टि नेलदोळगे हुदुगिदुद केलवलदलिर्दवरेल्ल बल्लरे ! गाळियोळगिप्प ज्योति केडदे इद्दुदनु कंडु नानुबेरगादे बाल-क्रीडेयोळगाडुतिप्प नारिय मक्कळैवरु आरु काणद बावियोळगे बिद्दि-रलु बेरेमत्ते ज्ञानवेल्लियदो ? गुहेश्वरा निम्ननरियद बरियरिविन हिरियरकंडरे नानु नाचुवेनय्या ।

वचन १५२—स्वामिन्, जल में उत्पन्न होकर पृथ्वी में छिपी हुई (वस्तु) को क्या पास पड़ोस में रहनेवाले जानते हैं । वायु में रहने पर भी न बुझनेवाली ज्योति को देखकर मैं चकित रह गया । बालक्रीड़ा में निरत नारी के पाँच पुत्र अदृष्ट कूप में पड़े हैं । गुहेश्वर, अब ज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी । निरर्थक ज्ञानियों को देखकर मैं लज्जित हूँ ।

अर्थ १५२—जल=जल बुद्बुद पिंड । पृथ्वी=शरीर । वायु=प्राणवायु । ज्योति=ज्ञान । बालक्रीड़ा में निरत नारी=भ्रांति-क्रीड़ा करनेवाली माया । पाँच पुत्र=पंचेंद्रियाँ । कूप=संसार रस से भरित विषय रूपी कूप ।

जल बुद्बुद रूपी पिंड से उत्पन्न होकर इस शरीर रूपी भूमि में माया छिपी रहती है उसको कोई नहीं जान रहा है । प्राणवायु के मध्य ज्ञानज्योति तद्गत हो गई है उसे कोई नहीं जान रहा है । जिस प्रकार शिशु अविवेक एवं अप्रबुद्धता से क्रीड़ा करता है उसी प्रकार अंतरंग में माया भी भ्रांति से क्रीड़ा

१५५—आशेएंब शूलदमेले वेषवेंब हेणन कुळ्ळिरिसि धरेय मेलुळ्ळ हिरियरु हिंगेसवेद्रु नोडा। आशेय मुंदिट्टुकौंडु सुळिव हिरियर कंडु हेसिकेयायित्तु गुहेश्वरा।

वचन १५५—'आशा' नामक शूल पर 'वेश' नामक शव को बैठा कर समस्त पंडितगण नष्ट हो गए। गुहेश्वर, आशा को सामने रखकर संचरण करनेवाले पंडितों को देखकर मुझे घृणा हो गई।

अर्थ १५५—इस वचन का भाव यह है कि जिसने आशा रूपी पाश का खंडन नहीं किया और जो स्वयं उसी में बद्ध हो गया है तथा जिसने शास्त्रादि बल से विजय प्राप्त की है वह यदि अपने को ज्ञानी समझकर वागद्वैत करता है तो उसकी भवबाधा नष्ट नहीं होगी।

१५६—धरेयमेलुळ्ळ अरुहरियरेल्लरुभरुल्लु कोंडाडुत्तिद्दारे नोडा? मंजिन मडकेयोळगे रंजनेय खण्डव तुंबि अंजदे पाकव माडिकोंडु उंडु खण्डव मारुत्तिप्परु नोडा? संजीवनेय बेर काणदे मरणकोळगाद्रु गुहेश्वरनरियद भवभारकरेल्लरु।

वचन १५६—देखा स्वामिन्, पृथ्वी में रहनेवाले पंडितगण भ्रांति को लेकर क्रीड़ा करते हैं। हिमपात्र में श्रृंगार खंड (मांस) भरकर निर्भीकता से पाक बनाकर भोजन करके खंड का विक्रय करते हैं। गुहेश्वर को न जानने-वाले समस्त भवभारवाहक संजीवनी के मूल को न जानकर मरणाधीन होकर चले गए।

अर्थ १५६—हिमपात्र=अनित्य शरीर। श्रृंगार खंड=नाना प्रकार का धर्म एवं कर्म। पाक बनाना=तापत्रयाग्नि में पचाना। भोजन करना=दुर्विषय सुख का भोग करना। खंड का विक्रय करना=अज्ञानमूलक व्यवहार करना। संजीवनी=नित्य एवं परिपूर्ण वस्तु।

पृथ्वी में रहनेवाले पंडित भ्रांत होकर अभ्रच्छाया स्वरूप अर्थात् अनित्य शरीर रूपी पात्र में नाना प्रकार की धर्मकर्म रूपी सामग्री भरकर तापत्रय रूपी अग्नि में पाक बनाते हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि लोग इस प्रकार दुर्विषय सुख भोग का अनुभव करते हुए अज्ञान से युक्त वचनों की हाट में व्यापार करते हैं अर्थात् केवल वागद्वैत करते हैं। वे पंडित जन्ममरण से रहित नित्य परि-पूर्ण ज्ञान का न जानकर भवभागी हो गए हैं।

१५७—जगद्कर्तन कैयल्लि हिडिदुकोंडु मनेमनेदप्पदे तिरगुव तुडगुणियंते, काडलागदु भक्तन बेडलागदु भविय। काडियू बेडियू ओड्ल होरेदरे बेंटेय श्वान मोलक्के बायितेरेदंते गुहेश्वरा।

वचन १५७—भक्त को सृष्टिकर्ता को हस्त में लेकर घर घर में घूमनेवाले चोर की भाँति (लोगों को) पीड़ा नहीं देनी चाहिए। 'भवि' से याचना नहीं करनी चाहिए। गुहेश्वर, पीड़ापूर्वक माँग कर उदर भरण करने से शिकारी कुत्ता शशक से माँस की याचना करने की भाँति होता है।

अर्थ १५७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि भक्ति के कारण 'महालिंग' क्रिया-स्वरूप होकर करस्थल में आया है। उसके साथ सामरस्य करने का रहस्य जानकर परमानंद का अनुभव करना चाहिए। किंतु उस 'महालिंग' की महिमा न जानकर जो अन्य वस्तु की कामना करता है वह सर्वदा आशापाश से बद्ध हो जाता है। ऐसे लोग पुनः संसार में आने के भागी बन जाते हैं।

१५८—बाये भगवागि कैये इंद्रियवागि, हाकुव तुत्तुगळेल्ल बिंदु काणि भो। प्रथम विषयविंतिरलु गुहेश्वरा एकोद्वैता।

वचन १५८—स्वामिन्, मुखविवर ही भग एवं हस्त ही इंद्रिय है। देखो (उसमें) डाला जानेवाला ग्रास बिंदु है। उक्त विषय के ऐसे रहते गुहेश्वर, अद्वैत कैसे।

अर्थ १५८—इस वचन का भाव यह है कि जो द्वैत सुख में आसक्त होकर अन्नोदक से उदरपोषण करता है और वचन से कहता है कि 'मैंने समस्त विषयों का परित्याग कर दिया' वह वागद्वैती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसा वागद्वैती न शिवत्व का लाभ कर सकता है और न शिवानंद का अनुभव।

१५९—जानु जंगेयल्लि हुट्टि जंगमरेनिसिकोळबहुदे। आ ठावु हिंगदड़े भंगितनु कंडूया? अंतरंग ओडगूडदनरियरु गुहेश्वरनेंब मीरिद घनवु।

वचन १५९—जानु एवं जंघा से उत्पन्न होकर क्या कोई अपने को 'जंगम' प्रख्यापित कर सकता है। देखो, (जिसके) उन स्थानों का लय नहीं होता वह हास्यास्पद है। अंतरंग का सामरस्य कोई नहीं जानता। गुहेश्वर अतीत एवं घन है।

अर्थ १५६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसके अंतरंग में परिपूर्ण ज्ञान व्याप्त है एवं बहिरंग में शम, दम, शांति, तितिक्षा आदि दिखाई पड़ते हैं और जो सद्भक्ति की भिक्षा माँगते हुए संचरण करता है वही 'जंगम' है। उपर्युक्त लक्षण ही 'जंगम' का लक्षण है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो उपर्युक्त लक्षण से संपन्न नहीं है, जो इस रीति को नहीं जानता और अंतरंग में अज्ञानांधकार को भरकर बहिरंग में कपटवेश धारण कर उपाधि द्वारा व्यवहार करता है वह 'जंगम' स्थल के लिये योग्य नहीं हो सकता।

१६०—जंगम स्थलक्के लक्षणवावुदेंदरे हेळुवे केळिरण्णा। मूरर होलिगेय बिच्चि आरु माडबेकु। आररतिरुळ तेगेदु ओंदरोळगे निलिसबेकु। ऐदर मुसुकनुगिदु ऐदर कळेय केडिसि, ऐदर निलवनडगिसि मूरर मुद्रेव नोडेदु नाल्करोळगे निल्लदे मूरु मुखवु ओंदुभाववागिरबेकु। ई भेदवनरियदे सुळिववर कंडु बेरगादे काणा गुहेश्वरा।

वचन १६०—हे भाईयो, मैं 'जंगमस्थल' का लक्षण कहता हूँ सुनिए—तीनों की सिलाई (बंधन) खोलकर छः बना देना चाहिए। छः का सत्व निकाल कर एक में स्थापित कर लेना चाहिए। पाँचों का अवगुंठन खोलकर पाँचों की कला को नष्ट करते हुए पाँचों की स्थिति को दूर कर देना चाहिए। तीन की मुद्रा तोड़ देनी चाहिए (और) चार में स्थित न होकर तीन मुखों को एक ही भाव में स्थिर कर देना चाहिए। देखो गुहेश्वर, इस रहस्य को न जान कर संचरण करनेवालों को देख कर मैं अचरज में पड़ गया।

अर्थ १६०—तीनों की सिलाई = स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर का रहस्य। छः बनाना=भक्त, महेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी एवं ऐक्य स्थल की स्थापना करना। छः को एक में स्थापित करना=परब्रह्म के साथ सामरस्य करना। पाँचों का अवगुंठन=पंचीकरण में व्याप्त मायापटल। पाँचों की कला=पंचीकरण की पूर्वावस्था। पाँचों का स्वरूप=पंचभूतों का स्वरूप। तीनों की मुद्रा तोड़ना=मन, वाक् एवं काया इन तीन करणों की गाँठ खोलना। चार में स्थित न होना = अंतःकरण चतुष्टय के भ्रम में न रहना। तीन मुख को एक ही भाव में स्थिर करना=ज्ञातृ, ज्ञान एवं ज्ञेय इन अवगुणों को जान कर एक ही भाव में रहना।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'जंगमस्थल' का लक्षण इस प्रकार है—स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण नामक कायत्रय के रहस्य (समूह) को नष्ट करके स्थूल शरीर पर 'भक्त एवं महेश स्थल' की स्थापना करनी चाहिए। सूक्ष्म शरीर पर 'प्रसादी एवं प्राणलिंगी स्थल' की स्थापना करनी चाहिए। कारण शरीर पर 'शरण एवं ऐक्य स्थल' की स्थापना करनी चाहिए। अर्थात् षट्स्थल से संपन्न (युक्त) हो जाना चाहिए। पश्चात् उन सबका परब्रह्म के साथ सामरस्य कर लेना चाहिए। पंचीकरणों में व्याप्त पूर्व कला एवं मायापटल को दूर करके उनके स्वरूप को भंग करना चाहिए। अनंतर मन, वाक् एवं काया इस त्रिविध की मुद्रा खोल कर अंतःकरण चतुष्टय के भ्रम में न पड़ना चाहिए और ज्ञातृ, ज्ञान एवं ज्ञेय के कुत्सित गुणों को जान कर उन तीनों का एकीकरण कर लेना चाहिए। इस रहस्य को जो जानता है वही 'जंगम' है। वह जहाँ संचरण करता है उस स्थान के प्राणी पवित्र एवं कृतार्थ हो जाते हैं। यदि इस मर्म को न जान कर केवल वेश धारण कर संचरण करता है तो वह दांभिक एवं प्रवंचक कहलाता है।

१६१—हगलनिरुळ माडि इरुळ हगल माडि, आचारव अनाचारव माडि, अनाचारव आचारवमाडि, भक्तर भविय माडि, भविय भक्तरमाडि नुडिववर मातु केळलागदु गुहेश्वर।

वचन १६१—गुहेश्वर, दिन को रात्रि, एवं रात्रि को दिन, अनाचार को आचार एवं आचार को अनाचार और भक्त को भवी एवं भवी को भक्त कह कर भाषण देनेवालों की बात नहीं सुननी चाहिए।

अर्थ १६१—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो अपने उदर के निमित्त संचरण करता हुआ लोगों के पास जाता है और वे लोग राग धन कनकादि वस्तु देते हैं तो उनके भक्त न होने पर भी उन्हें वह भक्त कहता है। यदि वे नहीं देते तो भक्त होने पर भी भक्तिहीन कहकर उनकी निंदा करता है। जो अन्नोदक देकर फल की आकांक्षा करनेवालों को सद्भक्त कहकर स्तुति करता है, जो आचार को अनाचार एवं अनाचार को ही आचार बना कर स्वेच्छा-पूर्वक व्यवहार एवं भाषण करता है वह निरर्थक जीव है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार का प्रवंचक 'जंगमस्थल' के लिये कदापि योग्य नहीं हो सकता।

१६२—इष्टलिंगक्के तोरि मृष्टान्नव होडेदवरिगे इष्टार्थ सिद्धि एल्लियदो ? अदेल्लिहुदो लिंग । अदेल्लिहुदो जंगम ? अदेल्लिहुदो प्रसाद, पादोदका अल्लद आटव माडि एल्लरू मुंदुगेट्टरु गुहेश्वरा ।

वचन १६२—स्वामिन्, 'इष्टलिंग' के लिये दिखाकर मिष्टान्न का भक्षण करनेवालों को इष्टार्थ की सिद्धि कैसे होगी। वह शिव कैसा है। उसमें जंगमत्व कहाँ है। पादोदक एवं प्रसाद कहाँ है। गुहेश्वर, आपकी शपथ है दुराचरण करके सब लोग मतिभ्रष्ट हो गए।

अर्थ १६२—इस वचन का भाव यह है कि जो करस्थल में 'इष्टलिंग' धारण कर औपधिक पूजा करते हुए उसके बल से उदरपोषण करता है वह अज्ञानी है। वह गुरु 'लिंग', 'जंगम', पादोदक एवं प्रसाद की महिमा नहीं जान सकता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार उपाधि से उदरपोषण करने-वालों को गुरु, 'लिंग', जंगम एवं प्रसाद की प्राप्ति नहीं।

१६३—कंकुळवेंबुदु बाय बगदळ। अंगसोंकेंबुदु केट्ट हुण्णु अमलोदकवेंबुदु नेत्तिय मृत्यु। कंठवेंबुदु गंटलगाण। मत्ते गुहेश्वरन मातु निमगेको।

वचन १६३—देखो, कक्ष चर्म की जन्मभूमि है 'करस्थक' दुष्ट व्रण हैं कंठविवर कंठनाली है। अंगस्पर्श पाप का मूलस्थान है। उत्तमांग शिर की मृत्यु है। कंठ बंधन है। तब आपके लिए गुहेश्वर की प्राप्ति कैसे।

अर्थ १६३—इस वचन का तात्पर्य वह है कि जो सर्वांग रूपी हस्त में महाज्ञान रूपी 'शिवलिंग' का धारण करता है वही 'शरण' है। इस मर्म को न जान कर जो अज्ञानदीक्षा से कक्ष, करस्थल, उत्तमांग, मुखविवर, एवं कंठ आदि स्थलों में 'लिंग' धारण करता है वह कपट वेशधारी कहलाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे दांभिक लोगों की अंगप्रकृति (माया) का नाश नहीं हो सकता और वे शिवत्व का लाभ नहीं कर सकते।

१६४—अरिवु अरिवेनुतिप्पिरि, अरिवु सामान्यवे? हिंदण हेज्जेय नोडि कंडल्लदे निंद हेज्जेय नरियबारदु। मुंदण हेज्जे अळिदल्लदे ओंदुपाद नेलेगोळ्ळदु। नेलन बिट्टु आकाशदल्लि निंदु मुगिलोळगे मिंचिदल्लदे तानागबारदु गुहेश्वरनेबुदु बरिदे बरिदे हेळिरे।

वचन १६४—(तुम) ज्ञान, ज्ञान कहते हो, क्या ज्ञान सामान्य है। अतीत के पदचिह्न का साक्षात्कार किए बिना वर्तमान का पदचिह्न नहीं देख सकते। अग्रिम पद का नाश हुए बिना एकत्वपाद की स्थापना नहीं हो सकती। पृथ्वी को छोड़कर अंतरिक्ष में स्थित हो गगन में चमके बिना (कोई) स्वस्वरूप में नहीं आ सकता। बताओ क्या गुहेश्वर की प्राप्ति निर्मूल्य होगी।

अर्थ १६४—पृथ्वी=शरीर। अंतरिक्ष=माया। गगन=आत्मतत्त्व अतीत का पदचिह्न=पर शिवतत्त्व। वर्तमान का पदचिह्न=वर्तमानस्थिति। अग्रिम पाद=संसार में आने की इच्छा। एकत्वपाद=परब्रह्म की स्थिति।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब तक 'पहले मैं शिवतत्त्व के रूप में ही था' इस प्रकार का ज्ञान जिसको नहीं होता तब तक उसको वर्तमान अवस्था (अपनी स्थिति) का ज्ञान नहीं हो सकता। जब तक सांसारिक इच्छा की निवृत्ति नहीं होती तब तक शिवसामरस्य की प्राप्ति नहीं होती। देह रूपी भूमि के धर्म को नष्ट कर जो आत्मतत्त्व में स्वस्थ हो जाता है और माया का निवारण कर लेता है वही शिवतत्त्वस्वरूप हो जाता है। इस निर्णय को जो नहीं जानते वे शिवत्व का लाभ नहीं कर सकते।

१६५—हरिदु हत्ति मुट्टि हिडिदिहेवेंदु जारि उरुळिबिद्दरु अनंतरु। हिडिदवरेल्ल हेणनुंडु होदरु। नाहिडिद बंडि ओड बडियायित्तु गुहेश्वरा।

वचन १६५—'हम ग्रहण करेंगे स्पर्श करेंगे' कहते हुए कूद कूदकर आरोहण करनेवाले अनंत लोग प्रस्खलित होकर गिर पड़े। जिन्होंने ग्रहण किया वे सब शव का भक्षण कर चले गए। गुहेश्वर, मैं जिस रथ पर बैठा था वह मेरे साथ लग गया।

अर्थ १६५—आरोहण करनेवाले=देह धारण करनेवाले। गिर पड़ना=देह धर्म में पड़े रहना। शव का भक्षण=देहधर्म से प्राप्त सुख।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्वस्वरूप को न जान कर जो परब्रह्म को जानने एवं ग्रहण करने का दंभ भरते हैं वे सब द्वैती हैं। वे सब परब्रह्म से अलग रह-कर देहधर्म में पड़ गए हैं। इसलिये उस देहधर्म की अधीनता में जिन्होंने मृतप्राय संसार सुख का अनुभव किया वे भी मृत हो गए। अतः इस रहस्य को जान कर मैंने परब्रह्म के साथ सामरस्य कर लिया। फलस्वरूप मेरा शरीर रूपी रथ भी मेरे साथ लग गया। अर्थात् शरीर का नाश नहीं हुआ।

१६६—आदि आधार तनुगुण उळ्ळन्नक्कर समतेयेंबुदेक्को। काल कल्पित उपाधियुळ्ळन्नक्कर शीलवेंबुदु भंग, काम बेंबुदुर बेंबळिय कूसिन हुसिय तानेंदु तिळिदन्नक्कर गुहेश्वरा निस्मनामक्के नाचदवर नानेनेंबेनय्या।

वचन १६६—जब तक आदि आधार आदि शारीरिक गुण है तब तक समता कैसे (मिलेगी)। जब तक कालकल्पित उपाधि है तब तक आचार को आचार कहना हास्यास्पद है। गुहेश्वर, स्व को काम का अनुयायी शिशु एवं माया का पुत्र न समझकर आपके नाम से लज्जित न होनेवाले लोगों को मैं क्या कहूँ।

अर्थ १६६—आदि=शरीर। आधार=प्राण।

इस वचन का भाव यह है कि जिनके शरीर एवं प्राण की सत्ता वर्तमान है उनको समता की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक कालकल्पित व्यवहार है तब तक अंग में आचार की प्राप्ति नहीं हो सकती। संसार का भोगविलास करनेवाला जब तक अपने को अज्ञानी के रूप में नहीं समझ सकता और जब तक उसका परित्याग नहीं कर सकता तब तक वह शिवत्व का लाभ नहीं कर पाता।

१६७—मद्य माँसादिगळ मुट्टेनेंदेबिरि नीबुकेळिरे। मद्यवल्लवेनु अष्टमदंळु? मांसवल्लवेनु संसार संगवु? ई उभयवनतिगळेदातने गुहेश्वर लिंगदल्लि लिंगैक्यनु।

वचन १६७—हे, मांस एवं मदिरा का स्पर्श न करनेवालो सुनो, क्या अष्टमद मदिरा नहीं है। क्या संसार का संग मांस नहीं है। जो इन दोनों का परित्याग करता है वही गुहेश्वर से सामरस्य कर सकता है।

अर्थ १६७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो अष्टमदों का भोग कर 'कोऽहम्' ज्ञान से रहित होकर मदमत्तता से घूमता है वही मद्यप है। अष्टमद का भोग ही सुरापान है। मायिक शरीर का सुख मांस के समान है। पर उस शरीर के लोभ के कारण जो उससे प्राप्त सुख के लिये मोहित होकर उस सुख का भोग करता है वह मांसाहारी है। जो इन उभय वृत्तियों का नाश करके शिव-सामरस्य प्राप्त करता है वही 'शरण' है।

१६८—दारिगोंडु होदवरेल्लरू नीबुकेळिरे। मूरुबट्टे कूडिद ठाविनल्लि ओब्ब हेम्मारि इद्दाळे। आमारिय बायोळगे मूरुघटविप्पवु, नंजिन सोने सुरियुत्तिप्पुदु। काळकोणन मुखदल्लि कत्तले काणली-सदु। ऐबाय हुलि अगलिसुत्तिप्पुदु। इवेल्लव गेद्दल्लदे गुहेश्वरन काणबारदु।

वचन १६८—हे मार्ग के सहारे यात्रा करनेवालो, सुनो, मार्ग के त्रिकूट में एक महामाया बैठी है। उसके मुख में तीन पर्वत हैं। उनसे विषरस स्रवित होता है। वन्य महिष के मुख में अंधकार व्याप्त है अतः (मार्ग) नहीं दिखाई पड़ता। पंचमुखी व्याघ्र जँभाई ले रहा है। इन सब पर विजय प्राप्त किए बिना गुहेश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

अर्थ १६८—मार्ग का त्रिकूट=कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग। तीन स्त्री=कांचन, कामिनी एवं भूमि। विषरस=विषय रस। वन्य महिष=भवारण्य में रहनेवाला जीव। अंधकार=अज्ञान। पंचमुखी व्याघ्र=पंचभूतेंद्रिय रूपी मुख वाला कालव्याघ्र।

इस वचन में प्रभुदेवजी 'जंगम' वेश धारण कर परब्रह्म को जानने की अभिलाषा से संसार में संचरण करनेवालों का यह विवरण दे रहे हैं—संसार में संचरण करनेवाले 'जंगम' के सामने कर्म, भक्ति एवं ज्ञान ये तीन मार्ग आते हैं। जहाँ ये तीनों मिलते हैं वहाँ एक महामाया है। उस माया के मुख में कांचन, कामिनी एवं भूमि रूपी तीन पर्वत हैं। उन पर्वतों से विषम संसार का विषयरस रूपी विषजल बहता रहता है। संसार में जो संचरण करता है वह जीव रूपी पशु है। उसके सामने अज्ञान रूपी अंधकार व्याप्त है अतः वह भवारण्य में मार्ग भूल गया है। उस मार्ग में पंचभूतेंद्रियों के मुख वाला काल रूपी व्याघ्र जँभाई ले रहा है अर्थात् अत्युग्र हो गया है। इसलिये जो इन सब दुरूह पर्वतों को पार करेगा वही 'शिव'-साक्षात्कार कर सकता है, अन्यथा नहीं।

१६९—जंगम घनवेंबेने? बेडिकिरिदायित्तु, लिंगघनवेंबेने कल्लु कुटिकन कैयल्लि माडिसिकोंडु किरिदायित्तु। भक्तघनवेंबेने तनुमन, धनदल्लि वंचकनागि किरिदायित्तु। इंतुत्रिविधदल्लि परिणाम विल्ल, परमार्थविल्ला घनवबल्लवरारो गुहेश्वरा।

वचन १६६—क्या 'जंगम' को महान् कहूँ याचना से वह अल्प हो गया है। क्या 'शिवमूर्ति' को महान् कहूँ, शिल्पी के द्वारा निर्मित होकर वह छोटा हो गया है। क्या भक्त को महान् कहूँ तन, मन एवं धन में वंचक बन कर वह छोटा हो गया है। इस प्रकार 'त्रिविध' में परिणाम नहीं है, परमार्थ भी नहीं है। गुहेश्वर धन को कौन जानता है।

अर्थ १६६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो 'जंगम' उपाधि से युक्त है जो 'लिंग' उपाधि के 'करस्थल' में है और जो भक्त उपाधि द्वारा पूजा करता है वे सब परमार्थ के लिये योग्य नहीं हैं। जो इस त्रिविध उपाधि का परित्याग करता है वही परमार्थी है।

१७०—भक्तरेल्लरु लंदणिगरागि होयित्तु। जंगमवेल्लवु उप जीविगळागि होयितु। इदेनु, इदेन्तु? अरियबारदु कायगुण नास्तियादाता भक्त। प्राणगुण नास्तियादाता जंगम उळिद्वेल्लवु सटेयेंबे गुहेश्वरा।

वचन १७०—भक्तगण त्रिशंकु हो गए। 'जंगम' उपजीवी बन कर चले गए। इसे नहीं जान सकते कि यह क्या है और कैसा है। जिसका कायगुण नष्ट है वह भक्त है जिसका प्राणगुण नष्ट है वह 'जंगम' है। गुहेश्वर, अन्य सब मिथ्या है।

अर्थ १७०—प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'जो जंगम है उसकी सेवाशुश्रूषा करूँगा, शिवपूजा करूँगा' इत्यादि कर्मप्रपंच में पड़कर भक्तगण नष्ट हो गया। 'जंगम की सेवा करनेवाला ही भक्त है' कहकर उपाधि द्वारा उस भक्त की सेवा स्वीकार करने के अभिलाष से संचरण करनेवाला 'जंगम' उसी उपाधि में पहुँच गया। अर्थात् उदरपोषणार्थ संचरण करके उपजीवी बन गया। ये दोनों (भक्त 'जंगम') स्वस्वरूप को नहीं जानते। जिसका अंग-गुण नष्ट हुआ है वही भक्त है जिसके प्राणगुण का नाश हुआ है और जिसमें सुज्ञान व्याप्त है वही 'जंगम' है। अन्य वेशधारी दांभिक है।

१७१—ज्ञानद उब्बु कोब्बिनल्लि नुडियुत्तिप्पवरिगेल्ल नाम नास्तियागदु। तनुगुण नास्तियागदु। करणादि गुणगळु नास्तियागवु। इदेत्तण उलुहो? गुहेश्वरा।

वचन १७१—स्वामिन्, ज्ञान के मद में जो बढ़ चढ़कर वागद्वैत करते हैं उनके नाम रूप का नाश नहीं हो सकता, उनके शारीरिक एवं करणादि गुणों का नाश नहीं हो सकता। गुहेश्वर (उनका) यह कैसा संचरण है।

अर्थ १७१—इस वचन का भाव यह है कि जिसके शारीरिक गुण का एवं मन के अज्ञान का नाश नहीं हुआ और 'इष्टलिंग' के प्रति व्यामोह नहीं छूटा, वह यदि अभ्यास के बल से ज्ञान की बात करता है तो अज्ञ है।

१७२—जगवंद्यरेंदु नुडिवरु, नोडा ? भव बंधनद कुणिकेय कळियलरिरु नोडा। भव तम्मतम्म तुळिदुकोंडित्तु नोडा। शब्द वेदिगळेंदु नुडिदु नडेवरु नोडा। निश्शब्द वेदिसदिद्दरे गुहेश्वर नोडि नगुतिप्प नोडा।

वचन १७२—देखो स्वामिन्, (लोग) अपने को जगद्वंद्य के रूप में प्रख्यापित करते हैं पर भवबंधन खालना नहीं जानते। देखा, भव ने सबको पददलित कर निगरण कर लिया। 'शब्दवेदी' कहकर व्यवहार करते हैं पर 'निःशब्दता' का संबंध न होगा तो उनको देखकर गुहेश्वर हँसेगा।

अर्थ १७२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि स्वस्वरूप का साक्षात्कार करने के पश्चात् जो निःशब्दवेदी होता है वही जगद्वंद्य है। पर इस रीति को न जानकर जो अपने को पंडित कहता है वह भवपाश से बद्ध हो जाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे लोगों को देखकर मुझे हँसी आती है।

१७३—लोकदवरनोंदु भूत हिडिदडे आभूतदिच्छेयल्लि नुडिउत्तिप्परु। लांछन धारि वेषव धरिसि आसेयिंद घासियागलेकय्या ? आनेय चोहव तोट्टु नायागिबोगळुवर नेनेंबे गुहेश्वरा।

वचन १७३—स्वामिन्, संसार के लोग प्रेत से ग्रस्त होने पर उसी के इच्छानुसार बात करते हैं। (तुम) कपटवेश धारण कर आशा से क्यों नष्ट हो रहे हो। गुहेश्वर, गजचर्म धारण कर श्वान की भाँति भूकनेवालों को मैं क्या कहूँ।

अर्थ १७३—ग्रह=माया। गजचर्म=शरीर। श्वान=अज्ञानी।

इस वचन का अभिप्राय यह है कि जिसके अंतरंग में शिवज्ञान व्याप्त होता है उसका व्यवहार शिवव्यवहार, उसकी भाषा शिवभाषा एवं उसका

आचार शिवाचार हो जाता है। यही सत्पथ है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को न जान कर जो शारीरिक विकारों से युक्त व्यवहार, भाषण एवं आचरण करता है वह शिवत्वलाभ से वंचित रहता है।

१७४—एनेंदरियरु एतेंदरियरु बरुमातिन ब्रह्मवनाडुत्तिप्परु। रुद्रनोसलगरण किच्चिनोळगे त्रिपुरव सुडलरियदे कामन करण किच्चिनोळगे त्रिपुरवसुडुत्तिप्परु। भूमि आकाशव मेट्टि कामगणंगळ कूड़ कादि गेललरियदे नीलगिरिय मेले ऩंदु उलिव उय्यलेय नाडुत्तिप्परय्या ? गुहेश्वरा निम्मनरिदिहवेंबरेल्ला बहुदूर होदरय्या।

वचन १७४—स्वामिन्, (लोग) नहीं जानते कि वह क्या है और कैसा है। व्यर्थ ही ब्रह्माद्वैत की बातें करते हैं। रुद्र के फालनेत्र की अग्नि से त्रिपुर का दहन करना नहीं जानते और कामनेत्र की अग्नि से त्रिपुर का दहन करते हैं। भूमि, आकाश का दलन कर कामविकारों के साथ संघर्षपूर्वक उन पर विजय प्राप्त करना नहीं जानते और नीलगिरि पर दोलायमान भूला भूलते हैं। गुहेश्वर, आपको जानने का दंभ भरनेवाले बहुत दूर चले गए।

अर्थ १७४—रुद्र का फालनेत्र=शिव का तृतीय नेत्र शिवाहंकार का ज्ञानचक्षु। त्रिपुर=शरीरत्रय (स्थूल, सूक्ष्म, कारण)। कामनेत्र=विषयाग्नि.। भूमि=अनात्मा। आकाश = आत्मतत्त्व। नीलगिरि = अज्ञानाहंकार। भूला= शब्दाडंबर (वागद्वैत)।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो परब्रह्म के साक्षात्कार के बिना उस ब्रह्म की बातें करता है वह वागद्वैती है। 'अहंकारस्तथारुद्रः' उक्ति के अनुसार शिवाहंकार के ज्ञाननेत्र से स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरत्रय का दहन करना चाहिए। पर वागद्वैती इस रहस्य को न जान कर विषयाग्नि में शरीरत्रय का नाश करता है। अनात्मा एवं आत्मा इन दोनों तत्वों का लयपूर्वक कारण गुणों का भी नाश करना चाहिए। किंतु इसे न जान कर लोग अज्ञानाहंकार के पर्वत पर शब्दाडंबर के भूले में भूल रहे हैं। ऐसे लोग शिवानंद के बिना पुनर्जन्म के अधिकारी बनकर चले जाते हैं।

१७५—गगनद मेघंगळेल्ल सुरिदु भूमिय मेले, भूमिदणि युंडु

ससिगळेल्ल बेळेद्वे। बहुविकारदिंद बेळेद ससिय विकारदिंद अहि-सुव कामविकारिगळु लिंगवनेत्त बल्लरु गुहेश्वरा।

वचन १७५—गगन के समस्त मेघों के वर्षा करने से पृथ्वी तृप्त हो गई। सम्पूर्ण शस्य फलभरित हो गए। गुहेश्वर, नाना विकारों से परिपुष्ट उन शस्य फलों का भोग कर कामविकारी होकर घूमनेवाले शिव को कैसे जानेंगे।

अर्थ १७५—इस वचन का भाव यह है कि जो कामविकार से उत्पन्न हुआ है और पुनः उसी कामविकार का भोग करते हुए मत्त हो गया है वह शिव-साक्षात्कार नहीं कर सकता।

१७६—मरनुळ्ळन्नक्कर एले उलिवुद माबुदे? शरीर उळ्ळन्नक्कर विकार माबुदे अय्या? सुळहु उळ्ळन्नक्कर सूतक हिंगुवदे गुहेश्वरा।

वचन १७६—स्वामिन्, जब तक वृक्ष का अस्तित्व है तब तक क्या पत्रों का कंपन बंद होगा। जब तक शरीर है तब तक क्या विकारों का लय होगा। गुहेश्वर, जब तक आवागमन है तब तक क्या दोष की निवृत्ति होगी।

अर्थ १७६—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसने शिव के साथ सामरस्य कर लिया उसमें किसी प्रकार का शारीरिक विकार नहीं रहता। जो सामरस्य नहीं करता उसका मूलाहंकार नष्ट नहीं होता।

१७७—अरिविन बलदिंद केलबरु अरियदवर गेलबेकेंदु बरु-मातिन उय्यलेयनेरि ओदलु ओरलि केडुव दरिद्ररु अरिवुतोरदे इरबेकु। कायनिर्णय निष्पत्तिपंबातनु सोंकिन सोजिगवेंब परिणते फलिसबेकु। अरिवुतोरदे परडेम्ब भिन्न वेषव तोट्टु डंभकब नुडिदिह उद्दंडर गुहेश्वर कंडडे कनलुव।

वचन १७७—देखो, कुछ लोग ज्ञान के बल से अज्ञानियों पर विजय पाने की कामना से मिथ्या वचनों के झूले पर आरूढ़ होकर चिल्लाते हैं और व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं। ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। जिसकी काया की निष्पत्ति (सिद्धि) हुई है उसके स्पर्श से परिणाम की

प्राप्ति हो जानी चाहिए। ज्ञान के साक्षात्कार के बिना द्वैत रूपी वेश धारण कर अहंकार से भाषण करनेवालों को देख कर गुहेश्वर दुःखी होता है।

अर्थ १७७—इस वचन का अभिप्राय यह है कि जो स्वयं अपने स्वरूप को न जानकर दूसरों से ज्ञान प्राप्त करता है और उससे अपने को बड़ा अनुभावी (ज्ञानी) समझता है वह अज्ञ है। क्योंकि यदि किसी को काय-विकारों की सिद्धि हो गई है तो उसे ज्ञान की भिन्न प्रतीति नहीं होनी चाहिए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को जो नहीं जानता वह शिवद्वेषी है।

१७८—होमव माडुवर कंडे, । होगेय निलिसुवर काणे । दूरदारिय नडेवरकंडे, कालुगळ नुंगुवर काणे । अरलुत्त बोब्बेगेट्टु रणदोळगे अळिदु मुंडमुंदे नडेदाडुवर कंडे । हरिदसिरव हिडिदु कुणिदाडुववर काणे गुहेश्वरा ।

वचन १७८—स्वामिन्, मैंने होम करनेवालों को देखा पर धूम रोकने-वालों को नहीं देखा। अति दूर मार्ग पर चलनेवालों को देखा, पाद का निगरण करनेवालों को नहीं देखा। समर में मृत होकर संचरण करनेवाले व्याकुल एवं चिल्लाते हुए कबंध को देखा। गुहेश्वर; कटे हुए शिर लेकर नृत्य करनेवाले किसी का मैंने नहीं देखा।

अर्थ १७८—होम=ज्ञानाग्नि में शरीर का दहन। धूम = रोष, हर्ष, वैराग्य। व्याकुल होकर चिल्लाना = वागद्वैत करना। समर = प्रपंच का प्रलय। कबंध=प्रपंच। कटा हुआ शिर=मायाकर्म से रहित सुज्ञान।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि लोग सुज्ञानाग्नि में शरीर नामक शुष्क काष्ठ का दहन करते हैं पर रोष, हर्ष एवं वैराग्य आदि धूम को रोकनेवाला कोई नहीं दिखाई पड़ता। ज्ञान के मद में मत्त होकर वागद्वैत करते हुए प्रलय-काल में सब लोग नष्ट हो जाते हैं और पुनर्जन्म के प्रपंच नामक घट का धारण कर संसार में आते हैं—पुनः उसी प्रकार व्यवहार करते हैं। सर्वत्र इसी प्रकार के लोग दृष्टिगोचर होते हैं। किंतु समस्त कर्मबंधनों को छेद कर दृढ़ भाव से सुज्ञान धारण करनेवाला एवं स्वलीला से परमानंद में क्रीड़ा करनेवाला कोई नहीं है।

१७९—होन्न तूगिद त्रासु कट्टळे होन्निगे सरियप्पुदे ? सन्निहित रादेवेंब नुडिगे नाचरु नोडा ! कन्नदल्लि सवेद कब्बुनदंते मुन्न होद हिरियरु लिंगद सुद्दियनरियरु । इन्नारु बल्लरु हेळा गुहेश्वरा ।

वचन १७९—स्वामिन्, सुवर्ण तोलनेवाला तुलायंत्र (तराजू) क्या सुवर्ण तुल्य होता है । देखो, सामरस्य करने का दंभ भरनेवाले अपने वचनों से लज्जित नहीं हो रहे हैं । सेंध मारने में घिसे हुए लोहे की भाँति अतीत में गए हुए वृद्ध लोग शिव का समाचार नहीं जानते । बताओ गुहेश्वर, तब कौन जानता है ।

अर्थ १७९—इस वचन का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सुवर्ण तोलनेवाला तुलायंत्र या बटखरा सुवर्ण के समान नहीं हो सकता उसी प्रकार जो शिवानुभाव को सीखकर शब्द द्वारा मनचाहे भाषण करता है और कहता है कि 'मुझे शिवज्ञान की प्राप्ति हो गई' वह शिवसामरस्य से बहुत दूर है । प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे वागद्वैती सेंध मारने में घिसे हुए लोहे की भाँति वृथा नष्ट होते हैं ।

१८०—शब्दियादात तरुगळ होत, निःशब्दियादात पाषाणव होत कोपियादात अग्नियहोत । शान्तनादात जलव होत बल्लेनेंबात इल्लवेय होत । अरिवेनेंबात पशुवहोत । इदुकारण अरियेनेन्नदे बल्लेनेन्नदे अरिविन कुरुहनळिदुळिदु गुहेश्वरनेंब लिंगव होतवरनारनूकाणे ।

वचन १८०—स्वामिन्, जो शाब्दिक (शब्द का व्यवहार करनेवाला) है वह वृक्ष तुल्य है । जो निःशब्दी है वह पाषाण-तुल्य है । जो शांत है वह जल के समान है । जो क्रोधी है वह अग्नि के समान है । जो जानने का दंभ भरता है वह अभाव के समान है । जो ज्ञान का अहंकारी है वह पशु-तुल्य है । अतः जानना, देखना इत्यादि ज्ञान के प्रतीक का परित्याग करते हुए गुहेश्वर के समान रहनेवाला मुझे कोई नहीं दिखाई दिया ।

अर्थ १८०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि परब्रह्म में स्वस्वरूप को देख कर जो उसके साथ अपना सामरस्य कर लेता है और स्वयं प्रकाशमान होकर उस प्रकाश को सर्वत्र व्याप्त करता है वही 'शरण' है । प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस मर्म को न जान कर केवल ज्ञान के द्वारा व्यवहारमार्ग

बतानेवाले नाना प्रकार के पंथी (शास्त्री) शिवसामरस्य से दूर हैं, अर्थात् वे शिवत्व का लाभ कर उसका आनंद नहीं ले सकते।

१८१—नादद उत्पत्ति स्थितिलयवनु हेळिदडेनु केळिदडेनु ? एले-मरुळे ? बिंदु धवळद उत्पत्ति स्थिति, लयवनु हेळिदडेनु एलेमरुळे ? मुगिलगलद अंबरवायुवु अग्नि जल धरे होत्तुकोंडु अवहेळिदडेनु केळिदडेनु ? एकेमरुळे ? गुहेश्वर लिंगद बोधेगोळगागि मागि इवेल्ल-वनुंटु माड़लरियनागि एनगिल्लवेनुतिर्देनय्या।

वचन १८१—हे पागल, नाद की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के विषय में कहने सुनने से क्या होता है। बिंदुधवलता की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय को बताने से क्या होता है। हे पागल, अंतरिक्षसदृश विस्तारवाले आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी को वहन कर उनके विषय में कहने सुनने से क्या होता है। गुहेश्वर के उपदेश के अधीन रहकर मैंने इन सबका संपादन नहीं किया, अतः ये सब मुझमें नहीं हैं।

अर्थ १८१—प्रभुदेवजी कहते हैं कि शब्द के अधीन रहकर जो नाद के स्वरूप का वर्णन करता है उसका ज्ञान निष्प्रयोजन है। जो मांस बिंदु के अधीन रहकर बिंदु के स्वरूप का वर्णन करता है अर्थात् उसकी उत्पत्ति, स्थिति, लय का निरूपण करता है उसका ज्ञान अप्रयोजक है। जो स्वयं संसार के बंधन में पड़ा रहकर भी कला का निरूपण करता है और जो स्वयं पाँच भौतिक पिंड को धारण करने पर भी उन पंच भूतों की उत्पत्ति स्थिति, लय का निरूपण करता है उसका ज्ञान व्यर्थ है। उपर्युक्त सब गुणों के संग का परित्याग न करने के कारण मैं उनका निरूपण नहीं कर सका। उनको जान कर परित्याग करने के पश्चात् यदि कोई उनके विषय में कुछ कहता है तो वह भी शोभा नहीं देता।

१८२—मुंदणूरिगे बट्टे इदे होगेंदोडे अंधकनेनुबल्लनुहेळा ? संग्रामदल्लि ओडिद हंदे गेलबल्लने हेळा ? निंदनिलविन मडुव कंदनीसाड बल्लने हेळा ? गुहेश्वरनेंब निराळद घनव पंचेंद्रिक नेत्तबल्लनु गुहेश्वरा।

वचन १८२—'पुरोवर्ति ग्राम में जाने का (वह) मार्ग है, जाओ' कहने से क्या अंधा (वहाँ) जा सकता है। कहो, युद्धभूमि से भागा हुआ कायर

क्या विजय प्राप्त कर सकता है। बताओ, अगाध जलाशय में क्या शिशु तैर सकता है। बताओ, 'गुहेश्वर' इस धन को क्या पंचेंद्रिय के अधीन रहनेवाला जान सकता है।

अर्थ १८२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नगर में जाने के लिये अंधे से कहने पर भी वह मार्ग को देख नहीं सकता, जिस प्रकार कायर विजय की प्राप्ति नहीं कर सकता और शिशु अगाध जल को पार नहीं कर सकता उसी प्रकार जो पंचभूतों के संग से दूर नहीं हुआ है और जिसने उनके सुख का परित्याग नहीं किया वह सांसारिक जीव 'लिंग' की महत्ता नहीं जान सकता।

१८३—गगनद मेघंगळु सुरिदक्किल ओंदुहिरिय केरे तुंबित्तु। आकेरेगे एरिमूरु अल्लि ओळगे हत्तु भावि। होरगे ऐदुभावि। आ-एरियोळगे ओंबत्तु तुंबनुच्चिदरे आकाशवेल्लवु जलमयवायित्तु। तुंबिद जलवनुंडुंडु बंदु अंजदे नुडिव भंड योगिगळनेनेंबे गुहेश्वरा।

वचन १८३—गगन के समस्त मेघों की वर्षा हो जाने से एक बड़ा तड़ाग भर गया। उस तड़ाग की तीन मेड़ें हैं। उनके भीतर दस कूप हैं। बाहर पाँच कूप हैं। उन मेड़ों के नव छिद्रों को खोल देने से संपूर्ण आकाश में जल भर गया। उस जल का पान करके यहाँ आ आकर निर्लज्जता से भाषण करनेवाले भंडयोगियों को गुहेश्वर, मैं क्या कहूँ।

अर्थ १८३—गगन=आत्मतत्त्व। मेघ=माया। वर्षा=संसाररस। तड़ाग=तीन शरीर की समष्टि। तीन मेड़ें=स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर। दस कूप=दस नाड़ियाँ। पाँच कूप=पंचविषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध)। नव छिद्र=नव नलिका। जल=संसाररस। आकाश=ब्रह्मांड।

आत्मतत्त्व से माया के आडंबर रूपी मेघ की उत्पत्ति हुई। उसने संसाररस रूपी वर्षा की। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर रूपी मेड़ों ने उस जल को रोक लिया और स्वयं उस जल का यथेष्ट पान कर लिया। उन तीन शरीरों में दस नाड़ी रूपी विषय कूप हैं। उनके बाहर पंचविषय रूपी पाँच कूप हैं। उस शरीरत्रय में नव नाड़ी रूपी छिद्र हैं। उनको खोलने से संसार-विषयरस रूपी जल ब्रह्मांड में भर गया है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस संसाररस रूपी जल का सेवन कर जो वागद्वैत करते हैं वे सब भंड हैं।

१८४—रूपवने कंडरु निरूपवने काणरु। अनुवने कंडरु, तनुवने काणरु। आचारवने कंडरु, विचारवने काणरु। गुहेश्वरा निम्म कुरुहने कंडरु कूडलरियदे केट्टरु।

वचन १८४—(लोगों ने) रूप को देखा, निरूप को नहीं देखा। कारण को देखा शरीर को नहीं देखा। आचार को देखा, विचार को नहीं देखा। गुहेश्वर, तुम्हारे प्रतीक को देखा, पर सामरस्य करना न जानकर नष्ट हो गए।

अर्थ १८४—प्रभुदेव जी कहते हैं कि शरीर पर रहनेवाले शिव (इष्ट-लिंग) के रूप को सब लोग देखते हैं पर यह नहीं समझ पाते कि हम स्वयं उस शिव (लिंग) की चैतन्य कला हैं। उस शिव के चैतन्यस्वरूप को देख सकते हैं पर सर्वांग में शिव (लिंग) मय नहीं हो सकते। शरीर के बाहर दिखाई देनेवाले आचार का निरीक्षण कर सकते हैं किंतु उस आचार के प्राणस्वरूप महानुभाव को नहीं देख सकते। 'मैं स्वयं परवस्तु हूँ' इत्याकारक धारणा को अलग (अपने से भिन्न) रखकर सब लोग आनंद प्राप्त कर सकते हैं। पर स्वस्वरूप को जान कर उसे (स्वस्वरूप को) भूल जाना चाहिए, पर भूल नहीं रहे हैं।

१८५—इरुळोंदु मुख, हगलोंदु मुख जीव ओंदु मुख, बुद्धियनरियदिदेनोडा? प्राणलिंगवेंब भ्रान्तु नोडा! इदुकारण मूरुलोकवे इदेंबरु। सुरेहोयित्तु गुहेश्वरा।

वचन १८५—रात्रि एक मुख है दिन एक मुख एवं जीव एक मुख। देखो बुद्धि नहीं समझ रही है। 'प्राणलिंग' 'प्राणलिंग' कहनेवालों की भ्रांति देखो। गुहेश्वर, इसीलिये तीनों लोक व्यर्थ नष्ट हो गए।

अर्थ १८५—इस वचन का भाव यह है कि जिसके जाग्रत व्यवहार का लय नहीं होता स्वप्न में भ्रांतिमूलक युक्ति का नाश नहीं होता एवं बुद्धि में निश्चलता नहीं आती यदि वह 'प्राणलिंग' संबंध को जानने का दावा करता है तो भ्रांत कहलाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि द्वैत विचार के कारण तीनों लोक नष्ट हो रहे हैं।

१८६—भावदल्लि अमितरादवर सीमे एनु निस्सीमे एनु। वचनदरचनेय रंजनेय नेलेयनाडुवरु। गुहेश्वरनिप्प गुप्तवेंतरियरु।

वचन १८६ भाव से भ्रमित लोगों की क्या सीमा और क्या निःसीमता (वे) वचनों की रचना का खेल खेलते हैं। (वे) गुहेश्वर के गुप्त निवास को कैसे जानेंगे।

अर्थ १८६ जो अंगभाव में व्याप्त एवं विपरीत भाव से भ्रमित हैं उनका आचार रूपी सीमा में रहना निष्प्रयोजन है। ज्ञानरूपी निःसीमता में रहना भी निष्प्रयोजन है। उसी प्रकार वचनों की रचना करना भी निष्प्रयोजन है।

१८७—अघटित घटितने, विपरीत चरित्रने, सावरकैयल्लि पूजे गोंबरे लिंगय्या ? सावनोवर कैय्यल्लि पूजेगोंबुदुलज्जे काणा गुहेश्वरा।

वचन १८७—हे अघटनाघटपटीय एवं विपरीत चरित्रवाले शिव, क्या मरनेवालों की पूजा स्वीकार करोगे। देखो गुहेश्वर, भवपीड़ित एवं मरणाधीनों के हाथ की पूजा स्वीकार करना लज्जा का विषय है।

अर्थ १८७—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो शिवसामरस्य को जानता है एवं शिव के साथ अपना सामरस्य कर भी लेता है वह यदि शिव-पूजा करता है तो उसकी पूजा मनोहर है ! यही 'महालिंगस्थल' है। प्रभु-देवजी कहते हैं कि इस रीति को न जान कर जो अज्ञानपूजा करता है उसको कोई फल नहीं मिलता।

१८८—अपरिमित कत्तलेयोळगे, परिमितद बेळगनिक्किदोडे-बेळगु अदे, कत्तलेयु अदे। इदेनु चोद्यवो ? ओंदक्कोंदु अंजदु। आनेयू सिंहवु ओंदागि उंडुद कंडु बेरगादेनु गुहेश्वरा।

वचन १८८—स्वामिन्, कितने अचरज की बात है कि अपरिमित अंध-कार में परिमित प्रकाश के रखने से अंधकार भी है एवं प्रकाश भी। देखो, (वे) एक दूसरे से भीत नहीं होते हैं। गुहेश्वर, गज एवं सिंह का एक ही पात्र में भोजन करना देख मैं चकित रह गया।

अर्थ १८८—अंधकार=अज्ञान। प्रकाश=ज्ञान। गज=अहंकार। सिंह=सुज्ञान। पात्र=शरीर।

जो अज्ञान का परित्याग नहीं करता एवं ज्ञान का भी अवलंबन करता है उसके अंतरंग में ज्ञानाज्ञान दोनों रहते हैं। अतः सुज्ञान से अज्ञान एवं अज्ञान से सुज्ञान का पारस्परिक विरोध नहीं होता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि शरीर रूपी एक ही पात्र में अहंकार नामक हाथी एवं सुज्ञानरूपी सिंह संसारसुख का भोग करते हैं। यही आश्चर्य है।

१८६—तत्त्ववेंबुद नीनेत्त बल्लियो ? सत्तुमुंदे नीनेन कांबेयो । निंदे निंदेयो ? निंदे मानवा ? मातिनन्तुटल्ला शिवाचारद संदोडकु काणि-रएणा । रच्चेयमातल्ल, वीदियमातल्ल । एकोरात्रिय बिंदुनोडा ? गुहेश्वरन कूड़िद कूट इंदुसुख मुंदे लेसु ।

वचन १८६—ऐ मानव, तत्त्व क्या वस्तु है इसे तू क्या जानेगा । मृत होकर भविष्य में क्या देखेगा । ऐ मानव, यह निंदास्पद है । देख, शिवाचार की उलझन वचनों की रचना की भाँति नहीं है । वह स्वेच्छा एवं हाट की बात नहीं है । वह एक रात्रि का बिंदु है । देख, गुहेश्वर का मिलन आज एवं भविष्य में भी सुखदायक है ।

अर्थ १८६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो स्वयं शिवतत्त्वस्वरूप नहीं होता और उस तत्त्व की बातें करता है तथा उसी तत्त्व की चर्चा से मुक्ति पाने का दंभ भरता है वह मृत हो जाता है । अतः उसकी बातें निंद्य हैं । उन वचनों में शिवाचार नहीं रहता । गुरु एवं शिष्य इन दोनों के सामरस्य-काल (एक रात्रि) में उत्पन्न बिंदु को शिवाचार कहते हैं । प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस शिवाचार के साथ तादात्म्य कर शिवसुखी होता है वही 'शरण' है ।

१९०—पृथ्वी अप, तेज,वायु आकाशदल्लि बेळेयुत्तिद्दरेनु नोडा ? घन घनवनरिदेवेंब मरुळु मानवर नोडा । निर्णयविल्लद निर्विकार गुहेश्वरनेंब महाघनव तिळियरु नोडा ।

वचन १९०—'पृथ्वी, अप् , तेज, वायु एवं अकाश से पोषित होने पर भी क्या हम ब्रह्म और परब्रह्म को नहीं जानते'—ऐसा कहनेवाले पागल मानव को देखो । निर्णयरहित एवं निर्विकार गुहेश्वर नामक महाधन को वे नहीं जान पाते ।

अर्थ १९०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो पंचभूतों के आश्रय से उत्पन्न एवं उन्हीं से पोषित है वह यदि परब्रह्म के साक्षात्कार का दंभ भरता है तो वह मिथ्या है ।

१९१—पल्लुवनरिय बहुदु, सावनरियबारदु । सर्वविद्ये सकल कला व्याप्तियनरियबहुदल्लदे शिवज्ञानवनरियबारदु । हरि ब्रह्म काल,

काम दक्षादि, देव, दानव मानवरिगेल्ल सावु । महा पुरुषरिगेयूसावु । शिव शिवा । सावनरिदु लोकप्रपंच मरदु लिंगदल्लि नेनहु नेलेगोंड महामहिमंगे सावनरियबहुदु । ईसावनरियद अरेमरुळुगळ अरिवु मानहानि काणा गुहेश्वरा ।

वचन १६१—स्वामिन्, सब वस्तु जानी जा सकती है, पर मृत्यु नहीं समझी जा सकती । सकल विद्या, एवं सकल कलाव्यापी को जान सकते हैं पर शिवज्ञान को नहीं । शिव शिव ! ब्रह्मा, विष्णु, काल, काम, एवं दक्ष आदि देव-दानव एवं मानव सब की मृत्यु होती है । जो मृत्यु को जीत कर लोक एवं प्रपंच को भूल गया है और जिसने शिवसामरस्य को प्राप्त कर लिया है वही महात्मा मृत्यु को जान सकता है । गुहेश्वर, इस मृत्यु को न जाननेवाले पागलों का ज्ञान हास्यास्पद है ।

अर्थ १६१—इस वचन का भाव यह है कि समस्त वस्तुओं की कला जानी जा सकती है पर मृत्यु के रहस्य को कोई नहीं जान सकता । जो इस मृत्यु का रहस्य नहीं जानता वह समस्त कलाओं में छिपी हुई शिवकला को कैसे जान सकता है । प्रभुदेवजी कहते हैं कि हरि, ब्रह्म, देव, दानव, मानव मृत्यु को न जान कर मृत हो गए । मृत्यु का जान कर 'शरण' (मैं) ने शिव के साथ सामरस्य कर लिया, फलस्वरूप मृत्यु का नाश हुआ अतएव उसका अनुभव मरणाधीन प्राणियों के अनुभव जैसा नहीं है ।

१६२—आगहुट्टि बेगसाव कायगोंड मानवा, नीदेवरेनिसि कोंबुदु आवुदु अन्तर हेळा ? देवरु सावरे ? देवरिगू सावरिगू आव अंतर-हेळा ? देवरिगे देवलोक मानवरिगेमर्त्यलोक । गुहेश्वरल्लय्यंगे इन्नाव लोकवूइल्ला ।

वचन १६२—अभी उत्पन्न और शीघ्र ही मृत होनेवाले शरीर को धारण करनेवाले हे मानव यदि तुम अपने को देव कहते हो तो बताओ उसमें (तुमसे) क्या अंतर है । क्या देव मृत होता है । बताओ देव और मृत होनेवालों में क्या अंतर है । देवों का देवलोक एवं मानवों का मर्त्यलोक है, पर गुहेश्वर का कोई लोक नहीं है ।

अर्थ १६२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि कामविकार के संग से उत्पन्न एवं शीघ्र ही मृत होनेवाला मूढ़ मानव यदि अभ्यास के बल से ब्रह्म-

विद्या प्राप्त कर 'अहंब्रह्मास्मि' कहकर अपने को देव समझता है तो वह अज्ञ है। उसकी बात मिथ्या है। क्योंकि 'अहम्' इत्याकारक अहंकार का नाश होता है। परतत्त्व रूपी निरहंकार का नाश नहीं होता। अतः देवत्व और मृत्यु का संबंध नहीं है। मृत होनेवालों के लिये मर्त्यलोक और देवों के लिये देवलोक है। इसलिये प्रभुदेव जी कहते हैं कि जो इन दोनों का अतिक्रमण करता है वही 'शिवशरण' है।

१६३—अत्तलित्तलु काणलिल्ला। बयल दाळि बिट्टित्ताल्ला ? सरळ मंडल मंजिन काळगत्तले कवियित्तु। रवियरथदच्चु मुरियित्तु शशिवंशद निलवनु राहुगेद्दुद कंडु, हिरियरु होलबुगेट्टरु गुहेश्वरा।

वचन १६३—इधर उधर (कुछ) दिखाई नहीं पड़ा (पर) प्रपंच आक्रमण होने लगा बाणों के समूह के आच्छादन से हिमांधकार व्याप्त हो गया। रवि के रथ का अक्ष टूट गया। राहु ने शशिवंश के स्वरूप को जीत लिया। गुहेश्वर, इसे देखकर बड़े बड़े लोग पथभ्रष्ट गए हो।

अर्थ १६३—प्रचंड आक्रमण=समस्त संसार में माया की व्याप्ति। बाण=इंद्रियाँ एवं अंतःकरण। आच्छादन=संपूर्ण शरीर में व्याप्त होना। हिमांधकार = अज्ञान। रवि=सुज्ञान। रथ=भक्तिपथ। अक्ष=दृढ़भाव। राहु=क्रोध। शशि-वंश स्वरूप = शांति।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि सर्वतःदिशाओं में रहनेवाली माया समस्त संसार में व्याप्त हो गई। संसार में जब उसकी व्याप्ति हुई तब इंद्रियाँ, विषय एवं अंतःकरण अत्यंत निर्दय काम के बाण बन गए। फलस्वरूप शरीर में अज्ञानांधकार व्याप्त हो गया। इतना होने पर भी सुज्ञान रूपी सूर्य के लिये भक्तिपथ ही रथ बन गया किंतु निश्चलभाव नामक उसका अक्ष टूट गया अर्थात् निश्चल भाव का लोप हो गया। फलस्वरूप क्रोध रूपी राहु ने परम-शांति नामक चंद्र को ग्रहण कर लिया। अर्थात् शांति नष्ट हो गई और क्रोध का प्राबल्य हुआ। मैंने उसका निवारण कर लिया। अतः भव की निवृत्ति हुई। जो इसका निवारण नहीं कर सके वे सब भवभागी बनकर चले गए।

१६४—सनक सनंदादि मुनिजनंगळेल्लरु, भस्मांगिगळेल्लरु इवरु सत्यरेंबुदु हुसि, नित्यरेंबुदु हुसि। अनित्यरेंबुदु दिट गुहेश्वरा।

वचन १६४—स्वामिन्; सनक, सनंदन आदि मुनि और समस्त भस्मांगियों को सत्य कहना मिथ्या है। गुहेश्वर, वे सब अनित्य हैं यही सत्य है।

अर्थ १६४—इस वचन का भाव यह है कि सनक-सनंदन मनु आदि मुनि, देव, दानव एवं मानव कोई भी हों जो शिवज्ञान से युक्त नहीं हैं वे सब सत्य एवं नित्य नहीं हो सकते। वे अनित्य हैं।

१६५—हन्नेरडु युग प्रळयवादल्लि आदि ब्रह्मंगे प्रळय, आदि ब्रह्मन प्रळय अळिदुळिदल्लि मीनजरिगोंदु सिपिन्न प्रळय। मीनजरिगे मीनप्रळयवादल्लि आसहस्रनेंब गणेश्वरंगे ओंदु प्रळय। आसहस्रनेंब गणेश्वरनु अळिदुळिदल्लि अत्तयनेंबगणेश्वरंगे ओंदुतलेय प्रलय आ अत्तयनेंबगणेश्वरंगे अरवत्तुकोटितले। इंथ रुद्रावतार हलवळिदरे गुहेश्वरनेनेंदू अरिय।

वचन १६५—द्वादश युगों का प्रलय हो जाने से आदिब्रह्म का प्रलय होता है। आदिब्रह्म का प्रलय हो जाने से मीनजों का मीनप्रलय होता है। मीनजों का मीनप्रलय होने पर सहस्र नामक गणेश्वर का प्रलय होता है। सहस्र नामक गणेश्वर का प्रलय हाने पर अक्षय नामक गणेश्वर के एक शिर का प्रलय होता है। उस अक्षय गणेश्वर के साठ करोड़ शिर हैं। ऐसे अनेक रुद्रावतारों का लय होने पर भी गुहेश्वर का लय से कोई स्पर्श नहीं।

अर्थ १६५—इस वचन का तात्पर्य यह है कि अनंत युग, अनंत रुद्र एवं अनंत ब्रह्मतत्त्वों का प्रलय हो जाने पर भी महाज्ञानातीत एवं निराविल शिवतत्त्व उन सब से परे हैं। अर्थात् इन सबका प्रलय होने पर भी वह वर्तमान रहता है।

१६६—खेचररागलि, भूचररागलि, लांछन धारियागलि मरणवारिगेयू मन्नणे इल्ला। सनक सनंदादिगळिगू मरण, मन्नणेइल्ल इदुकारण गुहेश्वरा निम्मशरणरुकामन बाधेगे काल्पितरागरु।

वचन १६६—खेचर हो भूचर हो अथवा वेशधारी हो मृत्यु इन सबको नहीं मानती। सनक एवं सनंदन आदि का भी नहीं मानती। इसलिये गुहेश्वर, तुम्हारा शरण कालकल्पित बाधा के अधीन नहीं होता।

अर्थ १६६—इस वचन का भाव यह है कि शरण ने 'शिव' के साथ सामरस्य कर लिया है उसे छोड़कर मृत्यु देव, दानव एवं मानव को व्याप्त

कर लेती है। अर्थात् जो शिवसामरस्य नहीं जानता वह देव हो दानव हो या मानव मरणाधीन होता है।

१९७—कामिसुव कल्पिसुव ब्रह्मनेंबव व्रतगेडि। विष्णुवसवेंन्तु विद्द रुद्रनेंबव अबद्ध अविचारि। एल्लर कोंद कोले निम्म तागुवदु गुहेश्वरा।

वचन १९७—कामना एवं कल्पना करनेवाला ब्रह्म व्रतभ्रष्ट है। विष्णु कहलानेवाला मृत हो गया। रुद्र कहलानेवाला अनाचारी एवं अविचारी है। गुहेश्वर, तुमको इन सबकी हत्या का पाप लगता है।

अर्थ १९७—जिस शरण के अंग से 'लिंग' का संबंध हो जाता है उस (शरण) के स्थूल शरीर में रहनेवाले ब्रह्मतत्त्व संबंधी रजोगुण का नाश हो जाता है। अर्थात् कामना एवं कल्पना के अभाव में समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। क्रिया का लय होने से उस शरण के सूक्ष्म शरीर में वर्तमान विष्णुतत्त्व संबंधी सात्त्विक भाव के विकार का भी नाश हो जाता है। इसलिये उसके कारण शरीर में स्थित तमोगुण की समस्त वृत्ति भी नष्ट हो जाती हैं और विवेक का उदय होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो तनुत्रय में वर्तमान तत्त्वत्रय का नाश करता है वह साक्षात् शिवस्वरूप होता है। अतः मृत्यु उसका स्पर्श नहीं कर सकती।

१९८—मायामंजिन संग्रहद घटाघटितरेल्लरु कुंजरन पंजरदल्लि संजीवित रागिप्परु। पंजलवनुंडुंडु बंदु अंजदे नुडियित्तिप्परु। रंजनेगोळगप्पुदे। आगरद संचवनरियरु। रंजकनु अल्ल भंजकनु अल्ल गुहेश्वरा निम्मशरण संजीवन रहितनु।

वचन १९८—स्वामिन्, मायातुहिन के संग्रह से उत्पन्न सब लोग कुंजर के पिंजर में बद्ध होकर उसी से पोषित होते हैं। पुनः पुनः उच्छिष्ट का भक्षण करते हैं और यहाँ आकर बड़ी बड़ी बातें बनाते हैं, क्या इस आडंबर से (शिव की) प्राप्ति होगी। वे सुखसागर का रहस्य नहीं जानते। गुहेश्वर तुम्हारा 'शरण' न रंजक है न भंजक, वह संगरहित है।

अर्थ १९८—मिथ्या समूह से निर्मित शरीर को धारण करनेवाले लोग अहंकार रूपी बंधन में बद्ध हो गए हैं। इस प्रकार अज्ञान शरीरधारी होकर

भवभवांतर में अवशिष्ट प्रारब्ध का भोग करते हैं पुनः निर्भीकता से ब्रह्माद्वैत की बातें करते हैं। परंतु उस वागद्वैत के आडंबर से परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। क्योंकि उन लोगों को सुखसागर का रहस्य विदित नहीं है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस दांभिकता का निवारण करता है और जो निरंजक होकर भोक्तृकर्म से रहित होता है वही शुद्ध शरण' है।

१९९—आदि त्रैयुगदल्लि देव दानव मानवरु मायामोहदल्लि हुट्टि तोळलुत्तैदारे, बळलुत्तैदारे। आव वेषवाद्रेनु तामसधारिगळु काम, क्रोध, लोभ, बिड्द नानाविधद डंभकरु। ह्रुळद हुण्णिगे आरय्या मद्द्निक्ळुवरु ? एनुकारण गुहेश्वरा सोरेयबण्णदहिरियरु।

वचन १९९—आदि त्रियुग में देव, दानव एवं मानव माया के मोह से पीड़ित एवं ग्रस्त हो रहे हैं। (वे चाहे) कोई वेश धारण करें (वे सब) तामसी हैं। काम, क्रोध एवं लोभ को न त्यागनेवाले दांभिक हैं। निवृत्त न होनेवाले व्रण की औषध कौन करेगा। गुहेश्वर, पेठे के (भूरे) रंग के ये सब बड़े लोग किसलिये हैं।

अर्थ १९९—सृष्टि की उत्पत्ति के समय मिथ्याभूत माया से देव, दानव एवं मानव देह रूपी चोल धारण कर तामस वृत्ति में रह गए। इस तामस वृत्ति को प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप काम, क्रोध, लोभ से बद्ध हो माया रूपी न निवृत्त होनेवाले व्रण पर मोहित हो गए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस भवरोग रूपी व्रण को औषध कोई नहीं कर पाते। इसलिये ये सब लोग निष्प्रयोजन हैं।

२००—युग जुगव बल्लेवेंबरु निच्चक्के निच्च बप्प चिक्कुट सावनरियरु। बाय बागल तले होलद हुल्लोण गित्तु। निम्म अनुविनल्लि दूदेनु काणा गुहेश्वरा।

वचन २००—युग-युग को जानने का दंभ भरनेवाले प्रतिदिन आनेवाली छोटी मृत्यु को भी नहीं जानते। मिथ्याद्वार की शिरोभूमि का तृण सूख गया। गुहेश्वर, मैं तुम्हारे स्थान में आ गया।

अर्थ २००—मिथ्याद्वार की शिरोभूमि=वागद्वैत का ज्ञान। तृण=प्रपंच। जो त्रिकाल ज्ञान का दंभ भरते हैं वे नित्य प्राप्त होनेवाली जन्म - मृत्यु

रूपी निद्रा का रहस्य नहीं जानते। अर्थात् वे जन्म-मरण पर विजय नहीं पा सकते। इस रहस्य को जाननेवाले 'शरण' ने वागद्वैताज्ञान से उद्भूत प्रपंच रूपी तृण का सुज्ञान रूपी अग्नि में दहन कर डाला। इसलिये वह निःशब्दवेदी हो गया है।

२०१—रुद्रनेंबातनोब्ब गणेश्वरनु। भद्रनेंबातनोब्ब गणेश्वरनु? शंकरनेंबातनोब्ब गणेश्वरनु। शशिधरनें वात नोब्ब गणेश्वरनु पृथ्विये पीठ, आकाशवे लिंग अन्तहनोब्ब गणेश्वरनु। बल्लाळन वधुव बेडिदात नोब्ब गनेश्वरनु, शिरियाळन मगन भिक्षव बेडिदात नोब्ब गणेश्वरनु, कामदहन माडिदातनोब्ब गणेश्वरनु, ब्रह्मकपाल विष्णुकंकाळनिक्कि आडुवल्लि नीलकंठनें बात नोब्ब गणेश्वरनु, इवरेल्लरु नम्मगुहेश्वरन लिंगदल्लि अडगिप्परु।

वचन २०१—रुद्र कहलानेवाला एक गणेश्वर है। भद्र कहलानेवाला एक गणेश्वर है। शंकर कहलानेवाला एक गणेश्वर है। जिसके लिये पृथ्वी पीठ एवंआकाश ही लिंग है वह भी एक गणेश्वर है। शशिधर कहलानेवाला एक गणेश्वर है। जिसने बल्लनाळ[1] की स्त्री माँगी वह एक गणेश्वर है जिसने 'शिरियाळ[2] के पुत्र का मांस माँगा वह भी एक गणेश्वर है। जिसने कामदहन किया वह एक गणेश्वर है। ब्रह्मकपाल, एवं विष्णुकंकाल रखकर क्रीडा करने वाला नीलकंठ एक गणेश्वर है। ये सब मेरे गुहेश्वर के गर्भ में छिपे हैं।

१—कर्नाटक में प्रसिद्ध कथा है कि सिंधुबल्लाळ' नामक एक भक्त था उसकी भक्ति की परीक्षा के लिये साधु वेशधारी शिव ने एक बार उसकी पत्नी की याचना की। बल्लाळ ने भक्ति से प्रेरित होकर अपनी पत्नी दे दी। भक्ति से संतुष्ट होकर शिवजी उन दोनों को कैलास ले गए।

२—यह भी एक अत्यंत प्रचलित कथा है कि अतिथि वेशधारी शिव ने 'शिरियाळ' नामक भक्त की परीक्षा करने के लिये अपनी क्षुधा के शांत्यर्थ पुत्र का मांस माँगा। भक्तिवश शिरियाळ ने अपने एकमात्र पुत्र के मांस से पाक बनाकर अतिथि को अर्पित किया। अतिथि ने भोजन के समय शिरियाळ से कहा कि अपने पुत्र को बुलाओ तब शिरियाळ ने इकलौते पुत्र की कहानी सुनाई। इस पर भी अतिथि ने आग्रह किया कि अपने पुत्र को बुलाओ, क्योंकि मैं पुत्रहीन के यहाँ भोजन नहीं करता, अतिथि के आज्ञानुसार उसने पुत्र का नाम लेकर बुलाया। तत्क्षण 'आया' कहते हुए बालक आ गया। इधर शिवजी अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुए और उनको अपने साथ कैलास ले गए।

अर्थ २०१—इस वचन का भाव यह है कि पर शिवतत्त्व से अनंत तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है इसलिये अनंतकोटि रुद्रादि उसी पर शिवतत्त्व में ही विलीन हो जाते हैं अतएव उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

२०२—देवलोकद्वरेल्लरु व्रतगेडिगळॆंबे। मर्त्यलोकदवर भक्तद्रोहिगळॆ एंबे। देवसंभ्रम गणपदविय पडेदवरेल्ल कुंभकर्णनंते अति निद्रितरॆंबे। अनंत शीलर कंडडे कैकूलिकाररॆंबे, गुहेश्वरलिंगैक्यव।

वचन २०२—स्वामिन्, देवलोक में निवास करनेवालों को मैं व्रतभ्रष्ट कहूँगा। मर्त्यलोक के निवासियों को मैं भक्तद्रोही कहूँगा। देवत्व की प्राप्ति से गणपद के संभ्रम में रहनेवालों को मैं कुंभकर्ण की भाँति अतिनिद्रित कहूँगा। अनेक आचार करनेवालों को हस्तकलाशिल्पी कहूँगा। क्योंकि वे गुहेश्वर नामक शिवसामरस्य नहीं जानते।

अर्थ २०२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि देवलोक के निवासी वीरव्रत में निरत हैं परंतु वे निराकारत्व नहीं प्राप्त करते, अतः वे व्रतभ्रष्ट हैं। मर्त्यलोक के निवासी षड्विध भक्ति (श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव, आनंद एवं समरस) का रहस्य जान कर आचरण नहीं कर रहे हैं, अतः वे भक्तद्रोही हैं। जिन्होंने गणपद प्राप्त किया है वे चतुर्विध पद (सालोक्य, समीप्य, सारूप्य, सायुज्य) को पाकर उसके अहंकार में स्वस्वरूप को भूल गए हैं। इसलिये वे कुंभकर्ण की भाँति अतिनिद्रित हैं। सदाचारी फलदायक बन गए हैं, अतः वे हस्तकलाशिल्पी हैं। उपर्युक्त सभी शिवसामरस्य न जानकर शिव से दूरस्थ हो गए हैं।

२०३—हरि होलबनरिय, ब्रह्म मुंदनरिय, रुद्रलेक्कव मरेदु जपव नेनॆसुव। ईश्वर पवनयोगदल्लि मग्ननाद। सदाशिवनु भावदल्लि भ्रमितनाद। ओंदोडलोळगण बालकरैवरु निम्मनेत्त बल्लरु गुहेश्वरा।

वचन २०३—ब्रह्म मतिभ्रष्ट एवं विष्णु पथभ्रष्ट हैं। रुद्र जपभ्रष्ट है। ईश्वर योगभ्रष्ट है। सदाशिव भावभ्रमित है। गुहेश्वर, एक ही उदर के ये पाँचों बालक आपको कैसे जानेंगे।

अर्थ २०३—ब्रह्म=ब्रह्मतत्त्व (रजोगुण)। विष्णु=विष्णुतत्त्व (सत्वगुण)।

रुद्र=रुद्रतत्त्व (तमोगुण)। ईश्वर=ईश्वरतत्त्व (तुर्यावस्था)। सदाशिव=सदाशिवतत्त्व।

जाग्रदवस्था में ब्रह्मतत्त्व ही प्रतिबंधक होता है। स्वप्नावस्था में विष्णुतत्त्व भ्रमित होता है। सुषुप्ति में रुद्रतत्त्व विस्मरण प्राप्त करता है अतः स्व को ही अन्य समझकर उसका स्मरण करता है। ईश्वरतत्त्व तुर्यावस्था के अधीन होकर प्राणवायु के योग में स्व को भूल जाता है। सदाशिवतत्त्व स्वभाव में ही भ्रमण करता रहता है। अतः ये सब भ्रमित हैं। क्योंकि—"जागरावस्थितोब्रह्म स्वप्नंविष्णुस्समाश्रितः। सुषुप्तस्तथा रुद्रः—तूर्यायामीश्वरस्तथा। अतीतायां समाख्योऽयम्" उक्ति प्रसिद्ध है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उपर्युक्त पाँचों तत्त्व ब्रह्मांड से उत्पन्न होकर पुनः उसी में लय हो जाते हैं। इसलिये वे तत्त्व उसी ब्रह्मांड के व्यापार को जान सकते हैं। पर उससे अतीत में सदा वर्तमान महाघनतत्त्व को नहीं जान सकते।

२०४—कायवे सत्तु मायवे उळियित्तु। एरडर सुख दुःखव नरियरु नोडा? अदेनेंदरियरु अदेन्तेंदरियरु नोडा। हिरियरेल्लरु वृथा होदरु नोडा? कण्णमुंदण कप्प कळियलरियरु नोडा? गुहेश्वर नेंब शब्दक्के नाचरुनोडा?

वचन २०४—काया की मृत्यु हुई पर माया रह गई। देखो, (लोग) इन दोनों के सुख दुःखों को नहीं जान रहे हैं। वे यह नहीं जानते हैं कि वह क्या है और कैसा है। बड़े बड़े लोग वृथा ही चले गए। देखो, वे नेत्रपुरोवर्ती काजल का निवारण नहीं कर पाते, 'गुहेश्वर' कहते हुए लज्जित नहीं होते।

अर्थ २०४—काजल=अज्ञान।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो जीवन्मृत शरीरधारी है उसके शरीर का नाश होता है पर उसकी माया की निवृत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् जो शरीर के गुणों का परित्याग नहीं करता उसमें माया सदा विद्यमान रहती है। इस शरीर एवं माया के अधीन रहनेवाला इसका अनुभव नहीं कर सकता कि सुख क्या है और दुःख क्या है। इसका कारण यही है कि ऐसे लोग अपने दृष्टिगत अज्ञानांधकार का निवारण करना नहीं जानते। इसीलिये वृथा नष्ट हो जाते हैं।

२०५—अमरद होलबनरियदे जगवेल्ल बरडायित्तु अंगद होलब नरियदे योगिगळेल्ल भंगितरादरु। लिंगद होलबनरियदे भक्तशीलवन्त नाद। आदिमध्यावसानदल्लि गुहेश्वर लिंगवु अरिविन मरेयल्लिहुद नारु अरियरण्णा।

वचन २०५—स्वामिन्, अमरत्व का रहस्य न जानकर समस्त संसार बंध्या बन गया। अंग का रहस्य न जानकर समस्त योगी नष्ट हो गए। सामरस्य का रहस्य न जानकर अपने को 'शरण' समझनेवाला नष्ट हो गया। 'लिंग' की महिमा न जानकर भक्तगण शील (रूढ़िवाद) में रत हो गए। देखो, आदि मध्य एवं अंत्य ज्ञान की ओट में वर्तमान गुहेश्वर को कोई नहीं जान रहा है।

अर्थ २०५—इस वचन का अभिप्राय यह है कि समस्त संसार अमरत्व (नित्यपद) को जानकर परमामृत का भोग नहीं कर सकता। इसी अज्ञान के कारण वह बाँझ के समान हो गया है। शारीरिक विकार के मिथ्यात्व पर जो विजय प्राप्त नहीं करते और जो अंतरंग में शिवयोगी होने का दंभ भरते हैं वे सब शरीर की तामसिकता में बद्ध हो गए हैं। महानुभावों के संग में रहकर जो अपने भवपाश का छेदन करना नहीं जान सके वे संसार में पड़ गए। सर्वांगों को शिव (लिंग) मय बनाने का रहस्य न जानकर भक्तगण बहिरंग के शीलाचार करते हुए रूढ़िवादी बन गए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन्हीं कारणों से आदि मध्य एवं अंत्य के परदे की आड़ में रहनेवाले 'महालिंग' को कोई नहीं जान रहा है।

२०६—अरियदन्तिरलोल्लदे, अरिदुकुरुहादेयल्ला! हिरियरेल्लरु नेरेदु निम्म कट्टिदरे अय्या उपचारक्केओलुगर साविंगे संगडवादि यल्ला गुहेश्वरा।

वचन २०६—स्वामिन्, अगोचर के रूप में रहना छोड़कर आप ज्ञान गम्यता के प्रतीक बन गए। ओह, क्या बड़े बड़े लोगों ने मिलकर आपको ग्रहण (धारण) कर लिया। वे औपचारिक हैं। गुहेश्वर, ओह, आप मरणाधीनों के साथी हो गए।

अर्थ २०६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि निराविल एवं निर्माया महाघनतत्त्व भक्ति के कारण 'इष्टलिंग' बनकर भक्तों को प्राप्त होता है।

अतः उसकी महिमा को जान लेना चाहिए। किंतु इस रहस्य को न जानकर (लिंग को) धारण करनेवाला भक्त वेशधारी कहलाएगा। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार के भक्त जन्ममरण रूपी चक्र से मुक्त नहीं होंगे और उनके करस्थलस्थित 'शिवलिंग' में संपूर्ण शिवकला नहीं रहेगी।

२०७—अज्ञानियादवंगे अरिवु तानेल्लिहुदो ? सुज्ञानियादवंगे मरहु तानेल्लिहुदो ? नानरिदेनेंबात इदिर केळलुंटे ? भ्रान्तिन भ्रमेयोळगे बळलुत्तिरलु मातिन माले योळगे अरिवेंबुदुंटे ? सूतक हिंगदे, संदेह वळियदे मुंदण सूक्ष्मव कांब परियेन्तो ? ज्योतिय बसिरोळगे जनिसिद कान्तिय प्रभेय बेळगु गुहेस्वरा निम्म शरण।

वचन २०७—स्वामिन्, जो अज्ञानी है उसके पास ज्ञान कहाँ से आता है। जो सुज्ञानी है उसके पास अज्ञान कैसे आता है। क्या स्वस्वरूप के साक्षात्कर्ता को द्वैत की प्रतीति होती है ? क्या मायाभ्रांति में पीड़ित होनेवालों की वचनरचना में ज्ञान रहता है ? दोष एवं संदेह की निवृत्ति के बिना भविष्य के सूक्ष्मतत्व का साक्षात्कार कैसे होता है। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' ज्योति के गर्भ से उत्पन्न कांति की भांति है।

अर्थ २०७—स्पष्ट है।

२०८—इरुळ नुंगित्तु इरुळिल्लु। अरिव नुंगित्तु अरिविल्लु। मरेव नुंगित्तु मरेविल्लु। कायवनुंगित्तु कायविल्लु। जीवव नुंगित्तु जीव विल्लु इवेल्लव नुंगित्तु इदेनय्या ! सावनुंगदु गुहेश्वरा।

वचन २०८—स्वामिन्, (वह) रात को निगल गया (अतः) रात नहीं है। दिन का निगल गया दिन नहीं है। ज्ञान एवं अज्ञान को निगल गया (अतः) ज्ञानाज्ञान नहीं है। काया एवं जीव को निगल गया, अतः काया, जीव नहीं है। गुहेश्वर यह क्या है सबको निगल गया किंतु मृत्यु को नहीं निगल सका ?

वचन २०८—प्रभुदेवजी कहते हैं कि (मुझमें) शिवज्ञान नामक सूर्य का प्रकाश व्याप्त होते ही दिवारात्रि दोनों का लय हो गया जब दिवा एवं रात्रि का लय हो गया, तब ज्ञान एवं अज्ञान का भी लय हो गया। फल-

स्वरूप काया एवं जीवभाव का नाश हो गया अर्थात् ये सब भाव मूलज्ञान में विलीन हो गए। किंतु 'मूल अहंता' का नाश नहीं हुआ अर्थात् मुझमें 'शिवोऽहम्' भाव रह गया।

२०६—अडिगडिगे तोळेदु कुडिवरे, होट्टे जलगर कुत्त बेळेयित्तु अच्चप्रसादियादरे हिंदे परियाण उळियुवदे ? इवरेल्लरु निम्म पूजिसि व्रतगेडिगळादरु ना निम्म पूजिसि बदुकिदेनु गुहेश्वरा।

वचन २०६—देखो, क्षण क्षण में (चरण) धोकर जल (पादोदक) पीने से जलोदर रोग होता है। शुद्धप्रसादी होने पर क्या पीछे पात्र बचता है। गुहेश्वर, ये सब लोग आप का पूजकर व्रतभ्रष्ट हो गए! मैं आपका पूजा करके जीवित रह गया।

अर्थ २०६—इस वचन का भाव यह है कि जो पादोदक का सेवन करता है उसका संपूर्ण अंग परमानंद रस से परिपूर्ण हो जाना चाहिए। जो प्रसाद का सेवन करता है उसे प्रसन्नप्रसादी हो जाना चाहिए और अंत में शिव-भाजन रूपी प्रसादकायसहित निराकार हो जाना चाहिए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस तथ्य को जानता है वही 'शिवैक्यता' को प्राप्त होता है। जो नहीं जानता वह भवभागी होता है।

२१०—मज्जनक्केरेवडे भूत विचार। प्रमथ गणंगळेल्लरु प्रेतरु। वीरतत्व गणंगळेल्लरु ब्रह्मराक्षसरु। अर्धनारीश्वररेल्लरु चिक्क मक्कळ मेले तप्पसाधिसिकोंडु उंबरु। ईनाल्कु स्थलदोळगे आवुदू अल्ल गुहेश्वरा निम्म लिंगैक्यवु।

वचन २१०—स्वामिन्, अभिषेक करना भौतिक विचार है। समस्त प्रमथ गण प्रेत हैं। वीरतत्त्व वाला गण ब्रह्मराक्षस है। अर्धनारीश्वर छोटे बालकों पर दोष साध कर भोग करनेवाला है। गुहेश्वर, आपका सामरस्य इन चारों में से किसी में नहीं है।

अर्थ २१०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो शिवपूजा करते हैं वे उस पूजा के फल से रुद्रलोक का पद प्राप्त करते हैं। पर रुद्रलोक नश्वर है अतः उस लोक की कामना करना और उसके लिये शिवपूजा करना अल्प-सुखापेक्षिता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसीलिये प्रमथगण वीरगण एवं अर्धनारीश्वरादि 'महालिंग' की अर्चना से निराकार समाधि में स्थित 'शरण' की तुलना में नहीं आ सकते।

२११—भक्तियेंबुदु मुक्तियोळगु। पूजेयेंबुदु निर्माल्यदोळगु। प्रसाद येंबुदु अनाचारदोळगु। धर्मवेंबुदु वैराग्य दोळगु। आशेयेंबुदु हिंसे योळगु। इवावंगळु इल्लदे गुहेश्वरा निम्म शरण सुखियागिद्दनु।

वचन २११—देखो, भक्ति, युक्ति के अंतर्गत है। पूजा, निर्माल्य के अंतर्गत है। प्रसाद, आदन के अंतर्गत है। आचार, अनाचार के अंतर्गत है। धर्म, अधर्म के अंतर्गत है। सुख, दुःख के अंतर्गत है। व्रत, वैराग्य के अंतर्गत, नियम, उद्याग के अतर्गत एवं आशा, हिंसा के अंतर्गत है। गुहेश्वर तुम्हारा 'शरण' इन सब से रहित होकर सुखी हो गया।

अर्थ २११—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो भक्ति करने की इच्छा रखता है उस भक्त को युक्ति नामक द्वैत सामने आता है अतः उसकी भक्ति सहज नहीं है। जो पूजा करने की इच्छा करता है उसको पूजा के अनंतर निर्माल्य-विसर्जन रूपी द्वैत उपस्थित रहता है। अतः वह सहज पूजा नहीं है। प्रसाद स्वीकार करने की इच्छा करने पर उसमें अन्न की भावना आती है। आचार करने की इच्छा करने पर उस आचार के लिये अनाचार नामक द्वैत भाव आता है। धर्म का अवलंबन करने की इच्छा करने पर अधर्म उपस्थित होता है। सुख की इच्छा रखने पर दुःख उपस्थित होता है। व्रत का पालन करना चाहे तो उद्योग उपस्थित होता है। अहिंसा को धर्म समझकर उसका ग्रहण करने पर हिंसा सामने आती है। अतः ये सब सहज नहीं हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन सब की रीति का परित्यागपूर्वक जो सहज शिवानुभाव में मग्न रहता है वही 'शरण' है।

२१२—भक्तनेंबव सूतकि। लिंगैक्यनेंबव व्रतगेडि। शरण सति-लिंग पति एंबदु शब्द, सर्वगुण साहित्यवेंबात कर्मेंद्रिय भोगक्के बारद भोगि। गुहेश्वरा निम्मशरण आवभीतनल्लु आव कामियल्ल।

वचन २१२—अपने को भक्त कहनेवाला रूढ़िवादी है। अपने को शिवैक्य कहनेवाला व्रतभ्रष्ट है। जो कहता कि 'शरणसती शिव पति' सिद्धांत सर्वगुण संपन्न है वह कर्मेंद्रियों से भोग करने में असमर्थ है। गुहेश्वर तुम्हारा 'शरण' न किसी से भीत है न कर्मी।

अर्थ २१२—इस वचन का अर्थ यह है कि जो भक्त है उसमें 'मैंने भक्ति की अथवा मैं भक्ति करूँगा' इत्याकारक भाव उत्पन्न होता है, अतः

वह सूतकी (दोषी) है। जो अपने को शिवसमरसी कहता है उसमें यह द्वैतभाव रहता है कि 'मैंने शिवसामरस्य कर लिया।' अर्थात् उसे शिव-सामरस्य की अनुभूति होती है। इसलिये वह व्रतभ्रष्ट है। जो 'शरण' सती और शिव 'पति' सिद्धांत में सर्वगुण संपन्नता मानता है उसमें 'मेरी समस्त इंद्रियाँ शिव में अर्पित हो गई हैं' इत्याकारक ज्ञान रहता है, अतः वह कर्मेंद्रियों से भोग करने में असमर्थ होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इन सबका परित्याग करके निज तत्त्व में वर्तमान रहता है वही 'शरण' है।

२१३—भवियेंबुदु हुसि, भक्तनेंबुदु उपदेश। शीलवेंदुसंकलप। समते एंबुदु सूतक। इंतु चतुर्विधदोळगिल्ल गुहेश्वरा निम्मशरण निस्सीम।

वचन २१३—स्वामिन् भवी कहना असत्य है। भक्ति कहना उपदेश है। शील कहना संकल्प है। समता कहना सूतक है। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' इन चतुर्विध सीमाओं में नहीं है। वह निस्सीम है।

अर्थ २१३—इस वचन का भाव यह है कि जो शिवसमरसी है वह सीमातीत हो जाता है। अर्थात् वह शिवज्ञानारूढ़ होता है। समस्त संसार को स्व के रूप में देखता है। अतः 'यह भवी है, यह मिथ्या है, भक्ति सत्य है, इस प्रकार भेद रूप में जानने का अवसर ही नहीं मिलता और 'मैं समता से रहूँगा, सदाचार करूँगा इत्यादि भावना के लिये उसमें स्थान नहीं रहता इसलिये प्रभुदेवजी कहते हैं कि वह (शरण) पूर्वोक्त चतुर्विध गुणों से परे है।

२१४—ऊरोळगोब्ब देव। मडुविनलोब्ब देवः अडवियोळगोब्ब देव। नीरु नीरकूडि, बयलु बयल कूडि नरनेंब देव ता निराळबु। लिंगवेंबुदोंदु अनन्त हेसरु। गुहेश्वरनेंबुदेनो?

वचन २१४—देखो, ग्राम में एक देव, जलाशय में एक देव, अरण्य में एक देव एवं अपने पास एक देव, है। जल से जल तथा आकाश से आकाश मिलने पर स्वयं 'नर' नामक निराविल देव रह गया 'लिंग' अनंत नामों में एक नाम है 'गुहेश्वर' कहना भी क्या है (वह भी शब्द है)।

अर्थ २१४—इस वचन का तात्पर्य यह है कि पवित्र नक्षत्र (मुहूर्त) पवित्र गंगातीर, पवित्र गिरिगुहा एवं पुण्यारण्य में देव रहता है ऐसा समझ

कर जो उन स्थानों में जाते हैं और ईश्वर को खोजते हैं वे मूढ़ हैं। जो कहता है कि भगवान् अपने पास ही है वह भी द्वैती है क्योंकि उसको वह वस्तु स्व से भिन्न प्रतीत होती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जलबिंदु से उत्पन्न शरीर एवं आकाश से उत्पन्न वायु की निवृत्ति करके जो स्वस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है वही देव है।

२१५—तनुविन कोरतेगे सुळि सुळिदु, मनद्कोरतेगे नेने नेनेदु, भावद् कोरतेगे तिळितिळिदु, शब्दद् कोरतेगे उळिदुळिदु, गुहेश्वरनेंब लिंग मनदल्लि नेलेगोळ्ळलागि।

वचन २१५—मन में गुहेश्वर की स्थापना हो जाने से विदित हुआ कि शरीरगत वासना के कारण मुझे बारंबार आवागमन करना पड़ा। मन की न्यूनता के कारण बारंबार ध्यान करना पड़ा। भाव की न्यूनता के कारण पुनः पुनः ज्ञान का संपादन करना पड़ा। शब्द की न्यूनता के कारण मुझे शेष रह जाना पड़ा।

अर्थ २१५—प्रभुदेवजी कहते हैं कि अब मुझे विदित हो रहा है कि गमनागमन नामक जन्ममरण में बद्ध होकर बारंबार पीड़ित होना शरीर की वासना है। पुनः पुनः ध्यान करना मन की कमी है। जानते बूझते पुनः पुनः कष्ट भोगना भाव की कमी है। शब्दोच्चारण कर पीड़ित होना शब्द की कमी है। इन सब का ज्ञान मुझे इसलिये हुआ कि मेरे मन में 'महालिंग' की प्रतिष्ठा हो गई है।

२१६—हसिवुळ्ळात भक्तनल्ल। बाधेयुळ्ळात जंगमवल्ल; आशेयुळ्ळात शरणनल्ल। इंतप्प आशे हुसिबाधेय निराकरिसि इरबल्लरे गुहेश्वरा निन्म शरण।

वचन २१६—बुभुक्षा का अनुभव करनेवाला भक्त नहीं है। दुःख का अनुभव करनेवाला 'जंगम' नहीं है। आशा करनेवाला 'शरण' नहीं है। गुहेश्वर जो आशा, मिथ्या एवं बाधा इन सबका निवारण करता है वही तुम्हारा 'शरण' है।

अर्थ २१६—इस वचन का भाव यह है कि जो समस्त इंद्रियों के विषय की आशा शिव में समर्पित करता है वही 'शरण' है। अन्यथा वेश धारण करने से क्या शरण नहीं हो सकता।

२१७—आशेय वेषव धरिसि भाषे पल्लटवाद्रे एंतय्या ? शरण पथवेंघवहुदु ? त्रिभुवनद मस्तक द्मेले इप्प मूरु गिरिय हुडिगट्टदन्नक्कर एंतय्या शिवपथ साध्यवहुदु ? भद्रे निभद्रे एंबवर मूल नाशव माडदन्नक्कर एंतय्या लिंगैक्यवु ? अतळ लोकदल्लिल कुळ्ळिर्दु ब्रह्मलोकव मुट्टिदेनेंबवरेल्ल भवभारक्कोळगागुद् नानु कंडु बेरगादेनु गुहेश्वरा ।

वचन २१७—देखो, आशा का वेश धारण कर भाषा को बदल देने से 'शरण' मार्ग की प्राप्ति कैसे होगी। त्रिभुवन के मस्तक पर वर्तमान तीन पर्वतों को भस्मसात् किए बिना शिवपथ की प्राप्ति कैसे होगी। भद्रा एवं निभद्रा के मूल का नाश किये बिना 'सामरस्य' की प्राप्ति कैसे होगी। अतल लोक में बैठकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति का दंभ भरनेवाले भवबंधन में पड़ गए। गुहेश्वर, इसे देखकर मैं चकित रह गया।

अर्थ २१७—तीन पर्वत=राजस, सात्विक तामस अहंकार। भद्रा=चिच्छक्ति। विभद्रा=माया। मूल=मूलाहंकार। अतल लोक = मर्त्यलोक।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब तक आशापाश का निवारण नहीं होता तब तक वचनों की रचना करने पर भी 'शरण' मार्ग नहीं मिल सकता। जब तक तीनों लोक के लिये भारस्वरूप राजस, सात्विक एवं तामस अहंकार नामक पर्वत का नाश नहीं होता तब तक शिवपथ की प्राप्ति नहीं हो सकती। मंगलस्वरूपिणी चिच्छक्ति एवं अमंगलस्वरूपिणी मायाशक्ति का भेद करना चाहिए और उन दोनों को द्वैतरूप में देखनेवाले मूलाहंकार का नाश करना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक शिवसामरस्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो स्वयं इहलोक के व्यवहार में मग्न है और कहता है कि 'मुझ में ही शिवलोक छिपा है' वह भवबंधन में पड़ जाता है। उसके लिये मर्त्यलोक शिवलोक नहीं बन सकता।

२१८—तनु बत्तले इद्दडेनु मनसुखियागदन्नक्कर ? मुंडेबोळादडेनु भाव बयलागदन्नक्कर ? भस्मव हूसिदोडेनु करणादि गुणंगळ नेच्चि मेट्टिट सुडदन्नक्कर ? इन्ती आशेय वेषद भाषेगे नी साक्षियागि छीएंदु कळेयुवेनु गुहेश्वरा ।

वचन २१८—स्वामिन्, मन के सुखी हुए बिना शरीर को दिगंबर रखने से क्या होता है भाव का लय हुए बिना शिर मुड़ाने से क्या होता है। करणादि गुणों को रोक कर उनका दहन किये बिना भस्म का लेपन करने से क्या होता है। गुहेश्वर, आप की शपथ है मैं इस आशा एवं कपट की भाषा का बहिष्कार कर दूँगा।

अर्थ २१८—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो अंगविकार मनविकार एवं इंद्रियविकार इन सबको नष्ट कर देता है और शिव के साथ अविरल संगी हो जाता है वही 'शरण' है। उपर्युक्त गुणों का परित्याग के बिना कोई भी वेश एवं किसी प्रकार की भाषा का व्यवहार करने पर भी शिवत्व का लाभ नहीं हो सकता।

२१९—भस्मव हूसि बत्तले इद्दरेनु ब्रह्मचारिये? अशनवनुंडु व्यसनवमरेद्डेनु ब्रह्मचारिये? भावबत्तले इद्दु मनवु गंभीरवागिद्दरे अदु सहज निर्वाण काण गुहेश्वरा।

वचन २१९—भस्म का लेपन कर दिगंबर रहने से क्या कोई ब्रह्मचारी होता है। अन्न का भक्षण कर व्यवसायों को भूल जाने से क्या कोई ब्रह्मचारी होता है। देखो गुहेश्वर, भावशून्य होकर जिसका मन गंभीर होता है वही सहज निर्वाण प्राप्त करता है।

अर्थ २१९—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसकी द्वैतभावना अर्थात् 'मैं भक्त हूँ और वह शिव' इत्याकारक भावना नष्ट हो जाती है और संपूर्ण अंग में सुज्ञान व्याप्त हो जाता है वही निर्वाण को प्राप्त करता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रीति को समझे बिना जो भस्म का लेप कर दिगंबर रहता है और अन्नपान को स्वीकार करते हुए 'मैं व्यसनों को भूल गया और मैंने समस्त विषयों को त्याग दिया' ऐसा कहता है वह 'शरण' पद के लिये अयोग्य है। वह वेशधारी कहलाएगा।

२२०—शरण संबंधवनरिदातनेंतिर्द्डेनय्या? तिळिदुनोडि नडेयदिर्द्डे भक्ति विरोधि, तेरहनुळिदु मरवेयळिदु सुळिवनागि उपजीवितनलल केळिरण्णा। गुहेश्वरन शरणन संगसुखद उरवणिय सोंकु लोकक्के विरोध।

वचन २२०—स्वामिन्, शिवसामरस्य को जाननेवाला चाहे जिस प्रकार रहे उससे क्या। उसे जानने के पश्चात् भक्ति का आचरण न करने से भक्ति-विरोधी हो सकता है। देखो, मार्ग जानकर विस्मरण को भूलकर जो संचरण करता है वह उपजीवी नहीं है। गुहेश्वर के 'शरण' का संगसुख प्रभा का स्पर्श है। किंतु लोक के लिये विरोधी है।

अर्थ २२०—इस वचन का भाव यह है कि जो शिवसामरस्य करके निर्लज्ज बन गया वह लोक की लज्जा एवं अभिमान आदि को नहीं जानता और लोक के अनुकूल व्यवहार नहीं करता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उसका आचरण लोकोत्तर है इसलिये लौकिक जन उसका विरोध करते हैं। परंतु उससे उसकी कोई हानि नहीं।

२२१—नेलनिल्लद भूमिय मेलोंदु गिडवु हुट्टित्तु। सिडिल बण्णदेंटु हुवादवु नोडा! कोंबिनोळगे फलदोरि बेरिनोळगे हण्णागित्तु अदुकाणद ठाविनल्लि तोट्टु बिट्टु बिद्द हण्ण मेद्दनल्लदे शरण नल्लगुहेश्वरा।

वचन २२१—स्वामिन्, भूमिरहित पृथ्वी पर वृक्ष उत्पन्न हुआ। देखो, उसमें विद्युत वर्ण के आठ पुष्प लग गए। शाखा (अग्रभाग) में फल प्रकट हुआ किंतु मूल में पक्व हुआ। वह वृंत से अलग होकर अदृश्य स्थान में गिर पड़ा। गुहेश्वर, उस फल का भक्षण किये बिना 'शरण' नहीं हो सकता।

अर्थ २२१—भूमि=भूतपिंड। पृथ्वी=भक्तिपिंड। वृक्ष=सद्विवेक। आठ पुष्प=अष्टतनु (पृथ्वी, अप् तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् एवं आत्मा)। शाखा=सदाचार। मूल=मूलज्ञान। पक्व=मूलज्ञान से परिपूर्ण। अदृश्य स्थल=महाघन वस्तु।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मेरी भूतशरीर नामक भूमि का लय हो गया और मुझे भक्तिशरीर नामक पृथ्वी की प्राप्ति हुई। उस भक्तिभूमि में सद्विवेक नामक वृक्ष की उत्पत्ति हुई और वह बढ़ता गया। फलस्वरूप उस पृथ्वी में वर्तमान अष्टतनु रूपी पुष्प सद्वासना से युक्त हो गए, निजतत्त्व का विकास हुआ। अष्टतनु नामक वे पुष्प सदाचार रूपी शाखा में फल बन गए। और मूलज्ञान नामक रस से भरित हो गए। अर्थात् सदाचार के कारण

अष्टतनु ज्ञानयुक्त हो गए। मूलज्ञान से परिपूर्ण फल महाघन तत्त्व रूपी अदृश्य स्थानों में गिर पड़ा। मैंने महाज्ञानारूढ़ होकर निर्भाव नामक हस्त से वह फल उठा लिया और अभेद (अद्वैत) सुख से उसका भोग किया। इस रीति को जो जानता है वही 'शरण' पथ के लिये योग्य है।

२२२—ध्यान सूतक मौन सूतक, जपसूतक, अनुष्ठान सूतक, गुहेश्वरनेंब लिंगवनरिद् बळिक सूतक हिंगित्तु यथा स्वयिच्छे।

वचन २२२—स्वामिन्, ध्यानसूतक, मौनसूतक, जपसूतक एवं अनुष्ठानसूतक इत्यादि गुहेश्वर को जान लेने के पश्चात् स्वेच्छानुसार नष्ट हो गए।

अर्थ २२२—इस वचन का भाव यह है कि जो शिवसामरस्य को जानकर शिव में ही लीन हो गया है वह ध्यान, मौन, जप, अनुष्ठान आदि के आचरण के परे हो गया। वह सर्वतंत्र स्वतंत्र है।

२२३—कुरुह मुट्टदे, कूदलु हरियदे बोळागबेकु। काय बोळो, कपाळ बोळो ? हुट्टुवदु बोळो हुट्टदे होहुदु बोळो गुहेश्वरा।

वचन २२३—किसी चिह्न के स्पर्श के बिना, केशवपन के बिना मुंडित हो जाना चाहिए। गुहेश्वर, कपाल मुंडित है या काया। जन्म मुंडित या अजन्म।

अर्थ २२३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो स्वस्वरूप को जानता है और अपने समस्त करण विकारों को दूर कर मन को भी मुंडित (संकल्प विकल्प से रहित) करता है उसी को मुंडित कहना चाहिए। जो जन्ममरण पर विजय प्राप्त करता है वही श्रेष्ठ है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रीति को न जानकर केवल बाह्य मुंडन कराने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता।

२२४—निराळ स्थानदल्लि आप्यायन विल्लदे होयित्तु अदेनय्या ? पलवु नामवादेयल्ला, चंद चंदद चरित्रनल्लु। निल्लु निल्लु माणु। निम्मिच्छेय पडेदवरेम्मवरु। इंतहदेवरु अंतह देवरु नाम उरिसदु ओल्ले काणा गुहेश्वरा।

वचन २२४—स्वामिन् यह क्या है कि (वह) निराविल में आप्यायन के बिना ही चला गया। ओह, तुम अनंत नामी हो गए। रहो, छोड़ दो, वह सुंदर चरित्र नहीं है। गुहेश्वर, तुम्हारे कृपापात्रों को यह देव, वह देव, इत्यादि नाम सह्य नहीं है। इसलिये मुझे (वह) नहीं चाहिए।

अर्थ २२४—इस वचन का भाव यह है कि जो स्व को शिव नहीं समझता एवं उस ज्ञान से परमानंद का अनुभव नहीं करता उसका ज्ञान केवल वागद्वैत करने में समाप्त हो जाता है। इसलिये 'यह ब्रह्म है वह ब्रह्म है' इत्यादि उसका उपदेश भी मिथ्या है। उसके द्वारा उपदिष्ट अनंत नाम भी मिथ्या हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्वछंद चरित्रवाले 'शरण' के लिये अनेक नामों से युक्त औपाधिक चरित्र समीचीन नहीं है। अतः वह उसका परित्याग करता है।

२२५—आदन्ते आदेनु, जगद आगुवकंडु बल्लेनागि ओल्लेनु। जगनिल्लदु कंडय्या। माडि माडि केडिसदिरा, नीनाडिगे मरुळागदिरा बेडु गेहेश्वरा निराळवनेन्नलि।

वचन २२५—स्वामिन्, मैं जैसा था वैसा ही हुआ। मैंने जगत् की रीति देख ली, जान ली। अतः वह मुझे नहीं चाहिए। देखो स्वामिन्, संसार नहीं रह सकता, बना बनाकर मत बिगाड़ो। तुम उस खेल से मत मोहित होओ। गुहेश्वर, निराविलतत्त्व को मुझसे माँगो।

अर्थ २२५—प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैं संसार में उत्पन्न हुआ था उस संसार की रीति-नीति जानकर मैंने उसका निवारण कर लिया और शिव-सामरस्य प्राप्त किया। फलस्वरूप मैं अपनी पूर्व अवस्था के निराविलतत्त्व में पहुँच गया। लोक के औपाधिक सुख के लिये शिवतत्त्व मोहित होता है इस लिये संसार का इतना विस्तार होता है। किंतु मैंने उन सबका परित्याग कर लिया है अतः उस शिवतत्त्व के लिये मैं अधिष्ठान बन गया।

२२६—ऊरोळगण किच्चु काननदल्लि उरियित्तु। काननद किच्चु बंदु ऊरोळगे उरियित्तु। आरिसिरो! आरिसिरो? नाल्कु दिक्किन बेगेय। आबूभूकारवे दृष्टिमुट्टिदडे अष्टसहस्रवायित्तु लेक्कविल्लद मरण नडेयित्तु गुहेश्वरा।

वचन २२६—ग्रामस्थित अग्नि जाकर अरण्य में लग गई। अरण्य की अग्नि ने आकर ग्राम को जलाया। ओहो, चतुर्दिक फैली आग को बुझाओ उसकी ज्वाला के स्पर्श से दृष्टि अष्टसहस्र हो गई। गुहेश्वर, असंख्य मृत्यु हुई।

अर्थ २२६—ग्राम=पंचभूत के समूह से निर्मित शरीर। अग्नि=ज्ञानाग्नि। अरण्य=संसार। ज्वाला=वृत्तिज्ञान। असंख्य मृत्यु = समस्त करणों का नाश।

पंचभूतों के समूह से निर्मित शरीर से उत्पन्न ज्ञानाग्नि ने संसार नामक अरण्य को जलाया जब भवारण्य का नाश हुआ तब उसी ज्ञानाग्नि से शरीर नामक ग्राम का दहन हो गया। पश्चात् चारों दिशाओं में उस ज्ञानाग्नि की प्रभा फैल गई। प्रभुदेवजी कहते हैं—कि मैंने उस सुज्ञानप्रभा (वृत्तिज्ञान) को महाज्ञान में विलीन कर लिया। इसलिये द्वैतरूप से प्रकट होनेवाले समस्त करणों का लय हो गया।

२२७—परिणामदोळगे मनदपरिणामवे चलुव। संगदोळगे शरणर संगवे चलुव। काय कोंडु हुट्टिद मूढ़रेल्ल सायद संचयनरियुवदे चलुव गुहेश्वरा।

वचन २२७—परिणामों में मन का परिणाम ही सुंदर है। संग में 'शरण' का संग ही सुंदर है। गुहेश्वर, शरीर लेकर जन्मे हुए मूढ़ों के लिये मृत न होने का रहस्य जानना ही सुंदर है।

अर्थ २२७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसके मन के संकल्प एवं विकल्प नष्ट होते हैं और जिसका मन 'शिववेदी' होता है वही परम सुखी है। जो महानुभावों के संग में रहकर सामरस्य की गोष्ठी करता है और सामरस्य के रहस्य को जानता है वही परमसुखी है। उसका संग ही श्रेष्ठ है। शरीर की अनित्यता को जानकर जो नित्यवस्तु को प्राप्त करता है वही श्रेष्ठ है। उसी का ज्ञान परम सुखास्पद है।

२२८—जगद सृष्टनह अजनकोंबु मुरियित्तु। घरेय चंद्र सूर्य-रिब्बरु नेलक्के बिद्दरल्ला। उदयदिंदले अस्तमानबहुदु। ऊरुबेंदु उलुहु उळिदुदु। इदेनु सोजिगवो। देव सत्त देवि केट्टळु आनुबदु-किदेनु गुहेश्वरा।

वचन २२८—सृष्टिकर्ता ब्रह्म का शृंग टूट गया। चंद्र सूर्य दोनों पृथ्वी पर गिर गए। उदय होने से ही अस्त होता है। ग्राम जलकर शब्द रह गया। यह कितना आश्चर्य है। देव मृत हो गया और देवी भी नष्ट हो गई। गुहेश्वर, मैं बच गया।

अर्थ २२८—ब्रह्म का शृंग=राजस अहंकार। चंद्र=शक्ति अंश (शांति)। सूर्य=शिवांश (दांति)। उदय=जन्म। अस्त=मरण। ग्राम=शरीर।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब सृष्टि का निर्माण करनेवाले ब्रह्मतत्त्व संबंधी राजस अहंकार नामक शृंग का नाश होता है तब शिवशक्ति के अंश शांति एवं दांति नामक चंद्रसूर्य का लय हो जाता है। फलस्वरूप जन्म की बाधा छूट जाती है। जन्म से ही मरण होता है। जब जन्म ही नहीं है तब मरण भी नहीं रहेगा। अतः उस अवस्था में मृत्यु का लय परब्रह्म में हो जाता है। उसका लय हो जाने पर शरीर नामक ग्राम ज्ञानाग्नि से दग्ध होकर शब्द मात्र रहता है। इस शब्द का व्यवहार भी जब बंद हो जाता है तब शिव-शक्ति का भी लय होता है। अनंतर 'शरण' परम सुखी होता है।

२२९—अंग लिंगदल्लि तरहरवागि, मनज्ञानदल्लि तरहरवागि, भाव निर्भावदल्लि तरहरवागि, समते शान्तियल्लि तरहरवागिरबल्लुरे आतने अच्च शरणनु काणा गुहेश्वरा।

वचन २२९—जिसका 'अंग' 'लिंग' में लीन होता है, मन ज्ञान में लीन होता है, भाव निर्भाव में लीन होता है एवं समता शांति में लीन होती है गुहेश्वर, वही शुद्ध 'शरण' है।

अर्थ २२९—प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'अंग' के 'लिंग' में लीन हो जाने से मन ज्ञान में लीन हो जाता है। फलस्वरूप भावना करने का विषय न रह जाने के कारण भाव कोई भावना नहीं कर सकता अर्थात् निर्भाव हो जाता है। निर्भाव समता में एवं समता शांति में लीन हो जाती है। इस प्रकार जो परमशांतिस्वरूप बन जाता है वही शुद्ध 'शरण' है।

२३०—उदकद कैकालु मुरिदु अग्निय किवि मूगनरिदु वायुविन तलेकोयिदु आकाशव शूलदलिक्किद वल्लिदतळवार नीतनु। अरस, प्रधान मंत्रि मूवर मुंदुगेडिसिद बल्लिद तळवार नीतनु।

ओंभत्तु बागिल कद्वनिक्कि बलिदु बीगव हूडि नवसासिर मंदिय-कोंदुळिद्नु गुहेश्वरा।

वचन २३०—इस बलशाली कोतवाल ने जल के हाथ पैर तोड़ दिये। अग्नि के नाक एवं कान काट लिये। वायु का शिरच्छेदन किया। आकाश को शूल पर चढ़ाया। राजा, प्रधान एवं मंत्रियों के भविष्य का नाश कर दिया। गुहेश्वर, इस कोतवाल ने नवद्वारों का फाटक बंद करके उनमें ताला लगा दिया और नवसहस्र लोगों का वध करके वह अकेला बच गया।

अर्थ २३०—जल=मन। हाथ पैर=संकल्प एवं विकल्प। अग्नि=अग्नि-तत्त्व। नाक एवं कर्ण=अग्नितत्त्व से उत्पन्न दुरभिमान, अहंकार। वायु=प्राण-वायु। आकाश=आत्मतत्त्व। शूल पर चढ़ाना=शिवध्यान में निरत करना। कोतवाल=मन अज्ञान (संकल्प-विकल्प) में प्रवेश न करे इसके लिये सदा जागरूकता से रहनेवाला 'शरण'। राजा, प्रधान एवं मंत्री=ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र संबंधी राजस सात्विक एवं तामस गुणधर्म कर्म। नवसहस्र जन=नवसहस्र नाड़ियाँ।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने मन के संकल्प एवं विकल्प नामक कर-चरणों को नष्ट कर दिया अर्थात् उनके चरित्र का नाश कर दिया। अग्नितत्त्व से उत्पन्न दुरभिमान एवं अहंकार नामक कर्ण एवं नासिका का छेदन किया। अनंतर आत्मतत्त्व रूपी आकाश को शिवज्ञान नामक शूल पर चढ़ाया। अर्थात् आत्मतत्त्व को शिवज्ञान में स्थिर कर दिया इन सबको परमयोगारूढ़ समाधि में ले आया और वे पुनः अज्ञान में प्रवेश न कर सकें इसके लिये मैं जागरूक हो गया अर्थात् एकाग्रता में बैठ गया। उस एकाग्रता के ध्यान से मैंने ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तत्त्वों के गुणधर्म कर्मों को नष्ट करके नवद्वारों का रहस्य (द्वैतव्यापार) बंद कर दिया। पश्चात् सुज्ञान नामक शस्त्र से अत्यंत सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर समस्त करणों का नाश कर लिया। फलस्वरूप अंत में मैं अकेला शुद्ध 'शरण' (परब्रह्मतत्त्व के रूप में रह गया)।

२३१—कायद कळवळव गेलिद्रेनु मायदतलेयनरियदन्नक्कर। मायदतलेयनरिद्रेनु ज्ञानद नेलेयनरियदन्नक्कर। ज्ञानदनेलेयनरिद्रेनु, तानु तानागदन्नक्कर। तानुतानाद शरणन निलविगे ओंदु दारि मेरेयुंटे गुहेश्वरा।

वचन २३१—माया के मूल का जाने बिना शरीर की व्याकुलता को जीतने से क्या होता है। ज्ञान के मूल को समझे बिना माया के मूल को जानने से क्या होता है। स्वस्वरूप में स्वयं आए बिना ज्ञान के मूल को जानने से क्या होता है। स्वस्वरूप में आए हुए 'शरण' स्वरूप का एक अपना पथ है। गुहेश्वर, क्या उसके लिये सीमा है।

अर्थ २३१—इस वचन का भाव यह है कि जिसने शारीरिक समस्त विकारों को दूर कर दिया और जिसने माया पर विजय प्राप्त की है और जिसने ज्ञान के मूल को जानकर उसकी आशा का भी परित्याग कर अपने को परब्रह्म समझ लिया है उसका स्वरूप किसी प्रमाण से वेद्य नहीं हो सकता ?

२३२—आडुत्ताडुत्त बंद कोडग जपवमाडुव तपस्विय नुंगित्तल्ला! बेड बेडवेंदित्तु मुंदण केरेय मोलनोदुं। मुंदण मोलन हिंदण कोड़गव कंबळि नुंगित्तु गुहेश्वरा।

वचन २३२—अहा, क्रीड़ा करते करते आए हुए मर्कट ने जप करने वाले तपस्वी को निगल लिया। पुरवर्ती तटाकस्थित शशक ने मना किया। गुहेश्वर पुरोवर्ती उस शशक एवं पश्चिमवर्ती मर्कट का निगरण एक कंबल ने कर लिया।

अर्थ २३२—मर्कट=मन। क्रीड़ा करना=विपरीत व्यवहार करना। तपस्वी=शिवतत्त्व को जानने का प्रयत्न करनेवाला। शशक=प्राज्ञजीव। कंबल=महाज्ञान।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि सदा विपरीत व्यवहार को ही प्रधान बनाकर क्रीड़ा करनेवाले मन नामक वानर ने शिवतत्त्व का चिंतन करनेवाले शिव-योगी को (उसका मन बनकर) ग्रहण कर लिया था। अर्थात् शिवतत्त्व का ध्यान करनेवाला शिवयोगी इस मन के संग से अपना चिंतन भूल गया था। वह मन को जब एकाग्र करने लगा तब जीव प्राज्ञ हो गया। इसलिये उसने मन का कार्य रोक लिया। फलस्वरूप महाज्ञान ने उन दोनों को व्याप्त कर लिया इसलिये 'शरण' परमसुखी हो गया।

२३३—धरेयु ब्रह्मांड़वु चंद्र सूर्य तारामंडलवु इल्लिदंत्तले नोडा। नरनल्ल, सुरनल्ल, भ्रान्तनल्ल शरणनु। लिंगसन्निहित अपार महिमनु। सुरासुररेल्लरु निम्मवरदल्लि सिलुकिदरु सरसदोळगल्ल होरगल्ल केळु भावा गुहेश्वरा।

वचन २३३—देखो, पृथ्वी, ब्रह्मांड, चंद्र, सूर्य एवं तारामंडल ये सब इधर ही इधर (अधो भाग में) हैं। 'शरण' न नर है न सुर एवं न भ्रांत (वह) 'लिंग' सन्निहित एवं अपार महिमावान् है। समस्त सुरासुर आपके बरदान में बद्ध हो गए। गुहेश्वर, 'शरण' न सरस के भीतर है न बाहर वह भावस्वरूप है।

अर्थ २३३—इस वचन का भाव यह है कि चतुर्दश भुवन एवं ब्रह्मांड आदि नाना प्रपंच शिवज्ञानी 'शरण' के कक्ष में हैं। इन ब्रह्मांडों में रहनेवाले देव-दानव आदि अधोमुखी हैं। किंतु 'शरण' इन प्रपंचों से अतीत हो गया है। इसलिये वह चिच्छक्तिस्वरूप हो गया है। अर्थात् परतत्त्व का चित्-स्वरूप हो गया है।

२३४—किच्चिन देवनु, कॆड्द देवनु, मादिय देवनु मसणद देवनु। तिरुक गोरवनॆंदु अल्ललिल ऒंदॊंद-नाडुतिप्परय्या ? नानिम्म पूजिसि नष्टसंताननागि बट्टबयललिल बिद्दु केट्टॆनु गुहेश्वरा।

वचन २३४—स्वामिन् (आप) अग्नि के देव, अग्निखंड के देव, मातंग देव एवं श्मशान के देव हैं भिक्षुक हैं साधु हैं इत्यादि समझकर सब लोग तरह तरह की बातें करते हैं। गुहेश्वर, मैं आपको पूजकर नष्टसंतान हो गया और शून्य में रहकर नष्ट हो गया। (जन्ममरण से रहित हो गया।)

अर्थ २३४—इस वचन का तात्पर्य यह है कि अपनी अपनी द्वैतबुद्धि के अनुसार सब लोग ईश्वर के विषय में नाना प्रकार की बातें करते है। अर्थात् 'ईश्वर का रूप ऐसा है वैसा है' इस नाम से प्रसिद्ध हैं उस नाम से प्रसिद्ध है इत्यादि अनंत नाम एवं रूप बताते हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो उस वस्तु को अगम्य अगोचर एवं निराविल समझता है और उस वस्तु के साथ तादात्म्य को प्राप्त कर जन्ममरण से मुक्त होता है वही 'शरण' है।

२३५—कामन कै मरॆदरॆ मोहमुंदुगॆट्टित्तु। आमिष तामस धारिगळॆल्ल पळतटवादरु। अक्कटा अय्या ! निम्म कंडवरारु ? अळविल्लद स्नेहक्कॆ मरणवे महानौमि। गुहेश्वरन मरॆयदॆ रणभूमि गळु उलिदवु।

वचन २३५—स्वामिन् कामना को भूल जाने पर व्यामोह (प्रेम) की मति भ्रष्ट हो गई। समस्त आमिष एवं तामस धारी आक्रमण करने लगे। ओह आप का साक्षात्कार किसने किया। स्वाधीनतारहित स्नेह के लिये मरण ही महा नवमी है। रणभूमियाँ गुहेश्वर को न भूलकर क्रीडा करने लगी हैं।

अर्थ २३५—इस वचन का तात्पर्य यह है कि शिव के प्रति जब श्रद्धा नष्ट हो जाती है तब उसके प्रति प्रेमभाव (निष्ठा) का लय हो जाता है। फलस्वरूप अंतरंग में काम क्रोध लोभ आदि तामसगुण स्थान बना लेते हैं और सुबुद्धि नष्ट हो जाती है। उस अवस्था में यदि कोई शिव ध्यान अथवा शिवपूजा करना चाहे तो वैसा नहीं हो सकता। क्योंकि उस समय उसका अंतरंग देह की वासना से मलिन रहता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस अवस्था में कोई भी शिवत्व का लाभ नहीं कर सकता। मैंने इन सबका निवारण कर दिया।

२३६—कल्याणवनरियें कटकवनरियें, बेंटेयनाडुत्तिद्दे। एन्नकै नोडि भो कलिवीर सुभटरु। एन्नकै नोडिभो अरुहिरियरु। कादि गेलिदु गुहेश्वर लिंगदल्लिगे तलेवरिगेयनिक्कि बंदेनेन्न कैनोडि भो।

वचन २३६—मैं न कल्याण जानता था न कटक को। केवल आखेट करता था। हे कलिवीर सुभटो और पंडितो, मेरे हाथ को देखिए युद्ध में विजय कर मेरा शिर गुहेश्वर के कर के रूप में देकर आए हुए मेरे इस हस्त को देखिए।

अर्थ २३६—इस वचन का भाव यह है कि 'शरण' को जब सामरस्य की प्राप्ति हुई तब उसने संसार में आखेट किया और उसमें शारीरिक, मानसिक एवं इंद्रियविकार आदि मायाभ्रांति का वध हो गया। फलस्वरूप वह स्वस्वरूप में आ गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस स्वरूप को साधकों के उपदेशार्थ मैंने निरूपित किया।

२३७—आसुर वादुदु बसिरवायित्तु। ओल्लेनोल्लेनु नीकोडुव वरवनु। नाबेडिद्दु निम्ममुखदल्लिलल गुहेश्वरा।

वचन २३७—स्वामिन्, जो असुर था उसका अंत हो गया। आप के द्वारा दिया जानेवाला वर मुझे नहीं चाहिए। गुहेश्वर, मैं जो चाहता हूँ वह वर आपके पास नहीं है।

अर्थ २३७—असुर=शिवसामरस्य करने की इच्छा से वैराग्य धारण करना।

इस वचन का भाव यह है कि जब शिवसामरस्य करने की इच्छा उत्पन्न होती है तब वैराग्य आता है, वही असुर है। यह आसुरी वृत्ति रखनेवाला शिवसामरस्य नहीं कर सकता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसी से मैंने इस आसुरी वृत्ति का परित्याग कर दिया और निरुपाधिक बन गया। फलतः स्वस्वरूप को जान लिया। इस रहस्य को जो जानता है वही परम सुखी है। वही 'शरण' है।

२३८—अतिरथ समरथरेनिप हिरियरु मतिगेट्टु मरुळादरल्ला। देवसत्ता ब्रह्महोत्त, विष्णु किच्चहिडिद, गंगे गौरियरिब्बरु बरुमुंडेयरादरु। इदकंडुबेरगादे गुहेश्वरा।

वचन २३८—ओह, अतिरथी, महारथी कहे जानेवाले समस्त वृद्ध मतिभ्रष्टता से पागल हो गए। देव मृत हो गया, ब्रह्म ने कंधे पर उठाया और विष्णु ने अग्नि ली। गंगा और गौरी विधवा हो गईं। गुहेश्वर, इसे देखकर मैं चकित रह गया।

अर्थ २३८—अतिरथी महारथी•••वृद्ध = शिवसाक्षात्कार करने का दंभ भरनेवाले योगी। देव=शिवतत्त्व। ब्रह्म=ब्रह्मतत्त्व संबंधी स्थूल शरीर। विष्णु=विष्णुतत्त्व संबंधी सूक्ष्म शरीर। अग्नि=तापत्रयाग्नि। गंगा = आदिशक्ति। गौरी=पराशक्ति।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिव के साथ सामरस्य करने का रहस्य न जानकर बड़े-बड़े पंडित एवं योगी पागल हो गए। इस प्रकार जब परब्रह्म को जाननेवालों की बुद्धि नष्ट हो गई तब अंतरंग में स्थित शिवतत्त्व वहीं आच्छादित हो गया। शिवतत्त्व के अस्त हो जाने से ब्रह्मतत्त्व संबंधी स्थूल शरीर उसीमें पीड़ित होने लगा। स्थूल शरीर द्वारा जब शिवतत्त्व आच्छादित हुआ तब विष्णुतत्त्व संबंधी सूक्ष्म शरीर में तापत्रय की अग्नि बढ़ गई। फलस्वरूप आदिशक्ति एवं पराशक्ति को परशिव के साथ सामरस्य करने का अवसर ही नहीं मिला अतः उसका दांपत्य भाव नष्ट हो गया। शिवज्ञानी ने लोगों की इस अवस्था को देखा। इसलिये वह चकित रह गया।

२३९—हिंदण कविगळेन्न तोत्तिन मक्कळु। मुंदण कविगळेन्न करुणद कंदगळु। आकाशद कविगळेन्न तोट्टिलकूसु। हरिब्रह्मरेन्न कक्ष कुळ। नीमाव, नानळिय गुहेश्वरा।

वचन २३९—पूर्व के कविगण मेरी दासी के पुत्र हैं। भविष्य के कवि मेरे प्रिय पुत्र हैं। आकाश के कवि मेरे हिंदोलस्थित पुत्र हैं। हरि-ब्रह्मा कक्ष (काँख) में रहनेवाले हैं। गुहेश्वर, आप मातुल (मेरे) हैं मैं जामाता हूँ।

अर्थ २३९—पूर्व कवि=अनागत को जाननेवाला ज्ञानी। भविष्य के कवि=अतीत को जाननेवाला ज्ञानी। (अतीत=आत्मतत्त्व, इस आत्मतत्त्व को जाननेवाला वर्तमान को भी जानता है। अतः 'भविष्य के कवि' का अर्थ अतीत एवं वर्तमान को भी जाननेवाला ज्ञानी होता है)। मातुल= शिवतत्त्व। जामाता=शरण।

इस वचन का अर्थ यह है कि अतीत, अनागत एवं वर्तमान को जानने वाले ज्ञानी महाज्ञानी 'शरण' के अंशभूत होकर उसके कृपापात्र हो गए हैं। उस महाज्ञानी के कक्ष (काँख) में हरिब्रह्मादियों का आवास रहता है। शिवतत्त्व से चिच्छक्ति का उदय होता है। अतः वह शिवतत्त्व की पुत्री कहलाती है। महाज्ञानी उस चिच्छक्ति का संग (सामरस्य) करता है। अर्थात् परशिवतत्त्व की पुत्री से सामरस्य रूपी संग करता है अतः महाज्ञानी उस परशिवतत्त्व का जामाता होता है। इसी स्थिति को व्यक्त करने के लिये 'आप मातुल, मैं जामाता' कहा है।

२४०—देवलोकद गणंगळेल्ल एन्न होरगेंबरू। अदुदिटवे? सत्य-सात्विक सद्भक्तरेन्न होरगेंबरु अदुदिटवे? हदिनाल्कु भुवनदोळगे अवरु ताविरलि ना निम्मोळगु गुहेश्वरा?

वचन २४०—स्वामिन्, देवलोक के समस्त गण मुझे बहिस्थ कहते हैं। सत्य एवं सात्विक सद्भक्त मुझे बहिस्थ कहते हैं। क्या यह सत्य है। गुहेश्वर, चतुर्दश भुवनों में वे ही रहें। मैं आप में रहूँगा।

अर्थ २४०—प्रभुदेवजी कहते हैं कि महाज्ञानी 'शरण' लोकविरोधी है और लोक 'शरण' का विरोधी है। इसलिये लोक महाज्ञानी की निंदा करता है। किंतु उसकी निंदा 'शरण' का स्पर्श नहीं करती। प्रत्युत निंदा

करनेवाले ब्रह्मांड रूपी प्रपंच में पड़कर पीड़ित हो रहे हैं। 'शरण' ने उस ब्रह्मांड का परित्याग किया और वह उनसे भी ऊपर चला गया। लोकोत्तर हो गया।

२४१—पंचमहापातकंगळु आववेंदरियरु। भवियतंदु भक्तन माडुवदे प्रथम पातक; भक्तरिगे शरणेंबुदे द्वितिय पातक। गुरुवेंबुदे तृतीय पातक। गुरुलिंग जंगमद प्रसादव कोंडोडे नालकनेय पातक। गुहेश्वरनल्लि हिरिदु भक्तिय माडुवदु पंचमहापातक।

वचन २४१—(लोग) नहीं जानते हैं कि पंचमहापातक किसे कहते हैं। भवी को भक्त बनाना प्रथम महापातक है। भक्तों की वंदना करना द्वितीय महापातक है। गुरु को शरण्य कहना तृतीय महापातक है। गुरु 'लिंग' जंगम का प्रसाद स्वीकार करना चतुर्थ महापातक है। गुहेश्वर की भक्ति करना पंचम महापातक है।

अर्थ २४१—इस वचन का अर्थ यह है कि जो चिच्छक्ति से उत्पन्न होता है और जो सद्भक्ति के लिये स्वयं मातृस्वरूप हो जाता है वास्तव में वही भक्त हैं। इस रहस्य को न जानकर जो भवी को शिवदीक्षा के द्वारा भक्त बनाने का प्रयास करता है उसकी क्रिया मिथ्या है। अतः इस प्रकार की क्रिया पातक कहलाती है। चिच्छक्ति से उत्पन्न भक्त अपने में और शिव में अविरल भाव (अभेद बुद्धि) से रहता है। इसके विपरीत 'वह शिव है मैं भक्त हूँ' इस प्रकार द्वैतभाव से वंदना नहीं करता। यदि भेदभाव से वंदना करता है तो उसकी क्रिया पातक कहलाती है। यही द्वितीय पातक है। चिच्छक्ति से उत्पन्न भक्त अपने में ही स्वस्वरूप को जानता है और स्वयं गुरु बनता है। पश्चात् उस गुरुतत्त्व में स्व का एवं स्व में गुरुतत्त्व का लय करता है। अतः वह भक्त स्वयं गुरुतत्त्व है। इस रहस्य को न जानकर जो उपाधि के द्वारा अन्य गुरु बनाकर उसकी वंदना करता है वही तृतीय पातकी है। चिच्छक्ति से उत्पन्न भक्त 'शुद्ध', 'सिद्ध' एवं प्रसिद्ध प्रसाद-त्रय को अपने स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों पर आच्छादित कर स्वयं प्रसादमूर्ति हो जाता है। इस रीति का परित्याग कर शरीर की उपाधि से (शरीर के रक्षणार्थ) प्रसाद का ग्रहण करना चतुर्थ महापातक है जो चिच्छक्ति से उत्पन्न है वह सर्वांग शिव (लिंग) मय रहता है। इसे न

जानकर द्वैतभाव से जो 'महालिंग' की भक्ति करता है वह पंचम महा-पातकी है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को जानकर अद्वैतभक्ति करनी चाहिए।

२४२—अगम्य अगोचरनेनिसिकोंडु अवरिवर कैगे एंतुबंदे ? उगुरुगळेल्ल सुत्तिदवे अय्या ? अग्गवणियनु पत्रेअरतवे अय्या ? एन्न करस्थलदोळगिद्दु एन्नोडने नुडिये अय्या ? निन्न हल्लुकळेद्रे ओडेयरुंटे गुहेश्वरा ?

वचन २४२—स्वामिन् आप अगम्य एवं अगोचर रूप में प्रसिद्ध होकर भी जन-सामान्य के हाथ (अधीन) कैसे पड़ गए। क्या समस्त नखों ने आपको परिवेष्टित किया। स्वामिन्, क्या जल एवं पत्र श्रांत हो गए। स्वामिन्, मेरे 'करस्थल' में रहते हुए भी आप मुझसे बात नहीं कर रहे हैं गुहेश्वर, यदि मैं आपका दाँत तोड़ दूँ तो क्या कोई पूछनेवाला है।

अर्थ २४२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसने शिवसामरस्य प्राप्त किया है उस 'शरण' के करस्थल के अगम्य, अगोचर एवं अप्रमाण शिव (लिंग) का लय हो गया। अर्थात् उसकी द्वैतभावना नष्ट हो गई। किंतु उसने उस शिव की अर्चना का परित्याग नहीं किया। प्रत्युत उस शिव के लिये वह स्वयं अधिष्ठान बन गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस महाज्ञानारूढ़ अवस्था में स्थित होकर 'शरण' अपने महदहंकार का प्रताप प्रकट करता है।

२४३—श्वेत पीत, कृष्ण, हरित, कपोत मांजिष्ठ गौरव षडुवर्ण-वेंदेन्न। उंडु उपवासि, बळसि ब्रह्मचारि एंदेन्न। लिंगविंतुटेन्न। लिंगैक्यवनुडिय अभंगन निलवु भंगितरेत्त बल्लरु गुहेश्वरा।

वचन २४३—स्वामिन्, (वह) श्वेत, पीत, कृष्ण, हरित, कपोत, मांजिष्ठ एवं गैरिक इन षड्वर्णों को नहीं जानता (वह) अपने को भोजन करने पर भी उपवासी एवं भोग करने पर भी ब्रह्मचारी नहीं कहता। शिव के अनंत रूप का वर्णन नहीं करता। समरसता को शब्द द्वारा प्रकट नहीं करता। गुहेश्वर, इस अभंग को 'भंग' वाले कैसे जानेंगे।

अर्थ २४३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसने 'महालिंग' के साथ सामरस्य कर लिया है वह अपने में ही लीन हो जाता है। इसलिये बाह्य

शब्दप्रपंच में पड़कर वह पीड़ित नहीं होता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस स्थिति को प्राप्त 'शरण' के स्वरूप को अन्य साधारण जन नहीं समझ सकते।

२४४—आडाड बंदकोडग हंदरवनेरित्तल्ला ? नोडबंदवर कण्णोल्ला ओडेदवु। बेण्णेय तिंदवर हल्लेल्ला होदवु इदेनु सोजिगवो गुहेश्वरा ?

वचन २४४—अहा, क्रीड़ा करते करते आया हुआ मर्कट मंडप के ऊपर चढ़ गया। देखने को आए लोगों के नेत्र फूट गए। नवनीत का भक्षण करनेवालों के दाँत टूट गए। गुहेश्वर, यह कैसा अचरज है।

अर्थ २४४—मर्कट=मन। मंडप=ज्ञेयनामक अतीतस्थल। देखनेवाले= समस्त करण। नेत्र फूटना=द्वैतदृष्टि का नाश। नवनीत=महाज्ञान। दाँत= इदम्, अहम्।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि प्रपंच में अनंत प्रकार की क्रीड़ा करनेवाला मन जब स्वानुभाव के विवेक द्वारा व्यवहार करने लगा तब उसने स्वस्वरूप को जान कर ज्ञातृभाव छोड़ दिया और ज्ञानभाव का ग्रहण कर लिया। पश्चात् ज्ञेय नामक अतीत स्थान में जाकर उसने विश्राम किया और वह गंभीर हो गया। उसकी गंभीरता देखने के लिये समस्त करण (इंद्रियाँ) दौड़ पड़े, पर उनकी आँखें फूट गईं। अर्थात् मन के ज्ञेयस्थल में जाने के कारण समस्त इंद्रियों की द्वैतदृष्टि नष्ट हो गई। फलस्वरूप मुझे महाविवेक नामक नवनीत की प्राप्ति हुई। उस महाविवेक नामक नवनीत का भक्षण करने से करणों के इदम्, अहम्, रूपी दाँत टूट गए। इदम् अहम् का नाश हुआ।

२४५—कॆंडद मळे करॆदल्लि उदकवागिरबेकु। जलप्रळयवादल्लि वायुविनंतिरबेकु। महाप्रलयवादल्लि आकाशदन्ते इरबेकु। जगप्रलय-वादल्लि तन्न ताबिडबेकु। गुहेश्वरनॆंब लिंग तानागिरबेकु।

वचन २४५—यदि अग्नि की वर्षा होती है तो जल बनकर रहना चाहिए। यदि जलप्रलय होता है तो वायु की भाँति रहना चाहिए। यदि महाप्रलय होता है तो आकाश की भाँति रहना चाहिए। यदि जगत्प्रलय होता है तो अपने स्वरूप (अहम्) का परित्याग करना चाहिए और स्वयं गुहेश्वर होकर रहना चाहिए।

अर्थ २४५—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो स्वस्वरूप को जानकर महाज्ञान के प्रकाश से युक्त हो गया है उस 'शरण' को चाहिए कि यदि कालाग्नि सीमा पार करके आती है तो उस समय परिपूर्ण भावप्राण होकर रहे। यदि जलप्रलय सीमा पार करता है तो उस समय परिपूर्ण भाव प्राण होकर रहना चाहिए। जब अनंत कोटि ब्रह्मांड शिवतत्त्व में लय प्राप्त करते हैं तब महाकाशस्वरूप होकर रहना चाहिए और उन सबको अपने में विलीन कर लेना चाहिए। यदि जगत् नामक चराचर का लय होता है तो उस समय 'मैं शिव हूँ' इस प्रकार के मूलाहंकार का विच्छेद करना चाहिए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उपर्युक्त ये सब गुण जिसमें हैं वही शिव है।

२४६—अरेय मेलण हुल्लेगे कँगरिय बाणव तोट्टवने तप्पदे तागितल्ला। अदु ओंदे बाणदल्लि अळियित्तल्ला। नारि हरियित्तु बिल्लु मुरियित्तु हुल्ले यत्त होयित्तु गुहेश्वरा।

वचन २४६—ऐ, शिलानिवासिनी मृगी को रक्त पंखयुत बाण से मारनेवाले, अहा, वह (तेरा बाण) अचूक (मृगी को) लग गया। एक ही बाण से मृगी मृत हो गई। ज्या कट गई, धनुष टूट गया। गुहेश्वर, मृगी कहाँ चली गई।

अर्थ २४६—शिला = जड़देह। मृगी = माया। रक्त पंखयुत बाण = सुज्ञान। ज्या=भाव। धनुष=निष्ठा।

इस वचन का तात्पर्य यह है कि जड़ शरीर नामक पाषाण के ऊपर माया नामक हरिणी वास करती थी। 'शरण' नामक व्याध ने निष्ठा नामक धनुष लिया और भाव रूपी ज्या में रखकर सुज्ञान नामक बाण द्वारा परिपूर्णत्व रूपी बल से उस हरिणी को लक्ष्य करके मारा। फलस्वरूप हरिणी एक ही बाण से मृत हो गई। प्रभुदेवजी कहते हैं कि माया के मृत हो जाने से भाव रूपी ज्या कट गई, निष्ठा नामक धनुष भी टूट गया और माया का लय भी हो गया।

२४७—नादेवनल्लदे नीदेवने ? नी देवनादरे एन्ननेके सलहे आरैदु ओंदु कुडिते नीरनेरवे। हसिदाग ओंदु तुत्तु ओगरनिक्कुवे नादेवकाणा गुहेश्वरा।

वचन २४७—स्वामिन् , मैं देव हूँ, नहीं तो क्या आप देव हैं। यदि आप देव हैं तो मेरी रक्षा क्यों नहीं करते। जब आप तृषित होते हैं तब मैं आपको थोड़ा जल देता हूँ। यदि बुभुक्षित होते हैं तो मैं एक ग्रास भोजन देता हूँ। देखो गुहेश्वर, इसलिये मैं देव हूँ।

अर्थ २४७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसने 'लिंग' का दाक्षिण्य छोड़ दिया और जो स्वयं शिव हो गया है उसमें 'लिंग' का आवास रहता है। अतः उस 'लिंग' के लिये वह अधिष्ठान हो जाता है।

२४८—ओक्कुद मिक्कुद कोंब निश्चल प्रसादि नी केळा? ओक्कुदावुदु मिक्कुदावुदु बल्लडे नीहेळा? ओक्कुदहुदे काय, मिक्कुदहुदे प्राण? इदु तक्कुदेंदरिदु कोळबल्लरे सिक्कुवनु नम्म गुहेश्वरा।

वचन २४८—हे अवशिष्ट एवं प्राप्त प्रसाद का सेवन करनेवाले 'प्रसादी' सुनो, (तुम्हें) किसकी प्राप्ति होती है एवं क्या अवशेष रहता है जानते हो तो बताओ। क्या काया प्राप्त होती है। क्या प्राण अवशिष्ट रहता है। इसको यदि योग्य समझकर स्वीकार करना जान सके तो गुहेश्वर की प्राप्ति होती है।

अर्थ २४८—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसने अपने अंग शिव के लिये अर्पित कर दिये हैं और प्राण को शिव के रतिसुख के लिये अर्पित करने से जो भी प्रसाद प्राप्त होता है उसे जिसने अभेद रूप से स्वीकार किया वही शुद्धप्रसादी है। इस क्रम को जो नहीं जानता वह प्रसादी नहीं हो सकता।

२४९—कल्लुहोरिनोळगोंदु कार्यव कांबोडे कल्लुवेदकदे कप्पेय सोंकदे अल्लिय उदकव कुडिय बल्लडे अदु योगा। बल्लडे निम्मल्लि नीवे तिळियिरे। अरिवयोगक्कदु चिन्हवय्या? कल्लु कप्पेयोळगण हुल्लुरियदे अट्टुंबंते गुहेश्वरा।

वचन २४९—स्वामिन् पाषाण के विवर में यदि कोई कार्य देखना चाहे तो पाषाण को खोदे बिना और मंडूक का स्पर्श किये बिना तत्रस्थ जल का सेवन करे। ऐसा करना ही योग है। आप लोग जानते हैं तो इसको अपने में ही देखिये। यही योग का स्वरूप (लक्षण) है गुहेश्वर, पाषाण एवं

मंडूक में वर्तमान तृण को बिना जलाए पाक बना कर भोग कर लेना ही योग है।

अर्थ २४६—पाषाण=जड़शरीर। विवर=अंतर्मुखता। कार्य=स्वस्वरूप-ज्ञान। मंडूक=परम शांतिबिंदु। जल=परमानंदरस। तृण=करण।

इस वचन का भाव यह है कि पाषाण सदृश जड़शरीर के अंतर्मुख नामक विवर में विवेक रूपी एक स्रोत है। उसी स्रोत में स्वस्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए। उस जड़शरीर रूपी आच्छादन में शांति नामक बिंदु का आवास है उसको जो स्व से अतिरिक्त न समझकर परमानंद का आस्वादन करता है वही शिवयोगी है। परमशांतिबिंदु का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् प्रपंच का लय हो जाता है। अर्थात् माया-मोह से युक्त समस्त करण माया से रहित होकर शिवशरीर का संपादन करते हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस शिवयोग की साधना करता है वह महाज्ञानाग्नि में समरस हो जाता है।

२५०—नीरिल्लद नेळलिल्लद, बेरिल्लद गिड हुट्टित्तु। तलेइल्लदमृग बंदु मेयित्तागिडव। कण्णिल्लदकुरुडनु कंडना मृगवनु। कैयिल्लद व्याधनु एच्चनामृगव। किच्चिल्लद नाडिगोयिदु सुट्टु बाणसव माड़ि लिंगक्के अर्पितवायित्तु गुहेश्वरा।

वचन २५०—जल छाया एवं मूल के विना एक वृक्ष की उत्पत्ति हुई शिररहित मृग ने आकर उस वृक्ष का भक्षण कर लिया। नेत्रहीन ने उस मृग को देखा। हस्तरहित व्याध ने उस मृग को मारा। गुहेश्वर, उसे अग्निहीन प्रदेश में ले जाकर जला दिया। पाक बनने पर वह शिव को अर्पित हुआ।

अर्थ २५०—जल=मन। छाया=माया। मूल=मूलाहंकार। वृक्ष=विवेक। शिररहित मृग=स्वस्वरूप के अनुभव से रहित माया। नेत्रहीन=अद्वैती। हस्त=द्वैत। अग्निरहित प्रदेश=जठराग्नि से रहित उदर।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मन, माया एवं मूलाहंकार इन तीनों की प्रकृति का परित्याग करके अवशिष्ट रहे शिवयोगी में विवेक नामक वृक्ष की उत्पत्ति हुई। उस वृक्ष को शिररहित अर्थात् ज्ञानरहित माया ने खा लिया। अर्थात् उसने परब्रह्मतत्त्व का विचार करना छोड़कर अपने सुख का अनुभव किया। माया को शिररहित मृग इसलिये कहा है कि अज्ञान से माया मायिक सुख का भोग करती है। यदि उसी को शुद्ध किया जाता है तो वही परब्रह्म का

विचार करती है। इसलिये अंधा नामक अद्वैती 'शरण' ने उसको अभेददृष्टि से देखा और भेद (द्वैत) नामक हस्त से रहित होकर अद्वैतहस्त में भाव रूपी धनुष लिया। उस धनुष में सुज्ञान नामक बाण का संधान करके उस माया को मार दिया। फलस्वरूप उस माया का मायिकत्व नष्ट हुआ और वही विद्याशक्ति बन गई। उस सद्विद्या को उदराग्नि से रहित ज्ञानाग्नि में जलाकर मैंने समरस पाक बना लिया। इसलिये वह पाक महालिंग को समर्पित हुआ। अतः मैं सुखी हो गया।

२५१—नी, नानेंब भाववारिन्दायित्तु हेळा ? नीनेंबुदे अज्ञान। नानेंबुदे मायाधीन। नीनेन्नदे नानेन्नदे इप्प सुखव भिन्नविल्लदे अरिय बल्लरे आ सुखवु निमगर्पित काणा गुहेश्वरा।

वचन २५१—स्वामिन्, बताओ 'तुम एवं मैं' यह भाव किससे हुआ। 'तुम' कहना अज्ञान है। 'मैं' कहना मायाधीनता है। 'तुम एवं मैं' इन दोनों भावों से रहित सुख को अभेदरूप से जान सके तो वही परम सुख है। गुहेश्वर, वही सुख आपको अर्पित होता है।

अर्थ २५१—इस वचन का भाव यह है कि जो स्वस्वरूप को जानता है और संसार को स्व से अतिरिक्त नहीं देखता वही महाज्ञानी है। उस ज्ञानी को 'तुम एवं मैं' इस प्रकार के द्वैतभाव का बोध नहीं रहता। वह परमानंद में मग्न रहता है।

२५२—इप्पत्तैदु तत्त्वद हत्तेंब दारदल्लि वळलुव व्यर्थगेडि मनवनेनेंबेनय्या। तन्नता तिळियलु तनगे तानन्यवल्ल मरुळे। मुत्तैय्यन बेण्णेय शिशुता नुंगित्तु। शिशुविन सुखवनेनेंबे गुहेश्वरा।

वचन २५२—स्वामिन्, पंचविंश तत्त्व के दस मार्गों में व्यर्थ ही पीड़ित होनेवाले इस दुष्ट मन को मैं क्या कहूँ। हे पागल, यदि तू स्व को जान सकता है तो वह तुझसे भिन्न नहीं है। मातामह के नवनीत को दौहित्र ने खाया। गुहेश्वर उस शिशु के सुख को मैं क्या कहूँ।

अर्थ २५२—दस मार्ग=दस वायुओं के गुण। मातामह=परशिवतत्त्व। दौहित्र=महाज्ञानी (शरण परमशिवतत्त्व से चिच्छक्ति का और उससे 'शरण' का उदय होता है) मन ने पंचविंश तत्त्वों में बद्ध होकर दस वायुओं के गुणधर्म को ग्रहण कर लिया। फलतः वह अत्यंत व्याकुल हो रहा था।

अपने मन में विचार करने से उसको विदित हुआ कि 'मैं ही परशिवत्त्व हूँ' और यह भी विदित हुआ कि परशिवतत्त्व से चिच्छक्ति की उत्पत्ति और उससे 'शरण' की उत्पत्ति होती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रीति को जानकर मैंने परिपूर्णज्ञान नामक नवनीत का आस्वादन किया। पर उस आस्वादन के सुख का वर्णन मैं शब्द द्वारा नहीं कर सकता।

२५३—शब्दवेंबेने श्रोत्रदेंजलु। स्पर्शनवेंबेने त्वक्किनेंजलु। रूपवेंबेने नेत्रदेंजलु। रुचियेंबेने जिह्वेयंजलु। परिमळवेंबेने घ्राणदें जलु। नानेंबेने अरिविनेंजलु। एंजलेंब भिन्नवळिद बेळगिनोळगण बेळगु गुहेश्वर लिंगवु।

वचन २५३—स्वामिन्, क्या मैं शब्द को (बड़ा) कहूँ वह श्रोत्र का उच्छिष्ट है। क्या स्पर्श को (बड़ा) कहूँ वह त्वक् का उच्छिष्ट है। क्या रूप को (बड़ा) कहूँ, वह नेत्र का उच्छिष्ट है। क्या रुचि को (बड़ा) कहूँ, वह जिह्वा का उच्छिष्ट है। क्या गंध को (बड़ा) कहूँ, वह घ्राण का उच्छिष्ट है। क्या 'मैं' (अहम्) को (बड़ा) कहूँ, वह ज्ञान का उच्छिष्ट है। गुहेश्वर नामक लिंग उच्छिष्ट रूपी द्वैत से रहित ज्योतिगत प्रकाश है।

अर्थ २५३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध ये पांच विषय पंचेंद्रियों के उच्छिष्ट हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन विषयों का निवारण कर जो 'मैं शिव हूँ' इस ज्ञानगत अहंकार नामक उच्छिष्ट का परित्याग करता है और स्वयं महाज्ञानप्रकाश होकर रहता है वही 'शरण' है।

२५४—हसिवरितल्लदे प्रसादि अल्ल। तृष्णे अरितल्लदे पादोदकि यल्ल। निद्रेयरितल्लदे भवविरहितनल्ल। अनल पवन निंदल्लदे प्राण-लिंगियल्ल। इदु कारण गुहेश्वर लिंगवेल्लरिगे एल्लियदो ?

वचन २५४—जिसकी बुभुक्षा शांत नहीं है वह प्रसादी नहीं है। जिसकी तृषा का लय नहीं हुआ, वह पादोदकी नहीं है। जिसकी निद्रा का लय नहीं हुआ वह भवमुक्त नहीं। अग्नि एवं वायु को नष्ट किये बिना (कोई) प्राणलिंगी नहीं हो सकता। अतः गुहेश्वर सबको कैसे प्राप्त होंगे।

अर्थ २५४—इस वचन का भाव यह है कि जिसकी बुभुक्षा का नाश हुआ और जिसके अंग शिव के लिये अर्पित हुए वास्तव में वही 'प्रसादी'

है। जिसकी तृषा का नाश हुआ और जो स्वयं परमानंदरस से भरित हो गया वही 'पादोदकी' है। जिसके जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का लय हुआ और जो केवल शिवव्यसनी है वही भव से मुक्त है। जिसने अग्नि के रूप लक्षण एवं वायु के प्राणलक्षण का परित्याग कर दिया वही 'प्राणलिंगी' है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को जाननेवाला ही 'शरण' है।

२५५—पिंड ब्रह्मांडदोळगे तंडतंड लोक। गंड गंडरनिरिसि बडवरोडेयर नुंगि, नाडोळगे गिडु नडेदु, मडवेल्लव तोडेदु नडुरंगदल्लि कोडनोडेयलीयदे मडदियोडगूडि, गगनव अडिगेय माडि उंडु सुखियादे गुहेश्वरा।

वचन २५५—पिंडब्रह्मांड में राशि-राशि लोक हैं। लोक ने पति के पति को छोड़कर दीनों के पति को निगल लिया। वृक्ष ने देश भर में संचरण किया। (उसने) समस्त घातक जलाशयों का परित्याग किया। रणरंग के मध्यस्थित घट को फोड़े बिना पत्नी के संग रहकर और गगन को पकाकर भोजन प्रस्तुत किया। गुहेश्वर, उस भोजन का सेवन कर वह सुखी हो गया।

अर्थ २५५—पति का पति=महाज्ञानी (आरूढ़)। दीनों का पति=ज्ञानाज्ञान से व्यवहार करनेवाला। देश=प्रपंच। वृक्ष=विवेकस्वरूपी 'शरण'। घातक जलाशय=भवसागर संबंधी समस्त बाधाएँ। रणरंग=अंतरंग। घट=शरीर। पत्नी=चिच्छक्ति। गगन=आत्मतत्त्व।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'पिंडब्रह्मांडयोरैक्यम्' उक्ति के अनुसार महाज्ञानी 'शरण' का पिंड ब्रह्मांड सदृश हो गया है, उसमें अनंत लोक छिप गए हैं। इसलिये लोक उस महाज्ञानी (आरूढ़) का आच्छादन नहीं कर सकते। अतः उस आरूढ़ को छोड़कर वे लोक दीनों के पति अर्थात् ज्ञान एवं अज्ञान से युक्त व्यवहार करनेवालों को आच्छादित करते हैं। इस रहस्य को महाज्ञानी ने स्वयं समझ लिया अतः स्वयं विवेकस्वरूप बनकर वह संसार में संचरण करने लगा। फलतः संसार में भव के कारणीभूत जितने घातक जलाशय (दुःख) थे वे सब नष्ट हो गए। अर्थात् उसकी सांसारिक बाधाएँ दूर हो गईं। इस रीति से जब संसार की निवृत्ति हो गई तब उस महाज्ञानी ने जागरूकता के कारण अपने सर्वांगों की रक्षा की। अर्थात् संसार से निवृत्त उस निरुपाधिक आरूढ़ के शरीर का नाश नहीं हुआ। किंतु उसका समस्त शरीर शिव को समर्पित हो गया। इस प्रकार जब सर्वांग शिवमय हो गया तब

उसने चिच्छक्ति के साथ सामरस्य कर लिया और आत्मतत्त्व नामक गगन को महाज्ञानाग्नि से पाक बनाकर 'महालिंग' को अर्पित कर दिया।

२५६—परमसुख परिणामद इरव बल्लवरारु। अदु दोरकोळ्ळदु नोडा! तनतनगे तन्न इरव लिंगदल्लिरिसि, परव मनदल्लि हिडिदु इहपरवेंबुदोंदु भ्रांतवळिदु निरतिशय सुखदोळगे निजलिंगवागिरबल्ल गुहेश्वरा निम्म शरणननुपम।

वचन २५६—परम सुख के परिणाम का रहस्य कौन जानता। देखो, उसकी प्राप्ति नहीं होती है। परशिव में अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने के पश्चात् मन में पर वस्तु के ग्रहणपूर्वक इह एवं पर की भ्रांति को त्याग कर निरतिशय आनंद में रहनेवाला ही शिवरूप में रहता है। गुहेश्वर, वही अनुपम प्रसादी है।

अर्थ २५६—इस वचन में प्रभुदेवजी को परमसुख की प्राप्ति कैसे हुई उसका अनुभव बता रहे हैं—जो परमसुखी होना चाहता है उसे चाहिए कि पहले अपने स्वरूप का निक्षेप शिव में करे, अनंतर मन में उसी शिव को अभेदरूप से ग्रहण करे। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस सामरस्य से जो आनंद प्राप्त होता है उसे 'महालिंग' को समर्पित कर देना चाहिए। यही परमसुख की प्राप्ति है। जो इस रीति को जानता है वही 'शरण' है।

२५७—गंगा देविय हुळिय कासि, गौरी देविय कुलनट्टु भक्तन बाडनट्टु देवन सासिवेगलिसि, ब्रह्मनड्डणिगे, विष्णुपरियाण, रुद्रनोगर, ईश्वर मेलोगर, सदाशिव तुप्प उणलिक्के कैकाल मुरियित्तु गुहेश्वरा।

वचन २५७—गंगा देवी का आम्ल उबाल कर गौरी देवी के वंश एवं भक्तिसमूह को पकाकर (उसमें) देव (नामक) सर्षप मिला लिया। ब्रह्म चौकी, विष्णु पात्र (थाल) रुद्र ओदन, ईश्वर व्यंजन एवं सदाशिव घृत बन गए। गुहेश्वर (पर) भोजन के लिये कर चरण नहीं रह गए।

अर्थ २५७—गंगा देवी = चिच्छक्ति। गौरी देवी=पराशक्ति। देव=परशिवतत्त्व। ब्रह्म=स्थूल शरीर। विष्णु=सूक्ष्म शरीर। रुद्र=कारण शरीर। ईश्वर=विवेक। सदाशिव=तृप्ति। कर=प्रारब्ध। चरण = जन्ममरण।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिवानुभाव से संपन्न होने के पश्चात् मैंने आधार स्वरूपिणी चिच्छक्ति को अपनी ज्ञानाग्नि से जलाकर परमानंद पाक बनाया। संसार के लिये गुरुस्वरूपिणी पराशक्ति को प्रसिद्ध मुख में लाकर दूसरा भोज्य प्रस्तुत कर उसमें मिलाया। अनंतर अपने भक्तिपिंड नामक पदार्थ को भी उस पाक में मिला दिया (सामरस्य कर लिया) और परशिवतत्त्व नामक पदार्थ को भी संमिलित कर दिया। इस प्रकार जब पाक सिद्ध हुआ तब विष्णुतत्त्व संबंधी सूक्ष्म शरीर (थाल) में परोसकर ब्रह्मतत्त्व संबंधी स्थूल शरीर (चौकी) पर रख दिया और रुद्रतत्त्व संबंधी कारण शरीर को मिष्टान्न बनाकर उसी थाल में भर दिया। इन पदार्थों से ईश्वरतत्त्व संबंधी महानुभाव (विवेक) का व्यंजन बन गया। जब इस व्यंजन के साथ उन स्वयंप्रकाश पदार्थों का सेवन करने लगा तब सदाशिवतत्त्व संबंधी तृप्ति (घृत) मुझे मिल गई। जब मैंने उस स्वयंप्रकाश पदार्थ को 'शरण' के मुख रूपी लिंग को अर्पित किया तब मैं प्रसन्नपरिणामी हो गया। फलतः मेरे प्रारब्ध एवं जन्ममरण नामक कर चरण नष्ट हो गए। इसलिये निर्गमनी हो गया।

२५८—उंडेनुट्टेनेंब संदेह निनगेकय्या! उंबुदे अग्नि, उडुवुदे पृथ्वि? नीनेंदु उंडे नानेंदु कंडे। उणदे उडदे होगेयकैयल्लि सत्तेनेंब अंजिके निनगे बेडा। अंजदिरु गुहेश्वरा निनगाव नाचिकेयू इल्ला।

वचन २५८—स्वामिन्, 'मैंने भोग किया वस्त्र पहन लिया' इत्याकारक संदेह आपको क्यों? क्या अग्नि भोजन करती है। क्या पृथ्वी वस्त्र धारण करती है। आपने कब भोजन किया मैंने कब देखा। बिना भोजन किए ही बिना वस्त्र धारण किए ही आपको धुँए से मरने का भय क्यों। इस प्रकार का भय आपके लिये उचित नहीं। गुहेश्वर, डरो मत, आपको कोई भय नहीं है।

अर्थ २५८—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसने अर्पित (भोजन) एवं अनर्पित दोनों का परित्याग कर दिया वही 'प्रसादी' है। उस प्रसादी को यह संदेह (चिंता) नहीं रहता कि मैंने भोजन किया अथवा नहीं किया और यह भी संदेह नहीं रहता कि मैंने शिवरूप में भोग कर उससे प्राप्त सुख को अपने शरीर का आवरण बना लिया। क्योंकि उस सुख का संबंध जठराग्नि से होता है। इसलिये उस सुख को द्वैतरूप में न देखकर मैंने अद्वैतरूप में देखा। अर्थात् उस सुख का भोग किये बिना ही 'मैं सुखी हो गया' ऐसा

कहना भी भ्रांति है। इसलिये उस भ्रांति का निवारण करना चाहिए और मैंने भोग किया भोग नहीं किया, इत्यादि द्वैतभाव त्याग देना चाहिए। तब कोई भय नहीं।

२५६—मेरुमंदिरदल्लि ईरैदर तले धारुणिय जनरु बणिसुतिप्परु। ज्ञानामृत रसदल्लि ओगरव माडि आरोगणेय माडिदेनु विषमाक्ष हर भस्मविभूषण शशिधर शरणु शरणेनुतिर्देनु। इंद्राग्नियपुर पट्टणदल्लि चंद्रहारव बेडिद्डे कंड कपालदलि उंडु तृप्ति अखंडित निराळ गुहेश्वरा।

वचन २५६—मेरुमंदिर में पंचकद्वय के शिर हैं संसार के लोग उन्हीं का वर्णन करते हैं। मैंने ज्ञानामृतरस से ओदन बनाकर उसका सेवन कर लिया एवं विषमाक्ष, हर, भस्मविभूषण, शशिधर, रक्षरक्ष इत्यादि स्तुति की। इंद्र एवं अग्नि के पुर और नगर में चंद्रहार माँगकर (उसे) देख लिया। गुहेश्वर, कपाल में भोजन कर लिया, (उससे) प्राप्त तृप्ति अखंडित एवं निराविल है।

अर्थ २५६—मेरु=तनुत्रय (स्थूल, सूक्ष्म, कारण)। मंदिर=अहंकार। पंचकद्वय=दश नाड़ियाँ। शिर=दशवायु। अग्नि का पुर=सगुणयोग के अग्निमंडल पर वर्तमान त्रिकोणमंडल नामक कुंडलिनी। इंद्रपुर=ऊर्ध्वचक्र नामक इंद्रियपुर। चंद्रहार=अमृत।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि तनुत्रय के लिये आधारभूत अहंकार में दश नाड़ियाँ हैं उनसे दश वायुओं की उत्पत्ति होती है। संसार के समस्त योगी इन्हीं वायुओं के रहस्य की बात कहते हैं। किंतु मैंने उनके रहस्य का भेद कर लिया और अपने सर्वांगों को ज्ञानामृतरस से समरस पाक बना लिया। फलस्वरूप मैं शिव बन गया और स्वयं अपनी स्तुति करने लगा। इस राजयोग की प्राप्ति के अनंतर उस सगुणयोग संबंधी अग्निमंडल के ऊपर वर्तमान त्रिकोण मंडल नामक कुंडलिनी के ऊपर बैठ गया और ऊर्ध्वचक्र नामक इंद्रियपुर में अनुभव नामक सूत्र से अपने को संबद्ध कर तत्रस्थ अमृत का सेवन किया। इस प्रकार सगुण एवं निर्गुण योग से सुखी होकर मैं अखंड एवं परिपूर्ण बन गया।

२६०—शिष्यन मुखदिंदाद गुरुविंगे शिष्यन प्रसाद गुरुविंगल्लदे, गुरुविन प्रसादशिष्यंगिल्ल । इदु कारण गुरुवे ओगर ओगरवे अर्पित प्रसादवेंदु उंडुंडु सवेदरेल्ला । सुडु सुडुशब्द सूतकर कैयल्लि स्थावर विधिवशवायित्तु गुहेश्वरा ।

वचन २६०—शिष्य द्वारा बनाए गुरु को शिष्य का प्रसाद अर्पित होता है न कि गुरु का प्रसाद शिष्य को । इसी कारण गुरु ही ओदन है उसका सेवन करना ही प्रसाद । ऐसा कहते कहते ओह सब लोग भोजन करके नष्ट हो गए । छी छी गुहेश्वर, इन शब्दसूतकों के संग से आप स्थावर एवं बंधन के अधीन हो गए ।

अर्थ २६०—इस वचन का भाव यह है कि शिष्य के ज्ञानप्रकाश से गुरु (ज्ञान) की उत्पत्ति होती है इसलिये वह गुरु शिष्य के प्रसाद का ही सेवन करता है । इसके विपरीत शिष्य उपाधि से गुरु द्वारा प्रसाद लेकर सेवन नहीं करता । उस शिष्य के लिये गुरु (ज्ञान) ही ओदन होता है । क्योंकि वह शिष्य गुरुतत्त्व का निगरण कर स्वयं गुरुतत्त्व ही हो जाता है और आनंद का अनुभव करता है । प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को न जानकर जो उपाधि के द्वारा हमने गुरु से प्रसाद लिया और गुरु बनकर 'हमने प्रसाद दिया' इस प्रकार का व्यवहार करता है वह मायाधीन है । उसकी बात मिथ्या है ।

२६१—ओळगे नोडिहनेंदरे ओळगु निराळ । होरगे नोडिहनेंदरे होरगु निराळ । होलदल्लि आविल्ल, मनेयल्लि करुविल्ल नेलहिन मेलण बेण्णे इदु दिटवो । नारिवाणद कायोळगण तिळिलु ओडेयदे निलबल्लरे जडउ गुहेश्वरा ।

वचन २६१—स्वामिन् यदि मैं भीतर देखना चाहता हूँ तो वहाँ शून्य है यदि बाहर देखना चाहता हूँ तो वहाँ भी शून्य है यह सत्य है । खेत में न गाय है न घर में बछड़ा पर छीके पर नवनीत है । गुहेश्वर, क्या ये जड़ जीव नारिकेल का भीतरी तत्त्व नष्ट किए बिना रह सकते हैं ।

अर्थ २६१—क्षेत्र=भक्ति । गाय=लिंग । घर=ज्ञान । बछड़ा='शरण' । नवनीत=परिणाम ।

इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसके समस्त अंग शिव को अर्पित हो गए हैं उसका अंतरंग निराविल है इसलिये वहाँ शून्य ही दिखाई देता है। बहिरंग में भी वही स्थिति है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उसके भक्तिस्थल नामक क्षेत्र में 'लिंग' नामक माँ है। अंतरंग के ज्ञानस्थल नामक घर में 'शरण' नामक शिशु भी है। किंतु उस माँ ने उस शिशु को भिन्न रूप में रखकर परिणाम नामक अमृत का पान नहीं कराया अर्थात् 'शरण' रूपी शिशु ने अद्वैत रूप से परमानंदामृत का पान किया। इसी प्रसंग के लिये 'क्षेत्र में न गाय है घर में न बछड़ा है पर छींके पर नवनीत है' कहा। प्रभुदेवजी कहते हैं कि शरीर नारिकेल के समान है। उसके गुणधर्म गरी के समान हैं। इन गुणों के निर्बंध में न रहकर उनको जो लिंग के गुणधर्म एवं कर्म के रूप में परिणत करता है और उस लिंगशरीर में परतत्त्व रूपी निर्बीज को अभेद रूप से स्वीकार करना जानता है वही 'शरण' पद के योग्य एवं शुद्ध 'प्रसादी' है।

२६२—हसिविल्लदे उणबल्लडे, उपाधि इल्लदे बेडबल्लडे, अदु मर्म। अदु संबंध। गमनविल्लदे सुळियबल्लडे निर्गमनियागि निलबल्लडे अदुमर्म। अदुसंबंध। अवरनडे पावन, अवर नुडि तत्त्व। अवरु जागदाराध्यरँबे गुहेश्वरा।

वचन २६२—बुभुक्षा के बिना यदि भोजन कर सके और उपाधि के बिना याचना कर सके तो वही मर्म है, वही संबंध है। गमन के बिना यदि संचरण कर सके एवं निर्गमनी होकर रह सके तो वही मर्म एवं संबंध है। गुहेश्वर, ऐसे व्यक्ति का संचरण पवित्र है। उसकी वाणी तत्त्व है। मैं उसी को जगदाराध्य कहूँगा।

अर्थ २६२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो अंग के आप्यायन के परित्यागपूर्वक लिंग का आप्यायनी हो गया है वही नित्यतृप्त है। फिर भी वह लिंग भोगोपभोग का भोग करता है। निष्काम होने पर भी शिवरूप में कामनापूर्वक याचना करता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि वह अपने को नित्यतृप्त, निष्काम एवं 'शिव' समझता है और वैसे ही परिपूर्ण भाव में रहता है। अतएव वह गमन करने पर भी निर्गमनी है। इसलिये जो इस अवस्था को प्राप्त करता है वही गुरु है वही जगद्वंद्य है। उसके वचन ही शास्त्र हैं।

२६३—उंडिहनेंदरे हसिविल्ला । कंडिहनेंदरे प्रतिइल्ल । नोडिह नेंदरे उदकदोळगण ज्योतियंते । गुहेश्वरा निम्मनामव हिडिदु बिट्टरे भंगवय्या ।

वचन २६३—स्वामिन्, यदि भोजन करना चाहे तो बुभुक्षा नहीं है। देखना चाहे तो अन्य वस्तु नहीं है। देखने का प्रयास करने पर भी जलगत प्रतिबिंब के समान है। गुहेश्वर, आपके नाम को ग्रहण कर परित्याग करने से दुःख मिलता है।

अर्थ २६३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो शिवानंद महासागर में मग्न है उसको यह चिंता नहीं रहती कि 'मैं भोजन करूँ'। क्योंकि उसको किसी प्रकार की आशा नहीं रहती। वह यदि देखना चाहता है तो उसको स्व से अतिरिक्त वस्तु ही नहीं मिलती। इसका कारण है मन नामक जल में जाज्वल्यमान परब्रह्म को दृढ़भाव से ग्रहण करना। जो इस रीति का अनुगमन करता है उसका नाश कभी नहीं होता। वही परशिवस्वरूप है।

२६४—उंडरेनो उणदिद्दरेनो? सोंकितवेनो असोंकितवेनो। हुट्टुवदिल्लागि होंदुवदिल्ल सत्त बदुकि निश्चिंतवायित्तु गुहेश्वरा।

वचन २६४—भोजन करे तो क्या, न करे तो क्या। स्पर्श करे तो क्या न करे तो क्या। जन्म न रह जाने के कारण (कुछ) प्राप्त करना भी नहीं है। गुहेश्वर, मैं मृत होकर जीवित होने के कारण निश्चिंत हो गया।

अर्थ २६४—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसने परवस्तु में अपना साक्षात्कार कर लिया है वह भोजन करने पर भी औपाधिक नहीं। भोजन न करने पर भी उपवासी नहीं। क्योंकि उसने जन्ममरण पर विजय प्राप्त कर ली है। इस लिये अहंकार को भूलकर वह स्वस्वरूप में अवस्थित हो गया है।

२६५—अंबरविल्लद मेरुव अंबुधि इल्लद गुंपुव तंदवरिल्लदे बंदित्तु। निजवनोळकोडित्तु। साधनविल्लद ओगरव भाजनविल्लदे गडणिसि भोजनविल्लदे तृप्तियायित्तु नोडा। क्रियाविरहित योग फलदायक हीनभक्ति आयत स्वायतवरियदे होयित्तु गुहेश्वरा।

वचन २६५—अंबररहित मेरु का अंबुधिरहित राशि को लानेवाला नहीं था पर निजतत्त्व को गर्भस्थ करके वे दोनों मुझे प्राप्त हो गए। देखो

साधनरहित ओदन का भोजन किए बिना ही तृप्ति हो गई। गुहेश्वर क्रिया विरहित योग, फलदायकता से हीन भक्ति, 'आयत', 'स्वायत', को न जानकर (लोग) नष्ट हो गए।

अर्थ २६५—अंबर=आत्मतत्त्व। मेरु='मैं आत्मतत्त्व हूँ' इत्याकारक अहंकार से रहित 'शिवोऽहम्' भाव। अंबुधि = भव। राशि = महाघनतत्त्व। लानेवाला=वृत्तिज्ञान। प्राप्त होना=स्वयुक्ति से साध्य होना। साधनरहित ओदन=स्वयं प्रकाशतत्त्व। भोजन किए बिना = द्वैत भाव से आस्वादन न करना। क्रियाविरहित योग=निष्क्रिय ज्ञान। फलदायकता से हीन भक्ति= सहज (समरस) भक्ति।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'मैं आत्मतत्त्व हूँ' इस प्रकार के अहंकार से रहित 'शिवोऽहम्' नामक मेरु को एवं भवरूपी सागर से रहित महाघनतत्त्व-को वृत्तिज्ञान से मैंने नहीं देखा किंतु निज युक्ति साधना द्वारा उसे अधिगत किया। उपाधि से रहित स्वयंप्रकाश रूपी पदार्थ को चिदाकाश रूपी पात्र में परोसकर मैंने उस पदार्थ का सेवन नहीं किया किंतु मैं स्वयं सुखस्वरूप बन गया। अर्थात् उस स्वयंप्रकाशस्वरूप पदार्थ के सेवन से जो आनंद प्राप्त होता था मैं वही आनंद स्वरूप बन गया। अतः उस स्वप्रकाश को अभेद रूप से जो सेवन करना जानता है वही शुद्धप्रसादी कहलाता है। इस प्रकार निष्क्रिय ज्ञान ने सहज सद्भक्ति द्वारा 'आयत' एवं 'स्वायत' के द्वैतभाव का परित्याग किया।

२६६—बेल्लद पुत्थळिय कैयल्लि हिडिदु एल्लि सुचुंबिसिदडू इनिदहुदु। वळ्ळेय बेविन हएण मेल्लने चुंबिसिदडे इनिदहुदे? एल्ल मिथ्येयनु बल्लेवेंदेंबरु, अवरुसल्लदे होदरय्या गुहेश्वरा।

वचन २६६—गुड़ की पुतली हाथ में लेकर कहीं से चखने पर मीठी ही लगती है। परिपक्व नीम का फल लेकर थोड़ा भी चूसने पर क्या मीठी लगता है। जो समस्त मिथ्या को जानने का दंभ भरते हैं गुहेश्वर, वे सब अयोग्य होकर चले गए।

अर्थ २६६—इस वचन का भाव यह है कि जिसके समस्त अंग 'लिंग' के साथ संबद्ध हो गए हैं वह बाह्य एवं आभ्यंतर में सुखपरिणामी है। इसलिये वह खंडितसुखी नहीं है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस तत्त्व

को नहीं जानते और 'प्रसन्नप्रसादो' परम सुखी होने का दंभ भरते हैं वे सब भव के अधीन होकर चले गए।

२६७—निरवय, निर्गुण निशून्य लिंगक्के शरणरु तम्मतनु-गुणादिगळनर्पिसिहनॆंबुदे महा पाप, अवु तम्मतनुविनल्लिप्पुदे अंग अदे कर्म, ई उभय नास्तियागद सुळुहु मुंदे काडितय्या गुहेश्वरा।

वचन २६७—निरवयव, निर्गुण एवं निःशून्य 'लिंग' के लिये लोग यदि 'हमने अपने तनुगुणादि का अर्पण किया' कहते हैं तो वह महापाप है। उन (गुण) का अपने शरीर में रहना ही दोष है, वही कर्म है। गुहेश्वर इस उभय अभाव से रहित संचार भविष्य में पीड़ा देता है।

अर्थ २६७—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिस (शरण) के सर्वांग के बहिरंगतरंग में निरवय, निराविल एवं निर्नाम 'लिंग' का संबंध होगया है वह स्वयं 'शिव' ही है। उसका सुख ही 'लिंग' के लिये प्राप्त होता है। वही प्रसाद है 'वह प्रसादी इस रहस्य को न जानकर द्वैतभाव से कायगुण, प्राणगुण एवं करणगुण के धर्म एवं कर्म को शिवार्पण करने का दंभ भरनेवाला तामसी नहीं है। क्योंकि इस निर्णय को न जानकर जो संचार करता है वह भावीसंसार का कारण होता है।

२६८—नोडलिल्लद श्रृंगार माताडलिल्लद शब्द बेडलिल्लद वरव नोडिरे निराळव। बाडलिल्लद शशिय बेळगु कूडदे कूडित्तोंदु सुखवकंडे। नानु इल्लद उपकार मेल्लदसविर्यिद सुखियादे गुहेश्वरा।

वचन २६८—न देखा हुआ श्रृंगार, अनुच्चरित शब्द एवं अयाचित निराविल वर को (आप) देखिए। (वह) क्षीण न होनेवाला चंद्रप्रकाश है। मिलन के बिना ही एक सुख से मिलन हो गया इसे मैंने देखा। गुहेश्वर उपकार से रहित एवं आस्वादनरहित रुचि से मैं सुखी हो गया।

अर्थ २६८—इस वचन का अर्थ यह है कि जिसके समस्त अंग 'लिंग' संबद्ध हो गए हैं उसको कोई वस्तु अपने से भिन्न रूप में नहीं दिखाई पड़ती। सर्वत्र वह स्वस्वरूप के ही दर्शन करता है। किंतु अपने स्वरूप को द्वैतरूप में न देखकर अद्वैतरूप में ही देखता है। अतः 'न देखा हुआ श्रृंगार' कहा। वह 'शरण' शब्दसंधान के दाक्षिण्य का परित्याग कर निःशब्दवेदी हो गया

है। अतः वह यदि भाषण करता है तो साक्षात् शब्दब्रह्ममूर्ति है। इसलिये 'अनुच्चरित शब्द' कहा। उस 'शरण' ने फलभोग से रहित होकर स्वयं अपने स्वरूप को वर के रूप में प्राप्त किया। इसलिये 'अयाचित वर' कहा। उसका आनंद तापत्रय बनकर क्षीण नहीं हुआ किंतु वह स्वयं स्वस्वरूपानंद बन गया। अतः 'क्षीण न होनेवाला प्रकाश मिलने के बिना ही सुख का मिलन' कहा। वह 'शरण' देने में और ग्रहण करने में उपकार को भूल गया है। अतः इस उपकारस्मरण के बिना देता है और ग्रहण भी करता है। इसलिये 'उपकार से रहित' कहा। अपने निजस्वरूप के आनंद का आस्वादन स्वस्वरूप में होकर (अद्वैत से) किया। अतः 'आस्वादनरहित रुचि' कहा।

२६९—नानुसजीववो नीनु सजीववो ? निमगे एनगेयू संबंधवय्या। निन्ननेंतु प्राणलिंगवेंदु पूजिसुवेनय्या। एन्नप्रसादवु निमगे, निन्न-प्रसादवु एनगे। एनगेयू निननेयू एक प्रसाद काणा गुहेश्वरा।

वचन २६९—स्वामिन् मैं सजीव हूँ या तुम। तुमसे मेरा संबंध है। 'प्राणलिंग' समझकर मैं आपकी पूजा कैसे करूँ। देखिए आपका प्रसाद मेरे लिये एवं मेरा प्रसाद आपके लिये है। देखो गुहेश्वर, मेरे लिये और आपके लिये एक ही प्रसाद है।

अर्थ २६९—इस वचन का भाव यह है कि शिव (लिंग) की प्राण-कला चैतन्यकला एवं ज्ञानकला इन सबको 'शरण' ने अपने में ग्रहण कर लिया है। इसलिये 'शरण' रूप में 'लिंग' एवं शिव चैतन्यस्वरूप हो गया है। अर्थात् 'लिंग' है' इस भाव का लय होने के कारण वह निर्जीव हो गया है अतः 'मैं सजीव हूँ या तुम' कहा। इस अवस्था को प्राप्त शरण ने 'प्राण ही लिंग है' इत्याकारक द्वैतबुद्धि से उसकी पूजा नहीं की। इसी प्रसंग के लिये 'प्राणलिंग' समझकर आपकी पूजा कैसे करूँ' कहा। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस 'शरण' का परिणाम ही 'लिंग' का परिणाम एवं उस लिंग का परिणाम ही 'शरण' का परिणाम है। इस प्रकार वह सुख उभय सुख (द्वैत) न होकर एक ही सुख हो गया।

२७०—तलेय मेले तले इद्दित्तल्ला। तले तलेयु तलेनुंगित्तल्ला सत्तु हालसवियबल्लरे रथदकील बल्लरे योगवु। शिशु कंड कन-सिनंतुळ्ळ तृप्ति निम्मल्लियुंटे हेळा गुहेश्वरा।

वचन २७०—अहा, शिर के ऊपर शिर था। शिर के शिर ने शिर को निगला यदि मृत होकर क्षीर का पान कर सके एवं रथ की कील को जान सके तो वही योग है। तृप्ति शिशुदृष्ट स्वप्नवत् है। गुहेश्वर, बताओ क्या वह (तृप्ति) आपके पास है।

अर्थ २७०—शिर=ज्ञान। ऊपर का शिर = वृत्तिज्ञान। शिर का शिर= महाज्ञान। मृत होना = अहंकार का नाश होना। क्षीरपान=परमामृत का सेवन। रथ=देह। कील=रहस्य। शिशु दृष्ट स्वप्न=स्वस्वरूपज्ञान।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि ज्ञान विषय को जानता है। वृत्तिज्ञान उस ज्ञान को जानता है। उसके ऊपर एक महाज्ञान है। उस ज्ञान को जब मैंने अच्छी तरह जान लिया तब उसने ज्ञान एवं वृत्तिज्ञान दोनों को आच्छादित कर लिया अर्थात् उन दोनों का लय हुआ और मुझे महाज्ञान की प्राप्ति हुई। वही मेरा स्वरूप था। इस प्रकार स्वयं मृत होकर (अहंकार को नष्ट कर) जो स्वयं बच जाता है अर्थात् अपने को 'शिव' समझता है और उस भाव से परमामृत का सेवन करता है वही सुखी है। यदि सुख चाहता है तो इसी को प्राप्त करना चाहिए। शरीर का नाश किए बिना उसके निराकार होने का रहस्य जानना ही योग का कर्म है। इस प्रकार जो स्वयं स्वस्वरूप को जानकर वही हो जाता है उसकी अनुभूति शिशु के द्वारा देखे हुए स्वप्न की भाँति है।

२७१—अरिविनोळगोंदु मरवे अदे, मरवेयोळगोंदु अरिवदे। अरिवे मरिवे एंबेरडु अळिदरे निर्वयलवु अदे। तानेंबल्लि निष्पत्ति अदे। इदेनु हेळा गुहेश्वरा।

वचन २७१—ज्ञान के भीतर एक अज्ञान है और उस अज्ञान (विस्मरण) में एक ज्ञान है। यदि ज्ञानाज्ञान का लय होता है तो उसमें निरावलम्ब है। 'अहम्' (कहने) में निष्पत्ति है। गुहेश्वर, बताओ यह क्या है।

अर्थ २७१—इस वचन का भाव यह है कि जब तक मन में (वृत्ति) ज्ञान है तब तक विस्मरण रहता ही है। वह सदा ज्ञान का पीछा करता रहता है। यदि कोई इन दोनों (ज्ञान-अज्ञान) को नष्ट करता है तो उसको अपने स्वरूप का साक्षात्कार भी होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'अहंब्रह्मास्मि' में यदि अहंकार की निष्पत्ति हो जाती है तो वही परम राजयोग है।

२७२—जूजिन वेधेयुंटु, जागरद बलविल्ल, आगळू गेललुंटे प्राणपथकव। रतुनद-सरहरिदु सूसिबिद्दरे माणिकव बेलेइट्टु बिलितवरिल्ल। सर्पिणि सर्पन नुंगि दीपवने नुंगित्तु इदुयोगद दृष्टान्त गुहेश्वरा।

वचन २७२—द्यूतक्रीड़ा की व्यथा है किंतु जागरूकता का बल नहीं है। क्या तब भी जीव पथपर कोई विजय कर सकता है। यदि मोती की माला टूटकर बिखर जाती है तो मोती का मूल्य देकर कोई खरीदनेवाला नहीं है। सर्पिणी ने सर्प को निगल कर दीप को भी निगला। गुहेश्वर, यही योग का दृष्टांत है।

अर्थ २७२—द्यूतक्रीड़ा की व्यथा = अनुभव द्वारा तत्त्व को जानने की चिंता। जागरूकता=स्वविमर्शात्मक शक्ति (अपने स्वरूप को जानने की शक्ति)। मोती की माला=स्वस्वरूप का ज्ञान। सर्पिणी=आधार शक्ति। सर्प=कुंडलिनी। दीपक=कुंडलिनी का प्रकाश।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि (स्वविमर्शात्मक) अपने आपको जागरित करने की शक्ति जिसके पास नहीं है उसको अनुभव द्वारा तत्त्व जानने की चिंता सदा रहने पर भी कोई लाभ नहीं होता। उसने जीवनपथ पर विजय नहीं पाई। क्योंकि मृत होने तक वह (जीवन का) आनंद नहीं पा सकता। अर्थात् इसी समय स्वस्वरूप को जानकर सुख का अनुभव नहीं कर सकता (शिवत्व का लाभ नहीं पा सकता)। इसलिये स्वस्वरूप ज्ञानरूपी मोती की माला यदि टूटकर अलग हो जाती है (अपना स्वरूप यदि अपने से भिन्न प्रतीत होता है) तो स्वयं उसकी खोजकर उसे धारण करना चाहिए और उसी से आनंद प्राप्त करना चाहिए। किंतु उस वस्तु को अपने से अलग समझना अथवा उसको अलग रखकर शब्द द्वारा उसका निर्वचन करना उचित नहीं है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि कि मेरी आधारशक्ति में कुंडलिनी विलीन हो गई। फलस्वरूप मैंने सगुणयोग को पार कर लिया। इसलिये उसकी प्रभा समस्त लोक में फैल गई। इन्हीं दोनों सगुण एवं निर्गुण योग के समरस होने से राजयोग होता है।

२७३—भूतळद मतिवन्तरु आत्मन स्थलविडलु मातुमाणिक्यव नुंगि, जाति धर्मव नुडुगि व्रतद अमेगळु सुट्टु। चित्तद भस्मव

घरिसि अणिमादि गुणंगळ गतिय पथव मीरि भ्रान्त्यळिदु ज्योति बेळगुतिदे गुहेश्वरा।

वचन २७३—स्वामिन, संसार के पंडित आत्मा को जब स्थल में लाए तब वाणी ने माणिक्य निगला। जाति, धर्म को नष्ट कर (मैंने) व्रत, नियमों को भी जलाया, (और) चिद्भस्म का लेपन करके अणिमादि गुणों की गति के पथ का अतिक्रमण कर लिया। गुहेश्वर, (अब) भ्रांति से रहित ज्योति प्रकाशित हो रही है।

अर्थ २७३—संसार के पंडित=शास्त्राभ्यास के बल से आत्मा का साक्षात्कार करनेवाले। माणिक्य=ज्ञानरत्न।

इस वचन का भाव यह है कि जो अपने को शिव नहीं समझता है और बुद्धि के बल से आत्मसाक्षात्कार का दंभ भरता है उसकी बात मिथ्या है। क्योंकि उसकी वाणी ने परमात्मातत्त्व रूपी रत्न को निगल तो लिया, पर बाहर नहीं निकाल पाती। प्रभुदेवजी कहते कि मैंने इसके सर्काल (रहस्य) एवं संबंध को जानकर मैंने जाति, वर्ण, आश्रम, नाम, गोत्र आदि का परित्याग कर दिया और उनको ज्ञानाग्नि से जलाकर भस्म कर लिया। अविशिष्ट चिद्भस्म का शरीर पर लेप कर लिया। फलस्वरूप अणिमादि अष्टसिद्धियों का पार कर लिया और मैं समस्त भ्रांति से रहित परमज्योती के रूप में प्रकाशमान हो गया।

२७४—नोडुवदु नोडलरियदे केट्टित्तु लोकवेल्ला नोडुवदु नोडबल्लरेकूडलिल्ल अगललिल्ल। नोटद कूटद, अगलद सुखवनु गुहेश्वरा निम्मशरण बल्ल।

वचन—२७४—द्रष्टा के दर्शन न करके समस्त संसार नष्ट हो गया। यदि द्रष्टा के दर्शन कर सके तो न मिलन है न वियोग। गुहेश्वर, देखना, मिलन एवं वियोग न होने के सुख तुम्हारा 'शरण' ही जानता है।

अर्थ २७४—इस वचन का भाव यह है कि परब्रह्म को जानने की इच्छा से उसका निरीक्षण करना सुज्ञान है। निरीक्षण को नहीं, अपने को ही सुज्ञान स्वरूप समझना चाहिए। यही शिवत्व का लाभ है। इस रहस्य को न जानकर ज्ञानी ने उस ज्ञान को स्वर से भिन्न समझा इसलिये वह मृत हो गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्व को उस ज्ञानस्वरूप समझने के पश्चात् यदि कोई ज्ञातृस्वरूप हो जाता है तो उस समय सामरस्य के कारण वह वही

हो जाता है। इसलिये वहाँ न मिलन है न वियोग। इस ज्ञान के शुद्ध ज्ञातृतत्त्व के साथ सामरस्य करने का रहस्य महाज्ञानी जान सकता है।

२७५—भुवन हदिनालकर भवनद कीलने कळेदु उरवणिसुव पवनंगळ तरहरिसिदडदु योग। चतुरसदोळगण निलव काणबेकु, वज्र निलद होदिकेयल्लिद भुवनंगळ होद्दि माणिकव नुंगि उगळदु गुहेश्वरा।

वचन २७५—चतुर्दशभुवन के भवनों की कील निकालकर रभसमय वायुओं को शांत कर सका जाए तो वही योग है। रसचतुष्टय के भीतर स्वस्वरूप को देखना चाहिए। नीलवज्र के आवरण में वतमान भुवनों को धारण कर उसने माणिक्य को निगला। गुहेश्वर, पुनः बाहर नहीं निकल रहा है।

अर्थ २७५—रभसमय वायु=दश वायु। रसचतुष्टय=अंतःकरण चतुष्टय। नील=अज्ञान। वज्र=अभेदबुद्धि। माणिक्य=महाज्ञान।

इस वचन का भाव यह है कि चतुर्दश भुवन एक ही पिंड में हैं इस रहस्य को जानकर जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' भाव से रहकर उन भुवनों की निवृत्ति करता है और दश वायुओं के रहस्य को नष्ट करता है वही परमयोगी है। इसी क्रिया को परमयोग कहते हैं। दश वायु के रहस्य का नाश करने के अनंतर अंतःकरण चतुष्टय में तादात्म्य रूप से रहनेवाले परमचैतन्य को जान लेना चाहिए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि नीलवर्ण अज्ञान एवं उसमें रहनेवाले भुवनों को मेरा अभेदबुद्धि नामक वज्र निगल गया पुनः उन सबको बाहर नहीं निकाला। अर्थात् उस वस्तु के अनिर्वचनीय होने के कारण मैंने शब्द द्वारा उसे व्यक्त नहीं किया।

२७६—तानिद्दु तन्ननरियदे इन्नेन्दिंगे शरणनप्पनय्या? पवनस्थानवनरिद बळिक बंदु बंदुसुळियलिल्ल। इदरंतवनारु बल्लरु गुहेश्वरा निम्मशरणरल्लदे।

वचन २७६—स्वयं होते हुए यदि स्वस्वरूप को नहीं देख सकता तो 'शरण' कैसे हो सकता है। पवन का स्थान जानने के पश्चात् (मैंने) यहाँ पुनः पुनः संचरण नहीं किया। गुहेश्वर, इसका अंत तुम्हारे शरण के बिना कौन जान सकता है।

अर्थ २७६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि श्रीगुरु के कटाक्ष से यदि किसी में ज्ञान की उत्पत्ति होती है तो उसी समय अपने स्वरूप को देख लेना चाहिए और अपने को शिव समझ आनंद का अनुभव करना चाहिए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को न जानकर जो केवल वागद्वैत का व्यवहार करता है वह मिथ्या प्रपंच के अधीन होता है।

२७७—आकाशव नुंगिद् सर्पन फणिय मणियोळगण कप्पे वायुवनलन संचव नुंगित्तदेनो ? रुहिल्लदतलेगे मोलेमूरायित्त कंडे। उंडाडुव शिशुविनकय्यल्लि माणिकदारतिय कंडे। कायविल्लद् हेणन वायुविल्लदे जवननेळेदोय्दनेंबवायक्के वायुवनेनेंबे गुहेश्वरा।

वचन २७७—यह क्या है, आकाश को निगीर्ण किए हुए सर्प की फणा-मणि के ऊपर वर्तमान मंडूक ने वायु एवं अनल का समूह निगल लिया। रूपरहित शिर में तीन स्तनों की उत्पत्ति हुई, इसे मैंने देखा। अपने रंग में मस्त बालक के हस्त में माणिक्य की आरती मैंने देखी। गुहेश्वर, शरीर-रहित शव को बिना कारण 'यम ले गया' इस मिथ्यापूर्ण कथन का मैं क्या कहूँ।

अर्थ २७७—इस वचन का अर्थ यह है कि शिवयोग की साधना के बल से आधारस्थित कुंडलिनी को जगा देने से वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट होकर ब्रह्मरंध्र में पहुँची वहाँ से उसने व्योमचक्र प्राप्त कर लिया। उस कुंडलिनी के शिर के ऊर्ध्व भाग में सुज्ञान रूपी रत्न था। उस रत्न के भीतर परम शांतिबिंदु है। उसने अग्नि एवं वायु के सम्मिश्रण से बने हुए समस्त गुणों का ग्रास कर लिया। उस परम शांतिबिंदु के रूप में ही निरवयव ज्ञान (महाज्ञान) रहता है। उसने (मेरे) तनुत्रय में प्रवेश किया। और वहीं रह गया। उस तनुत्रय में परिपूर्णामृत भर गया। उस अमृत का सेवन करनेवाले शिष्य रूपी 'शरण' के लिये महाज्ञान हस्तामलकवत् हो गया। अर्थात् वह निराकार हो गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिवयोग की इस साधना द्वारा इस अवस्था को प्राप्त 'शरण' यदि मृत हो जाता है तो यह कहना अत्यंत असत्य है कि 'उसको यम ले गया'। इसका तात्पर्य यह है कि उस 'शरण' की मृत्यु नहीं होती। वह मृत्यु को जीत लेता है।

२७८—शिवशक्ति संपुटवेंबुदेंतु हेळिरण्णा। शिवने चैतन्यात्मनु शक्तिये चित्तु इन्तु चैतन्यात्मने चित्स्वरूपनेंदरिय बल्लरे आतने शरण गुहेश्वरा।

वचन २७८—हे भाई बताओ, शिवशक्ति का संपुट कैसा होता है। 'शिव ही चैतन्यात्मा शक्ति ही चित् है'। इसलिये गुहेश्वर, जो शिव को ही चैतन्यात्माचित्स्वरूप मानता है वही 'शरण' है।

अर्थ २७८—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो 'शिव पुरुष एवं शक्ति प्रकृति है' इत्याकारक द्वैतभाव का परित्याग करता है और शिव को ही चैतन्यात्मा समझकर उसमें चिच्छक्ति का प्रकाश करता है वही 'प्राणलिंगी है, वही 'शरण' है।

२७६—आकाशद बीज अग्नियलोदगि शाखे इल्लदे मोळेतु पल्लविसित्तु। अरिदेनेंबवननारडिगोंडित्तु। ईनिर्णयवनरियदव मानव। गुहेश्वरनेंबुदु बयल विकार।

वचन २७६—आकाशरूप बीज अग्नि के संपर्क से शाखा के बिना अंकुरित एवं विकसित हो गया। जो उसको जानने का साहस करता है उसे वह मधुकर बना देता है। जो इस निर्णय का नहीं जानता वह मानव है। गुहेश्वर निराकार है।

अर्थ २७६—आकाश बीज=आत्मतत्व। अग्नि=ज्ञान। शाखा=आत्मतत्व। अंकुर=स्वानुभाव (विवेक)।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि आत्मतत्त्व के निर्बीज स्थल में ज्ञानाग्नि का संपर्क हो जाने से महानुभाव (विवेक) नामक वृक्ष अनात्मतत्त्व की वासना रूपी शाखा के बिना विकसित होता है। अर्थात् ज्ञानोदय के कारण आत्मा में अनात्मतत्त्व की वासना नष्ट हो जाती है और विवेक का विकास होता है। परंतु जा इस महानुभाव (विवेक) को स्व से भिन्न समझकर जानने का प्रयास करता है उसको 'मैं जानूँगा' इत्याकारक ज्ञानदृष्टि के सामने वह द्वैत के रूप में ही लक्षित होता है और स्वयं लुप्त हो जाता है। इसलिये अपनी खोज करने (जानने) वालों को वह भ्रमर सदृश बना देता है (कष्ट देता है)। इस निर्णय को जो नहीं जानता वह मानव (अज्ञानी) है। जो जानता है वही निरामय है।

२८०—हरिदरसिहनेंदरे मनद्‌विकार। सुळिदरसिहनेंदरे पवन विकार। निंदरसिहनेंदरे कायविकार। ओळगरसिहनेंदरे ज्ञान-विकार। अरसनिल्लदे बेरिसबल्लरे आतने शरण गुहेश्वरा।

वचन २८०—यदि कोई आतुरता से खोज करना चाहता है तो वह मन का विकार है। संचरण करके खोजना चाहता है तो वह पवन का विकार है। स्थित होकर खोजना चाहता है तो वह शरीर का विकार है। अंतरंग में खोजना चाहता है तो वह ज्ञान का विकार है। गुहेश्वर जो खोज के बिना मिलन (सामरस्य) कर सकता है वही 'शरण' है।

अर्थ २८०—इस वचन का भाव यह है कि जो मन के विकारों से व्याकुल हो रहा है वह यदि परवस्तु को जानने का साहस करता है तो उसको परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। वायु की गति से (वायु की भाँति) संसार में संचरण कर यदि उस वस्तु को जानना चाहता है तो उसको भी प्राप्त नहीं होती। क्योंकि वायु की भाँति संचरण करना काया का निग्रह है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि अन्यत्र कहीं भी उस वस्तु की खोज न करके जो स्व को शिव समझता है उसी को वह प्राप्त होता है। अर्थात् वही शिव है।

२८१—हत्तुबण्णद गिडविंगे, हत्तेले हत्तु हू-हत्तुकायागित्तु। हत्तु हत्तु घनदल्लि अळवट्टु हत्तु हत्तु; आचारक्रमदल्लि विचारवकाण-बल्लरे आकाय लिंगमयवहुदु काणा गुहेश्वरा।

वचन २८१—दस वर्ण के वृक्ष में दस पर्ण, दस कुसुम एवं दस फल हुए हैं। (प्रथम) दस, दस (वर्ण, पर्ण) को नष्ट करके महाघन में समन्वित (करना चाहिए) और (द्वितीय) दस दस को आचार में रखने से विचार को देख सकते हैं। गुहेश्वर (जो ऐसा करता है) वही काय 'लिंग' मय हो जाता है।

अर्थ २८१—दस वर्ण का वृक्ष=दस वायु से संयुक्त शरीर। दस पर्ण= दस रूपप्रपंच। पुष्प=दशेंद्रियाँ। फल=इंद्रियों का विकास।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि दस वायु से संयुक्त शरीर रूपी वृक्ष में दस नाड़ियाँ शाखा के रूप में वर्तमान हैं। उन शाखाओं में प्राण आदि दस वायु प्रपंच को प्राप्त हैं वे ही प्रपंच पर्ण के समान हैं। उन प्रपंचों में दशें-द्रियों का वास रहता है, इसलिये वे विकसित होते हैं। अतः वे ही पुष्परूप

हैं। इन दस नाड़ियों का रहस्य एवं दस वायु के प्रकृतिगुणों को जब कोई नष्ट करता है तब वे आचारलिंग के साथ सामरस्य को प्राप्त होते हैं और उसे परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

२८२—प्राण, लिंगदल्लि समनिसदु। लिंग, प्राणदल्लि समनिसदु। प्राणलिंग लिंग प्राणवेंबुदु संशयवल्लदे निजवल्ल केळा? दशप्राणवळिदु लिंगवे तानेंदरियबल्लरे अदेप्राणलिंग गुहेश्वरा।

वचन २८२—लिंग में प्राण समवेत नहीं एवं प्राण में लिंग समवेत नहीं (अतः) 'प्राण ही लिंग' एवं 'लिंग ही प्राण' कहना संदेह मात्र (द्वैत) है। वह सत्य नहीं है। गुहेश्वर, दस प्राण (वायु) का परित्याग कर जो स्व को शिव (लिंग) समझता है वही प्राणलिंगी है।

अर्थ २८२—इस वचन का भाव यह है कि यदि कोई 'प्राण ही लिंग है एवं लिंग ही प्राण है' इस प्रकार का शब्दव्यवहार करता है तो वह द्वैत होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस उभय भाव के परित्यागपूर्वक दश वायुओं का नाश करके जो सर्वांग लिंगमय होकर रहता है वही परम चैतन्यात्मा है।

२८३—तनु ओंदु द्वीप। मन ओंदु द्वीप आप्यायन ओंदु द्वीप। वचन ओंदु द्वीप। इन्तीनाल्कु द्वीपदेडेय बेसगोंबरे गुहेश्वरा निम्म स्थानंगळु।

वचन २८३—शरीर एक द्वीप है, मन एक द्वीप है, आप्यायन एक द्वीप एवं वचन एक द्वीप है। गुहेश्वर, इन चारों द्वीपों का विचार करने पर वे सब आप ही के स्थान हैं।

अर्थ २८३—प्रभुदेवजी कहते हैं कि मेरे शरीर रूपी द्वीप में सदाचार ज्ञान का आवास हो गया, मन रूपी द्वीप में प्रकाशज्ञान का आवास हो गया आप्यायन रूपी द्वीप में परिणामज्ञान का आवास हो गया और वचन रूपी द्वीप में शब्दज्ञान का आवास हो गया। इस चतुर्विध स्थानों में एक ही महाज्ञान चतुर्विधरूप में प्राप्त है इस प्रकार का ज्ञान हो जाना ही सर्वांग लिंग संबंध कहलाता है।

२८४—आदियल्लि शिवदारव कंडे। बीदियल्लि बिद्द सेज्जेय कंडे। प्राणलिंगव बच्चिट्टुकोंडेनु। कायवळिदु जीवनिम्मल्लिगे बंदरे एन्निद व्रतगेडिगळिल्ल गुहेश्वरा।

वचन २८४—आदि में मैंने शिवसूत्र को देखा मार्ग में पड़ी हुई करंडिका को देखा (परंतु) प्राणलिंग को छिपा कर रख लिया। गुहेश्वर, यदि (मेरा) शरीर मृत होकर जीव तुम्हारे पास आ जाता है तो मुझसे कोई व्रत भ्रष्ट नहीं होगा।

अर्थ २८४—आदि में शिवसूत्र=मूल स्वानुभाव। करंडिका=मायिक शरीर।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि मूल स्वानुभाव रूपी सूत्र से शरीर रूपी करंडिका को बाँधकर उस (करंडिका) में 'प्राणलिंग' रखकर मैंने उसे धारण कर लिया। जिसने इस शरीर रूपी करंडिका में चैतन्यात्मा रूपी 'लिंग' धारण कर लिया है उसके सर्वांग में लिंग का ही आवास हो गया है। इसलिये वह सर्वांग लिंगमय है। इसी कारण वह 'शरण' जिस अवस्था में है उसी अवस्था में निराकार हो जाता है। अतः वह देह रूपी उपाधि को छोड़कर प्राणमुक्त होनेवाला नहीं है। अर्थात् शरीर को यहीं छोड़कर अथवा शरीर-पात होने के अनंतर मुक्त होनेवाला नहीं है।

२८५—इद्दुद हेळलिल्ल। इद्दुद तोरलिल्ल। होद्दिद्दाश्रमव नानेनेंबेनु शिवने भद्रकाळिय बसुरोळगिद्द बाविय सर्पनु सिद्ध रसद घटकेय नुंगि एद्दु आडित्तु नोडा। हद्दिन हेडेयल्लि माणिक विद्दि-हुदु। इल्लेंब एद्दु हेळुव कनसुतानल्ल गुहेश्वरा।

वचन २८५—मैंने अपनी अवस्था को किसी से नहीं कहा और किसी को नहीं दिखाया। स्वामिन्, उस अवस्था का वर्णन मैं कैसे करूँ। देखो भद्रकाली के उदरस्थित कूप के सर्प ने सिद्धरस की गुटिका निगल ली और उठकर क्रीड़ा की। गृध्र के मस्तक में माणिक्य है गुहेश्वर, वह (माणिक्य) जागरण के पश्चात् कहे जानेवाले स्वप्न की भाँति नहीं है।

अर्थ २८५—भद्रकाली=मंत्रशक्ति। उदर = आधारस्थल। कूप=परमामृत कूप। सर्प = कुंडलिनी। सिद्धरस गुटिका = परमानंद रूपी बिंदु। गृध्र= परमहंस (गृध्र जैसे आकाश में स्वलीला से संचरण करता है उसी प्रकार

आत्मतत्त्वरूपी आकाश में परमहंस स्वलीला से संचरण करता है)। मस्तक= परमहंस का ब्रह्मरंध्र । माणिक्य = महाज्ञानरत्न ।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिस (मैं) ने शिवसामरस्य कर लिया और उसके आनंद को द्वैतरूप में दिखाकर उसके बारे में कुछ नहीं कहा। क्योंकि वह उस सामरस्य के सुख का वर्णन नहीं कर सकता और उसे वैसा नहीं करना चाहिए। भद्र=मंगल। काली=संहार कारिणी। अर्थात् 'शरण' के (मेरे) समस्त करणों को नष्ट करनेवाली भद्रकाली रूपा मंत्रशक्ति के आधार-स्थल रूपी अंतरंग में परमामृत का कूप है। उस कूप में सदा कुंडलिनी (सर्प) का आवास रहता है। वही कुडलिनी सिद्धरस अर्थात् परमानंदबिंदु का सेवन कर उसी आनंद में क्रीड़ा कर रही है। जिस प्रकार आकाश में स्वलीला से पक्षी क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार स्वलीलापरायण परमहंस भी आत्मतत्त्व रूपी आकाश में क्रीड़ा करता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने उस परमहंस के ब्रह्मरंध्र में ज्ञानरत्न देखा। किंतु स्वप्नावस्था में स्वप्न देखकर जागरण काल में जिस प्रकार उसका वर्णन करते हैं अर्थात् द्वैतरूप से कहते हैं यदि उसी प्रकार उस ज्ञानरत्न का द्रष्टा भिन्न रूप से उसका वर्णन करता है तो उसको 'शरण' का (मेरा) स्वरूप ज्ञात नहीं होगा।

२८६—अद्वैतन करस्थलदोळगे अनंतवेंब गिणि मूर्तगोंडु अतीत अनागत वर्तमानवेंब कोरेय कूळनुंडु ओदित्तु अगणित पुराण। अनामय शास्त्रवनु अनुपमवेदवेंदु निःस्थलव स्थलविडलु निर्मलात्मंगे इहविल्ल परविल्ल। आदि मध्य अन्त्य निराळ गुहेश्वरन अनुभाविगे सर्वांग लिंगवु

वचन २८६ अद्वैत के हस्त में अनंत नामक शुक ने बैठकर अतीत अनागत एवं वर्तमान रूपी तीक्ष्ण आहार का भक्षण करके अगणित पुराण अनामय शास्त्र को अनुपम वेद समझकर अध्ययन किया। निःस्थल को स्थल करने से उस निर्मलात्मा के लिये न इह है और न पर। आदि, मध्य अंत में निराविल गुहेश्वर के अनुभावी का सर्वांग लिंगमय है।

अर्थ २८६—प्राणलिंग संबंध में अविरल रूप से वर्तमान 'शरण' के मन में 'शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' कहनेवाला परमहंस अप्रमाण होकर मूर्त (विराजमान) हो गया है। परमहंस ने अतीत, अनागत, एवं वर्तमान इन त्रिकाल ज्ञानों के संहारपूर्वक सकल वेद, शास्त्र एवं पुराणों को ग्रस्त कर

मरुळे। स्वतंत्रमनदोळगिद्दु निजवनरिदिहेनेंदरे मूर्ति किरिदल्ल निल्लु माणु। गुहेश्वरन घनगट्टियनरिद्डे निन्नरिवेल्लव हुरिहंचुमाडि नीनरि मरुळे अनुभावि याद्डे।

वचन २८६—यदि 'हम जान गए, जान गए' कहते हैं तो भविष्य में विस्मरण क्यों है। यदि ज्ञान आपके पास है तो ('हम जान गए' इत्याकारक) अपने ज्ञान का भर्जन पात्र बनाइए। हे पागल, स्वच्छंद मन के अधीन रहकर उस वस्तु को देखना चाहो तो वह छोटी वस्तु नहीं है। तुम यदि अनुभावी हो; और यदि गुहेश्वर की घनमूर्ति को जानना चाहते हो तो अपने ज्ञान का त्याग दो।

अर्थ २८६—'मैं जानता हूँ' ऐसा कहना अज्ञान है। क्योंकि जाननेवाले मन में अन्य वस्तु को जानने का अभिलाष रहता ही है। इसलिये जानने वाली वस्तु को जानकर जाननेवाला यदि स्व को ही उस वस्तु के रूप में समझ ले और भेदज्ञान का त्याग कर दे तो वही पूर्ण है। इस रहस्य को न जानकर परिपूर्ण घनवस्तु में रहते हुए भी वहीं अवकाश की कल्पना करके उस वस्तु को जानने की इच्छा करना द्वैतज्ञान कहलाता है। अतः इस रीति को जानकर स्व को ही परशिवतत्त्व समझ लेना चाहिए।

२६०—पन्न कंगळोळगण रूहिंगे आनु बेटेगोंडु बळलुवंते हिडिदु नेरेयलिल्लय्या ? तूर्यद तवकवनेनेंबेनय्या ? संगसंयोगविल्लद रतिसुखवनरसलुंटे गुहेश्वर लिंगद कृतकद आळिय नेनेंबे।

वचन २६०—स्वामिन्, अपने नेत्रगत रूप का आखेट कर पीड़ित होने की भाँति मैंने ग्रहण कर (उसका) आलिंगन नहीं किया। अहा, तुर्य की आतुरता को मैं क्या कहूँ। क्या संग एवं संयोग से रहित रतिसुख की खोज की जा सकती है। गुहेश्वरलिंगकृत चमत्कार को मैं क्या कहूँ।

अर्थ २६०—जिसको स्वस्वरूपज्ञान की प्राप्ति हुई है उसे यह समझना चाहिए कि मैं ही तत्ज्ञानस्वरूप हूँ। परंतु इसके विपरीत यदि स्व को अलग करके द्वैतरूप से वह उस वस्तु को देखता है तो अज्ञानी है। क्योंकि वह द्वैत है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसलिये संग, संयोग से रहित घनवस्तु के साथ संग संयोग करने की बात करना उचित नहीं है। इस रहस्य को न जानकर उस वस्तु का ग्रहण और उससे मिलन की कामना करके सब लोग पीड़ित होते हैं। ऐसे लोगों को उस वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती।

२९१—अरिवेयनोंदु ओरलिकोंडरे आकाशवनुडु मेयित्तल्ला। कत्तलेय बेळगव ताने नुंगित्तल्ला। गुहेश्वरा सत्तवरु बदुकिदवर होत्तरु।

वचन २९१—स्वामिन्, अहा उलूखल के ज्ञान को निगलने से एक नक्षत्र ने आकाश को चर लिया और स्वयं अंधकार एवं प्रकाश को भी निगल लिया। गुहेश्वर, मृत लोग, जीवित रहनेवालों को ढोएँ (कंधे पर उठाएँ)।

अर्थ २९१—उलूखल=महाज्ञान। नक्षत्र=नेत्रगत नाड़ी का सूक्ष्म तेज-तत्त्व। आकाश=आत्मतत्त्व। अंधकार=अज्ञान। प्रकाश=ज्ञान। मृत लोग=जिसके मन का नाश हुआ है (शरण)। जीवितों को ढोना=सकल चैतन्यात्म-तत्त्व धारण करना।

जब ज्ञानगत अज्ञान नष्ट हुआ तब वह महाज्ञान के रूप में परिणत हो गया। फलस्वरूप नेत्रनाड़ी के सूक्ष्म तेज तत्त्व ने आत्मतत्त्व का ग्रास कर लिया। इस प्रकार आत्मतत्त्व का उस महाज्ञान दृष्टि में जब लय हुआ तब ज्ञान एवं विस्मरण दोनों उसी में विलीन हो गए। इसलिये मन का भी लय हो गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब मन का लय हुआ तब मैंने चैतन्यात्मस्वरूप धारण कर सामरस्य को प्राप्त कर लिया।

२९२—उरिव किच्चिनोळगे हाकिदरे बेंदित्तेंदरिय बारदु। हिडिदु सुट्टु बूदिय हूसिकोंडरे मरळिहुट्टलिल्ल काणा गुहेश्वरा।

वचन २९२—प्रज्वलित अग्नि में डालने पर भी जलन का ज्ञान नहीं हुआ। न जलने का भी ज्ञान नहीं हुआ। गुहेश्वर, ग्रहणपूर्वक जलाकर भस्म का लेप करने से (मैंने) पुनः जन्म नहीं लिया।

अर्थ २९२—प्रभुदेव जी कहते हैं कि महाज्ञान रूपी प्रज्वलित अग्नि में 'अहम्' इत्याकारक अहंकार को डाल देने से वह संपूर्ण नष्ट हो गया और गुण, नाम एवं कर्म से रहित हो गया। इसी अभिप्राय से 'जलन का ज्ञान नहीं हुआ और न जलने का भी ज्ञान नहीं हुआ' कहा। क्योंकि जानने को स्व से अतिरिक्त वस्तु नहीं है। अतः इस रहस्य को जानकर जो महाज्ञानाग्नि से अहंकार को जलाकर अवशिष्ट चिद्विभूति का बहिरंतरंग की भावना के बिना सर्वांग में लेपन करता है उसका जन्ममरण नष्ट हो जाते हैं और वह स्वयं परब्रह्म हो जाता है।

२९३—तन्ननरिदवंगे इदिरेंबुदिल्ला। तन्ननरियदवंगे इदिरेंबुदुंटु। अरिवु मरवु कुरुहु अळियित्तु बेरगायित्तु, बेरगु बेरगिनोळगे करिगोंडित्तु। इदेनु? भ्रान्तु भ्रान्तने नुंगित्तु गुहेश्वरा भविय बेंबत्ति भवियाद् कारण।

वचन २९३—जिसने स्व को जान लिया है उसके लिये अन्य कोई नहीं रहा। जिसने नहीं समझा उसके लिये अन्य (वस्तु) है। ज्ञान और विस्मरण का परित्याग किया, आश्चर्य हुआ, वह आश्चर्य प्रकाश में मिला। यह क्या है गुहेश्वर, भवी के संग में रहकर भवी हो जाने के कारण भ्रांति ने भ्रांति को निगल लिया।

अर्थ २९३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसको स्वस्वरूप का ज्ञान हो गया है उसके लिये अन्य कोई वस्तु नहीं रही। जो नहीं जानता उसको खोज करने के लिये दूसरी वस्तु रहती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने इस रीति का भी परित्याग करके स्वस्वरूप को जब समझ लिया तब जाना कि यह भी उस अखंडित ज्ञान से अलग ही है। इसलिये उस खंडित ज्ञान का भी परित्याग कर परमकाष्ठा को पहुँचा। अतः इस अवस्था में मैं 'भवी एवं भक्त' इस उपाधि से रहित हो स्वयं 'लिंग' बन गया हूँ।

२९४—कैंउद् गिरिय मेले ओंदु अरगिन कंबविद्दित्तु नोडा अय्या। अरगिन कंबद मेले ओंदु हंसवि द्दित्तु। कंब बेंदित्तुहंसेदरित्तु गुहेश्वरा।

वचन २९४—देखो, अग्निगिरि के ऊपर एक लाक्षा का स्तंभ है। उस स्तंभ के ऊपर एक हंस है। गुहेश्वर, स्तंभ जला हंस उड़ गया।

अर्थ २९४—अग्निगिरि='शिवोऽहम्' रूपी महाज्ञानाग्नि। लाक्षा का स्तंभ=शरणभाव। हंस=परमहंसतत्त्व।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'शिवोऽहम्' भावरूपी शुद्ध अहंकार महाज्ञान के 'अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' पर 'शरण' भाव रूपी एक खंभा था। उस खंभे पर परमहंस रूपी एक तत्त्व दिखाई पड़ता था। उसको मैंने महाज्ञानाग्नि से जला दिया। फलस्वरूप भाव निर्भाव हो गया और दृश्यमान परमहंसतत्त्व का लय हो गया।

———

(६) ऐक्यस्थल

१—सत्तु हुट्टि केट्टवरेल्लरू देवलोकक्के होदरेंब बाल भाषेय केळलागदु सायद मुन्न स्वयवनरिदडे देवनोलिव नम्म गुहेश्वरनु ।

वचन १—यह बालभाषा नहीं सुननी चाहिए कि जो मृत्यु के अनंतर जन्म लेकर भ्रष्ट हो गए हैं वे सब स्वर्ग में चले जायेंगे । मृत होने के पूर्व जो स्वस्वरूप को जानता है उसी पर गुहेश्वर की कृपा होती है ।

अर्थ १—इस वचन का भाव यह है कि जो जन्म लेता है उसको अवश्य मरण की प्राप्ति होती है । जो मृत होता है उसके लिये जन्म भी अवश्य रहता है । इसलिये जीवित अवस्था में अज्ञान के द्वारा व्यवहार करके मृत होने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने का दंभ भरना अज्ञान है । प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को जानकर जो अपनी जीवित अवस्था में स्वस्वरूप को जान लेता है वही शिवैक्यता को प्राप्त होता है ।

२—कोणवनु कुदुरेयनु हावनु हद्दनु मोलवनु इलियनु मेळविसुवंते मेळविल्लदवन ओगतन अळिय बाळुवे काडबेक्किगे तुप्पलनिक्कुवंते केळु गुहेश्वरा बोळिगे तोंडिल मुडिसुवंते ।

वचन २—महिष एवं अश्व को, सर्प एवं गृध्र को शशक एवं मूषक को मेल करने की भाँति मिलनरहित का संबंध व्यर्थ है । सुनो गुहेश्वर, (उसका संबंध) वन्यमार्जार को परमान्न देने की भाँति तथा विकेशिनी को पुष्प का गुच्छ पहिनाने की भाँति है ।

अर्थ २—इस वचन का तात्पर्य यह है कि निराविल शिव (लिंग) में जो भाव का लय करता है वही शिवैक्यता को प्राप्त होता है । प्रभुदेवजी कहते हैं इस नीति को न जानकर जो शिव से भिन्न रूप में रहकर भी शिवैक्यता को प्राप्त करने का साहस करता है उसका संबंध उसी प्रकार होता है जिस प्रकार महिष तथा अश्व का, सर्प तथा गृध्र का । उसकी क्रिया उसी प्रकार निष्प्रयोजन होती है जिस प्रकार वन्यमार्जार को परमान्न देना और विकेशिनी को पुष्प का गुच्छ पहिनाना ।

३—लिंगवंतगे लिंगद, वार्तेय नुडिवुदे भंग हंगु नोडा! हंगिन शद नोडा! कोडन तुंबिद हालनोडेय हाकि, इन्नुडुगिहनेंदरे उंटे गुहेश्वरा ?

वचन ३—देखो, जो शिवसामरस्यता को प्राप्त है वह यदि शब्द के द्वारा व्यक्त करता है तो वही हानिकर होता है। देखो, वह शब्द दाक्षिण्य का होता है। गुहेश्वर क्या क्षीर से भरे हुए घट को फोड़ कर यदि बटोरना चाहे तो हो सकता है।

अर्थ ३—इस वचन का अभिप्राय यह है कि जिसके समस्त अंग शिव में लीन हो गए हैं उस शिवैक्यता को प्राप्त 'शरण' को चाहिए कि स्व (अपने) को शिव समझे। इस रीति को न जानकर जो शिव को स्व से भिन्न समझता है और यदि उसकी गोष्ठी करता है तो वह अज्ञ है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रीति से च्युत होकर यदि उसे पुनः प्राप्त करने का साहस करता है तो उसका कार्य उसी प्रकार हास्यास्पद एवं निरर्थक होता है जिस प्रकार क्षीर से भरे हुए घट को फोड़कर पुनः उस घट में क्षीर भरनेवालों का। इसलिये सदा जागरूक रहना चाहिए। अर्थात् अपनी सामरस्यता को शब्द द्वारा व्यक्त नहीं करना चाहिए।

४—शदसंभ्रमदल्लि हिंदुगाणरू, मुंदुगाणरू, तम्म तावरियरू इदुकारण, मूरू लोकवेल्लवु बरि सूरे होयित्तु गुहेश्वरा।

वचन ४—शब्द के संभ्रम में लोग न भूत को देखते हैं न भविष्य को और स्वस्वरूप को भी नहीं जानते, इसलिये गुहेश्वर, तीनों लोक व्यर्थ ही लुट गए।

अर्थ ४—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो स्वस्वरूप को नहीं जानता और केवल वागद्वैत से अपने को ब्रह्म कहता है उसकी बात मिथ्या है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि तीनों लोक इसी वागद्वैत के दंभ में नष्ट हो गए हैं।

५—उरवणिसुव मन मुट्टुवन्नबर काडुवुदु घन घनदल्लि मन नंबुवन्नक्कर काडुवुदु महंत गुहेश्वरनेंब शब्दवुळ्ळन्नकर काडुवुदु।

वचन ५—व्याकुल मन जब तक स्पर्श नहीं करता तब तक पीड़ा देता है। जब तक महाघनवस्तु में विश्राम नहीं करता तब तक मन पीड़ा देता है। जब तक 'महांतगुहेश्वर' इस प्रकार का शब्द है तब तक पीड़ा देता है।

अर्थ ५—इस वचन का भाव यह है कि जब तक अपने को शिव न समझकर जो मैं शिव में रहकर व्यवहार करूँगा', उस शिव को मेरे मन में वेद्य करूंगा' और 'उसे जानूँगा' इत्यादि भावना करता है तब तक उसको शिवक्यैता की सिद्धि नहीं हो सकती। वे भावनाएँ सदा पीड़ा देती हैं। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो अपने को शिव समझता है उसके लिये कोई कीमती वस्तु नहीं रहती। इसलिये वह किसी की इच्छा नहीं करता तथा उसके विषय में कुछ नहीं कहता।

६—कदनदोळगण कएण कॆंपु कदनदोळगण मनद कएण कॆंपु इदावनावन काडवय्या ! पद्मदोळगे बिंदु सिलुकि, अल्लिये अदे नोडिरे गुहेश्वरनॆंब अनुग्रह तन्न नुंगि लिंगविल्लॆनुतिद्देनु।

वचन ६—स्वामिन्, समरगत नेत्र लाल है। समरगत मन का नेत्र लाल है, यह किसकी पीड़ा है। देखो, बिंदु पद्म में बद्ध हो कर वहीं रह गया। गुहेश्वर के अनुग्रह ने मुझको निगीर्ण कर लिया फलस्वरूप मैं 'शिव (लिंग) है' ऐसा नहीं कहता।

अर्थ ६—प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिव एवं अपनी ऐक्यता को न जानकर अनुभव के द्वंद्व में अपने ज्ञाननेत्र को जो लाल करता है और मन को संकुचित कर के सबके साथ वादविवाद करता है उसको शिवैक्यता नामक पद पीड़ा देता है। उसको जानने की रीति इस प्रकार है—हृदयकमल के भीतर चिद्बिंदु का आवास है। उसके प्रकाश को जानकर जो देखता है वह स्वयं प्रकाशस्वरूप एवं निर्भेद्य हो जाता है।

७—भाववळियदे, वयके सवेयदे ऐक्कवु आवघनवॆंदडहुदे शब्द-संभ्रमद मदवळियदे तन्न इदिरिनल्लि प्रतियुळळडे, एनॆंदडु अहुदे गुहेश्वरनॆंब शब्दसुळियदे बेसत्तु बयलादडे आयतवाहुदे।

वचन ७—जब तक भाव का लय नहीं होता, इच्छा का लय नहीं होता तब तक 'घन' कहने से क्या ऐक्यता मिलेगी। शब्दसंभ्रम के मद का लय हुए बिना अपने सामने भिन्न वस्तु रहते हुए क्या जो कुछ कहने पर भी प्राप्त होगा। गुहेश्वर नामक शब्द के व्यवहार के बिना श्रांत होकर निराकार हो जाने से क्या उस वस्तु की प्राप्ति होगी।

अर्थ ७—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो स्वस्वरूप को जानकर शिव में भाव का लय नहीं करता और द्वैतभाव से अन्य वस्तु की भावना करता है वह अनर्थ वस्तु की कामना करके उससे पीड़ा पाता है और कहता है कि 'मैं शिवैक्यता को प्राप्त हूँ मुझसे अन्य कोई तत्त्ववेदी नहीं है' इत्यादि शब्दजाल के मद में पड़कर स्व से अन्य वस्तु को जानता रहता है उसको शिवैक्यता को प्राप्ति नहीं हो सकती।

८—केरेयलुंडु तोरेय होगळुवरु, अति उत्कृष्ट परब्रम्हवने नुडिवरु, सहज पिनाकिय बलेयल्लि सिलुकि भव हरियलरियरु, रुद्र छत्रवनुंडु इल्लवेय नुडिव हिरियरिगे महद् मातेको गुहेश्वरा ?

वचन ८—तड़ाग में भोजन करके लोग नदी की स्तुति करते हैं। अत्यंत श्रेष्ठ परब्रह्म की बातें करते हैं। सहज पिनाकी के जाल में पड़कर उसका नाश नहीं करते हैं। गुहेश्वर, रुद्रछत्र में भोजन करके मिथ्या भाषण करने-वालों को महत्तत्त्व की बात क्यों।

अर्थ ८—इस वचन का भाव यह है कि जो अंगविकारों के संगसुख का भोग करके अपने को 'लिंगैक्य' के रूप में उद्घोष करते हुए परब्रह्म की बात करता है, ऐसा वागद्वैती शिव से निर्मित मायासूत्र से बद्ध होकर वह शिव की गाय की भाँति हो गया है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे लोग शिवैक्यता को नहीं पा सकते। अतः वाग्ब्रह्म का व्यवहार नहीं करना चाहिए।

९—पंचभूतसंगदिंद ज्योतियायित्तु पंचभूत संगदिंद कर्पुरवायित्तु एरडर संगवेनायित्तु हेळा वाङ्मनकूकतीत गुहेश्वरा।

वचन ९—पंचभूतों के संग से ज्योति बन गई। पंचभूतों के संग से कर्पूर बन गया। वाङ्मनागोचर गुहेश्वर, बताओ दोनों के संग से क्या हुआ।

अर्थ ९—इस वचन का तात्पर्य यह है कि अग्नि तथा कर्पूर दोनों पंच-भूतात्मक हैं परंतु वे दोनों जिस प्रकार अविरल प्रकाश के संग से निराकार हो जाते हैं उसी प्रकार अंग का तथा उस पर रहनेवाले 'लिंग' का स्वरूप नष्ट हो जाता है। अर्थात् महाघनतत्त्व की प्राप्ति हो जाने से 'अंग' में अंगत्व की तथा 'लिंग' में लिंगत्व की भावना नष्ट हो जाती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस अवस्था को प्राप्त करता है उसको चाहिए कि शब्द के द्वारा उसको व्यक्त न करे।

१०—एरडॆंबरय्या ! करणद कंगळल्लि नोडिदवरु एरडुवनतिगळॆदु ओंदॆंबरय्य कामिसुवदिल्लागि कल्पिसुवदिल्लागि भाविसुविदल्लागि बयसुवदिल्लागि गुहेश्वरनॆंबुदिल्लागि मुंदे बयलॆंबुंदिल्ल ।

वचन १०—स्वामिन् , करणों की दृष्टि से देखनेवाले द्वैत कहते हैं। जिसने द्वैत का परित्याग किया है वह एक कहता है। कामित (वस्तु) न रहने से कल्पित नहीं, भावित नहीं, इच्छित नहीं तथा गुहेश्वर के न रहने से भविष्य में शून्य भी नहीं है।

अर्थ १०—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो अंतर्मुख में शिव को करणों के द्वारा देखते हैं उनको वह द्वंद्वग्रस्त के रूप में दिखाई पड़ता है। जो उसका परित्याग कर ज्ञान के द्वारा उससे भिन्न रूप में देखते हैं उनको एकरूप में दिखाई पड़ता है। किंतु वह भी द्वैत ही है प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैं इस रीति का खंडन करके निर्भावी हो गया। अतः मुझमें न भावना है न कामना और 'निराकार है' इत्याकारक शब्द भी नहीं है।

११—हुल्लु किच्चव कल्लु बीजव नीर नेळलु गाळिय नारू अग्निय-हानव, बिसिलिन रूचिय तन्न बेळगवनारू बल्लरू गुहेश्वरा निम्म शरणरल्लदे ?

वचन ११—तृण की अग्नि, पाषाण का बीज, जल की छाया, वायु का सूत्र, अग्नि का रस, धूप की रुचि एवं अपना प्रकाश इन सबको गुहेश्वर, तुम्हारे 'शरण' के बिना कौन जान सकता है।

अर्थ ११—तृण की अग्नि=तृण-काष्ठों में वर्तमान अग्नि। पाषाण=जड़देह। बीज=मूलाहंकार। जल=मन। छाया=माया (भ्रम)। वायु=प्राणवायु। सूत्र=भवपाश। अग्नि=अग्नितत्त्व संबंधी देह। रस=संसाररस। धूप=तापत्रय। रुचि=तिग्म।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि तृण एवं काष्ठ में अग्नि परिपूर्ण रहती है। पाषाण रूपी जड़देह के लिये मूलाहंकार ही बीज है। जल नामक मन में माया नामक छाया छा गई है। प्राण नामक वायु को भवरूपी पाश ने घेर लिया है। अग्नितत्त्व संबंधी देह में संसाररस भरा है और तापत्रय रूपी धूप की तीक्ष्णता व्याप्त है। इन सबको अच्छी तरह जानकर जो इनका निवारण करता है और स्वयं अवशिष्ट रहता है वही स्वयंप्रकाशस्वरूप है। उसीको अपना स्वरूप समझना चाहिए।

१२—होरसिन एक्केयल्लि शंखद मणिय पवणिस बल्लवरू नीवा-रादडु पवणिसिरय्या ! इद नानरियेनय्य ! ओंदु ताळ मरद मेले मूरू रत्नविहुद ना बल्लॆ ओंदुरत्न उत्पत्तिस्थितिलयक्कोळगायित्तु ओंदु रत्न हदिनाल्कु भुवनक्के बेलेयायित्तु इन्नोंदु रत्नक्के बेलेयिल्लवेंदु गुहेश्वर लिंगैक्यवु निःशब्दब्रम्हमुच्यते ।

वचन १२—यदि खट्वा के छिद्रों में शंख की मणि को डालना जानते हों तो आप में से कोई भी डाल दोजीए। इसे मैं नहीं जानता। एक ताल के वृक्ष पर तीन रत्न हैं उनको मैं जानता हूँ। एक रत्न उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के अधीन हो गया। दूसरा रत्न चतुर्दश भुवनों में मूल्यवान हुआ। तीसरे रत्न के लिये कोई मूल्य नहीं (अनर्घ) है। गुहेश्वर की लिंगैक्यता 'निःशब्दं ब्रह्ममुच्यते' ?

अर्थ १२—तालवृक्ष=शरीर (जैसे मद्यरस के लिये तालवृक्ष आगर है वैसे शरीर भी अष्टमद रूपी मद्य का आगर है)। तीन रत्न=कर्म, भक्ति, ज्ञान।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो सामरस्य का समझे बिना सामरस्य प्राप्ति का दंभ भरता है उसकी बुद्धि खटिया के छिद्र में शंखमणि डालनेवाले की भाँति है। जिस प्रकार तालवृक्ष केवल मद्यरस के लिये उपयुक्त है उसी प्रकार शरीर रूपी वृक्ष भी अष्टमद रूपी मद्यरस से भरा है। अतः इस देह की समस्त दुष्कृतियों का निवारण करने से कर्म, भक्ति एवं ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इनमें जो कर्म का अवलंबन करता है वह भव के अधीन होता है। जो भक्ति का अवलंबन करता है वह तीनों लोक में पूज्य होता है। जो महाज्ञान का अवलंबन करता है वह स्वयं शिवस्वरूप होकर उपमातीत हो जाता है। इस स्वरूप को जो पाता है उसका स्वरूप वाङ्मन का अगोचर हो जाता है।

१३—अंगद घरेय मेले मूरू भावियुंटु, मोदल भाविय मुट्टिदात अंगसंगियादनु नडुवण भाविय मुट्टिदात उत्पत्तिस्थितिलयक्कोळ-गादनु मेलण भाविय मुट्टिदात जीवन्मुक्तनादनु इव तट्टदे मुट्टदे होदरू नोडा! परब्रह्मव दाटि गुहेश्वरनेंब लिंगदल्लि हंगु हरिद शरणरू।

वचन १३—अंग की धारापर तीन कूप हैं। प्रथम कूप का स्पर्श करनेवाला अंगसंगी हो गया। मध्य कूप का स्पर्श करनेवाला उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के अधीन हो गया। ऊर्ध्व कूप का स्पर्श करनेवाला जीवन्मुक्त हो गया। देखो, गुहेश्वर के दाक्षिण्य को त्यागनेवाले 'शरण' ने परब्रह्म को भी पार कर लिया।

अर्थ १३—अंग की पृथ्वी=शरीर। तीन कूप=जीवात्मा, परमात्मा, और अंतरात्मा।

शरीर रूपी पृथ्वी पर जीवात्मा अंतरात्मा एवं परमात्मा रूपी तीन कूप हैं। इनमें जो जीवभावी है वह शरीर से बद्ध है। जो अंतरात्मभावी है वह स्वस्वरूप को नहीं जानता इसलिये वह जन्ममरण के अधीन हो गया। जो परमात्मभावी है वह जीवन्मुक्त हो गया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैं इस आत्मत्रय का भावी न होकर निर्भाव हो गया और स्वयं परब्रह्मस्वरूप हो गया हूँ।

१४—ओंटेय मरि मूरोंटेय निक्कित्तु कट्टुग्रदिरुहे कत्तलेय नुंगित्तु बेट्टव बेळ्ळक्कि नुंगित्तु सुट्टुदु एद्दु कुळ्ळिदुदय्या कट्टिद्दुद तारदे, गुहेश्वरनल्लिये अडगित्तु नोडा।

वचन १४—ऊँट के बच्चे ने उष्ट्रत्रय को जन्म दिया। अत्ययुग्र पिपीलिका ने अंधकार को निगला। श्वेतपक्षी ने पर्वत को निगला। स्वामिन्, जो दग्ध हो गया था वह जीवित हो गया। स्वामिन्, जो गृहीत था उसको (मैंने) नहीं लाया। वह गुहेश्वर में ही लीन हो गया।

अर्थ १४—ऊँट का बच्चा=जीव। उष्ट्रत्रय=विश्व, तैजस, प्राज्ञ। अत्युग्र पिपिलिका=आरूढ़ज्ञान। अंधकार=अज्ञान। पर्वत=अहंकार। श्वेत पक्षी=परमहंसतत्त्व।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिस प्रकार उष्ट्र अप्रयोजक, हास्यास्पद एवं अज्ञानचैतन्य से युक्त है उसी प्रकार जीव भी उन गुणों से युक्त है। इसलिये ऊँट की उपमा दी गई है। इस एक अज्ञानी एवं अप्रयोजक जीव से विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ नामक ऊँटों का जन्म हुआ। परंतु इस रहस्य को जानकर मैंने अत्यंत आरूढ़ज्ञान को प्राप्त कर लिया। फलस्वरूप उस ज्ञान में अज्ञान रूपी अंधकार का लय हुआ। इसके पश्चात् परमहंस रूपी तत्त्व ने अहंकार रूपी पर्वत को ग्रास बना लिया। इस प्रकार जब परमहंस में अहंकार का लय हुआ,

वचन १६—'शिवैक्यता' नूतन मोती की कांति की भाँति तथा स्फटिक-घटांतर्गत प्रभा की भाँति है। गुहेश्वर, उसका संबंध वायुगत परिमल की भाँति है।

अर्थ १६—इस वचन का भाव यह है कि जिसने शिव के साथ सामरस्य कर लिया उसका स्वरूप नवीन मोती की तीक्ष्ण कांति की भाँति, स्फटिक के घटगत निर्मलता की भाँति तथा वायुगत परिमल की भाँति शिव से अभिन्न है।

२०—अरिदरिदु, अरिवु बंजेयायित्तु मरमरदु मरहु बंजेयायित्तु गुहेश्वरनेंब शब्द नीने बंजेयायित्तु।

वचन २०—ज्ञान, जान-जानकर वंध्या बन गया। भूल-भूलकर विस्मरण, वंध्या हुआ। 'गुहेश्वर' यह शब्द भी वंध्या बन गया।

अर्थ २०—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब स्वस्वरूप का साक्षात्कार होता है तब उस स्व को प्रतीक के रूप में माननेवाला ज्ञान अर्थात् 'अहंशिवः' इत्याकारक ज्ञान नष्ट होता है। इस प्रकार ज्ञान जब 'मैं शिव हूँ' इस ज्ञान को भी भूल जाता है और 'मैं भूल गया' इत्याकारक विस्मरण का भी लय होता है तब निःशब्द हो जाता है।

२१—हसिविन प्रेमक्के बोनव हिडिवरू। तृषेय प्रेमक्के मज्जनक्केरवरू देवरिल्ल भक्तरिल्ल नानु इल्ल नीनु इल्ल, गुहेश्वरा, पूजिसुवरू इल्ला पूजेगोंबवरू इल्ल।

वचन २१—स्वामिन्, (लोग) बुभुक्षा के लिये अन्न देते हैं। तृषा के प्रेम के लिये अभिषेक करते हैं। न देव हैं न भक्त, न 'मैं' न 'तुम' गुहेश्वर, न पूज्य है न पूजक।

अर्थ २१—इस वचन का भाव यह है कि जिसको स्वस्वरूप का ज्ञान नहीं है वह औपाधिक पूजा करता है। जिसको स्वस्वरूप का ज्ञान है वह स्वयं शिव है अतः उसको औपाधिक पूजा करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उसमें देव और भक्त इत्याकारक द्वैतभाव नहीं है।

२२—एरडेंभत्तु कोटि वचनव हाडि, हलव हंबलिसित्तेन्न मनवु मनवनरियदु घनमनवनरियदु, गुहेश्वरनेंब लिंगवनरिद बळिक-नितवेल्लु ओंदु मातिनोळगु।

वचन २२—स्वामिन्, मेरे मन ने एक सौ आठ करोड़ वचनों को गा-गाकर अनंत की कामना की पर मन ने मन को नहीं समझा और धन को भी नहीं समझा। गुहेश्वर को जान लेने के पश्चात् समस्त वस्तु एक ही वाक्य में है।

अर्थ २२—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसका मन परब्रह्म में विश्राम नहीं करता और उसके मन में यदि परब्रह्म का विश्राम हो जाता है तो भी कोई प्रयोजन नहीं है। उसकी पूजा और उसका स्तोत्र अप्रयोजक है। अतः जिसका मन परब्रह्म में लीन हो गया और जिस मन की समस्त चंचलता नष्ट हो गई है वही शिवैक्यता संपन्न होता है।

२३—अविरळ विटन मदुवेगे निब्बणगित्तियरेल्ल बंदु बेंड दंडेयने मुडिसि, अंडजवेंब अरिषिणव मिंदु, उरियंब हच्चडद होदिकेयल्लि निब्बणगित्तियरू बप्प बरव कंडु, नीरवाडिगेय माडि, वायद कूसिंगे मायद मदवणिग, संगसंयोगविल्लदे बसुरायित्तु कूसेद्दु कुणिदाडि, सूलगित्तियनवग्रहिसित्तु गुगेश्वरनोब्ब इब्ब मूवरू त्रिदेवतेगळुबल्लरे आ लिंगद घनवेया।

वचन २३—अविरल विट के विवाह के लिये समस्त बरातियों ने आ आकर मौरी बाँध करके अंडज नामक हरिद्रा का लेपन कर लिया और अग्नि रूपी चादर ओढ़कर आते हुए उनको मैंने देखा, जल का पाक बनाया। मिथ्या शिशु (वधू) को मायिक वर है। (इन दोनों के) संयोग के बिना ही गर्भ धारण हुआ। उत्पन्न होकर शिशु ने क्रीड़ा करते हुए जाकर दाई (धात्री) को निगीर्ण कर लिया। गुहेश्वर, क्या एक दो या त्रिदेव उस शिव (लिंग) की महिमा जान सकते हैं।

अर्थ २३—अविरल विट=परशिवरूपी पति। बरातियों=इच्छा शक्ति, मंत्रशक्ति, क्रियाशक्ति, आदिशक्ति, पराशक्ति और चिच्छक्ति। मौरी=सुज्ञान। अंडज=चिद्‌ब्रह्मांड से उत्पन्न सुज्ञान क्रियाएँ। जल=मन। पाक=परमानंद। गर्भ धारण=स्वस्वरूपज्ञान का उदय। शिशु=शरण। दाई (धात्री)= चिच्छक्ति।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि शिव रूपी पति एवं शरण रूपी पत्नि इन दोनों के सामरस्य रूपी विवाह के समय इच्छाशक्ति, मंत्रशक्ति, क्रियाशक्ति, आदिशक्ति, पराशक्ति एवं चिच्छक्ति उस काय में अनुकूल बन गईं और उस समय उन शक्तियों ने सुज्ञान रूपी अग्नि की ओढ़नी ओढ़ ली। अर्थात् वे सब सुज्ञान

से युक्त हो गई। इसके पश्चात् चिद्ब्रह्मांड से उत्पन्न सुज्ञानक्रिया रूपी हरिद्रा का लेपन कर उस परब्रह्मतत्त्व के साथ सामरस्य करने के लिये उद्यत हो गई। इस सामरस्य को प्राप्त करते समय मैंने मन रूपी जल को ज्ञानाग्नि से परमानंदरस का पाक बना लिया और उस पाक को (उस) परवस्तु में संमिलित कर दिया। फलस्वरूप मेरा पतिपत्नि का भाव नष्ट हो गया और उसके समर्पण से ही समरस होकर मुझमें ही निजवस्तु की उत्पत्ति हुई (स्वस्वरूप ज्ञान का उदय हुआ)। इसी अभिसंधि के लिये संयोग के बिना गर्भधारण की बात कही गई है। जब स्वस्वरूप का साक्षात्कार हुआ तब वह (शरण) स्वलीलामय बन गया और चिच्छक्ति-स्वरूप हो गया अतः इस महाशरण के स्वरूप को हरि, ब्रह्म एवं रुद्र आदि नहीं जान सकते।

२४—सत्तातनोब्ब, होत्तातनोब्ब इवरिब्बरनु ओय्दु सुट्टातनोब्ब मदवणिगनारो मदवळिगेयारो? मदुवेय नडुवे मरण अड्डबिद्दित्तु हसेयळियद मुन्न मदवणिगनळिद गुहेश्वरा निम्म शरणनेंदू अळिय।

वचन २४—एक मृत हो गया दूसरे ने (उसको) उठाया। अन्य ने इन दोनों को ले जाकर जला दिया। वधू कौन है वर कौन है। विवाह के बीच ही मृत्यु आ पड़ी। मंडप के निकलने से पहले वर की मृत्यु हो गई। गुहेश्वर, तुम्हारा 'शरण' कभी भी मृत नहीं होगा।

अर्थ २४—एक मृत हो गया=ज्ञातृभाव का नाश होगया। दूसरा=ज्ञान। विवाह के बीच में मृत्यु आ पड़ी='शरण' सती एवं लिंग पतिभाव की प्राप्ति होने से पहले उभय भाव का नाश हो गया। मंडप=सदाचार। वर की मृत्यु= शिव (लिंग) भाव का नाश।

इस वचन का अर्थ यह है कि जब 'शरण' में शिव अंतर्धान हुआ तब उस (शरण) ने 'शरण' मुख शिव (लिंग) होकर उसका धारण कर लिया। फलस्वरूप यहाँ ज्ञानाग्नि से लिंगशरण, एवं शरणलिंग इत्याकारक द्वैतभाव का नाश हुआ। अर्थात् महाज्ञानाग्नि से ज्ञातृ एवं ज्ञान का लय हुआ। इसी अभिप्राय से 'एक मृत हुआ दूसरे ने उठाया एवं अन्य ने इन दोनों को जलाया' कहा। इस प्रकार जब पतिपत्नी-भाव का नाश हुआ तब सदाचार रूपी मंडप अभी रहने पर भी 'मैं शिव (लिंग) हूँ' इत्याकारक भाव का

भी लय हुआ अतः भाव निर्भाव बन गया। अर्थात् 'शरण' रह गया पर उसमें 'मैं शिव हूँ' इत्याकारक भाव नहीं रहा।

२५—पाद्बिल्लद गुरूविंगे तले इल्लद शिष्यनु अनाचारि गुरूविंगे व्रतगेडि शिष्यनु, ई गुरूशिष्यरिब्बरू सत्त साव निम्मल्लि अरसुवे गुहेश्वरा।

वचन २५—चरणरहित गुरु का शिररहित शिष्य है। अनाचारी गुरु का व्रतभ्रष्ट शिष्य है। गुहेश्वर, ये दोनों गुरुशिष्य जिस प्रकार की मृत्यु को प्राप्त हुए हैं वैसी ही मृत्यु को मैं आप में खोज रहा हूँ।

अर्थ २५—चरण=सदाचार। गुरु=उस सदाचार को जाननेवाला (सुज्ञान से परिपूर्ण चिद्गुरु)। शिर=वृत्तिज्ञान। शिष्य=वृतिज्ञान से रहित अखंडज्ञानी। अनाचारी गुरु=आचार का परित्याग कर जो निर्गमनी हो गया है। व्रतभ्रष्ट शिष्य=द्वैतव्रत एवं नियमों का परित्याग करके उस गुरु में जो लीन हो।

इस वचन का अर्थ यह है कि जो सदाचार की चर्या को जानकर सुज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है वही चिद्गुरु है। वृत्तिज्ञान से रहित अखंडज्ञान ही उस गुरु का शिष्य है। इस प्रकार जो आचार का परित्याग कर निर्गमनी हो गया है उस गुरु में द्वैत नियम एवं व्रतों का परित्यागपूर्वक अंतर्धान शिष्य निस्तरंग हो गया है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस गुरु-शिष्यभाव के सामरस्य एवं ऐक्यता को परब्रह्म में ही देख सकते हैं, अन्यत्र नहीं।

२६—कल्येयल्लि लिंगव धरिसिकोंडातनु ब्रम्हनु करस्थलदल्लि लिंगव धरिसिकोंडातनु विष्णुवु उत्तमांगदल्लिलिंगव धरिसिकोंडातनु रूद्रनु अमळोक्यदल्लि लिंगव धरिसिकोंडातनु ईश्वरनु, मुखसेज्जेयल्लि लिंगव धरिसिकोंडातनु सदाशिवनु अंगसेज्जेयल्लि लिंगव धरिसिकोंडातनु उपमातीतनु इवरेल्लरू बयलने पूजिसि बयलागि होदरू ना नित्यव पूजिसि मिथ्यवनळिद् इरविनल्लि सुखियादेनु गुहेश्वरा।

वचन २६—शिव (लिंग) को जो कक्ष में धारण करे वह ब्रह्म है, जो करस्थल में धारण करे वह विष्णु है, जो उत्तमांग में धारण करे वह रुद्र है, जो श्रमलोक्य (श्रंतरंग) में धारण करे वह ईश्वर है, मुख-सज्जा में जो धारण करे वह सदाशिव है, जो अंगशय्या में धारण करे वह उपमातीत है। ये सब शून्य की पूजा कर शून्य हो गए। गुहेश्वर, मैं नित्य को पूजकर मिथ्यारहित सत्य में सुखी हूँ।

अर्थ २६—प्रभुदेवजी कहते हैं कि ब्रह्मतत्त्व के सुचित्त रूपी कक्ष में आचारलिंग का ग्रहण (स्थापन) हुआ। विष्णुतत्त्व के सुबुद्धि (कृत निश्चय) रूपी हस्त में गुरुलिंग का ग्रहण हुआ। रुद्रतत्त्व के अहंकार रूपी मस्तक पर शिवलिंग का ग्रहण हुआ। ईश्वरतत्त्व के अंतरंग में जंगम-लिंग का ग्रहण हुआ। सदाशिवतत्त्व के मुख में प्रसादलिंग का ग्रहण हुआ। उपमातीत तत्त्व के सर्वांग में महालिंग का ग्रहण हुआ। उपर्युक्त छह तत्त्वों में षड्लिंगस्थल का सामरस्य हुआ। फलस्वरूप मिथ्या का परित्याग कर 'शरण' परिपूर्ण हो गया।

२७—होरगने कोय्दु, होरगने पूजिसि, होरगागि होयित्तु त्रिजगवेल्ल, अदनरियदंते लिंगव पूजिस होदरे कै लिंगदल्लि सिल्कित्तल्ला मन दृढदिंद निम्म नेनदिहेनेंद्रे, तनु संदणिदित्तु गुहेश्वरा।

वचन २७—बाह्य (मिथ्या) को काटकर मिथ्या की पूजा करके तीनों लोक मिथ्या बन गए। अहा, उस (मिथ्या) को न जानकर मैं शिव (लिंग) की पूजा करने गया तो (मेरा) कर उस शिव (लिंग) में ही संबद्ध हो गया। गुहेश्वर, दृढ़ भाव से मन आपका ध्यान करना चाहता था पर शरीर श्रांत हो गया।

अर्थ २७—इस वचन का यह भाव है कि जो शिव (लिंग) के स्वरूप को न जानकर अज्ञान से शिवपूजा करता है उसकी पूजा मिथ्या हो जाती है। पर जो स्वस्वरूप को जान लेता है वह 'शरण' पूजा करने के लिये प्रस्तुत होने से पहले स्व को शिव समझता है। यही दृढ़भाव रूपी उसका हस्त उस परशिव में पराकाष्ठा को प्राप्त करता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसलिये उस शिव (लिंग) को मनसा ध्यान करने की इच्छा करने तक मेरा सर्वांग शिव बन गया।

२८—शयनासनपरविल्लेंदुदु, ज्ञानाज्ञान नोटतानल्ला। अरिविन भाव स्वतंत्रवल्ल काणा। आ कायदल्लि अद्वैतचारित्र अरिविनलनुअहिसि, सकायदल्लि सदैव चरित्र मरहु उदयिसद निर्णय पवन ब्रह्मरंद्ररहित शयनासनवेंदल्लि गुहेश्वरनेनलु हेसिच्चु।

वचन २८—शयन-आसन के लिये (अन्य) स्थान नहीं है। वह (शरण) ज्ञानाज्ञान से युक्त दृश्य नहीं है। देखो, ज्ञान का भाव स्वतंत्र नहीं है। अकाय में अद्वैत चरित्र सकाय में सदा विस्मरण और पवन ब्रह्मरंध्र से रहित है। शयन-आसन को जानने पर गुहेश्वर कहने में लज्जा आती है।

अर्थ २८—इस वचन का भाव यह है कि जिसने स्वस्वरूप को जाना है यदि वह सोना चाहे तो उसके लिये अन्य स्थान नहीं है। शयन का अर्थ होता है स्व को भूल जाना। वह अपने में ही रहता है। वह स्वसमाधि में बैठना चाहे तो उसके लिये अन्य स्थान नहीं है। अर्थात् सर्वत्र स्व व्याप्त है। इसलिये इस निजस्थिति को यदि ज्ञानाज्ञान से देखना चाहे तो वह गोचर भी नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान स्वतंत्र भाव से स्व को नहीं जान सकता। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस रहस्य को जानता है वह महंत है। अकाय में अद्वैत चरित्र तथा विस्मरण से युक्त योग से रहित होकर निजत्व को प्राप्त कर लेता है।

२९—नीरिल्लद ओरळिगे नेळलिल्लद ओनिके, रूहिल्लद नारियरू, बीजविल्लद अक्किय तळिसुत्त वंजेय मगन जोगुळवाडुतैदारे उरिय चप्परवनिक्कि गुहेश्वरन कंदनुलिवेय नाडिदनु।

वचन २९—जलरहित उलूखल (ओखली) के लिये छायारहित मूसल है। रूपरहित स्त्रियाँ बीजरहित तंडुल कूटते हुए दुर्भगा (वंध्या) के पुत्र के लिये लोरी गा रही हैं। गुहेश्वर के पुत्र ने अग्नि का मंडप डालकर क्रीडा की।

अर्थ २९—जल=मन। उलूखल=शरीर। मूसल=एकोभाव। स्त्रियाँ=क्रिया, इच्छा, ज्ञान, आदि, परा तथा चिच्छक्तियाँ। बीजरहिततंडुल=सत्। वंध्यापुत्र=अजात शिवतत्त्व। लोरी=शिवोऽहम् भाव। अग्नि का मंडप=महाज्ञान।

जिस शरीर रूपी ओखली में जल रूपी मन के संकल्प विकल्प जब नष्ट हुए तब उस शरीर में इच्छा, क्रिया, ज्ञान, आदि, परा तथा चिच्छक्तियों ने एको-

भाव रूपी मूसल को दृढ़ रूप से ग्रहण कर निर्बीजवाला सत् रूपी तंडुल को निर्मल होने तक कूटा। फलस्वरूप उस निर्मल सत् रूपी चावल से अज्ञात शिवतत्त्व रूपी शिशु का उदय हुआ और वे शक्तियाँ 'शिवोऽहम्' भाव रूपी लोरी गाने लगीं। अर्थात् शिवतत्त्व का उदय हो जाने से षट् शक्तियों ने 'शिवोऽहम्' भाव को प्राप्त कर लिया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस 'शिवोऽहम्' रूपी सुखानंद से मैं महाज्ञान रूपी मंडप में क्रीड़ा कर रहा हूँ।

३०—अरिदु नेनेयलिल्ल, मरेदु, पूजिसलिल्ल, तेरहिल्लद घनक्के कुरहु मुन्निल्ल, तनगे गुरुविल्ल गुरुविगे तानिल्ल। गुरुविगे शिष्यनु होडेवडद कारण मुन्निल्ल, बयल बित्तलु इल्ल, बेळेयलु इल्ल ओक्कलु इल्ल तोरलु इल्ल गुहेश्वरनेंब लिंगक्के कुरुहु मुन्निल्ल।

वचन ३०—(मैंने) न जानकर ध्यान किया न भूलकर पूजा की। अविरल घन (परब्रह्म) का कोई चिह्न नहीं है। अपने (शिष्य) को गुरु नहीं एवं गुरु को शिष्य नहीं। पहले ही गुरु में शरणागत होने के कारण शिष्य भी नहीं है। (मैंने) अंतरिक्ष को न बोया, न पैदा किया, न काटा एवं उसको दिखाया भी नहीं। गुहेश्वर का कोई चिह्न नहीं है।

अर्थ ३०—प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्वस्वरूप को जानकर उसका साक्षात्कार करने के पश्चात् मैंने अन्य किसी वस्तु का ध्यान नहीं किया। द्वैतरूप से भासमान शिव (लिंग) भाव का लय हुआ अतः मैंने पूजा नहीं की। इसलिये वह महाघन वस्तु बाह्याभ्यंतरों में व्याप्त हो गई और कोई चिह्न नहीं रह गया। इस अवस्था को प्राप्त करने पर मैंने स्व को स्वयं गुरु बना लिया और मैं स्वयं शिष्य हो गया। अर्थात् गुरु-शिष्य भाव का लय हुआ। इसलिये इस शिवत्व प्राप्त 'शरण' के (मेरे) स्वरूप को यदि क्रियाकाश में ले आकर उसका ग्रहण करना चाहे तो कुछ भी प्राप्त नहीं होता है।

३१—दृष्टक्के, दृष्ट मुंदिल्ल इल्ल इल्ल माडिद्डेनहुदो, माडदिद्दडेनहुदो, गुहेश्वरनेंब अरिविन कुरुहु मुंदिल्ल इल्ल माडिद्डेनहुदो।

वचन ३१—द्रष्टा के लिये भविष्य में दृश्य नहीं है, (क्रिया) करने पर

क्या होता है, नहीं करने पर क्या होता है। गुहेश्वर, इस ज्ञान का चिह्न भविष्य में नहीं है। करने पर क्या होता है।

अर्थ ३१—इस वचन का अभिप्राय यह है कि जिस शरण का अंग शिव (लिंग) में एवं मन का ज्ञान में लय हो जाता है वह सत्क्रिया का आचरण करने पर भी औपाधिक नहीं है और नहीं करने पर तामसी भी नहीं; क्योंकि ये दोनों उसका स्पर्श नहीं कर सकते। वह स्वतंत्र है। वह सदा स्वलीला में रहता है।

३२—निजवनरिद निश्चिंतने मरणव गेलिद महंतने, घनकंड महिमने, परवनोळकोंड परिणामिये बयल ओदगिद भरितने, गुहेश्वरलिंग निराळवनोकोंड सहजने।

वचन ३२—ऐ निजत्व के ज्ञानी एवं निश्चित, मृत्यु को जीतनेवाले महंत, घन के द्रष्टा महिम, पर को गर्भस्थ कर लेनेवाला परिणामी। ऐ निराकार को प्राप्त परिपूर्ण, ऐ निराविल, गुहेश्वरलिंग को निगरण किए हुए सहज।

अर्थ ३२—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो स्वस्वरूप को स्वयं जानकर निश्चिंत हो गया है, उत्पत्ति, स्थिति एवं लय पर विजयी हुआ है, महाघनतत्त्व में तल्लीन होकर परम परिणामी हो गया है, एवं परिपूर्णत्व से परतत्त्व के रूप में रह गया है, उसी को महाघनशिवैक्यता को प्राप्त समझना चाहिए।

३३—भविय कळेदिहेवेंब अप्रमाणिगळु नीवु केळिरो भविय कळदिहवेंब भवभारिगळु नीवु केळिरो भविगे कोडलागदेंब भक्तनमात केळलागदु नानु भविविडिद भक्तियिंद सुखियादे गुहेश्वरा।

वचन ३३—ऐ भवी को त्यागने का दंभ भरनेवाले अप्रामाणिक सुनो। भवी को त्यागने का दंभ भरनेवाले भवभारी सुनो। 'भवी को नहीं देना चाहिए' इस प्रकार कहनेवाले भक्त की बात नहीं सुननी चाहिए। गुहेश्वर, मैं भवी से युक्त भक्ति के अवलंबन से सुखी हो गया।

अर्थ ३३—इस वचन का भाव यह है कि यदि कोई भव से रहित होकर भक्त होता है और उसकी भक्ति 'महालिंग' में विश्रांति पाती है तो उसके

परिणामस्वरूप गुरु-लिंग एवं जंगम मूलक समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं और जो अपने को ही शिव समझता है वही भवी है।

३४—बयलु, बयलने बित्ति, बयलु बयलने बळेदु, बयलु बयलागि बयलाइत्तय्या। बयल जीवने बयल भावने बयलु बयलादे गुहेश्वरा।

वचन ३४—स्वामिन्, मैंने शून्य (बीज) का वपनपूर्वक शून्य फल को ही पैदा किया एवं शून्य फल के भक्षण से शून्य बन गया। गुहेश्वर, शून्य जीवन, शून्य भावना, शून्य, मैं शून्य हो गया।

अर्थ ३४—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो नित्य एवं निरवयव तत्त्व से उत्पन्न होकर स्वयं नित्य निरवयव स्वरूप होता है और निरवयव भाव से भरित होकर मिथ्या जीवन को नष्ट करके निराविल शिव में निराकार (सामरस्य) हो जाता है। वही शिवैक्यता को प्राप्त है।

३५—नारु बेरिन कुटिल कुहकद कपट योगिवदु निल्लि भो कायसमाधि, करणसमाधि, जीवसमाधि योगबलिदु निल्लि भो निजसहज समाधि गुहेश्वरा।

वचन ३५—यह जटा से युक्त मूल, कुटिलता, एवं कपट से युक्त योग नहीं है। रुको, यह कायसमाधि, करणसमाधि एवं जीवसमाधि का योग नहीं है। गुहेश्वर, यह सत्य एवं सहज समाधि है।

अर्थ ३५—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो स्व को शिव में एवं अपने में शिव का सामरस्य करता है अर्थात् एक रूप में रहता है वही राजयोगी है। इस रहस्य को न जानकर करणीय समस्त योग कुटिल एवं कुविचारित तंत्र कहलाते हैं।

३६—वस्तुक वर्नक त्रिस्थानद मेले नुडिव नुडिगळु इत्तिचल्लदे अत्त अत्तलारु बल्लरु इवरेत्तलेंदरियरु गिणिविडुगेडवरु गुहेश्वरा निम्मनवरेत्त बल्लरु।

वचन ३६—वस्तुक, वर्नक, त्रिस्थान के ऊपर कहनेवाली बातें इधर की ही हैं उसके पूर्व की जानकारी किसी को नहीं है। वे नहीं जानते हैं कि वह किधर है। गुहेश्वर, ये नाशवान शुकसमूह आपको कैसे जानेंगे।

अर्थ ३६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसने शिव के साथ सामरस्य किया है वही शिवैक्य है। इसके विपरीत शास्त्राभ्यास के बल से जो वागद्वैत करता है वह शुक के समान है।

३७—अक्षरद अभ्यासव माडि, बरव तोडेव परियंतो? स्वरूपदावुदु निरूपदावुदेंदरियरागि आदिनिराळ मध्यनिराळ तुदिनिराळ गुहेश्वरा।

वचन ३७—जो यह नहीं जानते कि सरूप क्या है और निरूप क्या है वे अक्षराभ्यास के बल से सामरस्य की रीति कैसे जान सकते हैं। गुहेश्वर, आदि निराविल मध्यनिराविल एवं अंत्य भी निराविल है।

अर्थ ३७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो अक्षर (शास्त्र) का अध्ययनपूर्वक वागद्वैत करता रहता है और उससे अपने को समरसी कहता है वह शिवैक्यता को प्राप्त नहीं है। किंतु जो ज्ञातृ, ज्ञान एवं ज्ञेय नामक आदि, मध्य एवं अवसान इन तीनों को नष्ट कर स्वस्वरूप को जानता है और परब्रह्म के साथ सामरस्य करता है वही शिवैक्य है।

३८—कैयल्लि करस्थल, मनदल्लि परस्थल तनुवेल्ल हुसिस्थल। शरणनेंतेंबे? मातिनंतुवेल्ल क्रियासमस्थल। उत्पत्तिस्थितिलयरहित निजस्थल गुहेश्वरनेंब लिंगैक्यवैक्य।

वचन ३८—हस्त में करस्थल, मन में परस्थल, संपूर्ण शरीर मिथ्या स्थल है उसे 'शरण' कैसे कहूँ। क्रियासमस्थल वचन की भाँति नहीं है। गुहेश्वर, 'लिंगैक्य' उत्पत्ति, स्थिति एवं लयरहित निजस्थल है।

अर्थ ३८—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो हाथ में शिवमूर्ति (इष्टलिंग) को लेकर मन में द्वैत का ग्रहण करता है उसका तनुत्रय मिथ्या (माया) से युक्त है, अतः जो उस द्वैतभाव का परित्यागपूर्वक शरीर में शिवसंबंधत्व के कारण करनेवाली समस्त क्रियाओं का नाश करता है और उत्पत्ति, स्थिति एवं लय से रहित होता है वही लिंगैक्य है।

३६—तोरिद भेदव तोरिदंते कंडातनल्लदे, दृष्टिवाळक तानल्ल। बेरोंदु विवरिसदे, आत मीरिदल्लदे, अरिय बारदु। अरिवनरिदु मरह मरेयदे मनद बेळगिनोळगण उरियनरियदे, वादिसि केट्टु होदरु। गुहेश्वरा सलेकोंड मारिंगे।

वचन ३६—मैं दृष्टभेद को, जिस प्रकार प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार देखनेवाला हूँ, किंतु दृष्टि का दोषी नहीं हूँ। अन्य का विवरण न देकर छह को पार किए बिना कोई नहीं जान सकता—ज्ञान को जानकर विस्मरण को भूले बिना (एवं) मनोगत प्रकाशाग्नि का जाने बिना गुहेश्वर, सब लोग विवाद करके नष्ट हो गए।

अर्थ ३६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि अपने अंतरंग में जैसे परब्रह्म का साक्षात्कार होता है उसको जो वैसे ही समझता है वही ज्ञानी है। जो उस अखंड वस्तु का वर्णन नहीं करता एवं षड्वर्गों का अतिक्रमण कर षडंग योग का पार करता है एवं जो सामरस्यता को पाता है वही शिवैक्यता को प्राप्त है। प्रभुदेवजी कहते कि ज्ञान की प्राप्ति के अनंतर अज्ञानको न भूलकर और मन में प्रकाशमान परंज्योति को न जानकर अनेक लोग नष्ट हो गए।

४०—परिणाम परिमित दोरेकोंडातंगे, बळिके कौंबिरि। मातिन-वरोडने गोष्ठि, बळिके कौंबिरि। संभ्रमिगळोडनेत्तणदनुभाव? ऐवत्तेरडु अक्षर तम्मल्लि तावु उलिदंते उलिदवु। गुहेश्वरनेंब लिंगवनरिदातंगे बळिकेको।

वचन ४०—(आप) जो परिणाम एवं परिमित को प्राप्त है उसके साथ व्यवहार करते हैं। वाचालों के साथ गोष्ठी का व्यवहार करते हैं। संभ्रमियों के साथ अनुभाव कैसे होगा। बावन (५२) अक्षरों ने अपने व्यवहारानुकूल क्रीडा की। जो गुहेश्वर को जानता है उसको व्यवहार की आवश्यकता क्यों?

अर्थ ४०—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसको स्वस्वरूप का साक्षात्कार हुआ है, जिसका मन शिवतत्त्व में मिल गया है और जो शब्दमुग्ध हो गया है वह वागद्वैतियों के साथ अनुभाव की गोष्ठी नहीं करता।

४१—ओत्ति हएण माडिदडे, अदेत्तण रुचियप्पुदो? कामिसि, कल्पिसि, भाविसिदरे अदे भंग नोडा! भाविसुव भावनेगिंद सावुदे लेसु काणा गुहेश्वरा।

वचन ४१—पाल देकर पकाने से फल का स्वाद कैसे रुचिकर होगा। देखो, कामना तथा कल्पना से भावना करना ही हानिकर है। गुहेश्वर, भावना करनेवाले भाव की अपेक्षा मरना ही अच्छा है।

अर्थ ४१—इस वचन का भाव यह है कि जो शिव को अपने भाव में भरित समझता है और उसी के साथ सामरस्य करता है वही 'शिवैक्यता को प्राप्त है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रीति का परित्यागपूर्वक जो द्वैतभाव से 'लिंग' की भावना करता है और उसके साथ सामरस्य करना चाहता है वह द्वैती है।

४२—निम्म नेनेवुत्तिद्दित्तु। मत्ते नेनवु मुखवेंतेंदरियदे, पूजेय पूजिसुत्तिद्दित्तु। पूजेयमुखवेंतंदरियदे, आडि हाडि बेडुत्तिद्दित्तु। बेडुव मुखवावुदेंदरियदे, कायदल्लिल्ल, जीवदल्लिल्ल, भावदल्लिल्ल, भरितनु अदु तावप्पुदु। तानल्लुदनेन हेळुवे कौतुकव? गुहेश्वरनेंब हेसरोळगिद्दुद बेसगोंवुवरिल्ल निराळवाद घनव।

वचन ४२—स्वामिन्, (मैं) आपका ध्यान करता था, ध्यान के मुख (स्वरूप) को न जानकर पूजा करता था। पूजा के मुख कोन जानकर क्रीड़ा तथा गान के द्वारा याचना करता था। याचना के मुख का ज्ञान न होने से (वह) न काया में, न जीव में एवं न भाव में ही है पर वह सर्वत्र व्याप्त (भरित) है। जा स्व नहीं है उसका विचित्रता को मैं क्या कहूँ। 'गुहेश्वर' इस नाम में वर्तमान निराविल महाघन का विचार करनेवाला कोई नहीं है।

अर्थ ४२—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसके अंग में शिव (लिंग) का सामरस्य हुआ है, जिसके मन में ज्ञान की प्राप्ति हुई है तथा बहिरंग एवं अंतरग निजतत्त्व स्वरूप हो गए हैं वह ध्यान, पूजा आदि नहीं करता। वह स्तोत्र के द्वारा या नृत्य के द्वारा अनुकूल बनाकर शिव से वर को नहीं माँगता (क्योंकि वह स्वयं शिव रहता है) खोज करके भावना नहीं करता। वह किसी भी ज्ञान के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।

४३—नित्य निरंजन तानेंदरियदे, तत्त्वमसियेंदु होरगने बळसि सत्तरल्ला! जगवेल्ल नाय साव सत्तरल्ला! तम्मतावरियदे, सत्तवर हेसर पत्रवनोदिद्डेत्तण मुक्ति गुहेश्वरा?

वचन ४३—अपने को नित्य एवं निरंजन नहीं समझते और 'तत्त्वमसि' कहकर बाह्य व्यवहार द्वारा सब लोग मृत हो गए। ओह, समस्त जगत्

श्वान की भाँति मृत हो गया। गुहेश्वर, स्वयं स्व को न जानकर मृतकों के नाम के पत्रों को पढ़ने से मुक्ति कैसे मिलेगी।

अर्थ ४३—इस वचन का भाव यह है कि जो अपने को ही नित्य एवं निर्माय परब्रह्मस्वरूप नहीं समझता और 'सोऽहम्' कहते हुए उसे स्व से पृथक् रखकर 'तत्त्वमसि' इस उपदेश पर विश्वास करके परब्रह्म होने का दंभ भरता है वह॰ अज्ञानी है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे ज्ञानी प्रारब्ध (कर्म) से बद्ध होते हैं। वे मुक्त नहीं हो सकते।

४४—हुट्टिद नेलेय तृष्णे बिडदवरिगे, लिंगानुभावदमातेको ? मातिन महंतरु हिरियरु गुहेश्वरनेंब लिंग सारायवु तोरदु बहु मुखिगळिगे।

वचन ४४—जिसकी उत्पत्ति स्थान की आशा नहीं छूटी है शिवानुभाव की बातें क्यों (करते हैं)। वे वचना के महंत एवं बड़े हैं। गुहेश्वर, षड् मुखियों को शिवतत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी।

अर्थ ४४—उत्पत्ति स्थान की आशा=कामवासना। वचनों के महंत=वागद्वैती।

इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो शुक्र एवं शोणितात्मक अर्थात् काम-विकार से उत्पन्न होते हैं वे सब उसी काम के विषयों में मग्न हो जाते हैं। उन लोगों को शिवानुभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे लोगों की गोष्ठी वागद्वैत मात्र होती है। अतः उनका शिवसामरस्य पद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

४५—भूमियोळगिल्ल आकाशदोळगिल्ल, चतुर्दशभुवनदोळगिल्ल, होरगिल्ल एनेंदरियरु एंतेंदरियरु केळय्या कृतयुगदंदिन मातु बेडा, गुहेश्वरा अंदू इल्ल इंदू इल्ल।

वचन ४५—न भूमि में है, न आकाश में, न चतुर्दश भुवनों में है, न बाहर है। वे नहीं जानते हैं कि यह क्या है और यह भी नहीं जानते कि कैसा है। सुनो, कृतयुग की बात छोड़ो। गुहेश्वर तब भी नहीं था अब भी नहीं है।

अर्थ ४५—प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'महालिंग' परिपूर्णपरमानंद, परात्पर निराकार एवं निराविल है। यह सत्य है कि वह भूमि, आकाश एवं ब्रह्मांड आदि के बाहर या भीतर नहीं छिपा है। वह 'इस प्रकार का है उस प्रकार का है' इत्यादि वर्णन करनेवालों की युगांतर की बातों से प्राप्त नहीं हो सकता।

४६—अरसविल्लद महाघनवनरसुवदेनो, तिळिवुदेनो ? तिळूहिन मुंदण सुळुहु तानेनो ? सरसद समतेय परिणामव नोडा ! गुहेश्वरनेंबुदु अदे कंडा।

वचन ४६—यह क्या है क्या खोज रहित महाघन वस्तु की खोज करना है; क्या जानना है। क्या आप ज्ञान के परे की वस्तु हैं। सरस एवं समता के परिणाम को देखो। देखा, वही गुहेश्वर है।

अर्थ ४६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि खोजनेवाले ज्ञान से अप्राप्त वस्तु को यदि खोज द्वारा देखना चाहें तो वह प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि खोजनेवाला स्वयं वस्तुस्वरूप है, और जानकर समझनेवाला भी वही परवस्तु है, अतः शब्द के द्वारा व्यक्त करना चाहने पर भी नहीं हो सकता। क्योंकि वह 'निःशब्द ब्रह्ममुच्यते'। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार सत्य को जान लेने से अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं परवस्तु है।

४७—उपमेय उपमिसलरियदे, उपमातीतनेनुतिद्दित्तु। अरिवु अरिविन मरेयलिद्दुदनरियदे, अरिवु परापरवेनुतिद्दित्तु। ध्यानिसल-रियदे ध्यानवु रूपातीतनेंदु ध्यान तत्ध्यानगोंडित्तु। ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेयक्के इन्नाव ज्ञानवो ? वेद विज्ञानवेंदुदागि, तत्त्वमसि वाक्यंगळेल्लवु हुसियागि होदवु। सच्चिदानंदवेंदुदागि, द्वैताद्वैतिगळेल्ल संहारवागि होदरु। बंदु बारद निंद निराळ गुहेश्वरा।

वचन ४७—उपमान, उपमा न कर सकने के कारण उपमेय को 'उपमातीत' कहता है। ज्ञान, ज्ञान के आवरण में रहनेवाले को न जान सकने के कारण 'परापर' कहता है। ध्यान, ध्यान न कर सकने के कारण 'रूपातीत' कहकर स्वयं ध्यान मग्न हो गया है। ज्ञातृ, ज्ञान एवं ज्ञेय को और कौन ज्ञान है ?

'वेद विज्ञान है।' 'तत्त्वमसि' आदि समस्त वाक्य मिथ्या हो गए क्योंकि वह 'सच्चिदानंद है। द्वैताद्वैतियों का संहार हो गया। गुहेश्वर, वह आने पर भी न आनेवाला, और रहने पर भी न रहनेवाला है।

अर्थ ४७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिस शरण के साथ शिव का एवं शिव के साथ शरण का सामरस्य हो गया है वह 'महाघनतत्त्व' है कोई उसकी उपमा नहीं कर सकता। वह 'ध्यानातीत' हो गया है अतः कोई उसका ध्यान नहीं कर सकता। वह रूपातीत है अतः उसको रूपवान् नहीं कर सकता। वह ज्ञातृ, ज्ञान एवं ज्ञेय के द्वारा नहीं जाना जा सकता। अतः इस महाघनवस्तु को साधारण जन कैसे समझ सकते हैं। उसकी महत्ता, तीन सौ साठ (३६०) अंगुली के स्पर्श से एक विघटिका होती है। साठ विघटिका से एक घटिका होती है। साठ घटिका से एक दिन, और तीस दिन के मिलन से एक मास होता है। बारह मास से एक वर्ष, साठ वर्ष से एक संवत्सर होता है। देखो, इस प्रकार कालचक्र घूम घूमकर आता है। चार युग अलग अलग निर्बंध के परिधियों में कृतयुग सत्रह लाख अट्ठाईस हजार (१७२८०००) वर्ष रहता है। त्रेतायुग बारह लाख छानब्बे हजार (१२९६०००) वर्ष रहता है। द्वापर आठ लाख चौसठ हजार (८६४०००) वर्ष रहता है। यह कलियुग चार लाख बत्तीस हजार (४३२०००) वर्ष रहता है। इन सबको मिलाने से तैंतालीस लाख बीस हजार (४३२०,०००) वर्ष होते हैं। ये चारो युग के इक्कीस (२१) बार घूमने से सुरपति को परमायु तथा ब्रह्म के लिये एक याम होता है। इस प्रकार के अष्टासति सहस्र रूप निर्वाच्य होने के कारण 'तत्त्वमसि' वाक्य (शब्द) के अधीन नहीं हो सकती। वह द्वैताद्वैत से अतीत है। यही निराविलतत्त्व 'महालिंग' है।

४८—युगजुग मडिवल्लि ब्रह्मांडगळळिवल्लि लिंगवेंदरिवरारो? शिव, शिवा! वायदलोदगिद माया वादिगळु देवरेंदरिदवरारो? शिव, शिवा! अग्नि तृणदोळगडगि, लयवादुद गुहेश्वरा निम्म शरण बल्लु।

वचन ४८—युग-युगों का लय होते समय, ब्रह्मांडों का लय होते समय 'यह लिंग है' इस प्रकार कौन जान सकता है। शिव, शिव, ये सब मिथ्या से उत्पन्न मायावादी हैं। 'यह देव है' ऐसा कौन जानेगा। शिव, शिव, तृण

एवं काष्ठ में अग्नि छिपकर विलीन (लय) हो गई। गुहेश्वर, इसे तुम्हारा शरण ही जान सकता है

अर्थ ४८—इस वचन का भाव यह है कि 'अणुरेणु-तृण-काष्ठों में शिव परिपूर्ण व्याप्त है' इस रहस्य को जो विवेक के द्वारा देखता है वही स्वस्वरूप को जानकर सुखी होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस शिवसामरस्यता को प्राप्त 'शरण' को यह ज्ञान नहीं रहता है कि अनंतकोटि ब्रह्मांडों के लय होते समय जगत् में क्या क्या होता है। इस स्थिति को मिथ्यादेही से नहीं कहना चाहिए।

४९—कालचक्रद्वचन एकं एकवाद वस्तुव लोकलोकंगळरियवु। स्थूलसूक्ष्मवेनुत्तिप्पवरेल्लरू, आतनीत बेरे मत्तोब्बातनेंब भ्रमेयल्लि भूतद् केलवु काल अदु, तोडेदु होयित्तु। बळिक शून्य वर्तिसुत्तिद्दित्तोंदु केलवु काल अदु तोडेदु होयित्तु। बळिक काळांधर वर्तिसुत्तिद्दितोंदु केलवु काल अदु तोडेदु होयित्तु बळिक महाप्रकाशद महाबेळगु। इंतह कालंगळु ई परियल्लि तिरिगि बरूत्तिहवु काणिरे। अंतह कालंगळु अरियवु, अंतह दिनंगळु अरियवु। अंतह देवरुगळु अरियरु। अप्रमाण अगम्य अगोचर उपमिसबारदु अंतितेनलिल्लु गुहेश्वरलिंग निरंजन निराळ, निरामय।

४९—कालचक्र का वचन 'एकम्' अद्वैतवस्तु को अनंत लोक नहीं जान सकते। सब लोग स्थूल, सूक्ष्म कहते हैं। वह है, यह है इत्यादि भ्रम में कुछ समय व्यतीत हुआ। पश्चात् कुछ समय तक शून्य का व्यवहार होता था। उसका नाश हो गया। अनंतर कुछ समय तक (कालांधर) कालांध का व्यवहार होता था। उसका भी लय हुआ। पश्चात् महान् ज्योति का महाप्रकाश देखो, इस प्रकार ये काल घूम घूमकर आते हैं। ये काल भी नहीं जानते वे दिन एवं देवता भी नहीं जानते। गुहेश्वरलिंग अप्रमाण, अगम्य, अगोचर, निराविल, एवं उपमातीत है। उसका ऐसा है, वैसा है इत्याकारक वर्णन नहीं किया जा सकता। वह निरंजन, निराविल एवं निरामय है।

अर्थ ४६—इस वचन का तात्पर्य यह है कि अनंतकोटि पंचभूत ब्रह्मांडप्रपंच अनंत कल्पांतर युगों में लय हो जाते हैं। अनेक देवतत्त्वों का लय होता है। अनंत प्रपंचों की उत्पत्ति एवं लय होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इन सब के लयकाल में उत्पत्ति, स्थिति तथा लय से और आदि, मध्य तथा अवसान से रहित होकर रहनेवाला 'महालिंग' इन सब (प्रपंच एवं देवता आदि के लय) को नहीं जानता। इस 'महालिंग' में जिसके मन का लय हो जाता है वही शिवैक्यता को प्राप्त है।

५०—हिंदे एसु प्रळय होयित्तेंदरियें, मुंदे एसु प्रळय बंदुदेंदरियें, तन्न स्थितिय तानरिद्रे, अदे प्रळयवल्ला ! तन्न वचन तनगे हगेयाद्रे अदे प्रळयवल्ला ! इंथ प्रळय निन्नल्लुंटे गुहेश्वरा ?

वचन ५०—मैं नहीं जानता कि भूतकाल में कितने प्रलय हो गए। यह भी नहीं जानता कि भविष्य में कितने प्रलय होंगे। ओह, स्वस्वरूप को जानने से वही प्रलय है। अपनी वाणी अपने विरोधी होने से वही प्रलय है। गुहेश्वर, क्या तुम्हारे पास ऐसा प्रलय है।

अर्थ ५०—इस वचन का भाव यह है कि यदि ये ऋषिगण अष्टासहस्र बार घूमते हैं तो ब्रह्म का आयुष्य सौ (वर्ष) होता है, विष्णु के लिये एक याम होता है। विष्णु के एक दिन में ब्रह्मा चार बार उत्पन्न तथा चार बार लय को प्राप्त करता है। चतुर्दश भुवन भूतसंहार हैं। विष्णु के एक दिन में चतुर्दश भुवनों का भूतसंहार १८२८००० बार हो जाता है। समस्त पृथ्वी का जलप्रलय होता है। इस जलप्रलय के आठ बार घूमने पर विष्णु की मृत्यु होती है। तब रुद्र के लिये एक निमिष होता है। अतल, वितल, सुतल, महीतल, रसातल, तलातल तथा पाताल ये सप्त अधो भुवन और ऊपर, सत्यलोक, जनलोक, तपोलोक, महर्लोक, स्वर्लोक, भुवर्लोक तथा भूलोक आदि समस्त लोक लय को प्राप्त करके केवल रुद्रलोक के रह जाने से रुद्र के लिये एक दिन होता है। इस प्रकार के ३६० दिन होने पर रुद्र का एक वर्ष होता है। ऐसे शतकोटि वर्षों के मिलन से रुद्र का परमायु होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसे अनेक रुद्र चले गए। पशुपति, शंकर, शशिधर, सदाशिव, गौरीपति, महादेव और ईश्वर ये सब उस समय के प्रमथ गणेश्वर तमोराज्य का भोग न करके तप करने के लिये जाते हैं। पूर्वोक्त रुद्र एवं सभी लोक मिलकर कुछ समय तक भूत में आवर्तित हो रहे थे। उस समय स्वस्वरूप को स्वयं जानकर

जो सुखी हुआ है वही 'लिंगैक्य' है। वह विश्वप्रपंच की रीतिनीति को नहीं जानता। क्योंकि जब उसको अपने स्वरूप को प्रतीक के रूप में जानने का अवसर ही नहीं है तब वह अन्य को कैसे जान सकता है। इस स्थिति को प्राप्त 'शरण' के लिये कोई प्रलय नहीं है।

५१—घनव मन कंडु, अदनोंदु मातिंगे तंदु नुडिदरे, अदकदे किरिदु नोडा! अदेनु इल्लद निस्संगद सुखवु गुहेश्वरा।

वचन ५१—देखो, मन से घन का साक्षात्कार करने के पश्चात् यदि कोई वाणी के द्वारा व्यक्त करता है तो उसके लिये वही छोटा है। गुहेश्वर, वह कुछ भी न रहनेवाला निस्संग का सुख है।

अर्थ ५१—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो महान् तथा सत्य शिव-सामरस्य के निर्णय को जानता है उसे चाहिए कि उसके मन का लय उसी में हो जाय। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रीति को छोड़कर वाणी के द्वारा जो उस सामरस्यता को व्यक्त करता है वह 'शिवैक्य' नहीं है। मन में 'अहम्' इत्याकारक ज्ञान है जिसके मन में उस ज्ञान का लय हुआ है वही शिव-सामरसी, वही परम सुखी है।

५२—सचराचर ओंदु किंचित् चतुर्युगवेंबुदोंदु किंचित् अप्पुवें-बुदोंदु किंचित्। आगदेंबुदोंदु किंचित्, तानु शुद्धवाद शरणंगे गुहेश्वरनेंबुदोंदु किंचित्।

वचन ५२—सचराचर एक किंचित्, चतुर्युग एक किंचित्, अस्ति एक किंचित् तथा नास्ति भी एक किंचित् है। जो स्वयं शुद्ध 'शरण' है उसके लिये गुहेश्वर भी एक किंचित् है।

अर्थ ५२—इस वचन का भाव यह है कि जिसने स्वयं स्वस्वरूप को जानकर शिवसामरस्य को प्राप्त किया है उस 'शरण' के लिये समस्त प्रपंच नगण्य और तृणमात्र हैं। उसको यह ज्ञान नहीं है कि 'यह है, यह नहीं है, यह सत्य है, यह असत्य है, यह शिवज्ञान है यह अन्य है।

५३—ता सुखियादडे नडेयलु बेडा! ता सुखियादडे नुडियलु बेडा! ता सुखियादडे पूजिसलु बेडा! ता सुखियादडे उणबेड गुहेश्वरा।

वचन ५३—यदि स्वयं सुखी हो गया है तो गमन करने की आवश्यकता नहीं है। यदि स्वयं सुखी हो गया है तो बात करने की आवश्यकता नहीं है। यदि स्वयं सुखी हो गया है तो पूजा करने की आवश्यकता नहीं है। गुहेश्वर, यदि स्वयं सुखी हो गया है तो भोग करने की आवश्यकता नहीं है।

अर्थ ५३—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो शिव (लिंग) के साथ सामरस्य करके परम सुखी हो गया है, उसे चाहिए कि निर्गमनी होकर रहे। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो शिवसामरसी है उसको उपाधि के द्वारा भोग नहीं करना चाहिए।

५४—नाद मुन्नवो, बिंदु मुन्नवो, जीव मुन्नवो, काय मुन्नवो ? जीव कायद कुळस्थळंगळ बल्लबरु नीवु हेळिरे, गुहेश्वर नीवु मुन्नवो, नानु मुन्नवो, बल्लवरु नीवु हेळिरे ?

वचन ५४—ऐ जीव काय के कुल स्थल को जाननेवालो यदि जानते हो तो बताओ क्या नाद पूर्व है या बिंदु। क्या जीव पूर्व है या काय। गुहेश्वर, बताओ क्या तुम पूर्व हो या मैं।

अर्थ ५४—नाद के लिये बिंदु कारण होता है, बिंदु के लिये नाद कारण होता है। अर्थात् नाद के बिना बिंदु नहीं होता तथा बिंदु के बिना नाद नहीं होता। अतः जैसे नाद एवं बिंदु दोनों समरस भाव के हैं वैसे जीव एवं काय भी। प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'लिंग' ही 'शरण' और 'शरण' ही 'लिंग' बन गए हैं अर्थात् दोनों समरस हो गए हैं। इसलिये यह नहीं कह सकते हैं कि एक पूर्ण हुआ और दूसरा तदनंतर।

५५—अरिवरतु, बेरगु हत्तित्तेंब ज्ञानविदेनो ? नाहं एंबल्लि तानारु कोहं एंबल्लि मुन्नारु परब्रह्म सोहं एंबल्लि मुन्न तानेनागिद्दनो ? चिदोहं एंब हम्मिन भवमाले इदेनु हेळा ? निःशब्दब्रह्ममुच्यते येंब शब्दविडिदु, बळलुब कारणविदेनु हेळा गुहेश्वरा ?

वचन ५५—ज्ञान का लय होने के पश्चात् 'मैं चकित रह गया' इत्याकारक ज्ञान क्या है। 'नाऽहम्' कहने में स्वयं कौन है। 'कोऽहम्' कहने में पहले कौन था ? 'परब्रह्मसोऽहम्' कहने में पहले स्वयं कौन था ? बताओ, 'चिदोऽहम्' इस प्रकार के अहंकार की भवमाला क्या है। गुहेश्वर,

बताओ 'निःशब्दं ब्रह्ममुच्यते' इस शब्द को ग्रहणकर पीडित होने का क्या कारण है।

अर्थ ५५—प्रभुदेवजी कहते हैं कि यदि कोई शिव के साथ सामरस्य करके शिवैक्यता पद प्राप्त कर लेता है तो उस पद का वर्णन शब्द के द्वारा नहीं करना चाहिए। यदि शब्द के द्वारा उसका वर्णन करता है तो वही द्वैत कहलाता है। अतः 'नाऽहम्' 'कोऽहम्' 'सोऽहम्' और 'चिदोऽहम्' नहीं कहना चाहिए ? 'निःशब्दं ब्रह्ममुच्यते' इत्याकारक शब्द का भी व्यवहार नहीं करना चाहिए।

५६—वसुधे इल्लद बेळसु राजान्न हेसरिल्लद ओगर वृषभ मुट्टद हयनु बेरणेय होसेवरिल्लदे कंडुंड शिशु कंड कनसिनंते गुहेश्वरनेंबुदु हेसरिल्लद बयलु।

वचन ५६—वसुधा रहित फसल राजान्न है। नाम रहित ओदन, वृषभ से अस्पृष्ट क्षीर है, मंथन करनेवालों के बिना नवनीत को देखकर मैंने उसका आस्वादन किया। वह शिशुदृष्ट स्वप्नवत् है। गुहेश्वर नाम रहित शून्य है।

अर्थ ५६—वसुधा = पृथ्वी अंश से निर्मित शरीर। राजान्न=परमानंद। नामरहित ओदन=ज्ञानाग्नि से परिपक्व मन। वृषभ से अस्पृष्ट=शिव शक्ति के मंथन से रहित। क्षीर का नवनीत=भक्तिरूपी सुरधेनु से उत्पन्न विवेक। शिशुदृष्टस्वप्न=अनिर्वचनीय (अद्वैत)।

पृथ्वीतत्व के अंश से रहित शरीर में परमानंद रूपी राजान्न की उत्पत्ति हुई। उस परम हर्ष से उत्पन्न मन नामक पदार्थ को मैंने ज्ञानाग्नि के द्वारा पाक बना लिया। अतः 'अन्न ब्रह्मेति' नाम प्राप्तकर वह मन निर्नाम हो गया। फलस्वरूप शिवशक्ति के संग से रहित भक्ति नामक सुरधेनु से प्राप्त विवेक रूपी नवनीत को करण मंथन के बिना प्राप्त किया और उस भोग को 'महालिंग' के लिए अर्पण किया, मैंने उसी का सेवन कर लिया। प्रभुदेवजी कहते है कि मैं इस परमानंद का वर्णन शिशु के द्वारा दृष्ट स्वप्न की भाँति नहीं कर सकता।

५७—घरेयगलद हुल्ले हरिदु मेयित्त कंडे बलेय बीसुव गंडरारू इल्ला। हरिदु हिडिदेहेनेंदरे, तले काणवरुत्तदे शिरव हिडिदिहेनेंब गरुवरिन्नारू इल्ल हरिदाडुव हुल्लेय कंडु हलवु बेळ्ळारव बिट्टु बेटेकार बलेय बीसिदरे हुल्लेयंजि होयित्तु मरुळद एल्ले हुल्लेय नेसेयबेकेंदु सरळ बिट्टु, बाणवनोंदु कैयल्लि हिडिदु, हळ्ळ कोळ्ळव दांटि घट्ट, बेट्टव कळिदु, अत्त बयल मरन ता मरेगोंडित्तु हत्ते सारिद मृगव तानेच्चडे नारि हरिदु, बिल्लु मुरिदु, हुल्ले सत्तित्तु अद किच्चिल्लद नाडिगोय्दु सुट्टु बाणसव माडलु, सत्त हुल्ले कर-गिसलुळियित्तु निश्चितवायित्तु गुहेश्वरा निम्म शरणर बिदिर बाणसद मनेगे बंदेनु।

वचन ५७—पृथ्वी जैसे विस्तृत हरिणी ने स्वच्छंदता से घूम घूम कर (संसार को) चर लिया इसे मैंने देखा। जाल फैलानेवाला कोई वीर नहीं है। यदि लपक कर ग्रहण करना चाहे तो उसका शिर दिखाई पड़ता है। शिर को ग्रहण करनेवाले कोई योग्य गुरु नहीं है। विचरण करनेवाली हरिणी को देखकर शिकारी (मैं) ने अनेक जाल छोड़कर एक जाल फैला दिया उसे देखकर हरिणी भय से भाग गई। पागल बुद्धि की सरलता को छोड़कर मैंने हाथ में एक बाण ले लिया। उधर हरिणी नदी सरोवर पर्वत तथा घट्टों को पारकर शून्य वृक्ष में छिप गई, समीप जाकर उस मृगी में बाण छोड़ने से सिंजिनी कट गई, बाण छूटा और हरिणी मृत हो गई। उस मृगी को अग्नि रहित स्थान में ले जाकर जला दिया और पाक तयार करने पर उस मृत हरिणी का सत्व रह गया मैं निश्चित हो गया। गुहेश्वर तुम्हारा शरण संमुख स्थित महानस में आ गया है।

अर्थ ५७—पृथ्वी जैसे विस्तृत हरिणी=संसार में व्याप्त माया। जाल= कर्म, भक्ति, ज्ञान। शिर दिखाई पड़ना=ज्ञान के संमुख आ जाना। शिर=सुज्ञान। शिकारी=ज्ञानी। अनेक जाल=चंचलता। एक जाल= सुज्ञान (सद्भाव)। धनुष=एकनिष्ठा। हस्त=निश्चलता। नदी, सरोवर, पहाड़=ईषणात्रय प्रधान समस्त प्रपंच। शून्यवृक्ष=मिथ्या। सिंजिनी=निष्ठा।

माया नामक हरिणी मोहरूपी मुख द्वार से पंचशत कोटि विस्तीर्ण भूमंडल आदि समस्त लोकों को खा रही है। कर्म, भक्ति एवं ज्ञान नामक

पाश फैलाकर कोई ज्ञानी उस हरिणी का वध नहीं कर रहे हैं। यदि उस मृगी को लक्ष्य करके ग्रहण करना चाहे तो वह ज्ञान के सामने दिखाई पड़ती है। अतः उसको यदि ग्रहण करना है तो सुज्ञान रूपी शिर को दृढ़ रूप से पकड़ लेना चाहिए। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस रहस्य को जानकर मैंने सुज्ञान द्वारा उस मृगी का निरीक्षण किया और सद्भाव नामक जाल फैलाया। परंतु वह मृगी अपने को बचाकर निकल गई। इसलिए जब अनेक प्रकार की चंचलता को छोड़कर मैंने एकनिष्ठा नामक धनुष निश्चल भाव नामक हाथ में लेकर झंकार करते हुए ईषणात्रय प्रधान समस्त प्रपंचरूपी पहाड़, नदी, नद, गुफा एवं अरण्य को पार कर लिया तब मिथ्या नामक वृक्ष की छाया में रहनेवाली माया समीप हो गई! इसलिए मैंने उस मृग को मार गिराया। फलस्वरूप मेरा मन निश्चिंत हो गया और निष्ठा निस्तरंग बन गई, ज्ञान स्थिर हो गया। अर्थात् इन सबका लय हुआ और केवल शुद्ध विद्या रह गई। इस अवशिष्ट शुद्ध विद्या का महाज्ञान प्रकाश में समरस पाक बनाकर मैंने उसका सेवन कर लिया अतः मेरा इदम् अहम् नामक मिथ्या भाव सामरस्यता को प्राप्त हुआ। इस प्रकार निश्चित निवासी 'शरण' ज्ञेय नामक निवास में सुखी हो गया!

५८—कायदोळगे करुळुळ्ळक्कर हसिवु माणदु कायदोळगण करुळ तेगेदु कंगळ मेलिरिसि इदनडिगेय माडि गडणिसुत्तिद्देनु एनेंबे गुहेस्वरा।

वचन ५८—शरीर में जब तक वात्सल्य है तब तक क्षुधा का नाश नहीं हो सकता। कायगत प्रेम को निकालकर नेत्र में रखते हुए मैंने उसका पाक बना लिया। गुहेश्वर उसका आस्वादन करने से जो आनंद मिला है उसका वर्णन मैं कैसे कर सकता।

अर्थ ५८—इस वचन का तात्पर्य यह है कि शरीर में जब तक करणादियों के गुण हैं तब तक शरीर की तृप्ति की आशा नहीं छूटेगी। इसलिए शरीरस्थित उन समस्त करणों की निवृत्ति मुख (मार्ग) में ले आकर सुज्ञान नामक दृष्टि पर रख देने से संपूर्ण इंद्रियाँ उस ज्ञान की प्रभा में विलीन हो जाती है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि उस समय वे इन्द्रियाँ शिवगण हो जाते हैं। उन शिव संबंधित इन्द्रियों से प्राप्त आनंद को मैंने 'महालिंग'

के लिए अर्पण किया फलतः मैं स्वस्वरूप में आ गया। उसका वर्णन शब्द द्वारा मैं नहीं कर सकता। इस रहस्य को जो जानता है वही 'शिवैक्य' है।

५९—आरु बरणद मृगवु तोरियडगित्तु वयल मूर लोकदोळगे सारि हेज्जेय नोडि तोरेय बेंबळिविडिदु तोयदल्लिगे बंदित्तु सोहं सोहमेंदेनुत्तिद्द मृगवु इहपरव मीरि निंदित्तु तोरलिल्लद बिल्लु बेरे निसद बाण अरुविन कैय्यलिल्ल कुरुह बाणसव माडि तेरहिल्लद पाकदल्लि अडिगेय माडिद बोनव अर्पितव माडिद प्रसाददिंद सुखियादे गुहेस्वरा।

वचन ५९—षड्वर्ण का मृग प्रकट होकर छिप गया। मिथ्याभूत तीनों लोक में संचरण पूर्वक पदचिन्ह को देखकर प्रवाह संग से तोयद के पास आया। 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' करनेवाला मृग इह और परसे अतीत हो गया। अप्रकट धनुष तथा भेद (द्वैत) रहित बाण है, ज्ञान नामक हस्त से चिन्ह को पचाकर मैंने अभेद रूपी पाक में भोजन तयार किया। गुहेश्वर, उस भोजन से प्राप्त प्रसाद द्वारा मैं सुखी बन गया।

अर्थ ५९—षड्वर्ण का मृग=षड्वर्णात्मक माया। प्रकट होकर छिपना= माया का आविर्भाव और तिरोभाव। प्रवाह=मन। पयोद=शरण की दृष्टि। 'सोऽहम्', कहनेवाला मृग=सोऽहम् पदके नद में रहनेवाला जीव। अप्रकट धनुष=सद्भाव। भेदरहित बाण=एकोनिष्ठा।

माया षड्वर्णात्मक है और अनित्य है इसलिए कभी प्रकट कभी नष्ट होती है। उस माया का संहार करने की इच्छा से निरीक्षण करने पर विदित होता है कि वह संपूर्ण विश्व में व्याप्त है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसलिए मैंने जहाँ माया रहती है उस स्थान का पता लगाया। उसको जब मैंने जान लिया तब माया मननामक प्रवाह के साथ मिलकर 'शरण' की दृष्टि के सामने उपस्थित हो गई। उस माया से भ्रांत जीव ने 'सोऽहम्, पद के अहंकार से यह कहा कि मुझसे अतिरिक्त कोई श्रेष्ठ नहीं है। अतः माया ने इह और परके सुख से वंचित किया। और स्वयं सबसे बड़ी हो गई। इस रहस्य को जानकर मैंने द्वैतभाव से रहित सद्भाव नामक धनुष में एकनिष्ठा रूपी बाण को चढ़ाकर एकाग्रचित्त से लक्ष्य करके उस माया को मार गिराया। फलस्वरूप उसका मायात्व नष्ट हो गया और केवल शुद्ध विद्या

रह गई। बची हुई उस शुद्ध विद्या को महाज्ञानाग्नि के द्वारा मैंने समरस पाक तैयार किया। उस महाप्रसाद को 'महालिंग' के लिए अर्पण किया और मैं सेव्य प्रसाद से परम सुखी हो गया।

६०—निराळवेंब शिसुविंगे पृथियेंब तोट्टिलु निजैक्यवेंब तायि बंदु मोलेगोट्टु बेरिणयनिक्कि वायु बंदु तोट्टिल तूगि जोगुळवाडिद्डे आकाश बंदु शिसुवनेत्तिकोंडु बेळसित्तल्ला! निराळवेंब हसिवु तृषेय शिसुविंगे बेकेंदु मुगुदेय बेसगोळलरियरु मूरुलोकवु गुहेस्वरा।

वचन ६०—निराविल नामक शिशु का हिंडोल (झूला) पृथ्वी है। निजैक्यता (नामक) माँ ने स्तन्यपान कराकर (शिशु को) नवनीत का सेवन कराया। वायु ने आकर झूला झुलाकर लोरी गाई तो महा आकाश ने उस (शिशु) को गोद में ले लिया और पालन पोषण किया। गुहेश्वर, क्षुत्पिपासा वाले उस निराविल शिशु को कुछ आवश्यकता की पूर्ति मुग्धा से होती है, इसे तीनों लोक नहीं जानते हैं।

अर्थ ६०—निराविल शिशु = महाज्ञानतत्त्व। हिंडोल=शरीर। निजैक्यतामाँ = पराशक्ति। स्तन्यपान = परमामृत। नवनीत=परिपूर्णत्व। वायु= परम चैतन्य नामक प्राणवायु। लोरी=शिवोऽहम् की ध्वनि। आकाश= महदाकाश।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि निराकार एवं निराविल महाज्ञानतत्त्व के लिए शरीर ही आश्रय (झूला) स्थान हो गया। उसमें रहनेवाले महाशिवतत्त्व नामक शिशु को पराशक्ति रूपी माँ ने गोद में लेकर परमामृत नामक स्तन्यपान कराई और परिपूर्णानुभाव नामक नवनीत का सेवन कराकर नित्य तृप्ति प्रदान की। उस निराविलतत्त्व रूपी शिशु के देहरूपी झूले को जब परम-चैतन्य प्राणवायु ने झुलाकर 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्' पद का गीत (लोरी) गाई तब महदाकाश ने शिशु को गोद में उठा लिया। अर्थात् महत्तत्व के साथ सामरस्य कर लिया। पराशक्ति इस प्रकार शुद्ध शिवतत्त्व से सामरस्य करना चाहती है। उस महाश्रद्धा पराशक्ति को जो नहीं जानते हैं उनको वह (पराशक्ति) अश्रद्धा के रूप में दिखाई पड़ती है।

६१—उळिव मरदपल्लियंते देसेदेसेयनालिसुत्तिद्दे अरिववरिल्ल अरिदु मरेयित्तय्या! मडुविनोळगे बिद्द आलिकल्लिनंते तन्नतानिद्दनु गुहेश्वरय्यनु।

वचन ६१—मैं संचरण करनेवाले वृक्ष स्थित विहंगम की भाँति दश-दिशाओं में विचरण कर रहा, इसे कोई नहीं जानता। मैं स्व को जान लेने के पश्चात् स्व को भी भूल गया। गुहेश्वर, सागर में गिरे हुए करका (ओला) की भाँति मैं अपने (स्वस्वरूप) में रह गया।

अर्थ ६१—इस वचन का भाव यह है कि जिसने स्वस्वरूप का साक्षात्कार किया है उस महंत 'शरण' को संसार के दशदिशाओं में स्व से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं दिखाई पड़ती। अर्थात् समस्त संसार स्वस्वरूप में दिखाई पड़ता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार अन्य वस्तु को जानने की अवस्था जब समाप्त होती है तब वह 'शरण' सागर में पड़े हुए ओले के समान अद्वैत हो जाता है।

६२—मूररलिल मुट्टलिल्ल तोररलिल तोरलिल्ल एटरलिल कंडुदिल्ल ओंदरलिल निंदुदिल्ल एनेंदेंबे एंतेंबे? कायदलिल अळिदुदिल्ल जीवतलिल उळिदुदिल्ल गुहेस्वरनेंब लिंगवु शब्दक्के बंदुदिल्ल।

वचन ६२—(मैंने) तीनों (अंगत्रय) का स्पर्श नहीं किया, मैं छः ओ (षड्वर्ण) में प्रकट नहीं हुआ। आठों (अष्टतनु) में नहीं दिखाई पड़ा, एक में स्थित नहीं हुआ। मैं क्या कहूँ कैसे कहूँ। काया में नष्ट नहीं हुआ, जीव में कुछ नहीं बचा। गुहेश्वर, 'लिंग' शब्द में नहीं आ सकता।

अर्थ ६२—तीन=अंगत्रय (स्थूल, सूक्ष्म, कारण)। छः=षड्वर्ण (जाति वर्ण गोत्र आदि)। आठ=अष्टतनु (पृथ्वी, अप, तेज आदि)। एक= परब्रह्म। काया में नष्ट नहीं होना=शरीर में रहने पर भी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के अधीन न होना। जीव में कुछ नहीं बचना=निःशब्दवेदी होना।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो द्वैतभाव का परित्याग पूर्वक निर्भावी हो गया है उस सामरसी के स्वरूप को अंगत्रय का ऋण (कर्मफल) स्पर्श नहीं करता। वह षड्वर्णों में कोई रूप बनकर प्रकट नहीं होता। उसका स्वरूप अष्टतनुओं में बद्ध होकर प्रकट नहीं होता। उसका स्वरूप 'एकमेव परब्रह्म' इस वाक्य में बद्ध होकर गणना में नहीं आ सकता। वह काया-जीव भ्रांति में रहकर उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के अधीन न होकर निःशब्दवेदी हो जाता है।

६३ – वायु निद्रे गेय्द्दरे आकाश जोगुळवाडित्तु बयलु बळलिदेनेंदरे निराळ मोलेगोट्टित्तु आकाशवडगित्तु जोगुळ निंदित्तु गुहेस्वर नैदाने इल्लदंते ।

वचन ६३—वायु के सो जाने पर आकाश ने लोरी गाई । शून्य को प्यास (तृषा) लगने पर निराविल ने स्तन्यपान कराया । आकाशलय हुआ और गीत बंद हो गया । गुहेश्वर रहते हुए भी न रहने की भाँति है ।

अर्थ ६३—वायु=स्वानुभाव से सन्निहित 'शरण' की प्राणवायु । निद्रा= परमचैतन्य में विश्राम करना । शून्य की तृषा='शिवोऽहम्' पद को निःशब्द होने की आशा । आकाश=आत्मतत्त्व । स्तन्यपान=नित्यतृप्ति । लोरी= 'शिवोऽहम्' की ध्वनि ।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि स्वानुभाव से युक्त 'शरण' की प्राण वायु ने जब परम चैतन्य में विश्राम किया तब आत्मतत्त्व रूपी आकाश ने 'शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' का गीत गाया । उस 'शिवोऽहम्' को निःशब्दता की इच्छा हो रही थी। इसलिए उसको परमामृत रूपी नित्यतृप्ति मिल गई । इस प्रकार जब मुझमें ही नित्यतृप्ति की प्राप्ति हुई तब आत्मतत्त्व भाव एवं 'शिवोऽहम्' की ध्वनि लीन हो गई और निःशब्द ब्रह्म हो गया । इस प्रकार सब निराकार की स्थिति हो गई ।

६४—उपाधिक मनवु उपाधिक रहितुमनवु निंदल्लिये निवात-वायित्तु लिंगउदयदल्लि प्रज्वलिसुत्तिदे गुहेस्वर नेंब लिंग तानेयागि ।

वचन ६४—औपाधिक मन (तथा) उपाधि से रहित मन जहाँ था वहीं (निष्कंप) गति रहित हो गया । आनंद भाव बिंदु से रहित होकर जहाँ था वहीं निष्कंप हो गया । 'लिंग' के उदय काल में 'गुहेश्वर लिंग के रूप में प्रज्वलित हो रहा है ।

अर्थ ६४—इस वचन का अर्थ यह है कि जब मन उपाधियों का परित्याग कर देता है और इंद्रिय एवं समस्त करणों की व्याकुलता जब नष्ट हो जाती हैं तब मन जहाँ रहता है वहीं निष्कंप हो जाता है । जब मन निश्चल होता है तब परमानंद से युक्त भाव निर्भाव होता है और बिंदु परिपूर्ण प्रकाश-वाला हो जाता है । प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर उस 'शरण' के सर्वांगों में 'महालिंग' की प्रभा प्रकाशमान हो जाती है ।

६५—शिशु ताय मोलेवालनोसेदुंडु तृप्तनागि हेसर बेसगोंबडदु उपमेगे साध्यवल्लय्या ! कएणालि कप्पनुंगि सएण बएणगळुडिगेय बएणदोळगएण भ्रमे इन्नारिगळवडदु बएण समुच्चयवागि, बएण बगेयने नुंगि गुहेस्वरनेंब निलव निजद निःपति नुंगित्तु ।

वचन ६५—स्वामिन्, शिशु माँ के स्तन का मर्दन पूर्वक क्षीर पान करके तृप्त हो गया है। यदि कोई उसका नाम पूछेगा तो वह किसी उपमान से साध्य नहीं है। नेत्रगत कनीनिका ने कज्जल को निगल लिया। क्षुद्र रंग के वस्त्रगत वर्ण भ्रांति अब किसी को साध्य नहीं होगी। रंगों का समुच्चय हुआ, वर्णों की स्थिति का नाश हुआ और 'गुहेश्वर' इस स्वरूप को निज निष्पत्ति ने निगीर्ण कर लिया।

अर्थ ६५—शिशु=ज्ञानलिंग। माँ='शरण'। स्तन्यपान=शरण का प्रसन्न सुख। कनीनिका=सुज्ञान दृष्टि। कज्जल=अज्ञान। क्षुद्र रंग का वस्त्र=द्वैतज्ञान। रंग=भ्रम।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि 'शरण' नामक माता के अंतरंग से ज्ञानलिंग नामक शिशु का जन्म हुआ। अर्थात् अंतरंग में ज्ञान का उदय हुआ। वह शिशु 'शरण' के प्रसन्न सुख रूपी परिणामामृत का सेवन कर नित्यतृप्त हुआ। फलस्वरूप उपमातीत कहलाया। जब इस अवस्था की प्राप्ति हुई तब सुज्ञान दृष्टिगत अज्ञान का तथा द्वैतज्ञानगत समस्त माया के भ्रम का नाश हो गया। इस प्रकार जब समस्त व्याकुलताएँ नष्ट हो गई तब निष्पत्ति हुई।

६६—अंगैयोळगएण नारिवाळद ससि अंबरदेरळेय नुंगित्तल्ला ! कंभदोळगएण माणिक्यद बिंदु नवकोटि ब्रह्मर नुंगित्तल्ला ! अंडजवेंब तत्तियु हलव, पक्कितय नुंगि निर्वयलायित्तु गुहेस्वरा ।

वचन ६६—अहा हस्तगत कल्पवृक्ष के अंकुर ने अंबर गत मृग को निगला। खंभगत पद्मराग के बिंदु ने नवकोटि ब्रह्मा को निगला। गुहेश्वर, अंडज नामक अंडे ने अनेक पक्षियों का निगलकर निराकार हो गया।

अर्थ ६६—कल्पवृक्ष का अंकुर=इष्टलिंग। अंबर=आत्मतत्त्व। मृग=महदहंकार। खंभा=एकोभाव। पद्मराग का बिंदु=नवकोटि ब्रह्म तत्त्वों के उत्पत्ति, स्थिति एवं लय को गर्भस्थ किया हुआ महाज्ञान बिंदु। अंडज=महाज्ञान। अंडा=चिद्ब्रह्मांड। पक्षी=जीव हंस।

६९—नेनेह नेनेव मनदल्लिलल्ल तनुविनासे मुन्नविल्ल नेनेव मनव नतिगळेद् घनक्के घनवनेनेंबे ? तन्नल्लि तानायित्तु भिन्न विल्लदे निंद निजवनेनेंबे ? अनायासदनुवकंडु आनु बेरगादेनय्या एंतिद्दुदु अन्ते आदे चिंते इल्लदरनुभाव गुहेस्वरा ।

वचन ६९—मन में स्मरण करने वाला ध्यान नहीं, पहले ही शरीर की आशा छूट गई है। ध्यान करनेवाले मन को त्यागनेवाले घन को मैं कैसे 'घन' कहूँ। स्वयं स्वस्वरूप में आ गया और अद्वैत रूप में वर्तमान निजवस्तु को मैं क्या कहूँ। इस अनायास की रीति को देखकर मैं चकित हो गया। गुहेश्वर, पूर्व में जैसा था वैसा ही हुआ।

अर्थ ६९—प्रभुदेवजी कहते हैं कि मन में शिव (लिंग) का ध्यान करने पर वही मन 'महालिंग' हो गया और अंग की तृष्णा का लय हुआ। उस मन के ध्यान का परित्याग हो जाने पर घन स्वस्वरूप में रहकर निस्तरंग हो गया। परमकाष्ठा तक पहुँचा हुआ 'शरण' इस अनायास की रीति को देखकर परब्रह्म स्वरूप जिस प्रकार था पुनः उसी प्रकार हो गया।

७०—बेळगु कत्तलेय नुंगि ओळगे तानोब्बनेयागि कांब कत्तलेय कळेदुळिद् निमगे नानु गुरियादे गुहेस्वरा ।

वचन ७०—प्रकाश एवं अंधकार का निगरण कर भीतर मैं अकेला रह गया। भीतर प्रतीयमान अंधकार का भी त्याग कर गुहेश्वर, मैं तुम्हारा लक्ष्य बन गया।

अर्थ ७०—प्रकाश=ज्ञान। अंधकार=अज्ञान।

प्रभुदेव जी कहते हैं कि महाज्ञान ने जब ज्ञान एवं अज्ञान नामक प्रकाश एवं अंधकार को निगीर्ण कर लिया तब अंतरंग में केवल महाज्ञान का बोध होने लगा। महाज्ञान बोध को भी अज्ञान समझकर 'शरण' (मैं) ने उसका भी परित्याग कर शिवसामरस्यता प्राप्त कर ली।

७१—कोट्टदनरस होगि ताने केट्टित्तु हेळमदु बारदु केळेलेंतु बारदु एंतिद्दुदंते ? सहज स्वानुभावद सम्यज्ञानवनु अज्ञानि बल्लने गुहेस्वरा ?

वचन—७१ दिये हुए वस्तु को खोजने के लिये जाकर स्वयं (खोजनेवाला) नष्ट हो गया। न कहते बनता है और न सुनते। जैसा था वैसा ही हो गया। गुहेश्वर, सहज स्वानुभाव के सम्यक् ज्ञान को क्या अज्ञानी जान सकता है।

अर्थ ७१—प्रभुदेवजी कहते हैं कि मैंने स्वस्वरूप को न जानने के कारण स्वयं अपने स्वरूप को बिगाड़ दिया इसीलिए अनेक भवभवांतर में आने लगा। अकस्मात् एक समय मुझमें सुज्ञान का उदय हुआ। उस समय मैंने यह उद्योग किया कि बिगड़े हुए अपने स्वरूप को जानूँ। इस प्रकार जब प्रयत्न करने लगा तब मुझे विदित हुआ कि 'मैं ही वह हूँ' (सोऽहम् परब्रह्म) फलस्वरूप उसी क्षण मुझमें निजत्व आ गया और 'अहम्' भाव का नाश हुआ। इस स्थिति का वर्णन शब्द द्वारा नहीं किया जा सकता और उसे भिन्न श्रोत्र से सुना भी नहीं जा सकता। क्योंकि वहाँ कहने और सुनने का अवसर ही नहीं है। इस परब्रह्म की स्थिति को सम्यग्ज्ञानी के अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता।

७२—जगद्गलद गगनद आने कनसिनल्लि बंदु मेट्टित कंडे अदेनेंबे हेळा महाघनवदेंतेंबे हेळा ? गुहेस्वरनेंब लिंगवनरिदु मरेदडे लोहिसरद मेले भंडि हरि दंते।

बचन ७२—जगद्विस्तृत गगन के गज ने स्वप्न में पदार्पण किया जिसे मैंने देखा। मैं क्या कहूँ उस महाघन को कैसे कहूँ। 'गुहेश्वर नामक लिंग' को जानकर भूल जाने से चिकुँवार के ऊपर पाषाण फिसलने की भाँति हो गया।

अर्थ ७२—इस वचन का अर्थ यह है कि शिव के साथ सामरस्य को प्राप्त 'शरण' का अखंड परिपूर्णानुभाव नामक महदाकार ने मन का आच्छादन करके परब्रह्म में विश्रांति पाली। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस अवस्था को प्राप्त 'शरण' के लिए कोई उपमा नहीं है। उसने स्व में ही स्वयं निराकारत्व को प्राप्त किया।

७३—कडल मेलण कल्लु सिडिलु होय्य बावि तडद रक्कसिय मगलडवियल्लि मडियलु तोडियबारद लिपिय बरेय बारदु नोडा! नडु नीर ज्योतिय वायुव कोनेयल्लि नोडा! मोदलिल्लद निज

कडेइल्लद नडु एनू इल्लद ऊरोळगे हिडिदडे नुंगिसु नोडा हेम्मारि गुहेस्वरा।

वचन ७३—सागर के ऊपर शिला एवं विद्युत गिरा हुआ कूप है। तीरस्थित राक्षसी की पुत्री अरण्य में मृत हो गई। देखो, अग्रहण लिपि को नहीं लिख सकते। देखो, जलमध्यगत ज्योति वायु के अंत्य में है। आदि मध्यावसान से रहित हैं। गुहेश्वर, निर्जन ग्राम का आश्रय करने पर महामाया ने (शरण को) निगीर्ण कर लिया।

अर्थ ७३—सागर = संसार। शिला=जड़शरीर। कूप = विषयकूप। राक्षसी = माया। पुत्री=क्रिया शक्ति। अरण्य=भवारण्य। अग्रहण और न लिखनेवाली लिपि=प्रणवाक्षर (अ, ऊ, म) त्रय। जल = मन। ज्योति= महाज्ञानाग्नि का प्रकाश। वायु=प्राणवायु। आदिमध्यावसानरहित=परम चैतन्य। निर्जनग्राम='शरण' का शरीर। महामाया=महाज्ञानशक्ति।

प्रभुदेव जी कहते हैं कि संसार सागर में जड़ शरीर पाषाण के सदृश है और उसमें विषय नामक कूप है। उस विषय कूप को जब महाज्ञानाग्नि आलिंगन करती है तब माया नामक राक्षसी के गर्भ से उत्पन्न क्रिया शक्ति नामक पुत्री भवारण्य के साथ मृत हो जाती है। अर्थात् सुज्ञान की प्राप्ति हो जाने से संसार एवं समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार जब भव का एवं क्रियाओं का नाश होता है तब 'शरण' अलिखित एवं नाश रहित प्रणवाक्षर स्वरूप हो जाता है। फलस्वरूप मनोमध्यगत महाज्ञानाग्नि प्राणवायु का परित्याग कर परम चैतन्यात्मक होता है। इस परम चैतन्यात्मक तत्त्व का आदि मध्य तथा अंत्य नही रहता। इस प्रकार जब सर्वांग नामक नगर का लय हो जाता है तब उस शरीर में महाशक्ति का संचार होता है और वह निराविल बन जाता है।

७४—तुंबि परिमळ उंडुदो परिमळ तुंबिय नुंडुदो लिंग प्राण-वायित्तो प्राण लिंगवायित्तो गुहेस्वरा ई उभयद भेदव निन्नेबल्ले।

वचन ७४—क्या तुंबि (परिपूर्ण, भ्रमर) ने परिमल का पान किया (या) परिमल ने तुंबि को आत्मसात् कर लिया। क्या 'लिंग' प्राण बन गया (या) प्राण ही 'लिंग' बन गया। गुहेश्वर, इस उभय के भेद को आप ही जानते हैं।

अर्थ ७४—तुंबि = परिपूर्णता। परिमल=स्वानुभाव की वासना। इस वचन का भाव यह है कि जब स्वानुभाव में परिपूर्णता एवं परिपूर्णता में स्वानुभाव का सामरस्य होता है तब प्राण में 'लिंग' का और 'लिंग' में प्राण का सामरस्य हो जाता है।

७५—बेण्णेय कंदल करगविट्टरे कंदलि करगित्तु बेण्णे उळियित्तु तुंबि इद्दित्तु परिमळविल्ल परिमळविद्दित्तु तुंबिइल्ल तानिद्दरू तन्न स्वरूपविल्ल गुहेश्वरनिद्दनु लिंगविल्ल।

वचन ७५—नवनीतपूर्ण पात्र को नवनीत पिघलाने के लिए (अग्नि के ऊपर) चढ़ाने पर नवनीत रह गया और पात्र गल गया। तुंबि है परिमल नहीं हैं। परिमल है किंतु तुंबि नहीं है। 'मैं' रहने पर भी मेरा स्वरूप नहीं है, गुहेश्वर है किंतु 'लिंग' नहीं है।

अर्थ ७५—नवनीत=अनुभव। पात्र=देह। तुंबि = परिपूर्णता। परिमल=अनुभव।

प्रभुदेव जी कहते हैं कि अनुभव नामक नवनीत (मक्खन) को शरीर नामक पात्र में भरकर महाज्ञानाग्नि के ऊपर चढ़ाने पर पात्र गल गया और मक्खन बच गया अर्थात् देह की वासना नष्ट होकर स्वानुभाव व्याप्त हो गया। फलस्वरूप मुझमें परिपूर्णता आ गई परंतु द्वैत अनुभव रूपी परिमल का लय हो गया। उस समय मुझमें परिपूर्णत्व की वासना थी किंतु 'अहंपरिपूर्णः' इत्याकारक अहंकार नहीं रहा। इस प्रकार मैं सत्यस्वरूप में आकर उपाधि से रहित हो गया हूँ।

७६—एंभत्तुनाल्कुलक्ष ओंटे मूरु तत्तियनिक्कित्त कंडे आने आडहोदरे ओंदु चिक्काडु नुंगित्त कंडे नारियाडहोदरे ओंदु चंद्रमतिय कंडेनु गुहेश्वरनेंब लिंगव कंडवरूळ्ळरे हेळिरे।

वचन ७६—चौरासी लाख क्रमेलक (ऊँट) ने तीन अंडे दिये, इसे मैंने देखा। झूला झूलने जाती हुई स्त्री (मैं) ने एक चंद्रमती को देखा। पृथ्वीमंडल को निगलनेवाले एक मशक को देखा। बताओ क्या कोई गुहेश्वर को देखने वाला है।

अर्थ ७६—क्रमेलक=जीव। तीन अंडा=स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर। क्षुद्रजंतु=अणुरूप चित्। स्त्री=पराशक्ति। झूला झूलना=स्वलीला से क्रीड़ा करना। चंद्रमती=परमशांति। मशक = निवृत्ति।

प्रभुदेव जी कहते हैं कि एक ही जीव ने चौरासीलाख जीवयोनियों में आते समय उन उन देहों को धारण किया और वह उन देहों के धर्म, वर्ण, नाम एवं कर्म को धारण करके चौरासी जीव के नाम से प्रसिद्ध हो गया। अर्थात् एक ही जीव कर्माधीनता के कारण चौरासी योनियों से होकर आया। इस प्रकार बहुमुखी जीव के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण नामक पिंड की उत्पत्ति हुई। जब जीव ने इस तनुत्रय को धारण कर लिया तब अहंकार से युक्त होकर क्रीड़ा करने लगा। परंतु कर्मविशेष के कारण उस अहंकार को चित्‌रूपीमशक ने निगीर्ण कर लिया। उस चित्त के द्वारा गृहीत शिवयोगी पराशक्तिस्वरूप हो गया। फलस्वरूप उसे परम शांति की प्राप्ति हुई। इस प्रकार जब समस्त संशय की निवृत्ति हुई तब उस शिवयोगी में पंचाशत् कोटि विस्तीर्ण भूमंडल का लय हुआ। इस अवस्था को देखकर शिवयोगी विनोद करता है। इसलिए कहते हैं कि इस महामहिम की महत्ता किसी को गोचर नहीं होती।

७७—तेरहिल्लद महाघनवु कुरुहिंगे बारद् मुन्न तोरिद्वरारू हेळा महाघनलिंगैक्यवनु? आरूढद कूटदल्लि नानार साक्षिय काणेलु बेरे माडि नुडिय बहुदे प्राणलिंगवनु? अरिवु समवागि, मरहु नष्ट-वादल्लि गुहेश्वरा निम्म शरणनुपमातीतनु।

वचन ७७—बताओ, अद्वैत महाघनवस्तु साकारत्व धारण करने के पूर्व (उस) महाघन 'लिंगैक्यता' को किसने दिखाया। आरूढ़ कूट में मैंने किसी को साक्षी के रूप में नहीं देखा। क्या 'प्राणलिंग' को अलग करके आप बता सकते हैं। गुहेश्वर, जिसमें ज्ञान का सामरस्य और विस्मरण का नाश होता है वह उपमातीत है।

अर्थ ७७—इस वचन का तात्पर्य यह है कि श्रीगुरु महाघन वस्तु को साकार (इष्टलिंग) बनाकर शिष्य के करस्थल में प्रदान करता है परंतु उसके पूर्व ही शिष्य के अंतरंग में ज्ञान का उदय होता है इसीलिए वह (शिष्य) भवपाश को त्याग कर श्रीगुरु से उपदेश प्राप्त करता है। अतः वह स्वयं-भू ज्ञान कहलाता है। उस स्वयंभू ज्ञानवान् शिष्य के मर्म को शिष्य के अति-रिक्त अन्य कोई नहीं जान सकता और न वह दिखा सकता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इसलिए स्वयं स्वस्वरूप को जानकर 'महालिंग' के साथ सामरस्य कर लेना चाहिए। इस रीति को छोड़कर अन्य के द्वारा दिखाने पर महा-

ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो इस रहस्य को जानता है वह स्वयं शिव और वही 'शरण' भी है। उसके स्वरूप को अलग करके नहीं दिखाया जा सकता, अतः वह उपमातीत है।

७८—कर्पुरद गिरिय उरिय हिडिदडे इद्दलियुंटे? मंजिन शिवालयक्के बिसिल कळसवुंटे? गुहेश्वरनेंब लिंगवनरिदु मरळि नेनेयलुंटे?

वचन ७८—कपूर के पर्वत में आग लगाने पर क्या कोइला मिलेगा। क्या हिमके शिवालय के लिए आतप (धूप) का कलश हो सकता है। क्या गुहेश्वर लिंग' को जानने के पश्चात् पुनः ध्यान कर सकते हैं।

अर्थ ७८—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसका मन शिव (लिंग) में लीन हुआ है और जिसका सर्वांग नष्ट होकर स्वयं निराकार हो गया है उस 'शरण' की काया नहीं, मन नहीं और भाव भी नहीं। अर्थात् उसमें कुछ भी नहीं है। इसलिए वह किसी प्रकार के प्रयोग में नहीं आ सकता।

७९—सोप्पडगिद सुम्मानिगळवरल्लि गतियनरसुवरे? अवरल्लि मतियनरसुवरे? अंगवेल्ल नष्टवागि, लिंग लीयवादवरल्लि गतियन रसुवरे मतियनरूसुवरे गुहेश्वरनेंब निजनिंदवरल्लि?

वचन ७९—जिनको चंचलता नष्ट हो जाने पर तृप्ति मिल गई है क्या उनमें गति की खोज की जा सकती हैं। क्या मति को खोज सकते हैं। जिसमें समस्त अंगों का नाश हो गया है और जिसने शिव (लिंग) के साथ सामरस्य कर लिया है क्या उसमें गति की खोज कर सकते हैं। जिनमें गुहेश्वर नामक सत्यता प्राप्त है क्या उनमें मति को खोज सकते हैं।

अर्थ ७९—इस वचन का तात्पर्य यह है कि जिसके शरीर की भ्रांति एवं मन की व्याकुलताएँ नष्ट हो गई हैं और जो अपने को निजतत्त्व के रूप में समझा है वही 'महालिंग' के साथ सामरस्य करता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार सामरस्य को प्राप्त करके जो स्वयं स्व में विश्रांति पाता है उस 'शरण' में किसी गुण का कर्म नहीं रहता।

८०—अद्दि मुट्टलिल्लु मुट्टि मरळलिल्लु एनेंबे, लिंगवे? एनेंबे लिंगय्य? निजवनरिद बळिक मरळि हुट्टलिल्लु काण गुहेश्वरा।

वचन ८०—मैंने पीछा करके स्पर्श नहीं किया एवं स्पर्श करने के पश्चात् नहीं लौटा। ऐ स्वामिन्, मैं क्या कहूँ कैसे कहूँ। गुहेश्वर, सत्य को जानने के अनंतर मैंने जन्मग्रहण नहीं किया।

अर्थ ८०—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो स्वयं स्वस्वरूप को खोजकर स्वयं उसका ग्रहण करके सामरस्य को प्राप्त करता है वह स्वयं परब्रह्म स्वरूप होता है। उसमें भवकल्पित-भाव नहीं रहता।

८१—सत्यवनोलकोंड मिथ्यक्के भंग, मिथ्यवनोळकोंड सत्यक्के भंग, सत्यमिथ्यवनोळकोंड मनक्के भंग, मनवनोळकोंड ज्ञानक्के भंग, ज्ञानवनोळकोंड निजक्के भंगवुंटे गुहेस्वरा ?

वचन ८१—सत्य से युक्त मिथ्या का नाश होता है तथा मिथ्या से युक्त सत्य का नाश होता है। सत्य एवं मिथ्या से युक्त मन का नाश होता है। मन से युक्त ज्ञान का भी नाश होता है। गुहेश्वर क्या ज्ञान से युक्त सत्य का नाश होगा।

अर्थ ८१—इस वचन का अर्थ यह है कि जो स्वस्वरूप को जानता है और वही ज्ञान यदि सत्य के रूप में विदित होता है तो वह ज्ञान मिथ्या कहलाता है। अर्थात् 'मैंने स्वस्वरूप को जान लिया और वही ज्ञान सत्य है' इस प्रकार का ज्ञान भी मिथ्या होता है। उस मिथ्या से युक्त भावना का भी नाश होता है। मन सत्य और मिथ्या से युक्त रहता है। जब तक उस मन का अस्तित्व रहता है तब तक भव का नाश नहीं होता। उस मन से युक्त संकल्पज्ञान विकल्पज्ञान से नष्ट होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार का ज्ञान यदि निजतत्त्व में विश्राम करता है तो उस सत्यता का नाश कभी नहीं हो सकता।

८२—तनुविल्लदे कंडु कंडु निंदे बेरगिल्लदे कंडु कंडु बेरगादे रूहिल्लदे कंडरिदे गुहेश्वरनेंब लिंग।

वचन ८२—मैं शरीर के बिना देख कर रह गया। आश्चर्य के बिना देखकर चकित रह गया। गुहेश्वर लिंग को मैंने आकार से रहित होकर देख लिया और जान लिया।

अर्थ ८२—इस वचन का अर्थ यह है कि जो सत्य का साक्षात्कार करता है उस 'शरण' के समस्त अंग 'लिंग' हो जाते हैं। इस अवस्था को जो

जानता है तब उसको 'मैंने अपने स्वरूप को जान लिया' इत्याकारक आश्चर्य होता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार परमकाष्ठा तक पहुँचा हुआ 'शरण' निराकार होकर सत्यज्ञानस्वरूप होता है।

८३—घनव मनव कंडु अवग्राहकवायित्तु कंडु कंडु मन महघनवायित्तु तत्तल्लीयवायित्तु तद्गतशद्बमुग्दवादुदनेनेंबे गुहेश्वरा ?

वचन ८३—घन को देखकर मन विलीन हो गया। मन महाघन (वस्तु) हो गया और तत्तल्लीन हो गया। गुहेश्वर, तद्गत शब्दमुग्ध बने हुए को मैं क्या कहूँ।

अर्थ ८३—इस वचन का भाव यह है कि मन ने महाघन वस्तु के स्वरूप को देखकर उसे अपने में ग्रहण कर लिया और स्वयं उस 'महालिंग के साथ सामरस्य कर लिया। प्रभुदेवजी कहते हैं कि फलस्वरूप मन का नाश हो गया और निःशब्दता (निःशब्दं ब्रह्म) छा गई।

८४—ना नीनेंब भेद अंदु इल्ल इंदु इल्ल सालोक्यनल्ल सामिप्यनल्ल शरण, सारूप्यनल्ल सायुज्यनल्ल शरण कायनल्ल, अकायवल्ल गुहेश्वरलिंग तानेयागि।

वचन ८४—'त्वम्', 'अहम्' का भेद न उस समय था न इस समय है। 'शरण' न सालोक्य है न सामीप्य और न सायुज्य। स्वयं गुहेश्वरलिंग होकर न सशरीर है न अशरीर।

अर्थ ८४—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो 'त्वम्' और अहम् इस प्रकार के उभय भाव का परित्याग करके स्वलीला पर हो गया है वह 'शरण' सालोक्य सामीप्य सारूप्य एवं सायुज्य पद से अतीत होता है। उसका कोई आकार नहीं रहता और उसमें 'मैं निराकार हूँ' इत्याकारक भाव भी नहीं रहता है।

८५—करिय मुत्तिन हारदं परियोंदु शृंगार, करद बण्णद नुडिय बेडगिनोळगडगित्तु सिडिल बण्णवनुट्टु मडदि ओंदरोळगे कडुगलि विघवनु नोडि, नोडद निर्भाव वितरणेयिंद धारूणिय रचनेय गुहेश्वर नेंब लिंगव बेडगु नुंगि अडगित्तु।

वचन ८५—श्याम वर्ण की मौक्तिक माला एक प्रकार का शृंगार है। (वह) कर गत वर्ण के सौंदर्य में छिपा है। वीरवितरणी स्त्री ने विद्युद्वर्ण को पहन कर एक में बड़े शूर की विद्या देखी। (किंतु) अनदेखी की भाँति

निर्भाविनी है। धरणी की रचना और गुहेश्वरलिंग को आडंबर ने निगल लिया और वह विलीन हो गया।

अर्थ ८५—श्यामवर्ण=अज्ञान। मौक्तिक=मुक्ति। शृंगार=अज्ञान से युक्त मुक्ति का अवलोकन। कर=महाप्रकाश। वाणी का सौंदर्य=शब्दब्रह्म। स्त्री=पराशक्ति। विद्युद्वर्ण=महाप्रकाश। एक शूर=निर्देही 'शरण'। विद्या=सद्विद्या का सुख। अनदेखी=निर्भाव। धरणी की रचना='शरण' का देह।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि अज्ञान से युक्त मोक्ष का निरीक्षण करना 'शरण' के लिए एक शृंगार हो जाता है। इस अज्ञान से संबद्ध मुक्ति (निवृत्ति ज्ञान) को महाप्रकाश के ज्ञान ने निगीर्ण कर लिया। उस महाप्रकाश को अपना आवरण बनाकर पराशक्ति सद्विद्या के सुख का अनुभव करके वहीं रह गई और निर्भाविनी बन गई। इस अवस्था में शिवशरण के शरीर नामक सुक्षेत्र को निराकारत्व ने निगीर्ण कर लिया। अर्थात् 'शरण' निराकार बन गया।

८६—नुडियिंद नडेगेट्टित्तु नडेयिंद नुडिगेट्टित्तु भावद गुसुट्टु अदु ताने नाचि निंदु गुहेश्वरनेंब अरिवु सिने बंजेयायितल्ल।

वचन ८६—वाणी द्वारा व्यवहार बंद हो गया और उसी व्यवहार (आचरण) से वाणी नष्ट हो गई। भाव का रहस्य स्वयं लज्जित हो गया। ओह, गुहेश्वर नामक ज्ञान बाँझ बन गया।

अर्थ ८६—इस वचन का भाव यह है कि जो अपने में ही निजत्व को प्राप्त करता है वह अपने द्वारा उच्चरित शब्द से लज्जित होकर निर्गमनी हो जाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति शब्द मुग्ध होता है और उसके भाव भी लय हो जाते है। इस निर्भाव को प्राप्त 'शरण' परिपूर्णत्व में परमानंद पाकर कुछ भी नहीं जानता।

८७—निर्विकल्पितवेंब निजदोळगण्य्य निरहंभावदल्लिल नानिद्देनय्य। नोडिहेनेंदरे नोडलिल्ल केळिहेनेंदरे केळलिल्ल घन निरंजनद बेळगिंबादुदनेनेंबे गुहेश्वरा?

वचन ८७—स्वामिन्, मैं निर्विकल्प नामक निरंजन में हूँ। मैं निरहंभाव में हूँ। यदि मुझे कोई देखना चाहे तो नहीं देख सकता यदि सुनना चाहे तो नहीं सुन सकता। गुहेश्वर, घननिरंजन के साथ प्राप्त सामरस्य को मैं क्या कहूँ।

अर्थ ८७—प्रभुदेवजी कहते हैं कि जिसने संकल्प विकल्पों का त्याग करके संशय रहित निर्विकल्प महाघन शिवतत्त्व के साथ सामरस्यता को प्राप्त किया है वह 'शरण' पंचेंद्रियों के द्वारा आनेवाले विषयों को नहीं जानता। अतः निर्मल निरामयमें परम विश्रांति पाता है।

८८—अंगदोळगण सवि संगदोळगण रुचि, अंगनेय नखदोळगे बंदु मूर्तियायित्तु चंद्रकांतद गिरिगे बिंदु तृप्तिय संच अदरंददोळगण भ्रमेय पिंडिका हुल्लेनुंगित्तु चंद्रमन षोडशकळेय इंद्रन वाहन नुंगि गुहेश्वरनेंब निलव नखद मुख नुंगित्तु।

वचन ८८—अंगगत मिठास एवं संगगत रुचि अंगना (स्त्री) के नखाग्र में एकत्रित होकर मूर्त हो गई बिंदु की तृप्ति का समूह चंद्रकांत गिरि के लिए है। मृग ने उसकी सौंदर्य गत भ्रम-पिंढिका निगीर्ण कर ली। चंद्रमा की षोडश कला को इंद्रवाहन ने निगला और गुहेश्वर के स्वरूप को नख मुख ने निगला।

अर्थ ८८—अंगगत मिठास=सर्वांगलिंग हो जाने से प्राप्त आनंद। संगगत रुचि=चिच्छक्ति। अंगना=पराशक्ति। नखाग्र=निश्चल भाव। चंद्रकांतगिरि=परमामृत। चंद्रमा की षोडश कला='शिवोऽहम्' भाव। इंद्रवाहन=महाज्ञान।

प्रभुदेवजी कहते हैं कि जब मेरे समस्त अंगने शिवसामरस्यता को प्राप्त कर लिया तब परमशांति नामक पराशक्ति एकाग्रचित्त रूपी नखाग्र पर आ गई और स्थिर हो गई। जब स्थिरपरमामृत बिंदु स्वरूप हो गया तब वही नित्यतृप्ति बन गया। 'मैं नित्यतृप्त हो गया' इत्याकारक ज्ञान को मैंने विस्मरण के लिये आहुति दे दी। फलस्वरूप 'शिवोऽहम्' नामक भ्रम का नाश हो गया। इस प्रकार शिवकला को गर्भस्थ करके बैठे हुए 'शरण' के स्वरूप ने महदहंकार के परमैश्वर्य को प्राप्त कर 'अत्यत्तिष्ठद्दशांगुलम्' के तुर्य में निवास किया।

८९—बयल बेरगिन सुखद सविय बेरगल्लदे काणे काणेनेंब नुडिगेडेगाणे कुरुहुगेट्टु अरिदु नेरेयरिदु बेरसिदेनेंब बिरुनुडिय नुडिगे नाचिदेनय्य गुहेश्वरा।

वचन ८९—अंतरिक्ष के अचरज के सुख की रुचि को 'अचरज के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख रहा हूँ' इस प्रकार की वाणी के लिये स्थान

नहीं है। गुहेश्वर, निराकार होकर उस ज्ञान का भी लय होने के पश्चात् 'मैंने सामरस्य कर लिया' इस कटुवचन से मैं लज्जित हो गया।

अर्थ ८९—इस वचन का भाव यह है कि जिसको संपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गई है वह यदि 'मैंने पूर्णज्ञान प्राप्त किया' इत्याकारक पूर्णानंद का अनुभव करता है, अर्थात् आप अपने के लिये भी कहता है तो वही द्वैतज्ञानी कहलाता है। प्रभुदेवजी कहते हैं कि जो इस रहस्य को जानकर निःशब्दवेदी होता है और 'मैं निःशब्दवेदी हूँ' इत्याकारक भाव को भूल जाता है वही महाघन लिंगैक्यता को प्राप्त है।

गद्य—स्वस्ति समस्त भुवन जन तिमिर हर कारण स्वरूपरु, भक्तदेहिक देवरु भक्तवत्सलरु सर्वांग प्राणलिंगमूर्ति विलासरुम्, पुलिगेरेय पुरवराधीश्वररुम् अपूर्व स्वयंभू प्रसन्न चन्न दक्षिण श्री सोमनाथ देवर दिव्य श्रीपाद पद्मारावकरु त्रिभांड निष्ठरु। ऋग, यजुः सामाथर्वणांन्तर्गत प्रतिपाद्य प्रमुखरु श्रुति स्मृति पुराणागम इतिहासादि नाना शास्त्र कोविदरुं परमवीरशैवागमाचार्यरूं, सकल प्रसाद पंचाक्षरी मंत्र सिद्धरुं नित्य परिपूर्ण सच्चिदानंद निरंजन परंज्योति स्वरूपरप्प महालिंग देवरु तम्म दिव्य ज्ञानानंद प्रसिद्ध प्रसन्न प्रसादवनु निजताच्छिष्य भक्ति भांडारि जक्कणाचार्यंगे सत्प्रेम महानुभाव संबोधे संबंध निरूपणाकारणार्थं विरचितवप्प प्रभुदेवर षडस्थलदोळु पेक्यन वर्ग षष्ठम परिच्छेद समाप्त।

गद्य—स्वस्ति समस्त भुवन-जन तिमिरहर कारणस्वरूप, भक्त देहिक देह, भक्तवत्सल, सर्वांग प्राणलिंगमूर्तिविलास, पुलिगेरेपुरवराधीश्वर, अपूर्व-स्वयंभू प्रसन्नदक्षिण श्रीसोमनाथदेव जी के दिव्य श्रीपाद पद्माराधक, त्रिभांडनिष्ठ, ऋगयजुस्सामाथर्वणांतर्गत प्रतिपाद्य प्रमुख श्रुतिस्मृति पुराणागम इतिहास आदि नानाशास्त्र कोविद, परमवीरशैवागमाचार्य, सकलपंचाक्षरीमंत्रसिद्ध, नित्यपरिपूर्ण सच्चिदानंद निरंजन, परंज्योतिस्वरूप 'महालिंगदेवजी' अपने दिव्यज्ञानानंद प्रसिद्ध प्रसन्न प्रसाद को निजतच्छिष्य भक्तिभांडारि जक्कणाचार्य के लिये सत्प्रेम महानुभाव संबोधसंबंध निरूपण कारणार्थ विरचित प्रभुदेवजी के 'षटस्थल' में ऐक्यवर्ग षष्ट परिच्छेद समाप्त।

कुछ पारिभाषिक शब्द

अंग=जीव। दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जीव को 'अंग' कहते हैं। इस अंग शब्द की व्युत्पत्ति अनुभवसूत्र में इस प्रकार है—

अमिति ब्रह्म सन्मात्रं गच्छतीति गमुच्यते।
रूप्यते अंगमिति प्राज्ञैरंग तत्त्वविचिंतकैः॥

अर्थात् 'अं' से सन्मात्र परब्रह्म को 'गम्' से गच्छति अर्थात् प्राप्त करना। परब्रह्म को प्राप्त कर उसके साथ तादात्म्य हो जाना।

लिंग=परशिव। सूक्ष्मागम के पटल ६ में लिंग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

लीनं प्रपंच रूपं हि सर्वमेच्चराचरम्।
सर्गादौ गम्यते भूयस्तस्माल्लिंगमुदीरितम्॥
'निरामयं निराकारं निर्गुणं निर्मलं शिवम्'
'तस्माल्लिंग परंब्रह्म सच्चिदानंद लक्षणम्'

अर्थात् प्रपंच रूप समस्त चराचर जिसमें लीन होता है और सृष्टिकाल में जिसके द्वारा प्रकट होता है उसको 'लिंग' कहते हैं। यह दोष से रहित, निराकार, निर्गुण, तथा आणवादि मल से रहित है। अतः लिंग शब्द से सच्चिदानंद लक्षण से युक्त परब्रह्म या परशिव समझना चाहिए। यह प्रत्येक जीव (अंग) में वर्तमान रहता है। दीक्षा के समय श्रीगुरु अपनी योग-शक्ति के द्वारा शिष्य के ब्रह्मरंध्र से निकाल कर उपासनार्थ उसके हस्त में प्रदान करते हैं। साधक या शिष्य इसी की पूजा, निरीक्षण आदि के द्वारा उसी के साथ तादात्म्यापन्न हो जाता है। वीरशैव-धर्मावलंबी इस गुरुप्रदत्त लिंग को अपने शरीर पर सदा धारण करते हैं।

जंगम=जिसमें विरक्ति, भक्ति एवं ज्ञान का समावेश है। अर्थात् विरक्ति भक्ति और ज्ञान से जिसमें शिवत्व की अभिव्यक्ति हुई है वही जंगम है।

'जानन्त्यतिशयाद्देतु शिवं विश्वप्रकाशकम्।
स्वस्वरूपतायातेतु जंगमा इति कीर्तिताः॥

पादोदक=यह गुरु चरणों का अभिषेक है जो पतितों को पावन करने-वाला होता है। ज्योतिर्मय शांभवदीक्षा बोधमें—

बहुलाम्बु श्रुतं देवि मत्स्यमंडूक कूर्मयोः ।
क्रिमिकीट मलं मूत्रं शुक्रं भविनिरीक्षणम् ॥
पशु पक्षिमृगाणांच सर्वोच्छिष्टं बहूदकम् ।
यथाऽशुद्धं स्मशानंच तथाऽसर्वमलात्मकम् ॥
'चरस्य पाद प्रक्षालयं तज्जलं शुद्ध निर्मलम् ।
महालिंगाभिषिक्तं चेत् सद्भक्तश्च सदाशिवः ॥

सूतसंहिता में—

चरस्य पादतीर्थेन लिंगमज्जनमुत्तमम् ।
अथवा भूतमज्यन्यं लिंगानां नैव पार्वती ॥
ब्रह्मविष्णुसुरेन्द्राश्च स्वर्गनागाधिदेवताः ।
पादोदकं विना देवि नयांति परमं पदम् ॥

प्रसादः=श्रीगुरु को अर्पित करने के अनंतर उससे प्राप्त अन्न आदि वस्तु ।

चन्द्रोच्छिष्टानि धान्यानि पाकोऽग्न्युच्छिष्ट रूपकः ।
सर्वंच माययोच्छिष्टं मत्तृप्तिर्नैव पार्वति ॥
स्पर्शने चरजिह्वाग्रे पदार्थः शुद्ध निर्मलः ।
साक्षाजिजह्वा पदार्थेन ममतृप्तिर्महेश्वरि ॥
मत्प्रसादंचेष्टसंयुक्तं योभुंक्ते जंगमं विना ।
गुरुद्रोही शिवद्रोही भक्तद्रोही भविः स्मृतः ॥

पारमेश्वरागम में—

पादोदकप्रसादानां नित्यसंचरतां नृणाम् ।
दश जन्म भवं पापं क्षायते नान्त्र संशयः ॥

मुकुटागम में—

'लिंगधारी महायोगी चरपादोदकं विना ।
यद्यातिष्ठति जीवात्मा सपुनर्भव भाजनः ॥
'लिंगार्थं जंगमार्थं च विशेषं पाकमुत्तमम् ।
आत्मार्थं पचते यस्तु सभविर्नात्र संशयः ॥

भवी=दीक्षा से रहित जीव

—o—